बी. ए. प्रथम वर्ष हेतु

राजनीति विज्ञान

POLITICAL SCIENCE

डॉ. पुखराज जैन

साहित्य भवन पब्लिकेशन्स

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के बी. ए. प्रथम वर्ष (प्रथम प्रश्न-पत्र)
हेतु नवीनतम् पाठ्यक्रमानुसार

राजनीति विज्ञान

[POLITICAL SCIENCE]

डॉ. पुखराज जैन
पूर्व प्राचार्य
राजकीय मीरा कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय, उदयपुर

2002

साहित्य भवन पब्लिकेशन्स : आगरा

Price : Rs. 85.00

ISBN-81-7288-026-x

Revised Edition : 2002

Published by
SAHITYA BHAWAN PUBLICATIONS
Hospital Road, Agra-282 003

Printed at
Bhawan Printers
Agra

Note : Due care and diligence has been taken while editing and printing the book, neither the author nor the publisher of the book hold any responsibility for any mistakes that may have inadvertently crept in.

भूमिका

लेखक की पुस्तक 'राजनीति विज्ञान' पिछले 26 वर्षों से विभिन्न विश्वविद्यालयों के राजनीति विज्ञान के विद्यार्थियों द्वारा पढ़ी जाती रही है। उपर्युक्त पुस्तक का यह संस्करण इलाहाबाद विश्वविद्यालय के बी. ए. प्रथम वर्ष (प्रथम प्रश्न-पत्र) हेतु (परीक्षा 2002 और तदुपरान्त) निर्धारित नवीनतम् पाठ्यक्रम को पूर्णतया दृष्टि में रखते हुए तैयार किया गया है। इस बात की पूरी चेष्टा की गई है कि पुस्तक विद्यार्थियों के लिए श्रेष्ठतम पुस्तक की स्थिति प्राप्त कर सके।

राजनीति विज्ञान के अध्ययन विषय का तीव्र गति से विकास हो रहा है और विषय में नवीन प्रवृत्तियां प्रवेश कर रही हैं जिनका सामान्य परिचय राजनीति विज्ञान के प्रारम्भिक विद्यार्थियों को भी प्राप्त होना चाहिए। इस बात को दृष्टि में रखते हुए सभी अध्यायों में नवीन प्रवृत्तियों की यथास्थान स्पष्टता और आवश्यक विस्तार के साथ विवेचना की गई है। विषय की विवेचना में देश-विदेश की नवीनतम घटनाओं के उदाहरण देकर विषय को रोचक बनाने का प्रयास किया गया है।

मैं इस अवसर पर अपने प्रकाशक श्री के. एल. बंसल को धन्यवाद देना चाहूंगा जिनके प्रयत्नों से पुस्तक विभिन्न राज्यों के विद्यार्थियों द्वारा ग्रहण की जा रही है।

आशा है अपने वर्तमान स्वरूप में यह पुस्तक पाठकों की इस विषय सम्बन्धी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकेगी। पुस्तक को और अधिक उपयोगी बनाने के लिए प्राप्त सुझावों का सदैव ही स्वागत किया जाएगा।

● पुखराज जैन

पाठ्यक्रम

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

बी. ए. (प्रथम वर्ष)
प्रथम प्रश्न-पत्र : राजनीतिक सिद्धान्त
(POLITICAL THEORY)

इकाई I : राजनीति विज्ञान की परिभाषा, प्रकृति और क्षेत्र (परम्परागत, व्यवहारवादी और उत्तर-व्यवहारवादी दृष्टिकोण के सन्दर्भ में)।

इकाई II : राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त : सामाजिक समझौता सिद्धान्त, ऐतिहासिक सिद्धान्त, विकासवादी सिद्धान्त और मार्क्सवादी सिद्धान्त।

इकाई III : राज्य के कार्यों के सिद्धान्त (उदारवादी, लोककल्याणकारी और समाजवादी सिद्धान्त)

इकाई IV : सम्प्रभुता : अवधारणा का विकास, आवश्यक लक्षण, ऑस्टिन का सम्प्रभुता सिद्धान्त, बहुलवादी आक्षेप, शक्ति, सत्ता (प्राधिकार) और प्रभाव।

इकाई V : अधिकार और राजनीतिक दायित्व, स्वतन्त्रता, समानता, कानून, न्याय और दण्ड।

इकाई VI : उदारवाद, फासीवाद, सर्वाधिकारवाद, समाजवाद, क्रान्ति और गांधीवाद।

विषय-सूची

प्रथम प्रश्न-पत्र

राजनीतिक सिद्धान्त

(POLITICAL THEORY)

1

राजनीति विज्ञान : परिभाषा, क्षेत्र और प्रकृति (परम्परागत दृष्टिकोण)

(POLITICAL SCIENCE : MEANING, SCOPE AND NATURE (TRADITIONAL PERSPECTIVE))

"समाज द्वारा सुसंस्कृत मनुष्य सब प्राणियों में श्रेष्ठतम होता है। परन्तु जब वह कानून तथा न्याय के बिना जीवन व्यतीत करता है तो वह निकृष्टतम हो जाता है, यदि कोई मनुष्य ऐसा है जो समाज में न रह सकता हो अथवा जिसे समाज की आवश्यकता ही न हो क्योंकि वह अपने आप में पूर्ण है; तो उसे मानव समाज का सदस्य मत समझो, वह जंगली जानवर या देवता ही हो सकता है।"[1]

—अरस्तू

राजनीति विज्ञान : परिभाषा (परम्परागत दृष्टिकोण)

अरस्तू अपने उपर्युक्त कथन में एक सामान्य सिद्धान्त का ही प्रतिपादन करता है। समाज में रहने वाले व्यक्ति के जीवन के विभिन्न पक्ष होते हैं और मानव जीवन के इन विभिन्न पक्षों का अध्ययन विभिन्न समाज विज्ञानों द्वारा किया जाता है। समाजशास्त्र मानव के सामाजिक जीवन, अर्थशास्त्र मानव के आर्थिक जीवन और नीतिशास्त्र मानव जीवन के नैतिक पक्ष का अध्ययन करता है। इन शास्त्रों के समान ही राजनीति विज्ञान द्वारा मानव जीवन के राजनीतिक पक्ष का अध्ययन किया जाता है।

राजनीति विज्ञान विषय के परम्परागत विद्वानों द्वारा इस विषय की विभिन्न परिभाषाएँ प्रस्तुत की गयी हैं, जिन्हें प्रमुख रूप से निम्नलिखित तीन वर्गों में रखा जा सकता है :

राजनीति विज्ञान केवल 'राज्य के अध्ययन' के रूप में;
राजनीति विज्ञान केवल 'सरकार के अध्ययन' के रूप में; तथा
राजनीति विज्ञान 'राज्य और सरकार दोनों के अध्ययन' के रूप में।

राजनीति विज्ञान 'राज्य का अध्ययन'

मानव के राजनीतिक जीवन का अध्ययन करने के लिए उन संस्थाओं का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य हो जाता है, जिनके अन्तर्गत मानव ने अपना राजनीतिक जीवन प्रारम्भ किया और जिनके माध्यम से वह अपने राजनीतिक जीवन को विकसित करने के लिए प्रयत्नशील है। इस प्रकार की राजनीतिक संस्थाओं में राज्य सबसे प्रमुख है। 'राजनीति' का पर्यायवाची आंग्ल शब्द 'पॉलिटिक्स' (Politics) यूनानी भाषा के 'Polis' शब्द से ही बना है, जिसका अर्थ उस भाषा में नगर अथवा राज्य होता है। यूनान छोटे-छोटे नगर राज्यों में विभक्त था और इस कारण यूनानवासियों के लिए नगर तथा राज्य में कोई भेद नहीं था। धीरे-धीरे राज्य का स्वरूप बदला और आज इन राज्यों का स्थान राष्ट्रीय राज्यों ने ले लिया है। स्वाभाविक रूप से राज्य के इस विकसित और विस्तृत रूप से सम्बन्धित विषय को 'राजनीति विज्ञान' कहा जाने लगा। इस दृष्टिकोण के आधार

1 "Men when perfected is best of animals, but when separated from law and justice, is the worst of all. He who is unable to live in society; or who has no need because he is sufficient for himself, must be either a beast or God." —*Aristotle*

पर राजनीति विज्ञान विषय के कुछ विद्वानों ने इस विषय की परिभाषा केवल राज्य के अध्ययन के रूप में की है।

ब्लंटशली के अनुसार, "राजनीति विज्ञान वह विज्ञान है जिसका सम्बन्ध राज्य से है और जो यह समझने का प्रयत्न करता है कि राज्य के आधारभूत तत्व क्या हैं, उसका आवश्यक स्वरूप क्या है, उसकी किन विविध रूपों में अभिव्यक्ति होती है तथा उसका विकास कैसे हुआ है।"

इसी प्रकार जर्मन लेखक गैरिज का कथन है कि "राजनीति विज्ञान में शक्ति की संस्था के रूप में राज्य के समस्त सम्बन्धों, उसकी सम्पत्ति, स्थिति, प्रयोजन, नैतिक महत्व, आर्थिक समस्याओं, अस्तित्व की अवस्थाओं, वित्तीय पहलू तथा उद्देश्य, आदि पर विचार किया जाता है।"

प्रसिद्ध विद्वान डॉ. गार्नर के अनुसार, **"राजनीति विज्ञान विषय के अध्ययन का प्रारम्भ और अन्त राज्य के साथ होता है।"**[1] गुडनोव, एक्टन और डॉ. जकारिया, आदि के द्वारा भी राजनीति विज्ञान को राज्य का ही अध्ययन वतलाया गया है।

राजनीति विज्ञान 'सरकार का अध्ययन'

वर्तमान समय में राजनीति विज्ञान के कुछ विद्वान उपर्युक्त परिभाषाओं को स्वीकार नहीं करते। वे राज्य के स्थान पर सरकार के अध्ययन पर वल देते हैं। उनका कथन है कि राज्य तो एक अमूर्त संस्था है और प्रभुत्व शक्ति के प्रयोग के सम्वन्ध में इस संस्था का मूर्त रूप सरकार ही वह यन्त्र अथवा साधन है जिसके माध्यम से राज्य की इच्छा कार्य रूप में परिणत की जाती है। इसलिए सीले और लीकॉक, आदि विद्वानों ने राजनीति विज्ञान को सरकार का ही अध्ययन कहा है। सीले के शब्दों में, "राजनीति विज्ञान उसी प्रकार सरकार के तत्वों का अनुसन्धान करता है जैसे सम्पत्तिशास्त्र सम्पत्ति का, जीवशास्त्र जीवन का, वीजगणित अंकों का तथा ज्यामितिशास्त्र स्थान एवं लम्वाई-चौड़ाई का करता है।" इसी प्रकार लीकॉक का भी कहना है कि "राजनीति विज्ञान सरकार से सम्वन्धित विद्या है।"[2]

राजनीति विज्ञान 'राज्य और सरकार' का अध्ययन

उपर्युक्त सभी विद्वानों द्वारा दी गयी राजनीति विज्ञान की परिभाषाएँ वस्तुतः एकांगी हैं और जहाँ तक राजनीति विज्ञान का सम्वन्ध है, इसमें राज्य और सरकार इन दोनों का ही अध्ययन किया जाता है। राज्य के विना सरकार की कल्पना ही नहीं की जा सकती, क्योंकि सरकार राज्य के द्वारा प्रदत्त प्रभुत्व शक्ति का ही प्रयोग करती है और सरकार के विना राज्य एक अमूर्त कल्पना-मात्र है। राज्य की क्रियात्मक अभिव्यक्ति के लिए सरकार का और सरकार के अस्तित्व की किसी कल्पना के लिए राज्य का अस्तित्व अनिवार्य है। ऐसी स्थिति में राज्य के विना सरकार और सरकार के विना राज्य का कोई अध्ययन पूर्ण नहीं हो सकता और राज्य एवं सरकार दोनों ही राजनीति विज्ञान के अध्ययन का विषय वन जाते हैं। फ्रांसीसी विचारक पॉल जैनेट ने इसी विचार को व्यक्त करते हुए कहा है कि :

"राजनीति विज्ञान समाज विज्ञानों का वह अंग है जिसमें राज्य के आधार और सरकार के सिद्धान्तों पर विचार किया जाता है।"[3] डिमॉक ने भी राजनीति विज्ञान को इसी प्रकार परिभाषित करते हुए कहा है कि **"राजनीतिशास्त्र का सम्बन्ध राज्य तथा उसके साधन सरकार से है।"**[4] इस सम्वन्ध में गिलक्राइस्ट की परिभाषा कुछ अधिक स्पष्ट है, जिसमें उसने कहा है कि "राजनीति विज्ञान राज्य और सरकार की सामान्य समस्याओं का अध्ययन करता है।"[5] लॉस्की, गैटल और आधुनिक युग के अन्य सभी लेखकों ने भी इसी मत का समर्थन किया है।

मानवीय तत्व—लेकिन राजनीति विज्ञान की यह परिभाषा भी पूर्ण नहीं है, क्योंकि इसमें विषय के मानवीय पक्ष की अवहेलना की गयी है। यह वात निर्विवाद रूप से सत्य है कि किसी भी समाज विज्ञान और इसलिए राजनीति विज्ञान का अध्ययन उसके प्रसंग में मानवीय तत्व के अध्ययन के बिना पूर्ण नहीं हो

1 "Political Science begins and ends with the state." —*Garner*
2 "Political Science deals with Government." —Leacock, *Elements of Political Science*, p. 3.
3 "Political Science is that part of Social sciences which treats of the State and the principles of government." —*Paul Janet*
4 "Political Science is concerned with the state and its instrumentality—Government." —*Dimock*
5 "Political Science deals with the general problems of the state and Government." —*Gilchrist*

सकता। राजनीति विज्ञान में तो राज्य और सरकार के सम्पूर्ण अध्ययन में मानवीय पक्ष सवसे अधिक महत्वपूर्ण है और राज्य तथा सरकार का व्यापक अध्ययन केवल इसलिए किया जाता है कि ये संस्थाएँ मानव जीवन को वहुत अधिक प्रभावित करती हैं। यदि केवल राज्य और सरकार पर ही दृष्टि रखी जाय, तो राजनीतिक विश्लेषण स्थिर, नितान्त औपचारिक और संस्थागत होकर रह जायगा। इस सम्वन्ध में **'एनसाइक्लोपेडिया ऑफ सोशल साइंसेज'** (Encyclopaedia of Social Sciences) में **हरमन हैलर** ने तो यहाँ तक कहा है कि **''राजनीति विज्ञान के सम्पूर्ण स्वरूप का निर्धारण उसकी मानव विषयक मौलिक मान्यताओं द्वारा ही होता है।''**

वस्तुत: राज्य और सरकार का अध्ययन निरपेक्ष रूप से नहीं वरन् मानवीय सन्दर्भ में ही किया जा सकता है। अत: राजनीति विज्ञान की न्यायसंगत परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि :

''राजनीति विज्ञान समाज विज्ञान का वह अंग है जिसके अन्तर्गत मानवीय जीवन के राजनीतिक पक्ष का और जीवन के इस पक्ष से सम्बन्धित राज्य, सरकार तथा अन्य सम्बन्धित संगठनों का अध्ययन किया जाता है।''

परम्परागत राजनीति विज्ञान का क्षेत्र
(SCOPE OF TRADITIONAL POLITICAL SCIENCE)

एक विषय के क्षेत्र से हमारा आशय इस बात से होता है कि उस विषय के अन्तर्गत किन-किन वातों का अध्ययन किया जाता है अर्थात् उसकी विषय-वस्तु क्या है। परम्परागत राजनीति विज्ञान की परिभाषा की भाँति ही इस विषय के क्षेत्र के सम्वन्ध में कुछ प्रमुख मतों का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है :

प्रसिद्ध लेखक **गार्नर** ने राजनीति विज्ञान के क्षेत्र को तीन भागों में विभाजित किया है :

(1) राज्य की प्रकृति तथा उत्पत्ति की खोज,

(2) राजनीतिक संस्थाओं के स्वरूप, उनके इतिहास तथा विभिन्न रूपों की गवेषणा, एवं

(3) उक्त खोज तथा गवेषणा के आधार पर राजनीतिक विकास के नियमों का यथासम्भव अनुमान।

प्रो. गैटिल के मतानुसार भी राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत मुख्यत: तीन वातें सम्मिलित हैं :

(1) राज्य की उत्पत्ति और राजनीतिक संस्थाओं व सिद्धान्तों का विकास,

(2) विद्यमान राजनीतिक संस्थाओं और सिद्धान्तों का अध्ययन, एवं

(3) राज्य का भावी अर्थात् आदर्श स्वरूप निश्चित करना।

राजनीति विषय के अन्य विद्वानों ने भी इसी प्रकार अपने-अपने दृष्टिकोण से राजनीति विज्ञान का क्षेत्र निश्चित करने का प्रयत्न किया है।

प्रो. पी. के. मुकर्जी के अनुसार, राजेनीति विज्ञान के क्षेत्र में राजनीतिक दर्शन एवं सिद्धान्त, राजनीतिक संस्थाएँ, विभिन्न वाद, राज्य का राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय स्वरूप, राजनीतिक संगठन के विधियेत्तर (extra-legal) स्वरूप जैसे राजनीतिक दल व दवाव समूह, आदि सम्मिलित हैं।[1]

प्रो. विलोबी के अनुसार, **''राजनीति विज्ञान जिन-जिन महान् विषयों की व्याख्या करता है वे हैं राज्य, सरकार और कानून।''**

इस प्रसंग में उल्लेखनीय है कि सन् 1948 में **संयुक्त राष्ट्रसंघीय शैक्षणिक, वैज्ञानिक और सांस्कृतिक संगठन** (UNESCO) के तत्वावधान में समस्त विश्व के राजनीति विज्ञान के पण्डितों का एक सम्मेलन हुआ था जिसमें यह निर्णय लिया गया कि राजनीति विज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत निम्नलिखित विषय सम्मिलित समझे जाने चाहिए :

(1) **राजनीति के सिद्धान्त**—राजनीतिक सिद्धान्त तथा राजनीतिक विचारों का इतिहास।

(2) **राजनीतिक संस्थाएँ**—संविधान, राष्ट्रीय सरकार, प्रादेशिक तथा स्थानीय शासन और तुलनात्मक राजनीतिक संस्थाएँ।

(3) **राजनीतिक दल, दवाव समूह एवं लोकमत**—राजनीतिक दल, दवाव समूह तथा समुदाय, नागरिकों का सरकार व प्रशासन में भाग लेना और लोकमत।

(4) **अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध**—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, अन्तर्राष्ट्रीय विधि, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन और प्रशासन।

क्षेत्र के सम्वन्ध में यूनेस्को सम्मेलन द्वारा अपनाया गया उपर्युक्त दृष्टिकोण निश्चित रूप से अधिक महत्वपूर्ण है।

1 P. K. Mukherji, *Scope of Political Science*, Indian Journal of Political Science, Oct.-Dec. 1954.

विभिन्न विद्वानों तथा यूनेस्को सम्मेलन द्वारा राजनीति विज्ञान के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किये गये हैं उनके आधार पर कहा जा सकता है कि राजनीति विज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत प्रमुख रूप से निम्न बातें आती हैं :

(1) मानव का राजनीतिक जीवन, (2) राज्य, (3) सरकार, (4) स्थानीय, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ, (5) राजनीतिक विचारों का इतिहास और राजनीतिक विचारधाराएँ, तथा (6) अन्तर्राष्ट्रीय विधि एवं सम्बन्धों और संगठन का अध्ययन।

मानव का अध्ययन—राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत सम्पूर्ण मानव जीवन का अध्ययन नहीं किया जाता, वरन् राज्य संस्था के सन्दर्भ में ही मानव का अध्ययन किया जाता है। नागरिकों से ही राज्य का निर्माण होता है और नागरिकों के लिए ही राज्य जीवित रहता है। राज्य के नागरिक समाज द्वारा स्वीकृत और राज्य द्वारा लागू किये जाने वाले अधिकारों का ही उपभोग करते हैं तथा राज्य के नागरिक होने के नाते व्यक्ति के राज्य के प्रति कुछ उत्तरदायित्व भी होते हैं। वस्तुतः व्यक्ति और राज्य के सम्बन्ध की समस्या अत्यन्त जटिल रही है और राज्य के प्रारम्भिक चरण से लेकर अब तक इस समस्या पर विचार किया जाता रहा है। अतः राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत व्यक्ति के अधिकार, राज्य के प्रति उसके कर्तव्य और व्यक्ति एवं राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों का संचालन करने वाले आधारभूत सिद्धान्तों और तथ्यों का अध्ययन किया जाता है। केटलिन के शब्दों में, **''राजनीति विज्ञान नियन्त्रक एवं नियन्त्रित के व्यापक सम्बन्धों का अध्ययन है।''**

राज्य का अध्ययन—व्यक्ति के व्यक्तित्व के सर्वोत्तम विकास और समाज के सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति हेतु राज्य सर्वोच्च इकाई है। अरस्तू ने राज्य के सम्बन्ध में ठीक ही कहा है कि **''राज्य की उत्पत्ति जीवन के लिए हुई और सद्जीवन के लिए उसका अस्तित्व बना हुआ है।''**[1] मानव जीवन की आवश्यकताओं के अनुरूप ही भिन्न-भिन्न समयों पर राज्य के भिन्न-भिन्न रूप रहे हैं और राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत राज्य के इन सभी रूपों का अध्ययन किया जाता है। गैटल के शब्दों में कहा जा सकता है कि, **''राजनीति विज्ञान, 'राज्य कैसा रहा है' की ऐतिहासिक खोज, 'राज्य कैसा है' का विश्लेषणात्मक अध्ययन और 'राज्य कैसा होना चाहिए' की राजनीतिक व नैतिक परिकल्पना है।''**[2]

राज्य के अतीत का अध्ययन—राज्य के वर्तमान स्वरूप का ज्ञान उसके भूतकाल के अध्ययन के आधार पर ही किया जा सकता है। इसके अन्तर्गत हम राज्य की उत्पत्ति का अध्ययन करते हैं और कहते हैं कि राज्य का विकास कैसे हुआ तथा राजनीतिक संस्थाओं और विचारधाराओं ने क्या-क्या स्वरूप धारण किये। राज्य को अपना वर्तमान रूप प्राप्त करने में सदियाँ लगी हैं। प्रारम्भ में राज्य परिवारों का समूह मात्र था, जो आगे चलकर कुलों और जनपदों में विकसित हुए। यूनानी इतिहास में इन्हीं को नगर राज्य कहा गया है। धीरे-धीरे ये नगर राज्य परस्पर मिलकर संघों में संगठित होने लगे। यूनान के **'एथिनियन लीग'** और **'एकियन लीग'** इस प्रकार के संघ राज्यों के ही उदाहरण हैं। प्राचीन भारत में इसी प्रकार के नगर राज्यों ने परस्पर संगठित होकर **'वज्जि संघ'** और **'अन्धकवृष्णि संघ'** का निर्माण किया। इसके पश्चात् विजय और पराजय के चक्र ने हमें वर्तमान राष्ट्रीय राज्यों के युग में लाकर खड़ा कर दिया और वर्तमान समय में हम **'विश्व संघ'** की कल्पना करने लगे हैं।

राज्य के इन बदलते हुए रूपों के साथ ही साथ मनुष्य के राज्य विषयक विचारों में भी परिवर्तन हो रहा है। प्राचीन काल में राज्य और उसकी आज्ञाओं को दैवी समझा जाता था, लेकिन वर्तमान राजनीतिक विचारों के अनुसार राज्य की प्रभुत्व शक्ति किसी एक व्यक्ति या किसी श्रेणी में निहित न होकर सर्वसाधारण जनता में निहित होती है। राजनीति विज्ञान इस बात की भी विवेचना करता है कि राजनीतिक विचारों का विकास कैसे हुआ और इस विकास ने राज्य के स्वरूप को किस प्रकार प्रभावित किया।

राज्य के वर्तमान का अध्ययन—ऐतिहासिक विकास के परिणामस्वरूप वर्तमान समय में राज्य एक विशेष स्वरूप को प्राप्त कर चुका है जिसे 'राष्ट्रीय राज्य' कहा जाता है। आज की स्थिति में यह राष्ट्रीय राज्य मनुष्यों का सर्वोपरि व सर्वोत्कृष्ट समुदाय है और अन्य कोई भी समुदाय राज्य से प्रतिस्पर्द्धा नहीं कर सकता। राजनीति

1 "State came into being for the sake of life and it continues for the sake of good life."
—*Aristotle*

2 "Political Science is thus a historical investigation of what the state has been, an analytical study of what the state is and a politico-ethical discussion of what the state should be."
—Gettell, *Introduction to Political Science*, p. 4.

विज्ञान वर्तमान समय में राज्य के स्वरूप, प्रयोजन, उद्देश्य और कार्यक्षेत्र पर विचार करता है। राज्य के कार्यक्षेत्र के दो रूप हैं—आन्तरिक और वाह्य। समाज में शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना, देशवासियों की चतुर्मुखी उन्नति, राष्ट्रीय और स्थानीय स्वशासन का कार्य-संचालन, राज्य के आन्तरिक कार्यक्षेत्र में आते हैं और राज्य के वाह्य कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत राष्ट्रीय सम्बन्ध, कूटनीति, सन्धि-विग्रह तथा विश्वशान्ति से सम्बन्धित समस्याओं का अध्ययन किया जाता है।

राज्य के भविष्य का अध्ययन—राज्य का अस्तित्व मानव-जीवन को श्रेष्ठ बनाने के लिए है और क्योंकि मानव जीवन की श्रेष्ठता की कोई सीमा नहीं है, इसलिए राज्य के वर्तमान स्वरूप को अन्तिम नहीं कहा जा सकता है। वर्तमान समय में अनेक विचारधाराओं द्वारा राज्य के स्वरूप, उद्देश्य और कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में नवीन विचारों का प्रतिपादन किया जा रहा है। उदाहरणार्थ, समाजवादी विचारधारा के अनुसार राज्य द्वारा आर्थिक जीवन को भी नियन्त्रित किया जाना चाहिए तो दूसरी ओर अराजकतावादी विचारधारा के अनुसार राज्यहीन समाज की स्थापना की जानी चाहिए। व्यक्तिवादी राज्य के कार्यों को सीमित करने के पक्ष में हैं तो वहुलवादी राज्य को मानव-निर्मित अन्य समुदायों के समान ही समझते हैं। इन सवसे अलग अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रतिपादक युद्धों के मूल कारण इन राष्ट्रीय राज्यों का अन्त कर एक विश्व संघ की स्थापना के लिए प्रयत्नशील हैं। **सामान्य धारणा यही है कि भविष्य में राज्य का रूप लोकतन्त्रात्मक, लोककल्याणकारी और विश्व-वन्धुत्व की धारणा पर आधारित होना चाहिए।**

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर कहा जा सकता है कि राजनीति विज्ञान में हम राज्य का सर्वकालीन अध्ययन करते हैं।

सरकार का अध्ययन—राज्य अपनी सम्प्रभुता का प्रयोग सरकार के माध्यम से ही करता है और इसलिए सरकार के विना राज्य के किसी अध्ययन को पूर्ण नहीं कहा जा सकता है। एक समय था जवकि सरकार ही राज्य होता था और लुई चौदहवें जैसे शासक 'मैं ही राज्य हूं' (I am the State) जैसी गर्वपूर्ण वात कहते थे। राजतन्त्रात्मक शासन में राजा के हाथ में ही शक्ति का समस्त केन्द्रीकरण होने के कारण इस प्रकार की वात कही जाती थी। किन्तु कुछ समय वाद इस राजतन्त्रात्मक शासन के स्थान पर कुलीनतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था स्थापित हुई और वर्तमान समय में इसके स्थान पर जनता के प्रतिनिधि शासन की स्थापना हो गयी है। इन परिवर्तनों के साथ ही साथ सरकार के व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका तीन स्पष्ट अंग हो गये हैं और वह इन अलग-अलग अंगों के माध्यम से शासन व्यवस्था का कार्य करती है। वर्तमान समय में इस वात पर विचार किया जा रहा है कि शासन को जनता के प्रति और अधिक उत्तरदायी कैसे वनाया जा सकता है। अतः राजनीति विज्ञान में हम सरकार के अंग, उसके प्रकार, उसके संगठन, आदि का भी अध्ययन करते हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि राजनीति विज्ञान का अध्ययन क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। इसके अन्तर्गत मानव के उन सम्पूर्ण कार्यों का अध्ययन किया जाता है जिनका सम्वन्ध उनके राज्य नामक संगठन के अतीत, वर्तमान एवं भविष्य से होता है तथा इसमें सरकार का अध्ययन भी किया जाता है।

स्थानीय, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का अध्ययन—राजनीति विज्ञान स्थानीय, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र की राजनीतिक और अन्य प्रासंगिक समस्याओं का भी अध्ययन करता है। आज के प्रजातान्त्रिक युग में स्थानीय स्वशासन का विशिष्ट महत्व है। गाँव, नगर और शहर सभी क्षेत्रों की स्थानीय समस्याओं का निराकरण वहाँ के लोगों के सहयोग से ही किया जा सकता है। स्थानीय संस्थाओं की कार्य प्रणाली का अध्ययन और इसमें नागरिकों का सहयोग जैसे विषय राजनीति विज्ञान के महत्वपूर्ण अंग हैं। अतः स्थानीय संस्थाओं की कार्यप्रणाली और स्थानीय समस्याओं का अध्ययन हमारे विषय की प्रमुख विवेच्य वस्तु है।

आधुनिक राज्य मूलतः राष्ट्रीय इकाई है और स्थानीय स्वशासन की समस्याओं का अध्ययन राष्ट्रीय पृष्ठभूमि में ही किया जा सकता है, अतः राष्ट्रीय समस्याएँ भी हमारे अध्ययन का प्रमुख अंग हैं। राष्ट्रीय एकता के लक्ष्य की व्यावहारिक रूप में प्राप्ति वर्तमान समय की एक प्रमुख राष्ट्रीय समस्या है और इस सम्वन्ध में राजनीति विज्ञान का निर्देश है कि स्थानीय दृष्टिकोण की अपेक्षा राष्ट्रीय दृष्टिकोण को प्रमुखता दी जानी चाहिए। साम्प्रदायिक विद्वेष, भाषावाद और क्षेत्रीयतावाद की समस्याओं का भी राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत अध्ययन किया जाता है।

वैज्ञानिक प्रगति के कारण आज सम्पूर्ण विश्व एक इकाई बन गया है और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का राष्ट्रीय स्थिति पर प्रभाव पड़ता है। आज के राजनीतिशास्त्रियों द्वारा इस वात पर निरन्तर विचार किया जा रहा है कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आतंकवाद से उत्पन्न संकट और इसी प्रकार अन्य समस्याओं के हल के लिए कौन-से उपाय अपनाये जाने चाहिए।

शासन प्रवन्ध का अध्ययन—राज्य और सरकार राजनीति विज्ञान के प्रमुख अध्ययन विषय हैं और इनके, विशेषतया सरकार के सन्दर्भ में लोक प्रशासन निश्चित रूप से एक महत्वपूर्ण तत्व है। यद्यपि लोक-प्रशासन एक पृथक् विषय है, परन्तु लोक-प्रशासन से सम्बन्धित मूल वातों का अध्ययन राजनीति विज्ञान का भी अंग है। लोक-सेवकों का मन्त्रियों से सम्बन्ध तथा प्रशासन को अधिकाधिक कुशल एवं लोक हितकारी और उत्तरदायी वनाने के उपायों का अध्ययन राजनीति विज्ञान में किया जाता है।

अन्य समाज विज्ञानों का प्रासंगिक अध्ययन—वर्तमान समय में इस तथ्य को स्वीकार कर लिया गया है कि मानव के राजनीतिक विचारों को अन्य सामाजिक, आर्थिक, भौगोलिक, मनोवैज्ञानिक, आदि तत्वों के द्वारा प्रभावित किया जाता है और राजनीति विज्ञान अन्य समाज विज्ञानों से परे हटकर अपनी समस्याओं का अध्ययन नहीं कर सकता है। अतः राजनीति विज्ञान के विभिन्न विद्वानों द्वारा अन्य समाज विज्ञानों के सन्दर्भ में ही राजनीति विज्ञान के अध्ययन पर वल दिया गया है। उदाहरणार्थ, कार्ल मार्क्स ने राजनीति विज्ञान के लिए आर्थिक आधार को अपनाया है और **मैक्डूगल, ग्राहम वालस**, आदि ने राजनीतिक संस्थाओं को समझने के लिए मनोविज्ञान की ओर संकेत किया है। अतः **हसजार और स्टीवेन्सन** के शब्दों में, **"राजनीति विज्ञान, जो एक समय अपने अध्ययन के लिए राजकीय तत्वों का ही ध्यान करता था, आज अपने प्रशासनिक तत्वों के अध्ययन में आर्थिक, सामाजिक और भौगोलिक आधारों की भी विवेचना करता है।"**

राजनीतिक दलों तथा अन्य दवाव गुटों का अध्ययन—आज राजनीति विज्ञान राजनीति के सतही अध्ययन से आगे वढ़कर राजनीतिक जीवन की वास्तविकताओं का अध्ययन करने में संलग्न है और अध्ययन के इस क्रम में राजनीतिक दल व दवाव गुट सवसे अधिक प्रमुख रूप में आते हैं। वस्तुतः ये ही तो वे संस्थाएँ हैं जिनके द्वारा समस्त राजनीतिक जीवन को परिचालित किया जाता है। वर्तमान समय में तो संविधान और शासन के औपचारिक संगठन की अपेक्षा भी राजनीतिक दल और दवाव गुट के अध्ययन को अधिक महत्व दिया जाने लगा है।

राजनीतिक विचारों का इतिहास और आधुनिक राजनीतिक विचारधाराएँ

राजनीतिक विचारों के इतिहास की पृष्ठभूमि में ही आज की राजनीतिक स्थिति को सही रूप में समझने का कार्य किया जा सकता है अतः राजनीति विज्ञान में सुकरात और प्लेटो से लेकर बर्ट्रेण्ड रसल तथा मनु से लेकर महात्मा गांधी तक विभिन्न विद्वानों द्वारा राजनीति के क्षेत्र में व्यक्त किये गये विचारों का अध्ययन किया जाता है। राजनीति में हमारा आदर्श क्या होना चाहिए, इस विषय को लेकर व्यक्तिवाद, समाजवाद, साम्यवाद, गांधीवाद, आदि अनेक राजनीतिक विचारधाराओं का प्रतिपादन किया जा चुका है। राजनीति विज्ञान में इन सभी विचारधाराओं के तुलनात्मक गुण-दोषों का अध्ययन कर इस वात पर विचार किया जाता है कि एक देश-विशेष की परिस्थितियों में इनमें से किस विचारधारा को अपनाना अधिक उपयुक्त हो सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि, सम्बन्धों और संगठनों का अध्ययन

अन्तर्राष्ट्रीय विधि, सम्वन्धों और संगठनों का अध्ययन भी राजनीति विज्ञान का विषय है। राजनीति विज्ञान में हम इन वातों पर विचार करते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विकास कव और कैसे हुआ ? अन्तर्राष्ट्रीय विधि का वर्तमान स्वरूप क्या है और उनके पीछे कौन- सी शक्ति है ? राजदूतों, युद्धवन्दियों, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-सन्धि तथा युद्ध से सम्वन्धित नियमों में कौन-से सुधार किये जायें। 1960 और उसके वाद विमानों के बलात् अपहरण की वढ़ती हुई घटनाओं को देखकर इस बात पर विचार किया जा सकता है कि वायु-यातायात को सुरक्षित वनाने के लिए क्या उपाय अपनाये जायें ? वर्तमान समय में इस वात पर विचार किया जा रहा है कि आतंकवाद की रोकथाम के लिये सम्प्रभु राज्यों द्वारा परस्पर किस प्रकार सहयोग किया जाना चाहिये। राजनीति विज्ञान विभिन्न राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार करता है और अव तक स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों—**राष्ट्रसंघ तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ**—के संगठन और कार्यों का अध्ययन करता है।

इस प्रकार हम यह कहते हैं कि **राजनीति विज्ञान का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत है और इसके अन्तर्गत राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त, सम्प्रभुता, कानून, स्वतन्त्रता, अधिकार, शासन के प्रकार और अंगों, प्रतिनिधित्व, राज्य के कार्यों, राजनीतिक दलों, दबाव समूह, जनमत, व्यक्तिवाद, समाजवाद, साम्यवाद, आदि राजनीतिक विचारधाराओं तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि, सम्बन्धों और संगठन का अध्ययन किया जाता है।**

राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में निरन्तर वृद्धि

उपर्युक्त सीमाओं तक तो राज्य का क्षेत्र परम्परागत रूप से विस्तृत है ही, किन्तु राजनीति विज्ञान का अध्ययन विषय गतिशील है और इसमें निरन्तर वृद्धि हो रही है। वर्तमान समय में कुछ नवीन प्रवृत्तियों का उदय हो जाने के कारण राजनीति विज्ञान का क्षेत्र और भी अधिक विस्तृत हो गया है। इन प्रवृत्तियों में प्रमुख **रूप से जीवन की विविधता, प्रजातन्त्रात्मक शासन प्रणाली का उदय, जनकल्याणकारी राज्य की धारणा, नियोजित आर्थिक विकास (Planned Economic Development) और वैज्ञानिक विकास के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण विश्व का एक इकाई के रूप में परिणत हो जाना है।**

वर्तमान समय में मानव-जीवन वहुत अधिक विविधतापूर्ण हो गया है और राज्य तथा सरकार के अतिरिक्त कुछ दूसरे समुदायों ने जन्म ले लिया है जो मानव के राजनीतिक जीवन को वहुत प्रभावित करते हैं। अतः राजनीति विज्ञान में राजनीतिक समुदायों और संस्थाओं का प्रमुख रूप से तथा सामाजिक जीवन के अन्य समुदायों का प्रासंगिक रूप से अध्ययन किया जाता है।

राजतन्त्र और कुलीनतन्त्र के अन्तर्गत राजनीति कुछ गिने-चुने व्यक्तियों के विचार का विषय थी, किन्तु शासन-व्यवस्था के रूप में प्रजातन्त्र के उदय के साथ ही राज्य और राजनीति सर्वसाधारण के विचार की वस्तु वन गयी है। इसके अतिरिक्त राजनीति विज्ञान के प्रमुख प्रतिपाद्य विषय राज्य का क्षेत्र अधिकाधिक विस्तृत होता जा रहा है। आज **'पुलिस राज्य'** का स्थान **'लोककल्याणकारी राज्य'** ने ले लिया है और यह कहा जा सकता है कि **'पालने से लेकर श्मशान'** (from cradle to grave) तक व्यक्ति के जीवन का कोई भी कार्य राज्य के क्षेत्र से वाहर नहीं रहा है। आज अधिकांश प्रजातन्त्रात्मक राज्यों द्वारा **'नियोजित आर्थिक विकास'** के मार्ग को अपना लिया गया है जिसके परिणामस्वरूप आर्थिक क्षेत्र की अनेक गतिविधियाँ राजनीति विज्ञान का प्रतिपाद्य विषय वन गयी हैं।

इन सवके अतिरिक्त वैज्ञानिक विकास के कारण सम्पूर्ण मानव समाज ने एक इकाई का रूप धारण कर लिया है और विश्व के एक कोने में घटने वाली घटना का प्रभाव पूरे विश्व पर पड़ता है। अमरीकन राजनीतिज्ञ **वैण्डेल विल्की** (Wendell Wilkie) ने अपनी पुस्तक **'एक विश्व'** (*One World*) में सम्पूर्ण मानव समाज की जो एकरूपता दिखायी है वह एक तथ्य है और इससे राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में स्वाभाविक रूप से वहुत अधिक वृद्धि हो गयी है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि सभ्यता के विकास के साथ-साथ राजनीति विज्ञान का क्षेत्र दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक व्यापक होता जा रहा है और आज हम कह सकते हैं कि **''राजनीति विज्ञान विषय का क्षेत्र उतना ही व्यापक है जितना कि समय और प्रदेश।''**[1]

नाम विभेद
(TERMINOLOGICAL DISTINCTION)

जैलीनेक ने एक स्थान पर लिखा है कि **''राजनीति विज्ञान के अतिरिक्त और कोई ऐसा विज्ञान नहीं है जिसे पारिभाषिक शब्दों की उसके समान आवश्यकता हो।''**[2] जैलीनेक का यह कथन इस विषय के नाम के सम्वन्ध में भी वहुत अधिक सीमा तक सही है। वर्तमान काल में मनुष्य के राजनीतिक क्रियाकलापों और संस्थाओं से सम्वन्धित विषय को राजनीति विज्ञान कहा जाता है, तथापि इसे अव तक 'राजनीति' (Politics), 'राजनीतिक दर्शन' (Political Philosophy), आदि कई नाम दिये जा चुके हैं। वर्तमान समय में हमारे लिए इन विविध नामों का तात्पर्य और इनका पारस्परिक अन्तर समझना उपयोगी होगा।

1 **"The scope of Political Science is co-existensive with time and space."**
2 **"There is no Science, which is so much in need of a good terminology as in Political Science."**
—*Jelineck*

राजनीति (Politics)—राजनीति शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम अरस्तू ने अपनी 'नगर राज्य' सम्बन्धी पुस्तक के शीर्षक रूप में किया था। 'राजनीति' शब्द की व्युत्पत्ति यूनानी शब्दों 'Polis' और 'Politicus' से हुई है और यूनानियों के लिए 'राजनीति' शब्द के साथ राज्य का अध्ययन तथा वह सब कुछ जुड़ा हुआ था, जिसका सम्बन्ध तत्कालीन नागरिक जीवन के साथ होता था। अरस्तू के बाद **जैलीनेक, सिजविक, हॉल्टजनडार्फ,** आदि लेखकों के द्वारा भी 'राजनीति विज्ञान' (Political Science) के स्थान पर 'राजनीति' (Politics) शब्द को ही अपनाया गया है। **लॉस्की** ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ का नाम **'ग्रामर ऑफ पालिटिक्स'** (*Grammar of Politics*) रखा है और **विल्सन** ने भी **'राजनीति के सिद्धान्त'** (*Principles of Politics*) शीर्षक से रचना प्रस्तुत की है। इन लेखकों का विचार है कि राज्य और सरकार से सम्बन्धित समस्त विषय-सामग्री 'राजनीति' के अन्तर्गत आ जाती है। **सर फ्रेडरिक पोलक** ने भी इस विषय के लिए 'राजनीति' शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु 'राजनीति' शब्द को संकुचित अर्थ में प्रयुक्त होते देखकर इसे स्पष्ट ही दो वर्गों में बाँट दिया जाता है—**सैद्धान्तिक राजनीति** (Theoretical Politics) और **व्यावहारिक या प्रयोगात्मक राजनीति** (Practical or Applied Politics)।

सैद्धान्तिक और प्रयोगात्मक राजनीति के क्षेत्र में अलग-अलग निम्न विषय आते हैं :

सैद्धान्तिक राजनीति	प्रयोगात्मक राजनीति
(अ) राज्य के सिद्धान्त (उत्पत्ति, शासन रूपों का वर्गीकरण और प्रभुसत्ता)	(अ) राज्य (सरकार के वर्तमान रूप)
(ब) सरकार के सिद्धान्त (संस्थाओं के प्रकार, कार्यपालिका विभाग, व्यवस्थापिका विभाग, कानून का क्षेत्र और उसकी सीमाएँ)	(ब) सरकार (संवैधानिक कानून और परम्पराएँ, संसदीय शासन, सेना, पुलिस, मुद्रा चलन, बजट और व्यापार)
(स) विधि निर्माण सम्बन्धी सिद्धान्त (विधि निर्माण के उद्देश्य और विधि निर्माण की प्रक्रिया, विधि का स्वरूप और स्वीकृति, व्यवस्था सम्बन्धी विवरण)	(स) कानून और उनका निर्माण (विधि निर्माण की प्रणाली, न्यायालय और न्याय-व्यवस्था, न्याय-सम्बन्धी दृष्टान्त तथा न्यायाधिकरण)
(द) कृत्रिम व्यक्ति के रूप में राज्य का सिद्धान्त (दूसरे राज्यों और मानवीय सिद्धान्तों से सम्बद्ध अन्तरराष्ट्रीय कानून)	(द) व्यक्ति के रूप में राज्य (कूटनीति, युद्ध और शान्ति सम्मेलन, सन्धियां और अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन)

इस नामकरण पर आपत्तियाँ—'राजनीति' के इस नामकरण पर निम्न आपत्तियाँ उठाते हुए इसे अस्वीकार किया जाता है :

(1) अध्ययन क्षेत्र की दृष्टि से—फ्रेडरिक पोलक द्वारा 'राजनीति' का जो वर्गीकरण किया गया है, वह निःसन्देह उपयोगी है और राज्य से सम्बन्धित सभी प्रश्न इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। 'राजनीति' शब्द का प्रयोग यदि इतने व्यापक अर्थ में किया जाय तो इस विषय के लिए 'राजनीति' नाम अपनाने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती, किन्तु वर्तमान समय में 'राजनीति' शब्द का प्रयोग उपर्युक्त व्यापक अर्थों में न किया जाकर संकुचित अर्थ में किया जाता है। आधुनिक लेखकों (**जैनेट, सी. लेविस तथा अलेक्जेण्डर बेन**) ने 'राजनीति' का तात्पर्य प्रयोगात्मक अथवा व्यावहारिक (Applied or Practical) राजनीति से समझा है। **मैक्केनी** ने भी 'राजनीति' शब्द को कला के अर्थ में ही प्रयुक्त किया है। इस प्रकार राजनीति का राज्य के सैद्धान्तिक पक्ष से कोई सम्बन्ध नहीं रह गया है और उससे राज्य के केवल क्रियात्मक पक्ष, व्यावहारिक राजनीति या शासन कला का बोध होता है। गार्नर ने कहा है कि **"राजनीति शब्द राज्य के क्रियाकलापों के उस भाग तक सीमित है जो दैनिक गतिविधि के संचालन से सम्बन्ध रखता है।"**[1]

1 **"The meaning of the term 'Politics' is confined to that part of the business and activity which has to do with the actual conduct of the affairs of the state."** —*Garner*

तात्पर्य यह है कि आजकल राजनीति का अभिप्राय शासन के दिन-प्रतिदिन के कार्यों और नीतियों से होता है, राज्य के मौलिक सिद्धान्तों से नहीं। जहाँ तक हमारे अध्ययन विषय का सम्बन्ध है, इसके अन्तर्गत दिन-प्रतिदिन की राजनीतिक क्रियाओं का तो गौण रूप से ही अध्ययन किया जाता है, प्रमुख रूप से तो राज्य की उत्पत्ति और उसका विकास, प्रकृति और उद्देश्य, आदि शाश्वत समस्याओं एवं सिद्धान्तों का ही क्रमवद्ध अध्ययनं किया जाता है। इसलिए हमारे अध्ययन विषय के लिए 'राजनीति' शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता है। गिलक्राइस्ट ने ठीक ही कहा है कि **"आधुनिक प्रयोग के कारण इसका एक नया अभिप्राय हो गया है, जिससे हमारे विज्ञान के नाम के रूप में यह निरर्थक हो गया है।"**[1]

(2) राजनीति में शास्त्रीय एकरूपता का अभाव—'राजनीति' शब्द का प्रयोग किसी राजनीतिक संस्था या स्थान विशेष के सन्दर्भ में ही किया जाता है जैसे भारत राज्य की राजनीति, आन्ध्र प्रदेश की राजनीति या ग्रामीण राजनीति, आदि। इस सम्बन्ध में यह महत्वपूर्ण है कि प्रत्येक देश की राष्ट्रीय या स्थानीय राजनीति अन्य देशों की राष्ट्रीय या स्थानीय राजनीति से भिन्न होती है और इस प्रकार राजनीतिक अध्ययन में एकरूपता का नितान्त अभाव है। ऐसी स्थिति में शास्त्रीय महत्व के विषय 'राजनीति विज्ञान' के लिए 'राजनीति' नाम प्रयुक्त नहीं हो सकता।

(3) अप्रतिष्ठित शब्द—इसके अतिरिक्त आधुनिक युग में तो 'राजनीति' शब्द का प्रयोग विकृत एवं भ्रष्ट अर्थ में किया जाने लगा है। दैनिक जीवन में हम घरेलू राजनीति, समूह राजनीति, कॉलेज राजनीति, गाँव की राजनीति, आदि शब्दों का प्रयोग इन क्षेत्रों में पायी जाने वाली मानवीय बुराइयों के लिए ही करते हैं और साधारण बोलचाल में भ्रष्ट तथा कपटी व्यक्ति के लिए 'राजनीतिज्ञ' शब्द का प्रयोग किया जाता है। आंग्ल भाषा में कहावत है—**"राजनीति दुष्ट पुरुष का अन्तिम आश्रय-स्थल है।"**[2]

अतः वर्तमान युग में राज्य से सम्बन्धित ज्ञान की इस शाखा को 'राजनीति' की संज्ञा देना नितान्त भ्रमपूर्ण एवं असंगत होगा।

राजनीतिक दर्शन
(POLITICAL PHILOSOPHY)

हमारे अध्ययन विषय को कुछ लेखक 'राजनीतिक दर्शन' का नाम प्रदान करते हैं और अपने पक्ष के समर्थन में निम्न तर्क देते हैं :

(1) विषय की सैद्धान्तिक प्रकृत्ति के अनुरूप—उनका तर्क है कि हमारे विषय की प्रकृति सैद्धान्तिक एवं दार्शनिक है, व्यावहारिक नहीं। अपने अध्ययन विषय के अन्तर्गत हम प्रमुख रूप से राजनीतिक संस्थाओं से सम्बन्धित आधारभूत तथ्यों का ही अध्ययन करते हैं, उनके क्रियाकलापों का नहीं। इस विषय के अन्तर्गत हम राज्यों की उत्पत्ति, उनका विकास, प्रकृति, उद्देश्य, मानव अधिकार एवं कर्तव्य और राजनीतिक धारणाओं का अध्ययन करते हैं क्योंकि राज्य सम्बन्धी अध्ययन का मुख्य भाग ये सिद्धान्त ही हैं इसलिए इसे राजनीतिक दर्शन ही कहा जाना चाहिए।

(2) राजनीतिक दर्शन राजनीति विज्ञान का पूर्वगामी—इस संज्ञा के पक्ष में यह तर्क भी दिया जाता है कि राजनीतिक दर्शन राजनीति विज्ञान का पूर्वगामी है और इस विषय ने अपने अधिकांश सिद्धान्त राजनीतिक दर्शन से ही लिये हैं। गिलक्राइस्ट के शब्दों में, **"राजनीतिक दर्शन का एक प्रकार से राजनीति से पूर्व जन्म हुआ क्योंकि राजनीति विज्ञान राजनीतिक दर्शन की मौलिक मान्यताओं पर ही आधारित है।"**

(3) प्रतिष्ठित शब्द—'दर्शन' अपने आप में एक प्रतिष्ठित शब्द है, जिसका प्रयोग उच्चस्तरीय ज्ञान के लिए किया जाता है। उनका कथन है कि स्थानीय एवं शाश्वत महत्व के विषयों से सम्बन्धित होने के कारण इन विषयों को "राजनीतिक दर्शन' जैसा सम्मानजनक नाम ही दिया जाना चाहिए।

इस नामकरण पर आपत्तियाँ—इस नामकरण के सन्दर्भ में अग्र आपत्तियाँ हैं :

(1) अध्ययन क्षेत्र की दृष्टि से—यद्यपि राजनीतिक दर्शन के अन्तर्गत विषय का सम्पूर्ण सैद्धान्तिक अध्ययन आ जाता है, लेकिन उसमें विषय का वह भाग छूट जाता है, जिसे सर फ्रेडरिक पोलक के विभाजन में **'व्यावहारिक राजनीति'** का नाम दिया गया है। जहाँ तक हमारे अध्ययन विषय का सम्बन्ध है, इसके लिए

1 "Modern usage has given it a new content which makes it useless as a designation for our subject."
—Gilchrist, *Principles of Political Science*, p. 2

2 "Politics is the last resort of a scoundrel."

सैद्धान्तिक राजनीति के साथ-ही-साथ व्यावहारिक राजनीति का अध्ययन भी समान रूप से महत्वपूर्ण है और समकालीन विद्वान तथा राजनीतिज्ञ तो आदर्श की अपेक्षा वास्तविकता की खोज में ही अधिक लगे हैं। इस सम्बन्ध में जे. एल. हैलोवेल ने ठीक ही कहा है कि **"राजनीतिक दर्शन का सम्बन्ध राजनीतिक संस्थाओं में निहित विचारों और आकांक्षाओं से है और इस कारण राजनीतिक दर्शन विषय का अपूर्ण अध्ययन ही है।"**

(2) प्रकृति की दृष्टि से—'राजनीतिक दर्शन' शव्द से विषय की प्रकृति के सम्वन्ध में ऐसा वोध होता है कि यह विषय एक कला मात्र ही है, विज्ञान नहीं। यह निष्कर्ष अध्ययन विषय की सही प्रकृति के अनुकूल नहीं है।

(3) 'दर्शन शब्द' अनिश्चितताओं और अवास्तविकताओं का प्रतीक—वर्तमान समय में दर्शन शव्द अनिश्चितताओं तथा अवास्तविकताओं का प्रतीक हो गया है और व्यवहार में साधारणतया उस व्यक्ति के लिए दार्शनिक शव्द का प्रयोग किया जाता है जो जीवन की यथार्थताओं से दूर अपने ही कल्पनालोक में निवास करता है। 'राजनीतिक दर्शन' शव्द के प्रयोग का तात्पर्य यह होगा कि इस विषय में राज्य की समस्याओं पर केवल कल्पना के आधार पर विचार किया जाता है जो वास्तविकता से दूर रहती है। यह निश्चित रूप से एक सुखद स्थिति नहीं होगी। अतः हमारे अध्ययन विषय के लिए 'राजनीतिक दर्शन' शव्द को स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

राजनीति विज्ञान—सर्वाधिक उपयुक्त संज्ञा

हमारे विषय के लिए 'राजनीति विज्ञान' शव्द का प्रयोग सर्वप्रथम **गॉडविन और मेरी वुल्सटोनेक्राफ्ट (Marie Wollstonecraft)** द्वारा किया गया। वाद में इस शव्द का प्रयोग **विको, ह्यूम और जॉन सीले** द्वारा किया गया तथा आज यह हमारे विषय का सर्वमान्य नाम वन गया है। वस्तुतः हमारे विपय के नाम के लिए 'राजनीति विज्ञान' शव्द ही सर्वाधिक उपयुक्त है।

(1) अध्ययन क्षेत्र के अनुरूप—'राजनीति विज्ञान' शव्द हमारे अध्ययन विषय के अनुरूप है, क्योंकि इस शव्द के अन्तर्गत हमारा सम्पूर्ण अध्ययन विषय आ जाता है। 'राजनीति' शव्द के अन्तर्गत पोलक के विभाजन की व्यावहारिक राजनीति ही आ सकती है और 'राजनीतिक दर्शन' के अन्तर्गत केवल सैद्धान्तिक राजनीति। लेकिन हमारा अध्ययन विषय राजनीति के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों ही पक्षों से समान रूप से सम्वन्धित है। यह ठीक ही कहा गया है कि राजनीति विज्ञान एक वास्तविक विज्ञान (Positive Science) भी है और आदर्शात्मक विज्ञान (Normative Science) भी। उदाहरणार्थ, इस विषय के अन्तर्गत हम केवल राज्य की उत्पत्ति, स्वरूप और कार्यक्षेत्र से सम्वन्धित विभिन्न विचारधाराओं का ही अध्ययन नहीं करते, वरन् इसके साथ-ही-साथ यथार्थ राज्यों और सरकारों के संगठन एवं उनके कार्यों का भी अध्ययन करते हैं। सम्पूर्ण अध्ययन विषय की व्याख्या करने के कारण 'राजनीति विज्ञान' नाम ही स्वीकार्य हो सकता है।

(2) विषय की प्रकृति के अनुकूल—'राजनीति विज्ञान' शव्द विषय की प्रकृति को भी नितान्त स्पष्ट कर देता है। 'राजनीति' या 'राजनीतिक दर्शन' शव्द से 'राजनीति विज्ञान' का यथार्थ रूप प्रकट नहीं होता, लेकिन जव हम इसके लिए 'राजनीति विज्ञान' शव्द का प्रयोग करते हैं, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत विषय एक विज्ञान और कला दोनों ही है।

(3) सम्मानप्रद संज्ञा—इसके अतिरिक्त वर्तमान समय में विज्ञान का अर्थ एक क्रमवद्ध, तर्कपूर्ण और विकसित ज्ञान से लिया जाता है, इसलिए स्वाभाविक रूप से राजनीति विज्ञान प्रस्तुत विषय के लिए अधिक सम्मानप्रद संज्ञा हो जाती है। आधुनिक समय में अधिकांश लेखक यथा सीले, वर्गेस, विलोवी, गैटल, गार्नर, लीकॉक और गिलक्राइस्ट इस विषय के नाम के रूप में राजनीति विज्ञान शव्द को ही सर्वाधिक उपयुक्त समझते हैं। 1948 में यूनेस्को के तत्वावधान में हुए एक सम्मेलन में एकत्रित राजनीति विज्ञान के विद्वानों ने 'राजनीति विज्ञान' शव्द को ही अधिक मान्य ठहराया था। अतः उपर्युक्त सभी वातों को दृष्टि में रखते हुए गिलक्राइस्ट के शव्दों में कहा जा सकता है कि **"विवेक तथा प्रचलन के दृष्टिकोण से राजनीति विज्ञान ही सर्वाधिक उचित नाम है।"**[1]

---

1 "Both reason and usage therefore, justify the name of Political Science."

—Gilchrist, *Political Science*, p. 3.

राजनीति विज्ञानों (The Political Sciences)

अनेक लेखक, विशेष रूप से इस विषय के फ्रांसीसी विद्वानों द्वारा इस मत का प्रतिपादन किया गया है कि आधुनिक राज्य का संगठन वहुत अधिक जटिल है और राज्य के संगठन की इस जटिलता के अनुसार हमारे अध्ययन विषय की अनेक शाखाएँ हैं : यथा लोक प्रशासन (Public Administration), अन्तरराष्ट्रीय कानून, स्वशासन, समाज कल्याण और जन विधि, आदि। क्योंकि हमारा विषय इन सभी शाखाओं का समूह है, इसलिए हमारे अध्ययन विषय के लिए 'राजनीति विज्ञान' के स्थान पर राजनीति विज्ञानों या 'अनेक राजनीति विज्ञान' अर्थात् एक वचन के स्थान पर बहुवचन को अपनाना अधिक न्यायोचित है। **वानमोहल, हाल्टजेनडार्फ, लेविस और गिडिंग्स** ने राजनीति विज्ञान का वहुवचन के रूप में प्रयोग किया है। **वानमोहल** ने 1855 में प्रकाशित अपने एक ग्रन्थ **'अनेक राजनीतिक विज्ञानों'**, का निम्नलिखित वर्गीकरण किया है— (1) सामान्य राजनीतिक सिद्धान्त, (2) राजनीति के विशेष विज्ञान; जैसे लोक विधि, राजनीतिक आचारशास्त्र, राजनीतिक कला, (3) ऐतिहासिक राजनीति विज्ञान।

किन्तु फ्रेंच और कुछ दूसरे लेखकों का उपर्युक्त दृष्टिकोण उचित नहीं प्रतीत होता है। राजनीति की जिन शाखाओं का फ्रेंच लेखकों द्वारा उल्लेख किया गया है उनमें से कुछ ने ज्ञान की अलग और स्वतन्त्र शाखा का रूप ग्रहण कर लिया है और कुछ इस मार्ग की ओर अग्रसर हैं। उदाहरणार्थ, लोक प्रशासन ने स्वतन्त्र विषय का रूप प्राप्त कर लिया है और अन्तरराष्ट्रीय कानून इस स्थिति को प्राप्त करने के करीब पहुँच गया है। वैसे तो सभी समाजशास्त्र एक-दूसरे से निकट सम्बन्धित हैं, परन्तु इसके साथ-ही-साथ वे अलग-अलग और स्वतन्त्र भी हैं। इसलिए किसी एक विषय के नाम का वहुवचन के रूप में प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए। **मुनरो, स्मिथ, बर्गेस, जैलीनेक, लीवर, सिजविक, सीले, विलोबी,** आदि अनेक लेखक राजनीति विज्ञान का एकवचन में प्रयोग ही शुद्ध मानते हैं और स्वयं अपने विचार से भी अपने अध्ययन विषय के लिए **'राजनीति विज्ञान'** संज्ञा ही सर्वाधिक उपयुक्त प्रतीत होती है।

राजनीति विज्ञान का स्वरूप
(NATURE OF POLITICAL SCIENCE)

क्या राजनीति विज्ञान 'विज्ञान' है?

यद्यपि हमारे अध्ययन के विषय को 'राजनीति विज्ञान' नाम से सम्बोधित किया जाता है, लेकिन इस विषय को विज्ञान मानने के विषय में राजनीति विज्ञान के विद्वानों में ही वहुत अधिक मतभेद है। एक ओर **वक्ल, काम्टे, मेटलैण्ड, एमास, वियर्ड, केटलिन, मोस्का, ब्रोगन, बर्क,** आदि विद्वान हैं जो राजनीति विज्ञान को विज्ञान के रूप में स्वीकार नहीं करते, तो दूसरी ओर अरस्तू इसे **सर्वोच्च विज्ञान** (Master Science) और वर्नार्ड शॉ इसे **मानवीय सभ्यता को सुरक्षित रख सकने वाला विज्ञान** कहते हैं। अरस्तू के अतिरिक्त **बोदां, हाब्स, माण्टेस्क्यू, ब्राइस, ब्लंटशली, जैलीनेक, डॉ. फाइनर, लास्की,** आदि अन्य विद्वान भी इसे विज्ञान के रूप में स्वीकार करते हैं।

राजनीति विज्ञान की वैज्ञानिकता के विरुद्ध तर्क

वक्ल, काम्टे, आदि विद्वानों के अनुसार, विज्ञान, ज्ञान की वह शाखा है जिसके अन्तर्गत कार्य और कारण में सदैव निश्चित सम्बन्ध पाया जाता है और जिसके निष्कर्ष निश्चित एवं शाश्वत होते हैं। विज्ञान की इस परिभाषा के आधार पर ये विद्वान राजनीति विज्ञान को विज्ञान के रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं। काम्टे के शब्दों में **''राजनीति विज्ञान के विशेषज्ञ उसकी अध्ययन विधियों, सिद्धान्तों एवं निष्कर्षों के सम्बन्ध में एकमत नहीं हैं। इसमें विकास की निरन्तरता का अभाव है। इसमें उन तत्वों का अभाव है जिसके आधार पर भविष्य के लिए ठीक निष्कर्ष निकाले जा सकें।''**

इन विद्वानों द्वारा अपने कथन के पक्ष में निम्नलिखित तर्कों का प्रयोग किया जाता है :

(1) **सर्वमान्य तथ्यों का अभाव**—राजनीति विज्ञान में गणित के दो और दो 'चार' या भौतिक विज्ञान के **'गुरुत्वाकर्षण के नियम'** (Law of Gravitation) की भाँति ऐसे तथ्यों का नितान्त अभाव है, जिन पर सभी विद्वान सहमत हों। यदि एक ओर आदर्शवादी राज्य की सर्वोच्च सत्ता का प्रतिपादन करते हैं, तो दूसरी ओर अराजकतावादी राज्य की अनावश्यकता का। **बेंजामिन फ्रेंकलिन, एबे सीज और लास्की** जैसे अनेक विद्वान एकसदनात्मक व्यवस्थापिका के समर्थक हैं तो **लैकी, सिजविक, ब्लंटशली,** आदि एकसदनात्मक व्यवस्थापिका के नितान्त विरोधी हैं। अन्य बातों के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार के मतभेद विद्यमान हैं।

(2) **कार्य और कारण में निश्चित सम्बन्ध का अभाव**—भौतिक एवं रसायन विज्ञान में कार्य और कारण में निश्चित सम्बन्ध पाया जाता है, किन्तु राजनीतिक क्षेत्र में घटित होने वाली घटनाएँ अनेक पेचीदे कारणों का परिणाम होती हैं और क्रिया-प्रतिक्रिया के इस चक्र में अमुक घटना किन कारणों के परिणामस्वरूप हुई, यह कहना बहुत कठिन हो जाता है। 1917 की सोवियत क्रान्ति साम्यवादी विचारधारा के परिणामस्वरूप हुई या उस समय के विशेष अन्तरराष्ट्रीय वातावरण के कारण, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है।

(3) **पर्यवेक्षण एवं परीक्षण का अभाव**—पदार्थ विज्ञानों में एक प्रयोगशाला में बैठकर यन्त्रों की सहायता से मनचाहे प्रयोग किये जा सकते हैं, किन्तु राजनीति विज्ञान में इस प्रकार के पर्यवेक्षण एवं परीक्षण सम्भव नहीं हैं, क्योंकि राजनीति विज्ञान के अध्ययन विषय मानव के क्रियाकलाप हमारे नियन्त्रण में नहीं होते हैं। इस सम्बन्ध में ब्राइस ने कहा है कि **"भौतिक विज्ञान में एक निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए बार-बार प्रयोग किया जा सकता है, लेकिन राजनीति में एक प्रयोग बार-बार नहीं दोहराया जा सकता है क्योंकि उसी प्रकार की दशाएँ दुबारा नहीं पैदा की जा सकतीं, जैसे कोई नदी के एक ही प्रवाह में दुबारा प्रवेश नहीं कर सकता।"**

(4) **मानव स्वभाव की परिवर्तनशीलता**—प्राकृतिक विज्ञानों के अध्ययन विषय निर्जीव होते हैं, लेकिन राजनीति विज्ञान का अध्ययन विषय मानव एक जीवित, जागृत और चेतन सत्ता है। अलग-अलग व्यक्तियों के स्वभाव में अन्तर होता ही है और एक समान परिस्थितियों में रहने वाले व्यक्ति भी भिन्न-भिन्न रूप से आचरण करते हैं। ऐसी स्थिति में राजनीति विज्ञान, जो कि मनुष्य और उससे सम्बन्धित संस्थाओं का अध्ययन करता है प्राकृतिक विज्ञान की तरह नहीं हो सकता।

(5) **अचूक माप की कमी**—शुद्ध माप विज्ञान की एक विशेषता है, लेकिन राजनीति विज्ञान में शुद्ध माप सम्भव नहीं है। मनुष्यों का आवेग, उत्तेजना, भावना, अभिलाषा, क्रोध, प्रेम, आदि राजनीति को प्रभावित करने वाले तत्व नितान्त अस्पष्ट और अदृश्य हैं, जिन्हें ताप या गैस के दवाव की भाँति मापा नहीं जा सकता।

(6) **भविष्यवाणी की क्षमता का अभाव**—पदार्थ विज्ञान के नियम निश्चित होने के कारण किसी भी विषय के सम्बन्ध में भविष्यवाणी की जा सकती है। उदाहरणार्थ, यह सही-सही वतलाया जा सकता है कि किस दिन और किस समय चन्द्र ग्रहण और सूर्य ग्रहण लगेगा। लेकिन राजनीति विज्ञान में यह नहीं वतलाया जा सकता कि किसी निश्चित विचार का जनता पर क्या प्रभाव पड़ेगा या चुनाव में किस पक्ष को विजय प्राप्त होगी। अप्रेल, 1992 के ब्रिटिश आम चुनाव तथा भारत में तमिलनाडु और राजस्थान जैसे राज्यों में वारहवीं लोकसभा (1998 में गठित) के चुनाव परिणाम अप्रत्याशित रहे हैं। वर्क तो कहते हैं कि **"राजनीति में भविष्यवाणी करना मूर्खता है।"**

(7) **परिभाषा, शब्दावली तथा अध्ययन पद्धतियों के सम्बन्ध में मतवैभिन्य**—विज्ञान की एक विशेषता यह मानी जाती है कि उसमें परिभाषा, शब्दावली तथा अध्ययन पद्धतियों के सम्बन्ध में निश्चितता तथा एकमतता हो, लेकिन हमारे अध्ययन विषय के सम्बन्ध में स्थिति विपरीत ही है। स्वयं इस विषय के नाम के सम्बन्ध में मत वैभिन्य है और राजनीति विज्ञान की उतनी ही परिभाषाएँ हैं, जितने इसके लेखक। इस विषय के अन्तर्गत प्रजातन्त्र और समाजवाद जैसी अनेक वहुअर्थी धारणाएँ भी हैं। इसी वात की ओर लक्ष्य करते हुए लावेल ने लिखा है कि **"राजनीति विज्ञान में आधुनिक विज्ञान की प्रथम आवश्यकता की कमी है। इसमें शिक्षित व्यक्तियों के लिए बोधगम्य पारिभाषिक शब्दों का अभाव है।"**

(8) **अध्ययन विषय आत्मपरक (Subjective) है, वस्तुपरक (Objective) नहीं**—विज्ञान वस्तुपरक होता है और इसकी अध्ययन वस्तु निर्जीव होने के कारण वैज्ञानिक मानवीय भावनाओं से दूर रहते हुए तटस्थता के साथ इनके अध्ययन में संलग्न रहता है। लेकिन राजनीति विज्ञान के अध्ययन में वस्तुपरक दृष्टिकोण अपनाना अर्थात् अध्ययन में तटस्थ रहना कठिन है। चाहे कश्मीर का प्रश्न हो या महाशक्तियों के शीतयुद्ध का प्रश्न, राजनीतिक विषयों का अध्ययन पदार्थ विज्ञानों की भाँति वैज्ञानिक रूप नहीं ले सकता।

उपर्युक्त तर्कों के आधारों पर बक्ल कहते हैं कि **"ज्ञान की वर्तमान अवस्था में राजनीति को विज्ञान मानना तो वहुत दूर रहा, यह कलाओं में भी सबसे पिछड़ी हुई कला है।"**[1] इसी वात को मैटलैण्ड ने अपनी व्यंगमयी

1 "Politics so far from being a science, is one of the most backward of all the arts."
—Buckle: *History of Civilization*, p. 301.

भाषा में इस प्रकार कहा है कि **"जब मैं राजनीति विज्ञान शीर्षक के अन्तर्गत परीक्षा-प्रश्नों को देखता हूं तो मुझे प्रश्नों के प्रति नहीं, वरन् शीर्षक के प्रति खेद होता है।"**[1]

बर्क अपनी उपहासमयी भाषा में कहते हैं कि **"जिस प्रकार हम सौन्दर्य विज्ञान (Aesthetics) को विज्ञान की संज्ञा नहीं दे सकते, उसी प्रकार राजनीति विज्ञान का विज्ञान बनना न तो सम्भव है और न ही वांछनीय।"**

राजनीति विज्ञान की वैज्ञानिकता

उपर्युक्त विचारों में सत्य का कुछ अंश अवश्य है, किन्तु इसके साथ ही वक्ल, काम्टे, आदि विद्वानों का दृष्टिकोण विज्ञान की संकुचित एवं त्रुटिपूर्ण धारणा पर आधारित है। इन विद्वानों द्वारा पदार्थ विज्ञानों की परिभाषा को राजनीति विज्ञान जैसे सामाजिक विज्ञान पर लागू करने की भारी भूल की गयी है। सर्वमान्य तथ्यों और कारण तथा कार्य के वीच निश्चित सम्बन्ध पाये जाने वाले विषय को ही विज्ञान कहा जाय, इस प्रकार का दृष्टिकोण उचित नहीं है। गार्नर के शब्दों में, विज्ञान की ठीक परिभाषा देते हुए कहा जा सकता है कि **"एक विज्ञान किसी विषय से सम्बन्धित उस ज्ञान राशि को कहते हैं जो विधिवत पर्यवेक्षण, अनुभव एवं अध्ययन के आधार पर प्राप्त की गयी हो और जिसके तथ्य परस्पर सम्बद्ध, क्रमबद्ध तथा वर्गीकृत किये गये हों।"**[2] **चैम्बर्स डिक्शनरी** में विज्ञान की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि **"विज्ञान वह ज्ञान है जो पर्यवेक्षण और प्रयोग पर आधारित हो, भली-भाँति परीक्षित तथा क्रमबद्ध हो और सामान्य सिद्धान्तों में समाहित हो।"** **चैम्बर्स डिक्शनरी, हर्नशॉ और थामसन,** आदि विद्वानों द्वारा भी विज्ञान की परिभाषा इसी प्रकार से दी गयी है।

उपर्युक्त परिभाषाओं के सन्दर्भ में जव राजनीति विज्ञान पर विचार किया जाता है, तो यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि राजनीति विज्ञान एक विज्ञान है। राजनीति विज्ञान के विज्ञान होने के पक्ष में निम्न तथ्य दिये जा सकते हैं :

(1) राजनीति विज्ञान का ज्ञान क्रमवद्ध एवं व्यवस्थित—विज्ञान का सर्वप्रथम लक्षण यह होता है कि उसका समस्त ज्ञान क्रमवद्ध रूप में होना चाहिए। यह लक्षण राजनीति विज्ञान में पूरे-पूरे तौर पर विद्यमान है। राजनीति विज्ञान राज्य, सरकार, अन्य राजनीतिक संस्थाओं, धारणाओं व विचारों का क्रमबद्ध ज्ञान प्रस्तुत करता है। उदाहरण के लिए, राजनीति विज्ञान में राज्य के भूतकालीन स्वरूप के आधार पर ही वर्तमानकालीन स्वरूप का अध्ययन किया जाता है। इसी प्रकार राजनीतिक विचारधाराओं का अध्ययन उनकी प्रवृत्तियों के आधार पर विभिन्न वर्गों में वर्गीकृत करके किया जाता है। विषय के अन्तर्गत पाये जाने वाले क्रमवद्ध एवं व्यवस्थित अध्ययन के ये निश्चित प्रमाण हैं।

(2) अध्ययन सामग्री की प्रकृति में स्थायित्व एवं एकरूपता—अध्ययन सामग्री के आधार पर भी राजनीति विज्ञान को विज्ञान मानने से इन्कार नहीं किया जा सकता है, क्योंकि इसकी अध्ययन सामग्री में कुछ सीमा तक स्थायित्व एवं एकरूपता विद्यमान है। यद्यपि मानव व्यवहार में जड़ पदार्थ जैसी एकरूपता नहीं पायी जाती, फिर भी यह कहा जा सकता कि कुछ विशेष परिस्थितियों में मनुष्य का राजनीतिक आचरण एक निश्चित प्रकार का ही होगा। लार्ड ब्राइस के शब्दों में, **"मानव प्रकृति की प्रवृत्तियों में एकरूपता तथा समानता पायी जाती है, जिसकी सहायता से हम यह पता लगा सकते हैं कि एक ही प्रकार के कारणों से प्रभावित होकर मनुष्य वहुधा समान प्रकार के कार्य ही करता है।"**

(3) सर्वमान्य तथ्य—राजनीति विज्ञान में कुछ सर्वमान्य तथ्य अवश्य ही हैं। आचार्य कौटिल्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' में इसी प्रकार के सर्वमान्य तथ्य का प्रतिपादन करते हुए लिखा है, **"यदि दण्ड शक्ति का दुरुपयोग किया जाय, तो गृहस्थों की तो बात ही क्या, वानप्रस्थी और संन्यासी लोग भी क्रुद्ध हो जाते हैं और विद्रोह कर बैठते हैं। इसके विपरीत, दण्ड शक्ति का ठीक रूप में प्रयोग करने पर जनता में सर्वत्र धर्म का राज्य रहता है।"**[3] इसी प्रकार कुछ अन्य बातों पर भी सभी सहमत हैं यथा—लोकसेवाओं के सदस्य स्थायी आधार पर नियुक्त किये जाने चाहिए तथा वे तटस्थ और निष्पक्ष होने चाहिए, न्यायपालिका स्वतन्त्र और निष्पक्ष होनी चाहिए,

1 "When I see a good set of Examination Questions, headed by the word 'Political Science' I regret not the questions, but the title." —Maitland, *Collected Papers*, Vol. III, p. 302.

2 "A science may be described as a fairly unified mass of knowledge relating to a particular subject, acquired by systematic observation, experience of study, the facts of which have been co-ordinated systematised and classified." —Garner, *Political Science and Government*, p. 11.

3 कौटिल्य, अर्थशास्त्र, 9.

असमानता, जातिवाद, निरक्षरता और अत्यधिक निर्धनता प्रजातन्त्र के लिए बुरी है। इसके अतिरिक्त राजनीति विज्ञान में मतैक्य का जो अभाव है उसका कारण विषय का अवैज्ञानिकत्व नहीं, वरन् देश काल के अनुसार परिवर्तित होने वाली मानवीय प्रकृति और सम्बन्धित विचारकों की भावनाओं का भेद है।

(4) कार्य और कारण में पारस्परिक सम्बन्ध—कार्य और कारण के पारस्परिक सम्वन्ध के विषय में की गयी आपत्ति भी विशेष महत्व नहीं रखती है। इसमें सन्देह नहीं कि पदार्थ विज्ञानों की तरह राजनीति विज्ञान में कारण तथा कार्य में प्रत्यक्ष सम्वन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता, फिर भी विशेष घटनाओं के अध्ययन से कुछ सामान्य परिणाम तो निकाले ही जा सकते हैं। उदाहरण के लिए, जनता का असन्तोष, शासक वर्ग का शासित वर्ग के प्रति अपमानजनक व्यवहार और आर्थिक असमानता सदैव ही विद्रोह के सामान्य कारण रहे हैं, शक्तियों के विकेन्द्रीकरण से जनता में सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति रुचि उत्पन्न हो जाती है और शासकों को विना किन्हीं प्रतिवन्धों के शासन शक्ति प्रदान कर दी जाय, तो वे भ्रष्ट हो जाते हैं। ब्राइस के शब्दों में, **''मानवीय कार्यों का वर्गीकरण किया जा सकता है तथा इन्हें शृंखलाबद्ध करके सामान्यतया प्रचलित प्रवृत्तियों के परिणाम के रूप में उनका अध्ययन किया जा सकता है।''**

(5) पर्यवेक्षण तथा परीक्षण सम्भव—राजनीति विज्ञान में पर्यवेक्षण तथा परीक्षण भी सम्भव है, यद्यपि इस विषय के अन्तर्गत इनका रूप पदार्थ विज्ञानों से भिन्न होता है। पर्यवेक्षण की पद्धति के आधार पर लोकतन्त्रवाद और दूसरी शासन पद्धतियों का अध्ययन करते हुए हम यह सामान्य परिणाम निकाल सकते हैं कि दूसरी शासन पद्धतियों की अपेक्षा लोकतन्त्र लोकहित के प्रति अधिक सजग रहता है। इसी प्रकार विविध राज्यों के कार्यक्षेत्र के अध्ययन के आधार पर यह परिणाम निकाला जा सकता है कि राज्य के कार्यक्षेत्र को सीमित रखने की विचारधारा के स्थान पर लोककल्याणकारी राज्य की नीति ही उपयुक्त है। लार्ड ब्राइस ने अपनी पुस्तक **'आधुनिक प्रजातन्त्र'** (*Modern Democracies*) और माण्टेस्क्यू ने अपनी पुस्तक '*Spirit of Laws*' की रचना में इसी पद्धति का प्रयोग किया है।

राजनीति विज्ञान में यद्यपि पदार्थ विज्ञानों की भाँति प्रयोगशालाओं में बैठकर पूर्ण निश्चितता एवं सरलता से तो प्रयोग नहीं किये जा सकते, फिर भी राजनीति विज्ञान में प्रयोग होते ही रहते हैं और एक प्रकार से सम्पूर्ण मानव जगत इसकी प्रयोगशाला ही है। इस सम्बन्ध में गार्नर ने ठीक ही लिखा है कि, **''प्रत्येक नये कानून का निर्माण, प्रत्येक नयी संस्था की स्थापना और प्रत्येक नयी बात का प्रारम्भ एक प्रयोग ही होता है क्योंकि उस समय तक वह अस्थायी या प्रस्ताव रूप में ही समझा जाता है जब तक कि परिणाम उसके स्थायी होने की योग्यता सिद्ध न कर दें।''** भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के अन्तर्गत अपनाया गया सत्याग्रह, 1959 में राजस्थान में अपनायी गयी 'लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण' की योजना और अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर स्थापित राष्ट्रसंघ और संयुक्त राष्ट्रसंघ, इस प्रकार के राजनीतिक प्रयोगों के ही उदाहरण हैं।

(6) भविष्यवाणी की क्षमता—जहाँ तक भविष्यवाणी की क्षमता का सम्वन्ध है, राजनीति विज्ञान में प्राकृतिक विज्ञानों की भाँति तो भविष्यवाणी नहीं की जा सकती है, पर इतना मानना होगा कि इस विषय में भी भविष्यवाणी सम्भव है चाहे यह भविष्यवाणी सदैव सत्य न हो। डॉ. फाइनर के शव्दों में, **''हम निश्चिततापूर्वक भविष्यवाणियाँ नहीं कर सकते, लेकिन सम्भावनाएँ तो व्यक्त कर ही सकते हैं।''**[1] इसके अतिरिक्त यदि सही रूप में भविष्यवाणी की क्षमता ही विज्ञान की कसौटी मान ली जाय, तो फिर ऋतु विज्ञान जैसे अनेक विषय भी विज्ञान नहीं कहे जा सकते क्योंकि उनके द्वारा की गयी भविष्यवाणियाँ अनेक बार गलत सिद्ध होती हैं।

वस्तुतः राजनीति विज्ञान की वैज्ञानिकता के सम्बन्ध में वक्ल, काम्टे और मैटलैण्ड द्वारा उठायी गयी आपत्तियाँ बहुत अधिक सीमा तक निराधार हैं और पदार्थ विज्ञानों से आधारभूत रूप में भिन्न होने पर भी राजनीति विज्ञान एक विज्ञान है। अरस्तू, बोदां, हाब्स, माण्टेस्क्यू, कार्नवाल, लेविस, सिजविक, ब्राइस, ब्लंटशली, बर्गेस, विलोबी, जेलीनेक, गार्नर, आदि सभी विद्वान, इसे एक विज्ञान मानने के पक्ष में हैं। होल्टजनडार्फ ने इस विषय के लिए विज्ञान का दावा करते हुए कहा है कि **''ज्ञान भण्डार में जो महान् वृद्धि हो चुकी है, उसे देखते हुए यह अस्वीकार करना असम्भव है कि राज्य से सम्बद्ध सभी अनुभवों, अवस्थाओं और**

1 "We can become the prophets of the probable, if not the seers of the certain."
—*Dr. Herman Finer*

ज्ञान को राज्य विज्ञान के अन्तर्गत लाया जा सकता है।" सर फ्रेडरिक पोलक का भी विश्वास है कि **"जिस प्रकार नैतिकता का विज्ञान है, उसी भाव में और उसी तरह अथवा लगभग उसी सीमा तक राजनीति का भी विज्ञान है।"**[1]

राजनीति विज्ञान एक अनिश्चित विज्ञान

यद्यपि राजनीति विज्ञान एक विज्ञान है, किन्तु वह पदार्थ विज्ञानों की भाँति पूर्णतया निश्चित नहीं है और इसे अनिश्चित विज्ञानों की श्रेणी में ही रखा जा सकता है। इस अनिश्चितता के कारण निम्नलिखित हैं :

(1) राजनीति विज्ञान का सम्बन्ध सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन की जटिल समस्याओं से होता है, भौतिक विज्ञानों के समान पदार्थों से नहीं।
(2) राजनीति विज्ञान का सम्बन्ध मनुष्य के विवेकशील और परिवर्तनशील स्वभाव से है, भौतिक विज्ञानों के समान स्थायी प्रकृति वाले तत्वों से नहीं।
(3) राजनीति विज्ञान के यन्त्र के रूप में प्रयुक्त होने वाली मानवीय इन्द्रियाँ भौतिक यन्त्रों के समान निरपेक्ष निर्णायक नहीं होती हैं। एक रसायनशास्त्री अणु या मौलीकूल के प्रति कोई घृणा अथवा प्रेम का प्रदर्शन नहीं करता, किन्तु राजनीतिशास्त्री पर अचेतन रूप में उसके व्यक्तिगत विचारों एवं द्वेषों का प्रभाव पड़ता ही है।
(4) राजनीति के अध्ययनकर्ता को अपने विषय के नैतिक पहलू की ओर भी ध्यान देना होता है, लेकिन भौतिक विज्ञान के सम्मुख नैतिक औचित्य की कोई समस्या नहीं होती है।

राजनीति विज्ञान एक कला के रूप में

कुछ व्यक्ति ऐसा सोचते हैं कि कोई भी अध्ययन या तो विज्ञान की श्रेणी में आता है या कला की, लेकिन वस्तुतः ऐसा सोचना त्रुटिपूर्ण है। **विलियम एसलिंगर ने ठीक ही लिखा है कि "विज्ञान और कला का परस्पर विरोधी होना जरूरी नहीं है। कला विज्ञान पर आधारित हो सकती है।"** राजनीति विज्ञान के सम्बन्ध में यह वात पूर्णतया लागू होती है।

राजनीति विज्ञान के कला होने के सम्बन्ध में विचारकों में वहुत अधिक मतंभेद नहीं है। कला ऐसे ज्ञान को कहा जा सकता है, जिसका उद्देश्य मानव जीवन को सुन्दर बनाना हो। एक विचारक के शब्दों में, **'सत्यं शिवं और सुन्दरम की साधना ही कला है।'** इस अर्थ में राजनीति विज्ञान एक कला भी है और ब्लंटशली जैसे अनेक विचारकों का तो कथन है कि **"राजनीति से विज्ञान की अपेक्षा कला का ही अधिक बोध होता है। राज्य का संचालन किस रूप में हो, क्रियात्मक दृष्टि से वह कैसा व्यवहार करे—राजनीति में इन समस्त बातों का प्रतिपादन होता है।"**

राजनीति विज्ञान में राज्य के भूतकालीन और वर्तमान स्वरूप का अध्ययन करने के साथ-साथ राज्य के भावी आदर्शात्मक स्वरूप का अध्ययन किया जाता है और यह बतलाया जाता है कि भविष्य में राज्य और राजनीतिक व्यवस्था कैसी होनी चाहिए। राजनीति विज्ञान में इस बात का प्रतिपादन किया जाता है कि विश्व शान्ति के हित में राष्ट्रीय राज्यों का अन्त कर एक विश्व संघ की स्थापना की जानी चाहिए। वर्तमान समय में लगभग सभी पक्षों द्वारा जनकल्याणकारी राज्य की धारणा को अपना लिया गया है और यह भी माना जाता है कि एक राज्य के द्वारा अपने नागरिकों को अधिकाधिक स्वतन्त्रता और अधिकार दिये जाने चाहिए। एक श्रेष्ठ राज्य और सुसंस्कृत आदर्श समाज की स्थापना राजनीति विज्ञान के अध्ययन का ध्येय और लक्ष्य है और इस दृष्टि से राजनीति विज्ञान एक उच्चकोटि की कला है जो समाज का यथार्थ चित्र भी प्रस्तुत करती है और पथ-प्रदर्शन भी। वर्तमान समय में मानव जीवन और राज्यों का पारस्परिक जीवन बहुत अधिक अन्तरनिर्भर हो गया है और ऐसी परिस्थितियों में राजनीति विज्ञान का कला रूप ही विश्व को विनाश के गर्त से बचा सकता है।

वस्तुतः राजनीति विज्ञान एक विज्ञान और कला दोनों ही है। केटलिन राजनीति का अर्थ विस्तार करते हुए उसे कला, दर्शन और विज्ञान तीनों मानता है।[2] लासवेल ने भी इसे **'कला, विज्ञान और दर्शन का संगम'** कहा है।

---

1 "There is a science of politics in the same sense and to the same or about the same extent as there is a science of morals." —*Sir Frederic Pollock*

2 G. E. C. Catline, *Systematic Politics*, pp. 48-51.

राजनीति विज्ञान के परम्परागत दृष्टिकोण या परम्परागत राजनीति विज्ञान की विशेषताएं

(SALIENT FEATURES OF THE TRADITIONAL PERSPECTIVE OF POLITICAL SCIENCE)

राजनीति विज्ञान का परम्परागत दृष्टिकोण तर्क और कल्पना पर आधारित आदर्शात्मक अध्ययन है जिसके प्रमुख आधार हैं : नैतिकता और राजनीतिक मूल्य। आदर्शवादिता इस परम्परागत दृष्टिकोण की सबलता तथा कमजोरी दोनों ही है। परम्परावादी राजनीति विज्ञान का प्रारम्भ **प्लेटो** से होता है, जिसने अपनी अमर रचना **'रिपब्लिक'** में आदर्श राज्य का चित्रण किया है। प्लेटो का यह आदर्श राज्य तर्क और कल्पना की उन्मुक्त उड़ान है। प्लेटो के बाद रोमन विचारक **सिसरो** में तथा मध्य युग में **संत आगस्टाइन** तथा **थॉमस एक्वीनास** में परम्परावादी राजनीति विज्ञान के दर्शन होते हैं। सिसरो का दर्शन न्याय और प्राकृतिक कानून की अवधारणा पर आधारित था और संत आगस्टाइन *'The City of God'* के माध्यम से पृथ्वी पर ईश्वर द्वारा संचालित 'ईश्वरीय राज्य' की रूपरेखा प्रस्तुत करता है। रूसो द्वारा प्रतिपादित 'सामान्य इच्छा' की धारणा परम्परागत राजनीति विज्ञान का ही प्रतिनिधित्व करती है तथा काण्ट, हीगल और ग्रीन, आदि आदर्शवादी विचारकों को भी इसी श्रेणी में रखा जा सकता है। हीगल ने विश्व के मूल में **'विश्वात्मा'** को माना है और ग्रीन ने इसे **'शाश्वत चेतना'** का नाम दिया है। माण्टेस्क्यू, हॉब्स, बर्क, अर्नेस्ट बार्कर और हेरल्ड लॉस्की, आदि कालक्रम की दृष्टि से आधुनिक विचारक भी राजनीति विज्ञान के परम्परागत दृष्टिकोण से ही जुड़े हुए हैं। परम्परावादी दृष्टिकोण की अपनी कमियां रही हैं तथा इसने प्रतिक्रिया के रूप में आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण को जन्म दिया है, लेकिन बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के कुछ राज वैज्ञानिकों, **लिओ स्ट्रास, माइकेल ऑकशॉट** तथा **इन्ना आरेण्ट**, आदि राजनीतिक विचारकों एवं सिद्धान्तकारों ने राजनीतिक विज्ञान के आधुनिक दृष्टिकोण की कमियों को समझते हुए राजनीति विज्ञान की परम्परागत धारा को आगे बढ़ाया है। इन विचारकों के विचार व्यक्तिपरक तथा उनकी पद्धति अधिकांश अंशों में निगमनात्मक है। इस प्रकार परम्परावादी और आधुनिक दृष्टिकोण काल खण्डों पर नहीं, वरन् विचार दर्शन की प्रकृति पर आधारित है।

राजनीति विज्ञान के परम्परागत दृष्टिकोण की मुख्य विशेषताओं का संक्षिप्त उल्लेख इस प्रकार है :

1. तर्क और कल्पना पर आधारित आदर्शी अध्ययन—परम्परागत राजनीति विज्ञान में तर्क और कल्पना की उड़ान भरते हुए ऐसे आदर्श प्रस्तुत किए गये हैं, जिनका राजनीतिक जीवन के यथार्थ से कुछ लेना देना नहीं है। प्लेटो के आदर्श राज्य और दार्शनिक शासक की कल्पना, रूसो की सामान्य इच्छा, काण्ट का 'नैतिक प्राणी', हीगल की 'विश्व आत्मा' और ग्रीन का 'शाश्वत चैतन्य' आदि ऐसी कुछ धारणाएं हैं, जिनका महत्व केवल एक आदर्श के रूप में ही है।

2. नैतिकता और राजनीतिक मूल्यों पर विशेष बल—परम्परागत राजनीति विज्ञान की एक मूल मान्यता है कि राज्य एक नैतिक संस्था है, जिसका उद्देश्य व्यक्ति को नैतिकता के मार्ग पर निरन्तर आगे बढ़ाना है। ये मूल्य सापेक्ष अध्ययन है और दार्शनिक एवं वैचारिक दृष्टि से इनका मूल्यों, आदर्शों एवं लक्ष्यों से अविच्छिन्न सम्बन्ध है। अधिकांश परम्परागत विचारक आचार-शास्त्र और नैतिकता से प्रभावित रहे हैं तथा उनकी मूलभूत धारणा है कि मूल्यों से अलग हटकर राजनीति पर विचार नहीं किया जा सकता।

3. कानूनी-औपचारिक तथा संस्थागत अध्ययनों की प्रमुखता—परम्परागत राजनीति विज्ञान में प्रमुखतया राजनीतिक एवं सरकारी संस्थाओं का हीं अध्ययन किया जाता रहा तथा राजनीतिक प्रक्रिया एवं राजनीति के प्रेरक तत्वों, आदि का जैसा अध्ययन किया जाना चाहिए था, नहीं किया गया। उस समय ऐसा विश्वास प्रचलित था कि राजनीतिक जीवन की व्याख्या करने के लिए राजनीतिक संस्थाओं का विधि और संविधान के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन पर्याप्त है। अतः राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययनों में भी व्यावहारिक पक्ष की अपेक्षा कानूनी-औपचारिक पक्ष को ही प्रमुखता प्राप्त रही। **डायसी, मुनरो, ऑग और जिंक**, आदि विद्वानों द्वारा इस प्रकार के अध्ययन प्रस्तुत किये गये। कानूनी-औपचारिक पक्ष तक सीमित होने के कारण इन अध्ययनों की उपयोगिता बहुत अधिक सीमित थी।

4. अपरिष्कृत परम्परागत पद्धतियां—परम्परागत राजनीति विज्ञान के अध्ययन की प्रमुख पद्धतियां हैं—ऐतिहासिक, दार्शनिक एवं कानूनी। **डॉ. एस. पी. वर्मा** के अनुसार परम्परागत राजविज्ञान के विकास की चार अवस्थाएं हैं : ऐतिहासिक (Historical), विश्लेषणात्मक (Analytical), आदर्शात्मक-उपदेशात्मक

(Normative-Prescriptive) तथा वर्णनात्मक-परिभाषात्मक (Descriptive-taxonomical)। ये अवस्थाएं एक-दूसरे की विरोधी नहीं थीं और समय-समय पर एक ही युग में विभिन्न प्रवृत्तियों को काम करते हुए पाते हैं।

परम्परागत राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत गणितीय, परिमाण, तथ्य संग्रह तथा सर्वेक्षण जैसी वैज्ञानिक तकनीकों को नहीं अपनाया गया।

5. प्रधानतया संकुचित अध्ययन—परम्परागत राजनीति विज्ञान के अध्ययनकर्ताओं द्वारा अपने आपको पाश्चात्य राज व्यवस्थाओं (यूरोप के देशों और अमरीकी राज व्यवस्था) के अध्ययन तक सीमित रखा गया और एशियाई-अफ्रीकी तथा लैटिन अमरीकी देशों की राज व्यवस्थाओं को उचित महत्व प्रदान नहीं किया गया। इसी प्रकार विभिन्न प्रकार की शासन व्यवस्थाओं का अध्ययन करने के वजाय इनकी दृष्टि उदारवादी लोकतन्त्र तक सीमित रही। एक्सटीन तथा ऐप्टर के शब्दों में, "परम्परागत दृष्टिकोण पाश्चात्य राजनीतिक व्यवस्थाओं तक सीमित रहा और प्रमुखतया एक संस्कृति संरूपण या समूह का ही इसमें अध्ययन किया गया।"

6. चिन्तन में व्यक्तिनिष्ठता के तत्व की प्रधानता—परम्परागत राजनीति विज्ञान की यह भी विशेषता रही है कि उसके राजनीतिक सिद्धान्त अपने प्रतिपादकों के व्यक्तित्व और दृष्टिकोणों से प्रभावित रहे हैं। ये विचारक तात्कालिक राजनीतिक समस्याओं का स्थायी समाधान खोजने का प्रयास करते थे। अधिकांश विचारक आचारशास्त्र या दर्शनशास्त्र से प्रभावित रहे हैं। उन्होंने मानवीय जीवन तथा सामाजिक लक्ष्यों एवं मूल्यों की ओर ध्यान दिया है। उदाहरण के लिए, हम यूनानी विचारकों द्वारा नैतिक जीवन की उपलब्धि का विचार, मध्य युग के ईसाई संत दार्शनिकों का ईश्वरीय राज्य स्थापित करने का विचार तथा आदर्शवादियों के 'विवेक से साक्षात्कार' के विचार को ले सकते हैं। इन विद्वानों के विचारों को 'परानुभववादी' (Trans-empirical) कहा गया है। उनके विचार व्यक्तिपरक और उनकी चिन्तन प्रणाली निगमनात्मक है।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. "राजनीति विज्ञान राज्य और सरकार की सामान्य समस्याओं का अध्ययन करता है" (गिलक्राइस्ट)। व्याख्या कीजिए और परम्परागत एवं आधुनिक दृष्टिकोण से राजनीति विज्ञान को परिभाषित कीजिए।
2. परम्परागत राजनीति विज्ञान के स्वरूप तथा क्षेत्र को स्पष्ट कीजिए।
3. 'राजनीति विज्ञान का प्रारम्भ तथा अन्त राज्य से होता है। स्पष्ट कीजिए।
4. 'पारिभाषिक शब्दावली की आवश्यकता राजनीति विज्ञान से अधिक अन्य किसी विषय को नहीं है' इस कथन की समीक्षा कीजिए। वतलाइए कि राजनीति विज्ञान राजनीति तथा राजनीतिक दर्शन से किस प्रकार भिन्न है?
5. क्या राजनीति विज्ञान एक विज्ञान है? अपने विचार के पक्ष में तर्क दीजिए।
6. परम्परागत राजनीति विज्ञान की परिभाषा देते हुए उसका 'राजनीति' तथा 'राजनीतिक दर्शन' से भेद स्पष्ट कीजिए। क्या राजनीति शास्त्र वास्तव में विज्ञान है?

2

राजनीति विज्ञान : परिभाषा, क्षेत्र और प्रकृति (सम-सामयिक दृष्टिकोण)

(POLITICAL SCIENCE : MEANING, SCOPE AND NATURE (CONTEMPORARY PERSPECTIVES))

"एक आनुभविक खोज के रूप में राजनीति विज्ञान शक्ति के निर्धारण और सहभागिता का अध्ययन करता है।"[1]

—लासवेल और केपलान

राजनीति विज्ञान : परिभाषा (सम-सामयिक या आधुनिक दृष्टिकोण)

परम्परागत राजनीति विज्ञान की परिभाषाओं में राजनीति विज्ञान को 'राज्य' और 'सरकार' का अध्ययन बतलाया गया है, लेकिन राजनीति विज्ञान विषय के आधुनिक विद्वान इन्हें अपर्याप्त समझते हैं। ये परिभाषाएं एक पुराने दृष्टिकोण की प्रतीक हैं जिसमें शासन की रचना और उसकी कार्यप्रणाली के अध्ययन पर वल दिया जाता रहा है। इससे राजनीति विज्ञान का अध्ययन औपचारिक वनकर रह गया और उन राजनीतिक शक्तियों के समुचित अध्ययन पर कोई ध्यान नहीं दिया गया जो सरकार की प्रक्रिया पर अपना प्रभाव डालती हैं।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् राजनीति विज्ञान में व्यापक परिवर्तन हुए हैं, जिनका प्रमुख श्रेय अमरीकन राजनीतिशास्त्रियों को दिया जा सकता है। अमरीका में राजनीति विज्ञान को नई दिशा देने की प्रेरणा दो स्रोतों के कारण सम्भव हुई। प्रथम प्रेरणा स्रोत शिकागो विश्वविद्यालय था जिसके विद्वानों ने राजनीति विज्ञान को ज्यादा से ज्यादा विज्ञानसम्मत वनाने का वीड़ा उठाया। इस विश्वविद्यालय में नूतन राजनीति विज्ञान का नेतृत्व चार्ल्स मेरियम ने किया और उसके नेतृत्व में राजशास्त्रियों के एक समूह ने राजनीति विज्ञान को समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, दर्शन, सांख्यिकी, अर्थशास्त्र एवं मानवशास्त्र जैसे समाज विज्ञानों के निकट लाने का हर सम्भव प्रयास किया। इससे राजनीति विज्ञान में तार्किक अनुभववाद, तथ्यात्मकता, व्यवहारवाद तथा समाजशास्त्रीय पद्धतियों का प्रयोग हुआ। समकालीन राजनीति विज्ञान की प्रेरणा का दूसरा स्रोत मनोविज्ञान है। प्रो. रेनसिस लिकर्ट, कुर्त लेविन, प्रो. लजासफिल्ड के प्रयासों के फलस्वरूप नवीन राजनीतिशास्त्र में मनोविज्ञान की शोध-तकनीकों का ज्यादा से ज्यादा प्रयोग होने लगा है।

राजनीतिशास्त्र की नवीन परिभाषाओं के सन्दर्भ में इसका अध्ययन निम्न रूप से किया जा सकता है :

(1) राजनीतिशास्त्र मानवीय क्रियाओं का अध्ययन है।

(2) राजनीतिशास्त्र शक्ति का अध्ययन है।

(3) राजनीतिशास्त्र राजनीतिक व्यवस्था का अध्ययन है।

(4) राजनीतिशास्त्र निर्णय-प्रक्रिया का अध्ययन है।

1 "Political Science as an empirical inquiry is the study of the shaping and sharing of power."
—Harold D. Lasswell and Abraham Kaplan; *Power and Society : A Framework of Political Inquiry*, p. xiv.

राजनीतिशास्त्र : मानवीय क्रियाओं का अध्ययन

अनुभववादी तथा व्यवहारवादी विद्वान राजनीति विज्ञान को मूलतः मनुष्य के राजनीतिक जीवन और क्रियाकलापों का तथा इसके सन्दर्भ में मानव-जीवन के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा अन्य पक्षों का अध्ययन करने वाला विज्ञान मानते हैं। कैटलिन के मतानुसार, राजनीति विज्ञान संगठित मानव समाज से सम्बन्धित है। किन्तु मुख्य रूप से वह सामुदायिक जीवन के राजनीतिक पहलुओं का अध्ययन करता है। बर्ट्रेण्ड डी जूविनले के शब्दों में, हमारा विषय उन राजनीतिक सम्बन्धों का अध्ययन करना है, जो मिल-जुलकर रहने वाले व्यक्तियों के बीच स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं। अलेक्जेण्डर हर्ड तथा सैमुअल हंटिंगटन के मतानुसार, "राजनीतिक व्यवहारवाद शासन को मनुष्य और समुदाय के कार्यों की एक प्रक्रिया मानता है और इसका सम्बन्ध शासन के, राजनीतिक दलों के, निहित समुदायों के और मतदाताओं की गतिविधियों के अध्ययन से मानता है।" इस प्रकार राजनीति विज्ञान में व्यवहारवादी आन्दोलन के समर्थकों का स्पष्ट कहना है कि राजनीति विज्ञान वह विज्ञान है जो मनुष्य के राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन करता है।

राजनीतिशास्त्र : शक्ति का अध्ययन

समकालीन राजनीतिशास्त्रियों में से कतिपय विद्वान 'शक्ति' को राजनीतिशास्त्र की केन्द्रीय संकल्पना मानते हैं। लासवेल, मेरियम, मैक्स बेबर, बर्ट्रेण्ड रसेल, मोर्गेन्थो, आदि मानते हैं कि 'शक्ति' एक ऐसी बुनियादी संकल्पना है जो राजनीति विज्ञान के सभी विभागों को एक सूत्र में पिरो देती है। कैटलिन के अनुसार, राजनीति से अभिप्राय सत्ता संघर्ष अथवा सत्ताधारियों को प्रभावित करना है। दूसरे शब्दों में, राजनीतिशास्त्र का सम्बन्ध नियन्त्रणशील समाज में होने वाले कार्यों से है। यह उन कार्यों पर विचार करता है जो नियन्त्रण में सम्पादित होते हैं तथा उन इच्छाओं एवं संरचनाओं से निकलते हैं जो कि इच्छाओं के नियन्त्रण-सम्बन्ध के फलस्वरूप होती है। लासवेल के अनुसार, शक्ति का सिद्धान्त सम्पूर्ण राजनीति विज्ञान में एक बुनियादी सिद्धान्त है। सम्पूर्ण राजनीतिक प्रक्रिया शक्ति के वितरण, प्रयोग एवं प्रभावक का अध्ययन है।[1] इस प्रकार शक्ति-धारणा में विश्वास रखने वाले विद्वानों के अनुसार राजनीति विज्ञान के अध्ययन का प्रमुख विषय है—समाज में शक्ति, उसका स्वरूप, आधार क्षेत्र और परिणाम। अतः इस विषय का ध्यान उस संघर्ष पर केन्द्रित होता है जो शक्ति को प्राप्त करने और बनाए रखने के लिए किया जाता है।[2] बेकर ने राजनीति को शक्ति से अपृथक्करणीय कहा है। कैटलिन ने राजनीति को शक्ति का विज्ञान माना है। हाटकिन्स के अनुसार राजनीति विज्ञान केवल राज्य या विशिष्ट संस्थाओं मात्र का ही अध्ययन नहीं है अपितु शक्ति की समस्या में अन्तर्ग्रस्त सभी समुदायों की गवेषणा है।

डॉ. हसजार और स्टीवेन्स ने लिखा है, "राजनीति विज्ञान अध्ययन का वह क्षेत्र है जो प्रमुखतया शक्ति-सम्बन्धों का अध्ययन करता है। इन शक्ति-सम्बन्धों के लिए कुछ प्रमुख रूप हैं—व्यक्तियों में परस्पर शक्ति-सम्बन्ध, व्यक्ति और राज्य के मध्य शक्ति-सम्बन्ध और राज्यों में परस्पर शक्ति-सम्बन्ध।"

गिल्ड तथा पामर ने राजनीति की विषय-वस्तु को 'राज्य' के स्थान पर शक्ति माने जाने की जोरदार सिफारिश की है। उनके अनुसार यदि 'शक्ति' को राज्य के स्थान पर राजनीति की विषयवस्तु माना जाए तो निम्नलिखित लाभ होंगे :

(1) राज्य एक कानूनी धारणा है तथा शक्ति का अर्थ होगा प्रक्रिया (Process); शक्ति कानूनों तथा कानून से बाहर तमाम बातों से सम्बन्धित है। शक्ति को राजनीति का विषय मान लेने से राजनीति विज्ञान एक ऐसा अध्ययन शास्त्र बन जाता है जिसमें इन प्रश्नों का उत्तर खोजा जाने लगेगा कि शक्ति कैसे पाई जाती है? प्रयोग की जाती है? और शक्ति कैसे नियन्त्रित की जाती है? आदि।

(2) आम शक्ति को राजनीति के अध्ययन का आधार बनाने का परिणाम यह होगा कि मनुष्य, विशेषकर राजनीतिक मनुष्य, को राजनीतिक विश्लेषण में अधिक महत्व प्रदान करेगा।

---

1 "The concept of power is perhaps the most fundamental in the whole of political science, the political process is the shaping, distribution and exercise of power."
—Harold Lasswell & Abraham Kaplan, *Power and Society*, 1950, p. 64.

2 मोर्गेन्थो ने राजनीति शक्ति को मनोवैज्ञानिक शक्ति माना जिसके अनुसार, मनुष्य दूसरे मनुष्यों की क्रियाओं और मस्तिष्कों पर नियन्त्रण रखता है।

इस प्रकार गिल्ड तथा पामर यह कहते हैं कि "राजनीति शक्ति तथा सत्ता के सम्बन्धों के रूप में सबसे अच्छी प्रकार समझी जा सकती है।" शक्ति की परिभाषा करते समय वे कहते हैं कि "शक्ति दूसरों के निर्णयों, बर्ताव, नीतियों, मूल्यों तथा भाग्यों को प्रभावित या नियन्त्रित करती है।" अतः गिल्ड तथा पामर ने राजनीति को शक्ति का अध्ययन माना है।

राजनीतिशास्त्र : राजनीतिक व्यवस्था का अध्ययन

राजनीतिशास्त्र में पद्धति तथा व्यवस्था-सिद्धान्त का प्रयोग उसके परिवर्तित क्षेत्र का परिचायक है। राजनीतिशास्त्र में पद्धति-सिद्धान्त का प्रयोग अनुभववादी दृष्टिकोण के पूरक के रूप में हुआ। पद्धति-सिद्धान्त के समर्थकों के अनुसार राजनीतिशास्त्र सम्पूर्ण समाज या सामाजिक पद्धति का एक अभिन्न अंग है और स्वयं समाज की विभिन्न प्रक्रियाओं का वोध कराता है। इसलिए मनुष्यों के वीच सम्वन्धों में व्यक्त उनके विभिन्न व्यवहारों—जिन्हें राजनीतिक व्यवहार कहा जाता है—के समुच्चय को विभिन्न प्रक्रियाओं के कुलकों के रूप में देखा जा सकता है। इस प्रकार व्यवस्था सिद्धान्त के समर्थक राजनीतिशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र में राज्य, सरकार, संविधान तथा कानून के वदले निम्नलिखित विषयों के अध्ययन पर वल देते हैं—(क) सामाजिक एवं राजनीतिक प्रक्रिया, (ख) इस प्रक्रिया को प्रकट करने वाली संरचनाओं का अन्तःसम्वन्ध, (ग) मनुष्य का राजनीतिक व्यवहार, आदि। राजनीतिशास्त्र में पद्धति-सिद्धान्त के समर्थकों में आमण्ड, ईस्टन तथा एप्टर के नाम उल्लेखनीय हैं। इस दृष्टिकोण से राजनीतिशास्त्र का अध्ययन समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि में होने लगा है।

राजनीतिशास्त्र : निर्णय-प्रक्रिया का अध्ययन

कतिपय विद्वान राजनीतिशास्त्र को निर्णय-निर्माण तथा निर्णय-प्रक्रिया का अध्ययन कराने वाला विज्ञान वतलाते हैं। निर्णय-निर्माण मानवीय जीवन का सार तत्व है और राजनीतिक निर्णय-निर्माण हमारी सम्पूर्ण निर्णय-प्रक्रिया का एक भाग है। यदि राजनीतिशास्त्र सरकार का अध्ययन है और सरकार का मुख्य कार्य निर्णय-निर्माण (Decision-making) है तो राजनीतिशास्त्र को निर्णय-प्रक्रिया का विज्ञान कहा जा सकता है। विगत कुछ वर्षों में राजनीतिशास्त्र में निर्णय-निर्माण का सिद्धान्त काफी लोकप्रिय हुआ है जिसका मुख्य कारण यह है कि राजनीतिक कार्यकलापों में निर्णय-निर्माण का प्रभाव वढ़ा है। अनेक समकालीन विचारक राजनीति विज्ञान के नीति सम्वन्धी पक्ष पर अधिक वल देने लगे हैं। विगत कुछ वर्षों से राजनीति विज्ञान में नीति निर्धारण की प्रक्रिया का विशेष अध्ययन होने लगा है।

निष्कर्ष

इस प्रकार राजनीति विज्ञान की एक सर्वसम्मत परिभाषा देना कठिन है। अधिकांश समकालीन राजनीतिक विचारक यह मानते हैं कि राजनीति विज्ञान में हमें राजनीतिक संगठन के अतिरिक्त राजनीतिक प्रक्रियाओं और उसके परिणामों का भी समुचित अध्ययन करना चाहिए।

राजनीति विज्ञान का क्षेत्र : आधुनिक दृष्टिकोण
(SCOPE OF POLITICAL SCIENCE : MODERN APPROACH)

द्वितीय महायुद्ध के वाद के वर्षों में राजनीति विज्ञान के क्षेत्र के सम्वन्ध में जिस नवीन दृष्टिकोण का उदय हुआ, वह निश्चित रूप से अधिक व्यापक और यथार्थवादी है। वैसे तो इस नई प्रवृत्ति का प्रारम्भ अरस्तू के समय में ही हो चुका था जिसने दो हजार वर्ष से भी पहले वहुत अधिक संख्या में संविधान से सम्बन्धित सूचनाएं संग्रहीत की थीं और विभिन्न प्रकार की सरकारों के कार्यों का विस्तार से वर्णन किया था। चार्ल्स हाइनेमन के शब्दों में, "राजनीतिशास्त्र का क्षेत्र अव इतना व्यापक हो गया था कि उसमें संस्थात्मक संगठन, निर्णय-निर्माण और क्रियाशीलता की प्रक्रियाओं, नियन्त्रण की राजनीति, नीतियों और कार्यों तथा विधिवद्ध प्रशासन के मानवीय वातावरण को भी सम्मिलित किया जाने लगा।"[1]

आधुनिक राजनीतिशास्त्र का प्रारम्भ और अन्त अव राज्य में नहीं होता है। वह राज्य की सीमा को न तो स्वीकार करता है और न ही यह राजनीतिक समस्याओं का अध्ययन वर्णनात्मक, संस्थानिक, ऐतिहासिक, विश्लेषणात्मक, आदर्शात्मक, उपदेशात्मक पद्धतियों के माध्यम से करना चाहता है। आधुनिक राजनीतिशास्त्रियों

1 सी. एस. हाइनेमन, 'दी स्टडी ऑफ पॉलिटिक्स : 'दि प्रेजेण्ट स्टेट ऑफ अमेरिकन पॉलिटिकल साइन्स', इलीनॉय विश्वविद्यालय प्रेस, 1959, अध्याय 3.

के अनुसार इसके प्रतिपाद्य विषय हैं—राजनीतिक मनुष्य और उसका व्यवहार, समूह, प्रशासन, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, सिद्धान्त, विचारवाद या विचारधारा, मूल्य, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, सैन्य विज्ञान, सांख्यिकीय सर्वेक्षण, आदि।

आधुनिक दृष्टिकोण के अन्तर्गत राजनीति विज्ञान को एक ऐसा व्यापक रूप प्रदान करने की चेष्टा की गई है जिसमें राज्य को ही नहीं वरन् समाज को भी सम्मिलित किया जा सके। यह समाजपरक दृष्टिकोण है जिसकी मान्यता यह है कि व्यक्ति के राजनीतिक जीवन को सामाजिक जीवन के सन्दर्भों में ही उचित रूप में समझा जा सकता है और राजनीतिक अध्ययन में 'अन्तर-अनुशासनात्मक दृष्टिकोण' को अपनाया जाना चाहिए। औपचारिक और न्यायिक संरचनाओं पर पहले जो जोर दिया जा रहा था उसका स्थान अव प्रक्रियाओं को समझने की प्रवृत्ति ने ले लिया था। गैर-सरकारी संगठनों की कार्यवाहियों और सरकारी कार्यवाहियों पर उनकी प्रतिक्रिया के अध्ययन में अव वहुत अधिक दिलचस्पी ली जाने लगी थी। राजनीति विज्ञान का क्षेत्र अव राजनीतिक दर्शन की विवेचना और संस्थाओं के वितरण तक ही सीमित नहीं रह गया था। संस्थाओं और संगठनों के अध्ययन में भी आनुभविक शोध की प्रविधियों को काम में लेने की प्रवृत्ति वढ़ती जा रही थी। शासन के संक्रियात्मक (operational) और औपचारिक स्रोतों और अनुक्रमों के अध्ययन के साथ-साथ अब संस्थाओं के कार्यों पर भी शोध की जाने लगी थी। समकालीन राजनीतिक वैज्ञानिकों ने इस समस्या की खोज करनी आरम्भ कर दी थी कि समाज में शक्ति के वास्तविक केन्द्र कहां हैं, और उस शक्ति का प्रशासन के द्वारा और प्रशासन पर किस प्रकार प्रयोग किया जाता है। कुछ ने उन निर्धारक सांस्कृतिक तत्वों की जानकारी प्राप्त की जो सरकारों को प्रभावित करते हैं, अन्य विद्वानों ने सरकारों के संगठनात्मक पक्षों का इतनी अधिक गहराई के साथ अध्ययन किया जितना उनके पूर्वजों के द्वारा पहले कभी नहीं किया गया था। उन्होंने अव नीति-निर्माण के तत्वों के विश्लेषण, राजनीतिक नेतृत्व की प्रकृत्ति और उसके प्रकार्यों के अध्ययन और विचारधारा तथा नेतृत्व के पारस्परिक सम्वन्धों के वदलते हुए स्वरूपों पर अधिक ध्यान देना आरम्भ कर दिया था।

सांख्यिकी और सांख्यिकी से सम्वन्ध रखने वाली प्रविधियों का प्रयोग करने की इच्छा और तत्परता भी अव राजनीतिशास्त्रियों में दिखाई देने लगी थी। राजनीतिशास्त्रियों का मूल्यों के प्रति जो आग्रह था उसे अभी चुनौती नहीं दी जा रही थी, परन्तु उनके अध्ययन का आधार धीरे-धीरे ऐसे तथ्यों को अधिक महत्व देने की ओर झुकता जा रहा था जिनका उद्देश्य उन तथ्यों के पीछे जो प्रवृत्तियां काम कर रही थीं उन्हें समझने पर था। तथ्यों के वस्तुनिष्ठ अध्ययन के आधार पर अव वे वैज्ञानिक सामान्यीकरण की ओर वढ़ना चाहते थे। शोध के लिए अधिक प्रविधियों और उपकरणों की इस सारी तलाश के होते हुए भी, यह तो मानना ही पड़ेगा कि राजनीतिशास्त्र में वास्तविक प्रस्फोट व्यवहारवादियों के आगमन के साथ ही हुआ। व्राइस और दूसरे लेखकों ने शोध के जिन उपकरणों को काम में लिया था, वे तुलनात्मक दृष्टि से अनगढ़ थे, यद्यपि उनमें से कुछ लेखकों ने, विशेषकर स्वयं व्राइस ने, उनके आधार पर जो यथार्थ निष्कर्ष निकाले थे, वे वास्तव में, वैज्ञानिक अध्ययन की पद्धति से अधिक उनकी अन्तर्दृष्टि का फल थे। व्यवहारवादी राजनीति विज्ञान के युग में आधार सामग्री (data) के संकलन (collection), प्रक्रमण (processing) और विश्लेषण (analysis) के लिए जिन परिष्कृत और कठोर प्रविधियों का उपयोग किया गया वे अभी भी राजनीतिशास्त्रियों की पहुंच से वहुत दूर थीं। राजनीति विज्ञान की वर्तमान स्थिति के प्रति असन्तोष इस कारण अनिवार्य हो गया था और जैसा कि कर्क पैट्रिक ने लिखा, "असन्तोष ने क्षोभ को जन्म दिया और क्षोभ के परिणामस्वरूप क्षेत्र में परिवर्तन आया।" इस नए दृष्टिकोण को राजनीतिशास्त्र में व्यवहारवादी उपागम में अभिव्यक्ति मिली।

राजनीति विज्ञान में होने वाले ये महान और व्यापक परिवर्तन अव किसी से छिपे नहीं रह गए थे। राजनीति विज्ञान का स्वरूप और क्षेत्र तेजी के साथ वदलता जा रहा था। नई अवधारणाएं, प्रद्धतियां और तकनीकें विकसित की जा रही थीं। राजनीतिक संस्था अव विश्लेषण और शोध की मूल इकाई नहीं रह गई थी और अध्ययन का आधार राजनीतिक परिस्थितियों में व्यक्तियों के व्यवहार को माना जाने लगा था। कैटलिन जैसे कुछ विद्वान राजनीतिशास्त्र को व्यवहारवादी विज्ञान मानने भी लगे थे। चार्ल्स वीयर्ड, ए. एल. लॉवेल और आर्थर बेण्टले का राजनीतिशास्त्र के क्षितिजों को विस्तृत वनाने में व्यापक योगदान रहा है। वाद में हेरल्ड लासवेल, डेविड ईस्टन, पार्सन्स, मर्टन, शील्स और लेवी जैसे विद्वानों ने नए क्षितिजों की खोज की।

आज राजनीति विज्ञान दर्शनशास्त्र से अपना सम्पर्क तोड़कर समाजशास्त्र और मनोविज्ञान, आदि समाज विज्ञानों के अधिक नजदीक आ गया है। इस प्रकार राजनीति विज्ञान के अध्ययन की नवीन प्रवृत्तियों ने इस विषय के अध्ययन क्षेत्र को और व्यापकता प्रदान की है और मानव जीवन के अराजनीतिक पक्षों तथा समुदायों को इसमें सम्मिलित कर दिया है।

राजनीति विज्ञान का आधुनिक परिप्रेक्ष्य : विशेषताएं

अथवा

राजनीति विज्ञान में आधुनिक विकास : नवीन प्रवृत्तियां

(MODERN DEVELOPMENTS IN POLITICAL SCIENCE : NEW TRENDS)

द्वितीय महायुद्ध के वाद संयुक्त राज्य तथा पश्चिमी जगत में राजविज्ञान की समग्र धारणा में ही क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। प्रो. चार्ल्स ई. मेरियम ने अपने ग्रन्थ 'न्यू आसपेक्ट्स ऑफ पॉलिटिक्स' (*New Aspects of Politics*) में यह संकेत कर दिया था कि राजनीति के अध्येता को एक नए मार्ग का अवलम्बन करना पड़ेगा क्योंकि 'राजनीतिक सिद्धान्त ऐसी शक्तियों के सम्पर्क में आ गया है कि कालान्तर में वे इसकी प्रक्रिया को मूलतः संशोधित कर देंगी।' मेरियम की पुस्तक का प्रथम प्रकाशन सन् 1925 में हुआ था। परन्तु इसके वाद भी कई वर्षों तक इस दिशा में वैसी प्रगति नहीं हुई जैसी कि अपेक्षित थी। उदाहरणस्वरूप प्रो. जार्ज एच. सैवाइन का प्रसिद्ध लेख '*What is a Political Theory*' जो 1939 में प्रकाशित हुआ था, इस नवीन प्रवृत्तियों तथा दृष्टिकोण की उपेक्षा ही करता है। परन्तु गत दो दशकों में इस दिशा में आश्चर्यजनक प्रगति हुई है। राजविज्ञान के विषय में हमारी धारणाएं वे नहीं हैं जो पहले थीं, यद्यपि अभी तक उनका स्थिरीकरण भी नहीं हो सका है। यह सत्य है कि एक प्रतिक्रिया इन नवीन दृष्टिकोण के प्रति प्रारम्भ हो गई है और आगामी अनेक विद्वान प्राचीन परम्परागत तात्विक राजनीतिक सिद्धान्त अथवा दर्शन के प्रति आसक्त हैं तथापि यह निस्सन्देह है कि अव हम कभी भी उस स्थिति में नहीं लौट सकेंगे जो द्वितीय महायुद्ध के पूर्व थी।

ऐसा माना जाता है कि 1905 में अमरीकन पॉलिटिकल साइन्स ऐसोसियेशन की स्थापना के साथ, और उसके द्वारा राजनीतिक संस्थाओं के सम्बन्ध में तथ्यों के संग्रह, संयोजन और वर्गीकरण को दी जाने वाली प्रेरणा के परिणामस्वरूप राजनीतिशास्त्र ने अपने विकास के नूतन चरण में प्रवेश किया।

नए राजनीति विज्ञान का प्रारम्भ अमरीका में हुआ, इस विचार से हम इतने प्रभावित दिखाई देते हैं कि हम भूल जाते हैं कि वहुत-से नए विचारों का आरम्भ वास्तव में इंगलैण्ड में हुआ। लॉवल ने वाल्टर बेजहॉट की '**दि इंगलिश कान्स्टीट्यूशन**' नाम की जिस पुस्तक का उदाहरण दिया था वह 1865-66 में लिखी गई थी और उसने अपनी इस पुस्तक में इंगलैण्ड की राजनीतिक संस्थाओं पर उसकी सामाजिक परिस्थितियों का क्या प्रभाव पड़ा, इसका विस्तार से वर्णन किया था। यह वताने की चेष्टा की थी कि राजनीतिक संस्थाओं के घोषित उद्देश्य चाहे कुछ भी क्यों न हों उनके पीछे एक 'अदृश्य' राजनीतिक प्रक्रिया काम करती है और वास्तव में वही प्रक्रिया राजनीतिक और सामाजिक स्थिरता को वनाये रखने में योग देती है। वेजहॉट ने अपनी रचनाओं में इंगलैण्ड के विभिन्न सामाजिक वर्गों का मनोवैज्ञानिक विश्लेपण भी प्रस्तुत किया था। लॉवेल ने 1913 में मनुष्य के राजनीतिक व्यवहार को समझने के लिए आधुनिक मनोविज्ञान की जानकारी पर वल दिया, परन्तु हम देखते हैं कि अंग्रेज लेखक ग्राहम वैलेस ने उससे भी पहले 1908 में प्रकाशित 'ह्यूमन नेचर इन पॉलिटिक्स' नाम की अपनी पुस्तक में इसी दृष्टिकोण को अधिक विस्तार से समझाया था। अपनी इस पुस्तक में और अपनी अन्य रचनाओं में ग्राहम वैलेस ने राजनीतिक व्यवहार के सामाजिक, मनोवैज्ञानिक आधारों पर वहुत अधिक जोर दिया था। ग्राहम ने राजनीति में अविवेक की भूमिका की भी विस्तार से व्याख्या की थी और राजनीतिशास्त्रियों में साधारण रूप से पाई जाने वाली उस प्रवृत्ति के सम्वन्ध में खेद प्रकट किया था जिसके कारण उन्होंने मनुष्य की प्रवृत्ति के वहुत-से स्वरूपों और राजनीतिक अभिवृत्तियों पर पड़ने वाले उनके प्रभावों को उपेक्षा की दृष्टि से देखा था। एक दूसरा लेखक जिसने अपनी प्रारम्भिक रचनाओं को इंगलैण्ड में प्रकाशित किया जार्ज कैटलिन है। कैटलिन वह लेखक है जिसने अन्तःशास्त्रीय उपागम के प्रयोग पर, जिस पर व्यवहारवादी राजनीति विज्ञान का समस्त आधार रखा हुआ है, सवसे पहले जोर दिया और लासवेल के समान, परन्तु स्वतन्त्र रूप से इस वात पर भी जोर दिया कि राजनीति का संचालन शक्ति सम्वन्धों के द्वारा

ही किया जाता है। वास्तव में राजनीति विज्ञान भी उन प्रवृत्तियों के प्रभाव में जो प्राकृतिक विज्ञानों के अनुरक्षण में, अन्य समाज विज्ञानों—समाजशास्त्र, मनोरोग विज्ञान, सामाजिक मनोविज्ञान और मानव विज्ञान, आदि—में विकसित हो रही थीं तेजी से आता जा रहा था। इस सारे आन्दोलन का आधार प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानों के बीच ज्ञान की गुणात्मक सततता और वह विश्वव्यापी व्यावहारिक वैज्ञानिक पद्धति के अस्तित्व की धारणा पर था। जिन लोगों ने व्यवहारवादी राजनीति विज्ञान की नींव डाली है, उनमें आर्थर ए. एफ., वेण्टले और चार्ल्स मेरियम के नाम सबसे प्रमुख हैं।

आधुनिक राजनीति विज्ञान की प्रकृति : मुख्य प्रवृत्तियां
(NATURE OF MODERN POLITICAL SCIENCE : EMERGING TRENDS)

द्वितीय विश्वयुद्ध ने अमरीका के अनेक राजनीतिशास्त्रियों को उनके विश्वविद्यालय के सुरक्षित वुर्जों से वाहर निकाला और उनका वाशिंगटन व अन्य स्थानों की दिन-प्रतिदिन की राजनीतिक और प्रशासनिक वास्तविकताओं से परिचय कराया। द्वितीय विश्वयुद्ध की परिस्थितियों ने राजनीतिशास्त्रियों को अन्य समाज वैज्ञानिकों के निकट सम्पर्क में लाकर उनके मन में यह विचार गहराई के साथ जमा दिया कि जवकि अर्थशास्त्री व्यापक रूप में, और समाजशास्त्री एवं मानव विज्ञानवेत्ता काफी दूर तक प्रमुख सरकारी विभागों के द्वारा सलाह-मशविरा देने के लिए निमन्त्रित किए जाते थे और निर्णय-निर्माण की प्रक्रियाओं में उनकी सक्रिय भूमिका भी रहती थी, राजनीतिज्ञों और प्रशासकों द्वारा राजनीतिशास्त्रियों से विशेष सहायता की अपेक्षा नहीं की जाती थी। शायद अन्य समाज विज्ञानों की तुलना में राजनीति विज्ञान के पिछड़े जाने की यह भावना अमरीका के राजनीतिशास्त्रियों के मन में बहुत गहराई से प्रवेश कर गई थी और युद्ध के वर्षों में उन्होंने अपने इस निश्चय को दृढ़ वना लिया था कि अपने शैक्षणिक जीवन में फिर से लौटने पर उनका यह प्रमुख दायित्व होगा कि वे राजनीति विज्ञान को एक नया रूप दें और उसे दूसरे समाज विज्ञानों में होने वाले विकास के निकटतर सम्पर्क में ले आयें। राजनीतिशास्त्रियों में अव यह इच्छा भी प्रवल होती जा रही थी कि वे अन्य सामाजिक विज्ञानों में होने वाले विकास से लाभ उठा सकें।

पिछले लगभग 50 वर्षों में राजनीति विज्ञान और अन्य समाज विज्ञानों के चिन्तन क्षेत्र में जो विकास हुए उसकी प्रमुख प्रवृत्तियों का उल्लेख निम्न रूपों में किया जा सकता है :

(1) **अध्ययन मुक्तता**—राजवैज्ञानिक अव परम्परागत सीमाएं छोड़कर अध्ययन करते हैं। राजनीतिक तथ्य और घटनाएं जहां उपलब्ध हों, चाहे वे समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र या धर्म के विरोध में हों अथवा व्यक्ति, परिवार, राष्ट्र और विश्व से सम्वन्धित हों, अव राजनीतिशास्त्र के अध्ययन के विषय वन गए हैं। यहां तक कि वैयक्तिक और सामूहिक स्तर पर वचपन, युवावस्था, आदि में विकसित राजनीतिक प्रवृत्तियों को भी सर्वेक्षण और शोध का विषय वना लिया गया है। राज सिद्धान्तवादी की यह भावना रहती है कि वास्तविक परिस्थितियों का अध्ययन किया जाए और उन्हीं को वास्तविकता प्रकट करने वाली अवधारणाओं का आधार वनाया जाए।

(2) **वैज्ञानिकता**—आधुनिक राजनीतिशास्त्री अपने अध्ययन को अधिक वैज्ञानिक वनाना चाहते हैं। वे राजनीतिक घटनाओं एवं तथ्यों को वैज्ञानिकता की कसौटी पर कसकर उनकी जांच करते हैं। वे प्राकृतिक विज्ञानों तथा अन्य सामाजिक शास्त्रों से अध्ययन के नई-नई तकनीकों को लेकर राजनीति विज्ञान में उनका प्रयोग करते हैं।

(3) **मूल्यविहीन**—आधुनिक राजनीति विज्ञान को प्रायः मूल्यविहीन कहकर पुकारा जाता है। चूंकि, इसका प्रयास एक वैज्ञानिक एवं सटीक विषय का निर्माण करना है, इसलिए राजनीतिक विश्लेषण में यह मानवीय मूल्यों—जैसे नैतिकता, स्वतन्त्रता, भ्रातृत्व, आदि को कोई स्थान नहीं देता। यह उन्हीं घटनाओं और तथ्यों को अपने अध्ययन का विषय वनाता है, जिन्हें या तो देखा गया है या भविष्य में देखा जा सकता है।

(4) **आदर्शवादी अध्ययनों की अपेक्षा यथार्थवादी-व्यवहारपरक अध्ययन**—राजनीति विज्ञान के परम्परागत अध्ययन सामान्यतया ऐतिहासिक, विधिगत, संस्थागत संरचना तक सीमित रहे। समस्त पुरातन अध्ययन 'आदर्शात्मक-उपदेशात्मक स्थिति' के साथ जुड़ा हुआ और वहुत अधिक सीमा तक केवल सैद्धान्तिक समस्याओं में उलझा हुआ था। नए राजनीतिशास्त्रियों ने यह दृढ़ विश्वास व्यक्त किया कि राजनीतिक अध्ययनों का व्यावहारिक राजनीति से सीधा सम्वन्ध होना चाहिए। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध से ही राजनीति विज्ञान विषय

के कुछ विद्वानों ने इस सत्य को समझ लिया कि आदर्श की तुलना में यथार्थ का महत्व अधिक है। ब्राइस के अनुसार अपनी पुस्तक 'अमरीकन कामनवेल्थ' (1888) की रचना में उनका उद्देश्य "अमरीका की संस्थाओं और उसकी जनता को विल्कुल वैसा ही चित्रित करना है जैसे वे हैं...।" इसी भावना को उन्होंने 1924 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'मॉडर्न डेमोक्रेसीज' में इस प्रकार व्यक्त किया 'सवसे अधिक आवश्यक है तथ्य...तथ्य...तथ्य।'

अव राजनीति विज्ञान के विद्वानों ने इस वात की खोज प्रारम्भ कर दी कि संविधान का स्वरूप चाहे जो भी हो, समाज में शक्ति के वास्तविक स्रोत और केन्द्र कहां स्थित हैं, शासक वर्ग अपनी शक्तियों का प्रयोग किस रूप में कर रहा है और सामान्य जन अर्थात् शासित वर्ग का राजनीतिक व्यवहार कैसा है? पूर्व अध्ययन 'विधिगत संस्थागत संरचना' तक सीमित थे अव उनका स्थान राजनीतिक प्रक्रियाओं को समझने की प्रवृत्ति ने ले लिया और राजनीतिक दल, दवाव गुट, संचार के साधन तथा मतदान व्यवहार, आदि से सम्वन्धित व्यापक अध्ययन किए जाने लगे। राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन की अपेक्षा अव व्यक्तियों के राजनीतिक व्यवहार के विश्लेषण पर वल दिया जाने लगा है।

(5) अनुभवात्मकता अथवा व्यवहारवाद का बोलबाला—आधुनिक राजनीति विज्ञान यथार्थवादी है और व्यवहारवादी दृष्टिकोण अपनाने पर जोर देता है। परम्परागत राजनीतिशास्त्र राजनीति से दूर भागता रहा। व्यवहारवाद राजनीति विज्ञान को दर्शन, इतिहास या कानून के रूप में नहीं, वल्कि राजनीति विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न है। व्यवहारवादियों के अनुसार (i) राजनीति विज्ञान अभी तक दर्शन, कानून और इतिहास पर निर्भर था। व्यवहारवाद इस पराश्रय से मुक्ति का सन्देश है। यह राजनीति विज्ञान का राजनीतिकरण है। (ii) परम्परागत विज्ञान का अध्ययन केन्द्र-विन्दु 'संस्था' है, व्यवहारवाद व्यक्ति, समूह और व्यक्ति व्यवहार पर वल देता है। (iii) परम्परावादी या तो संस्थाओं का ऐतिहासिक या कानूनी पक्ष या उनके आदर्श रूप का अध्ययन करते थे पर व्यवहारवादी राजनीतिक 'गति' तथा राजनीतिक प्रक्रियाओं के अध्ययन को ही महत्व देते हैं। (iv) परम्परावादी अध्ययन पद्धति अत्यन्त अस्तव्यस्त, स्वेच्छापूर्ण, आत्मनिष्ठ एवं अनुशासनहीन थी, व्यवहारवादी उसे वैज्ञानिक वनाने का प्रयत्न करते हैं। (v) परम्परावादी राजनीति विज्ञान, इन्द्रियानुभविक सिद्धान्त (Empirical Theory) का सहारा नहीं लेते, इसलिए व्यवहारवादी इनका विरोध करते हैं। (vi) व्यवहारवादियों का मत है कि परम्परावादी पद्धति से उत्तरोत्तर संचित होने वाले ज्ञान की उपलब्धि सम्भव नहीं है।

व्यवहारवाद राजनीतिशास्त्र का साधारण वैज्ञानिकीकरण मात्र है, यह सत्य नहीं। व्यवहारवाद का केवल यह अर्थ नहीं है कि राजनीतिशास्त्र में इन्द्रियानुभविक प्रणाली तथा वर्णन और विश्लेषण की सांख्यिकी तकनीक का प्रयोग किया जाए। व्यवहारवाद की सवसे बड़ी विशेषता है सिद्धान्त (Theory) का प्रयोग, इसमें तथ्यों की खोज और उनकी व्याख्या एक सिद्धान्त के अन्तर्गत करते हैं।

व्यवहारवाद की निम्नलिखित विशेषताएं हैं—(i) **नग्न तथ्यों का अध्ययन**—व्यवहारवाद संस्थाओं के ऐतिहासिक, कानूनी या दार्शनिक पक्ष की ओर से उदासीन होकर संस्था के अन्दर 'व्यक्ति व्यवहार' और 'समूह व्यवहार' की ओर आकर्षित हुआ है। (ii) **नई प्रणाली का प्रयोग**—नई प्रणाली के प्रयोग में प्रेक्षण और लेखा को अत्यधिक परिशुद्ध करते हैं। तालिकाएं, ग्राफ, गणितीय मॉडल, अनुमाप प्रविधि का अधिकाधिक प्रयोग करते हैं। (पुस्तकालयीय अनुसन्धान के स्थान पर क्षेत्रीय अध्ययन करते हैं) विश्लेषण के लिए सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरूपण (Concept Formation) करते हैं। (iii) **नई शब्दावली और नई संकल्पनाओं का प्रयोग**—व्यवहारवाद ने समाज विज्ञान के दूसरे विषयों की शब्दावली और संप्रत्यय अपनाए हैं। कुछ अपनी शब्दावली और संप्रत्यय भी वनाए हैं। इस तकनीकी शब्दावली से सूक्ष्म विश्लेषण सम्भव है। (iv) **नए सैद्धान्तिक लक्ष्य**—अनुभवाश्रित सिद्धान्त का प्रयोग व्यवहारवाद की सवसे वड़ी विशेषता मानी जाती है।

(6) पद्धति-विज्ञान एवं मूल्य-सापेक्षवाद—व्यवहारवादी क्रान्ति प्राकृतिक विज्ञान से प्रेरणा लेकर राजनीति विज्ञान में द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् आई। उसी समय से विभिन्न समाज विज्ञानों तथा प्राकृतिक विज्ञानों से राजविज्ञान ने स्वयं को राजनीति का विज्ञान वनाने के लिए अनेक शोध पद्धतियों को ग्रहण कर लिया है। अव एक पद्धति विज्ञान का विकास हो चुका है। इसका इस अनुशासन के साथ घनिष्ठ सम्वन्ध स्थापित हो गया है। नवीन पद्धतियों में वैज्ञानिक पद्धति को प्रमुख स्थान दिया गया है। उसी के साथ वैज्ञानिक मूल्य

सापेक्षवाद जुड़ा हुआ है जिसका मूल अर्थ यह है कि शोधकर्ता अपने अनुसन्धान से स्वयं के मूल्यों एवं धारणाओं को अलग रखता है तथा इनका अपने अध्ययन पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ने देता। उसके आचरण में वौद्धिक निष्पक्षता एवं सत्यनिष्ठा (Integrity) पाई जाती है। वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग वह सिद्धान्तात्मक समस्याओं के तात्विक विवेचन में भी करता है तथा अति तथ्यवादिता से भी बचने का प्रयास करता है।

(7) **शोध एवं सिद्धान्त में घनिष्ठ सम्बन्ध**—वैज्ञानिक पद्धति के प्रयोग द्वारा अब राजवैज्ञानिक साधारणीकरणों, व्याख्याओं एवं सिद्धान्तों के निर्माण में लगे रहते हैं। अब सिद्धान्त निर्माण कठोर शोध प्रक्रियाओं पर आधारित है। शोध और सिद्धान्त अब एक-दूसरे के विना निरर्थक माने जाते हैं। सिद्धान्त निर्माण की प्रक्रिया अब शोधोन्मुखी है। आधुनिक राजनीतिशास्त्रियों का एकमात्र उद्देश्य राजनीति के सैद्धान्तिक प्रतिमानों (Models) को विकसित करना है। इसी आधार पर ये राजनीतिक घटनाओं एवं तथ्यों के सम्बन्ध में खोज करते हैं और उनका विश्लेषण करते हैं।

(8) **अन्तर-अनुशासनात्मक दृष्टिकोण**—बीसवीं सदी में ज्ञान के विज्ञान की एक प्रवृत्ति अन्तर-अनुशासनात्मकता रही है और इसके परिणामस्वरूप राजनीति विज्ञान में भी अन्तर-अनुशासनात्मक दृष्टिकोण अपनाया गया। लेखकों ने अधिक-से-अधिक उन उपकरणों का इस्तेमाल किया है जिन्हें उन्होंने समाज विज्ञान (Sociology), मनोविज्ञान (Psychology), अर्थशास्त्र (Economics), मानव विकास का विज्ञान (Anthropology) और यहां तक कि जीवविज्ञान (Biology) जैसे प्राकृतिक विज्ञानों से भी उधार लिया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि राजनीति विज्ञान में ऐसा वहुत कुछ आ चुका है जिससे यह राजनीतिक समाज विज्ञान (Political Sociology) और राजनीतिक मनोविज्ञान (Political Psychology) जैसा प्रतीत होता है। राजनीतिक आधुनिकीकरण, राजनीतिक समाजीकरण, राजनीतिक पर-संस्कृतिग्रहण (Political Acculturation), राजनीतिक विकास और इसी प्रकार के अन्य विषयों के अध्ययन से पता चलता है कि अव राजनीति विज्ञान सरकार और अन्य राजनीतिक संरचनाओं के व्यवहार के अध्ययन पर समाज वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का लागू करना हो गया है। एक आधुनिक राज वैज्ञानिक, जिसकी राजनीतिक विकास में रुचि है, ने यह जान लिया है कि वह इस विषय की सामाजिक लामवन्दी (Social Mobilization) की परिस्थितियों का निरीक्षण किए विना विवेचन नहीं कर सकता है; लोग राजनीति के अर्थों में तव तक नागरिक नहीं वन सकते हैं जव तक कि वे अपने मूल्यों और व्यक्तित्व अभिविन्यास में परिवर्तन न कर लें। राजनीति विज्ञान के एक गणमान्य लेखक ने इस प्रकार इस बात की ओर संकेत किया है, 'सनातनी राजनीतिक सिद्धान्त' (Classical Political Theory) एक राजनीतिक प्रक्रिया की अपेक्षा अधिक मात्रा में एक राजनीतिक समाज विज्ञान व मनोविज्ञान और मानकीय राजनीतिक सिद्धान्त (Normative Political Theory) है।[1]

डॉ. एस. पी. वर्मा के शब्दों में, "अन्तःशास्त्रीय उपागम अपनाने के कारण राजनीति विज्ञान की विषय-वस्तु में एक प्रकार की क्रान्ति आ गई है।" जव व्यवस्था सिद्धान्त और समाजशास्त्रीय संकल्पनात्मक संरचनाएं राजनीतिक विकास समझने के लिए अपर्याप्त सिद्ध होने लगीं तब विलियम मिचेल्स जैसे राजनीतिशास्त्रियों ने राजनीति को अधिक अच्छी तरह समझने के लिए आर्थिक सिद्धान्तों से प्रेरणा ली। नीति सम्वन्धी निर्णय ज्यों-ज्यों गरीबी, जातीयता और नगरीय सरकारों की समस्याओं के साथ जूझने में उलझते गए और यह आवश्यक दिखाई देने लगा कि व्यवस्था के भीतर कुछ ऐसे निश्चित उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए, जिनके सम्वन्ध में सामान्य सहमति थी, आर्थिक स्रोतों का अधिक-से-अधिक उपयोग किया जाए। इस कारण गणितशास्त्रीय और सांख्यिकी प्रारूपों पर अधिक जोर दिया जाने लगा और राजनीतिशास्त्री आर्थिक प्रारूपों के विश्लेषण की दिशा में प्रवृत्त होने लगे, जवकि राजनीतिक विद्वान, दर्शनशास्त्र से अपना सम्पर्क तोड़कर अनेक सामाजिक विज्ञानों के अधिक नजदीक आ गया है, लेकिन अभी समय नहीं आया है जब यह कहा जा सके कि वास्तव में एक सामाजिक विज्ञान, अथवा सामाजिक व्यवहार के विज्ञान, की स्थापना सम्भव हो सकी है।

(9) **अनुशासन की स्वायत्तता एवं विकास के प्रति जागरूकता**—राज वैज्ञानिक इस तथ्य से भलि-भांति अवगत हैं कि उनकी विषयगत संस्थाओं, प्रवृत्तियों, आदि का अध्ययन अन्य समाजशास्त्री निश्शंक होकर

1 S. M. Lipset, 'Introdction' in *Politics and The Social Sciences*, p. xvii.

करते हैं। वे इस विषय को एक प्रायोगिक स्तर-मात्र ही प्रदान करते हैं। इसी कारण ईस्टन, डहल, कैटलिन जैसे उच्च कोटि के राज वैज्ञानिकों ने अपनी समस्त शक्ति इस विषय को एक स्वायत्त अनुशासन के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए लगा दी है। चारों ओर राज सिद्धान्त के निर्माण, स्थायित्व, व्यापकता, विश्वसनीयता, आदि के विषय में परिचर्चा है। वे राजनीतिक तथ्यों और निष्कर्षों में एक सम्बद्धता एवं क्रमबद्धता लाना चाहते हैं।

(10) एक मौलिक समाज विज्ञान के रूप में उदय—आधुनिक राजनीति विज्ञान अपने को समाज विज्ञानों की कड़ी के रूप में विकसित करना चाहता है ताकि वह विभिन्न विषयों को महत्वपूर्ण दिशा निर्देश दे सके। राजवैज्ञानिकों में अरस्तू, न्यूटन, डार्विन, आदि के रूप में कार्य करने की भावना पाई जाती है। इसके लिए वे अपने आप में विशिष्ट क्षेत्रों की विशेषज्ञता विकसित करना चाहते हैं। वे अनुशासन में स्वायत्तता लाना चाहते हैं। इसके लिए उन्होंने सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त तथा व्यवस्था उपागम को ग्रहण किया है। नियन्त्रण और नियमन से सम्बन्धित होने के कारण 'राजनीति' की मौलिकता स्वतः प्रमाणित है।

(11) व्यापक समस्याओं का मूल्यांकन एवं समाधान—व्यवहारवादी क्रान्ति के मध्याह्न में ऐसा लग रहा था कि राज विज्ञान 'विशुद्ध विज्ञान' बनकर पूरी तरह अराजनीति विज्ञान बन जाएगा और पुस्तकों में बन्द हो जाएगा। किन्तु उत्तर-व्यवहारवादी युग ने अपने आपको मूल्यों, नीतियों और समस्याओं से सम्बद्ध रखा है। वे अपने निष्कर्षों का लाभ न केवल शैक्षिक जगत को ही देना चाहते हैं, अपितु वे उसे लेकर राजनीतिज्ञों, नीति-निर्माताओं एवं नागरिकों के पास पहुंचना चाहते हैं। अब वे, विशेष रूप से संयुक्त राज्य तथा अन्य पश्चिमी देशों में, उत्तरदायी प्रशासनिक और राजनीतिक पदों पर कार्य करने लगे हैं। वे सामूहिक रूप से वर्तमान विषय की राजनीतिक समस्याओं का समाधान खोजने में सक्रियता से जुटे हैं। इस अनेक समस्याओं में से कुछ परमाणु युद्ध की सम्भावना, मानव मूल्यों की रक्षा, व्यक्ति स्वातन्त्र्य, पिछड़े देशों का विकास, राष्ट्रवाद, आदि से सम्बन्ध रखती हैं।

राजनीति विज्ञान तथा अन्य विषयों में उदीयमान प्रमुख धाराएं
(MAIN CURRENTS IN POLITICAL SCIENCE AND OTHER DISCIPLINES)

पिछले 80 वर्षों में राजनीति विज्ञान और अन्य समाज विज्ञानों के चिन्तन क्षेत्र में जो विकास हुआ, उनकी प्रमुख धाराएं निम्नलिखित हैं :

1. ऐतिहासिक दृष्टिकोण : जार्ज एच. सेबाइन
(THE HISTORICAL APPROACH : GEORGE H. SABINE)

राजनीति विज्ञान के सम्बन्ध में परम्परागत अथवा ऐतिहासिक दृष्टिकोण की सबसे अच्छी विवेचना हमें जार्ज एच. सेबाइन की रचनाओं में मिलती है। सेबाइन ने राजनीति विज्ञान की व्याख्या के लिए एक बड़ा व्यावहारिक ढंग अपनाया है। उसका सुझाव है कि राजनीति विज्ञान में हम उन सभी विषयों को ले लें जिनका विवेचन ऐसे प्रसिद्ध लेखकों की रचना में पाया जाता है जो राजनीतिशास्त्री होने के नाते प्रसिद्ध हैं—प्लेटो, अरस्तू, हॉब्स, लॉक, रूसो, बेन्थम, मिल, ग्रीन, हीगल, मार्क्स, आदि। इन दार्शनिकों की रचनाओं में हम उन प्रश्नों को खोज निकालने का प्रयत्न कर सकते हैं जिन्हें उन्होंने राजनीतिक सिद्धान्तों की सत्यता अथवा प्रामाणिकता के सम्बन्ध में उठाया है। सेबाइन के अनुसार किसी भी राजनीतिक सिद्धान्त का जन्म 'एक सुनिश्चित परिस्थिति के सन्दर्भ में' होता है और इस कारण उसे समझने के लिए स्थान, समय और परिस्थितियों का पुनः गठन जिनमें उसका जन्म हुआ था, आवश्यक है। किसी भी महान राजनीतिक सिद्धान्त की पहचान यही है कि वह वर्तमान परिस्थिति का विश्लेषण करता है और अन्य परिस्थितियों के सम्बन्ध में मार्ग निर्देशन भी कर सकता है। एक अच्छा राजनीतिक सिद्धान्त कुछ विशेष ऐतिहासिक परिस्थितियों की उपज होते हुए भी आने वाले सभी युगों के लिए महत्व रखता है और इसी कारण उसे सम्मानप्रद माना जाता है।

सेबाइन के अनुसार प्रत्येक राजनीतिक सिद्धान्त में तीन तत्व होते हैं—तथ्यात्मक कारणात्मक तथा मूल्यात्मक। राजनीतिक सिद्धान्तों का जन्म प्रायः इतिहास के ऐसे कालों में होता है जो तनाव और खिंचाव के काल होते हैं। एथेन्स में (तीसरी और चौथी शताब्दियों के बीच) तथा इंगलैण्ड में (1640 से 1690 के बीच) के काल में राजनीतिक दर्शन का तेजी के साथ विकास हुआ। यूरोप के बौद्धिक इतिहास में ये दोनों ही काल महान् परिवर्तनों के काल रहे हैं। इस कारण सेबाइन ने ठीक ही कहा है कि, **महान् राजनीतिक**

सिद्धान्तों का जन्म 'राजनीतिक और सामाजिक संकटों के गर्भ में होता है।' इसका यह अर्थ नहीं है कि वे संकटों में से उत्पन्न होते हैं, परन्तु यह है कि इनका जन्म उस प्रतिक्रिया में से होता है जो इस प्रकार के संकट विचारकों के मन में उत्पन्न करते हैं। इस कारण किसी भी राजनीतिक सिद्धान्त को समझने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम उस समय, स्थान और परिस्थिति विशेष का गहराई से अध्ययन करें जिसमें उसका विकास हुआ था।

2. समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण : जार्ज ई. जी. कैटलिन
(THE SOCIOLOGICAL APPROACH : GEORGE E. G. CATLIN)

ऐतिहासिक दृष्टिकोण की यह कहकर आलोचना की जाती है कि वह परम्परा के प्रति अत्यधिक श्रद्धालु है। यह दृष्टिकोण राजनीति को एक संकीर्ण दृष्टि से देखता है और उसे राज्य के दायरे तक ही सीमित करना चाहता है। लेकिन अनेक आधुनिक लेखकों ने, और उनमें कैटलिन का एक प्रमुख स्थान है, राजनीति विज्ञान के क्षेत्र को एक ऐसा व्यापक रूप देने की चेष्टा की है जिसमें केवल राज्य को ही नहीं समाज को भी समाविष्ट किया जा सके। कैटलिन ने राजनीति के क्षेत्र में उन सभी क्रियाओं को सम्मिलित करने की चेष्टा की है जो समाज के तत्वावधान में घटित होती रहती हैं। कैटलिन राजनीति विज्ञान और समाजशास्त्र में कोई भेद नहीं मानता। इस दृष्टिकोण के पक्ष में कैटलिन ने कुछ लाभ वताए हैं :

(i) यह समाज के सम्वन्धों और उसकी संरचना को सम्पूर्ण रूप से समझने के कार्य को सरल बना देता है (ii) यह राजनीति के अध्ययन को समाज के एक सामान्य सिद्धान्त के साथ जोड़ता है और यह एक ऐसा काम है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, परन्तु जिसे आधुनिक काल के अधिकांश राजनीतिशास्त्रियों ने अव तक नहीं किया था (iii) यदि राजनीतिशास्त्री राज्य को अपने विश्लेषण की इकाई मानकर चलता है और उसे समाज में विकसित होने वाली अन्य प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में नहीं देखता है तो यह सम्भव है कि वह दिन-प्रतिदिन होने वाली राजनीतिक घटनाओं की सर्वथा उपेक्षा करे। (iv) यदि राजनीतिशास्त्री अध्ययन के लिए संस्थाओं से परे जाकर प्रकार्यों और प्रक्रियाओं का अध्ययन करने का निश्चय करता है तो उसके लिए विश्लेपण की इकाई को चुन लेना सरल होगा।

कैटलिन ने नियन्त्रण की प्रक्रिया को राजनीति के अपने अध्ययन का केन्द्र विन्दु माना है। नियन्त्रण की प्रक्रिया से उसका अर्थ 'व्यक्तियों के कार्यों' से है। वह राजनीति को 'सरकार' का अध्ययन मानने के लिए तैयार है वशर्ते कि सरकार को 'नियन्त्रण' का पर्यायवाची माना जाए। उसका विचार है कि नियन्त्रण की प्रक्रिया समाज के समग्र क्षेत्र में व्याप्त है। एक व्यक्ति के दूसरे व्यक्ति के साथ, व्यक्ति के समूह के साथ और एक समूह के दूसरे समूह के साथ सम्वन्ध इस नियन्त्रण प्रक्रिया के अन्तर्गत ही आते हैं। स्वाधीनता और अधिकार के दो ध्रुवों को नियन्त्रण की प्रक्रिया ही एक-दूसरे से जोड़ती है और राजनीति विज्ञान में उसका वही स्थान है जो अर्थशास्त्र में मांग, पूर्ति और प्रतिस्पर्द्धी मूल्य का होता है।

यह मानते हुए भी कि शक्ति का आधार वह विशेषता है जो राजनीति विज्ञान को समाजशास्त्र और मनोविज्ञान से भिन्न करती है, कैटलिन राजनीति विज्ञान से अपेक्षा करता है कि वह इन अन्य सामाजिक शास्त्रों से वहुत निकट के सम्वन्ध स्थापित करे।

3. दार्शनिक दृष्टिकोण : लियो स्ट्रॉस
(THE PHILOSOPHICAL APPROACH : LEO STRAUSS)

लियो स्ट्रॉस ने सेवाइन के 'इतिहासवाद' तथा कैटलिन के 'समाजशास्त्रीय' दृष्टिकोण को अस्वीकार करते हुए दार्शनिक दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया है। लियो स्ट्रॉस ने राजनीतिक सिद्धान्त (Political Theory) तथा राजनीतिक दर्शन (Political Philosophy) में भेद बताया है और उनकी मान्यता है कि वे दोनों ही राजनीतिक चिन्तन (Political Thought) के अंग हैं।

'राजनीतिक सिद्धान्त' स्ट्रॉस की दृष्टि में "राजनीतिक घटनाओं की प्रकृति को उसके सही रूप में जानने का प्रयत्न है।" दर्शन का अर्थ यदि 'वुद्धिमत्ता की खोज' अथवा 'विश्वव्यापी ज्ञान की खोज' अथवा 'समग्र का ज्ञान' है तो राजनीतिक दर्शन से हमारा अर्थ "राजनीतिक घटनाओं की प्रकृति और सही अथवा अच्छी राजनीतिक व्यवस्था, दोनों को उनके सही रूप में समझने का प्रयत्न है।" राजनीतिक चिन्तन में राजनीतिक

सिद्धान्त और राजनीतिक दर्शन दोनों का समावेश हो जाता है। वास्तव में, **राजनीतिक सिद्धान्त और राजनीतिक दर्शन एक- दूसरे के पूरक हैं।**

स्ट्रॉस का मूल्यों के महत्व पर वहुत अधिक आग्रह है। वह मानता है कि मूल्य राजनीतिक दर्शन का एक अनिवार्य अंग हैं और उन्हें राजनीति के अध्ययन से अलग नहीं किया जा सकता। अच्छे जीवन और अच्छे समाज की खोज जव व्यक्ति अपना लक्ष्य वना लेते हैं, तभी राजनीतिक दर्शन का उदय होता है।

राजनीति विज्ञान और राजनीतिक दर्शन के बीच जो कृत्रिम भेद किया जाता है, स्ट्रॉस उसकी गम्भीर आलोचना करता है। वह लिखता है—"प्रारम्भ में राजनीतिक दर्शन और राजनीति विज्ञान एक ही थे..." दर्शन से शून्य राजनीति विज्ञान की कल्पना नहीं की जा सकती और न कोई राजनीतिक दर्शन ऐसा हो सकता है जिसमें वैज्ञानिकता न हो।

4. एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण : कार्ल जे. फ्रेडरिक
(AN INTEGRATED APPROACH : KARL J. FRIEDRICH)

राजनीतिक अध्ययन के दो मोटे दृष्टिकोण हैं—(1) ऐतिहासिक और दार्शनिक दृष्टिकोण, तथा (2) समाजशास्त्रीय और वैज्ञानिक दृष्टिकोण। इनमें से यदि प्रथम पर अधिक वल दिया जाता है तो राजनीतिक अध्ययन 'नीतिवाद' (Moralism) का रूप ले लेता है और यदि दूसरे पक्ष पर अत्यधिक जोर दिया जाता है, तो उसका परिणाम राजनीतिक अध्ययन 'विज्ञानवाद' (Scientism) में खो सकता है। कार्ल जे. फ्रेडरिक एक ऐसा लेखक है जिसने यह वताने को चेष्टा की है कि राजनीतिक सिद्धान्त के दार्शनिक और वैज्ञानिक दोनों ही पक्षों को ठीक से समझना और इन पर समान रूप से जोर देना आवश्यक है।

राजनीतिशास्त्र अपने आप में एक ऐसा विशद शास्त्र है जिसमें अध्ययन की एक प्रविधि से काम चलना कठिन है। समाजशास्त्र अथवा मनोविज्ञान में या तो समूह का अध्ययन करना होता है अथवा व्यक्ति का और इस कारण उनके अध्ययन में ऐसी प्रविधियों से काम चलाया जा सकता है जो अपने आप में परिशुद्ध और सुनिश्चित हों, परन्तु राजनीतिशास्त्र का सम्वन्ध प्रादेशिक राज्य से है जो समाज का सवसे वड़ा संगठित रूप है, और जिसके स्वभाव, आकृति और लक्ष्य समय और परिस्थितियों के अनुसार वदलते हैं, और परिवर्तन के प्रत्येक रूप के अध्ययन में विभिन्न प्रविधियों की आवश्यकता हो सकती है, और कभी-कभी विभिन्न उपागमों और प्रविधियों का सम्मिश्रण करना भी आवश्यक हो सकता है। सरकार के संवैधानिक रूप के उद्भव के अध्ययन के लिए एक प्रकार की प्रविधि उपयोगी हो सकती है, जवकि तानाशाही सरकार के उद्भव के अध्ययन के लिए दूसरे प्रकार की प्रविधि, क्योंकि दोनों का मनोवैज्ञानिक आधार अलग-अलग है। राजनीति के इतिहास का अध्ययन करने में हमें प्रागैतिहासिक, ऐतिहासिक, नृजातीय (ethnological), नृवैज्ञानिक (anthropological), मनोवैज्ञानिक और अनेक अन्य उपागमों का प्रयोग आवश्यक हो सकता है। किसी एक अवसर पर उसे इतिहास की दस्तावेजी (documentary) प्रणाली की आवश्यकता हो सकती है और किसी दूसरे अवसर पर विधि सम्बन्धी अध्ययनों में काम में लाई जाने वाली विश्लेषणात्मक और व्यक्ति अथवा प्रकरण अध्ययन (case study) प्रणाली की। कुछ अन्य अवसरों पर सांख्यिकी और साक्षात्कार पद्धतियों का उपयोग भी आवश्यक हो सकता है। इस सवका यह अर्थ नहीं है कि ऐसी प्रविधियों के प्रयोग से, जो शुद्ध रूप में वैज्ञानिक नहीं हैं, राजनीतिक सिद्धान्त के वैज्ञानिक स्वरूप में किसी प्रकार की कमी आ जाती है। मूल वात जो हमें समझनी है, वह यह है कि 'विज्ञान' का अर्थ यह नहीं है कि सामाजिक विज्ञानों में अध्ययन की वही प्रविधियां प्रयोग में लाई जाएं जो भौतिकशास्त्र अथवा रसायनशास्त्र जैसे प्राकृतिक विज्ञानों में काम में लाई जाती हैं, या राजनीतिशास्त्र के अतिरिक्त, समाजशास्त्र अथवा मनोविज्ञान जैसे अन्य सामाजिक विज्ञानों में।

इसके साथ ही हमें यह भी स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि राजनीतिशास्त्र के वैज्ञानिक पक्ष पर जोर देने का अर्थ यह नहीं होना चाहिए कि उसके दार्शनिक पक्ष में किसी प्रकार की न्यूनता आ जाए। सच वात तो यह है कि किसी भी अच्छे राजनीतिशास्त्री के लिए दार्शनिकता उतनी ही आवश्यक है जितनी वैज्ञानिकता। राजनीतिशास्त्र तथ्यों और निष्कर्षों को दर्शनशास्त्र के सामने प्रस्तुत करता है और उसके वदले में दर्शनशास्त्र से एक अन्तर्दृष्टि प्राप्त करता है, जिसके आधार पर वह उन समस्याओं को टुकड़े-टुकड़े करके नहीं, वरन् समग्र रूप में समझ पाने की क्षमता विकसित कर सके। कोई भी राजनीतिक चिन्तक राजनीतिक

समस्याओं को उनके सही रूप में उस समय तक नहीं समझ सकता, जब तक कि जीवन के सम्बन्ध में उसका अपना एक विशिष्ट दृष्टिकोण अथवा दर्शन न हो।

राजनीति विज्ञान को यदि हम उसके समग्र रूप में देखना चाहें तो फ्रेडरिक के इस विचार से सहमत हुए बिना कोई चारा नहीं है कि "राजनीति विज्ञान और राजनीतिक दर्शन दोनों एक-दूसरे से इतने अन्तरंग रूप से गुंथे हुए हैं कि यदि उनमें किसी एक का अध्ययन ढंग से करना है तो दूसरे के अध्ययन के बिना वह सम्भव नहीं है और इस दृष्टि से राजनीति विज्ञान अन्य विज्ञानों से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं है जो सभी दर्शन से किसी न किसी रूप में जुड़े हुए हैं।"

5. राजनीति विज्ञान की स्वायत्तता : नॉर्मन जैकबसन
(AUTONOMOUS CHARACTER OF POLITICAL SCIENCE : NORMAN JACOBSON)

जैकबसन ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि राजनीति विज्ञान न तो कोरा विज्ञानवाद है न कोरा नीतिवाद। उसे न तो पूर्णतः विज्ञान के साथ और न पूर्णतः नैतिकता के साथ ही जोड़ा जा सकता है। दोनों से भिन्न उसका अपना एक स्वतन्त्र अस्तित्व है।

जैकबसन ने तो यहां तक कहा है कि जो राजनीति विज्ञान को शुद्ध विज्ञान के रूप में ढालना चाहते हैं और विज्ञान की प्रविधियों और प्रणालियों को ज्यों की त्यों उसमें प्रयोग में लाना चाहते हैं वे जानते ही नहीं कि विज्ञान का अर्थ क्या है? जैकबसन की धारणा है कि समकालीन राजनीतिशास्त्री राजनीति विज्ञान को एक ऐसा रूप देना चाहते हैं जिसमें वह राजनीति विज्ञान रह ही नहीं जाएगा। उनकी दृष्टि में "राजनीतिशास्त्र या तो मनोविज्ञान है या समाजशास्त्र या नीतिदर्शन या धर्मशास्त्र अर्थात् वह अन्य कुछ भी हो, परन्तु राजनीतिशास्त्र नहीं है।" जैकबसन की दृष्टि में राजनीति का अध्ययन एक विशेष प्रकार की बौद्धिक सक्रियता है। दूसरे शास्त्रों की अध्ययन प्रविधियों में ऐसी उच्चतम प्रविधियों का प्रयोग करने में जिनके द्वारा हम राजनीति को अधिक अच्छे ढंग से समझ सकें हानि नहीं है, परन्तु यह केवल इसी उद्देश्य से होना चाहिए कि इसमें हमें राजनीति को अधिक से अधिक अच्छे रूप में समझने में सहायता मिले।

जैकबसन के अनुसार राजनीति का अध्ययन अपने आप में एक विशेष प्रकार का अध्ययन है जिसमें विज्ञान और दर्शन दोनों के दृष्टिकोण संश्लिष्ट रूप से एक-दूसरे के साथ सम्बद्ध हैं। 'विज्ञान' को यदि उसमें से निकाल दिया जाए तो वह 'नीतिवाद' का एक निरर्थक अवशेष बनकर रह जाएगा और यदि 'दर्शन' को उसमें से निकाल दिया जाए तो वह अध्ययन की एक प्रविधि मात्र बनकर रह जाएगा।

जो लोग राजनीतिशास्त्र को 'विज्ञान' अथवा 'दर्शन' का रूप देना चाहते हैं उनकी प्राथमिक निष्ठा या तो 'विज्ञान' के प्रति या 'नीतिशास्त्र' के प्रति इतनी अधिक है कि वे राजनीति को एक ऐसी सक्रियता मानते प्रतीत नहीं होते जिसका अध्ययन स्वयं अपने आप में महत्वपूर्ण है। जैकबसन के शब्दों में दोनों ही वर्गों में धीरज की भयंकर कमी है—एक माप-तौल के लिए दीवाना है दूसरा नैतिकता के लिए पागल। "विज्ञानवाद राजनीति में से राजनीति को निकाल देगा और नीतिवाद उसे सदाचरण का शत्रु ठहराकर उसे समाप्त ही कर देगा।"

जैकबसन को इसमें आपत्ति नहीं है कि अन्य विज्ञानों में प्रचलित संकल्पनाओं और प्रविधियों को राजनीति विज्ञान में प्रयोग में लाया जाए, किन्तु उसका दृढ़ मत है कि यह प्रक्रिया विवेकपूर्ण ढंग से काम में लाई जानी चाहिए। जैकबसन तो यह मानने के लिए भी तैयार नहीं है कि राजनीति विज्ञान की शब्दावली का बहुत परिशुद्ध और वैज्ञानिक होना आवश्यक है। यदि हम दूसरे शास्त्रों से, विशेषकर प्राकृतिक विज्ञानों से, बिना सोचे-समझे उनकी शब्दावली को ग्रहण करते हैं तो उसमें हमारे समस्त चिन्तन पर उसका गहरा प्रभाव पड़ सकने का खतरा रहता है। वस्तुनिष्ठता के प्रश्न को ही लें तो, जैकबसन के मतानुसार, एक राजनीतिशास्त्री उतना वस्तुनिष्ठ हो ही नहीं सकता, न उसे उतना वस्तुनिष्ठ होना चाहिए, जितना एक भौतिकशास्त्री हो सकता है।

जैकबसन के विचारों का निष्कर्ष इस प्रकार है—"राजनीति का सिद्धान्त न तो विज्ञानवाद है और न नीतिवाद, इन दोनों को हम अलग-अलग करके देखें चाहे मिलाकर, इन दोनों में से किसी का भी सम्बन्ध उसके केन्द्रीय विषय से नहीं है। राजनीतिक सिद्धान्त का केन्द्रीय विषय राजनीतिक प्रज्ञा की खोज है।"

निष्कर्ष—राजनीति विज्ञान में नित्य नए परिवर्तन हो रहे हैं। राजनीति विज्ञान में, 1950-60 दशक के प्रारम्भ से ही शोध प्रणाली शास्त्र (Research Methodology) का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान बन गया है। पिछले बीस वर्षों में शोध प्रणाली शास्त्र को लेकर इतना साहित्य लिखा गया है कि कुछ विद्वान, बीसवीं शताब्दी को, राजनीति विज्ञान की '**शोध प्रणाली शास्त्र शताब्दी**' के नाम से पुकारते हैं।

परम्परावादी एवं आधुनिक राजनीति विज्ञान में अन्तर या राजनीति विज्ञान के परम्परावादी एवं आधुनिक दृष्टिकोण में अन्तर

(DISTINCTION BETWEEN MODERN AND TRADITIONAL POLITICAL SCIENCE OR DISTINCTION BETWEEN TRADITIONAL AND CONTEMPORARY PERSPECTIVE OF POLITICAL SCIENCE)

यह मानना गलत होगा कि राजनीतिशास्त्र के परम्परागत और आधुनिक परिवेश के बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा खींची जा सकती है अथवा कोई ऐसी तिथि निश्चित की जा सकती है जिस दिन परम्परागत राजनीतिशास्त्र का अन्त हुआ और आधुनिक राजनीतिशास्त्र ने अपने जीवन का सूत्रपात किया। मोटे रूप से आधुनिक राजनीति विज्ञान एक प्रकार से परम्परावादी राज विज्ञान के विरुद्ध चलाया गया एक आन्दोलन या क्रान्ति है। जैसा **कर्क पैट्रिक** ने लिखा है, '**असन्तोष ने क्षोभ को जन्म दिया और क्षोभ के परिणामस्वरूप क्षेत्र में परिवर्तन आया।**' दोनों में मुख्य अन्तर निम्नलिखित हैं :

(1) राजनीति विज्ञान की परिभाषा के सम्बन्ध में अन्तर—परम्परावादी विचारक राजनीति विज्ञान को 'राज्य' एवं 'सरकार' के अध्ययन का विज्ञान मानते हैं। गार्नर के अनुसार राजनीति विज्ञान का आरम्भ और अन्त राज्य से होता है। इसके विपरीत, आधुनिक व्यवहारवादी राजनीतिक विचारकों का मत है कि राजनीति विज्ञान की विषय-वस्तु राज्य नहीं वरन् **मनुष्य का राजनीतिक व्यवहार है।** वे राजनीति विज्ञान को शक्ति और सत्ता का विज्ञान मानते हैं। **लॉसवैल और कैपलन** के शब्दों में, "राजनीति विज्ञान एक व्यवहारवादी विषय के रूप में शक्ति को संवारने तथा मिल-बांटकर प्रयोग करने का अध्ययन है।" **विलियम रोबसन** लिखते हैं कि राजनीति की मुख्य दिलचस्पी का विषय बहुत ही स्पष्ट तथा अचूक है। यह शक्ति प्राप्त करने, उसे बनाए रखने, उसका प्रयोग करने, उससे दूसरों को प्रभावित करने अथवा दूसरों के प्रभाव को रोकने के संघर्षों पर केन्द्रित रहती है।

(2) विषय-क्षेत्र सम्बन्धी अन्तर—परम्परावादी तथा आधुनिक राजनीति विज्ञान में क्षेत्र के सम्बन्ध में भी अन्तर है। परम्परावादी राजनीति विज्ञान में राज्य का सर्वकालिक अर्थात् राज्य के भूत, वर्तमान तथा भविष्य का अध्ययन किया जाता है। इसके साथ ही सरकार का गठन, शासन के स्वभाव, शासन के अंग, शासन के रूप एवं कार्यों का भी अध्ययन किया जाता है। परम्परावादी इन सबका संस्थागत अध्ययन करते हैं। दूसरी ओर आधुनिक व्यवहारवादी राजनीतिक वैज्ञानिक संस्थाओं का नहीं, अपितु प्रक्रियाओं का अध्ययन करते हैं। आर्थर वेण्टले परम्परागत राजनीति विज्ञान का एक कड़ा आलोचक था और उसे वंजर और औपचारिकतापूर्ण, प्राणहीन, बन्ध्या और स्थैतिक मानता था और उसका मूल कारण उसकी दृष्टि में यह था कि उसमें 'प्रक्रिया' (Process) के अध्ययन पर पर्याप्त जोर नहीं दिया गया था।

आधुनिक व्यवहारवादी विचारक प्रक्रियाओं का अध्ययन करते समय विधायिका या संसद के ढांचे का अध्ययन करने की अपेक्षा इस बात का अध्ययन करना अधिक पसन्द करते हैं कि विधि कौन बनाता है? विधि-निर्माण का निर्णय कौन लेता है? विधि निर्माण की वास्तविक प्रक्रिया क्या है?

परम्परागत राजनीतिशास्त्रियों ने अनेक विषयों को अछूता छोड़ दिया जैसे सरकार की प्रक्रियाएं, राज्य तथा समाज के बीच पाई जाने वाली अन्तःक्रियाएं, निर्णय लेने की प्रक्रियाएं, नीति रचना का कार्य, नीति निर्धारण के कारण तथा परिणाम, आदि।

(3) प्रकृति के सम्बन्ध में अन्तर—राजनीति विज्ञान की प्रकृति के सम्बन्ध में भी दोनों में अन्तर है। परम्परावादी राजनीतिक विचारकों में अनेक विचारक ऐसे हैं जो कि राजनीति विज्ञान को विज्ञान की श्रेणी में नहीं रखते। बक्ल का विचार था कि "ज्ञान की वर्तमान अवस्था में राजनीति को विज्ञान मानना तो दूर, वह कलाओं में भी सबसे पिछड़ी कला है।" ऐसे विद्वान जो परम्परावादी राजनीति विज्ञान को विज्ञान के रूप में स्वीकार करते हैं वे उसे केवल शिष्टतावश ही विज्ञान मानते हैं। इसके विपरीत, आधुनिक राजनीति

वैज्ञानिक राजनीति विज्ञान को पूर्ण विज्ञान वनाने के पक्ष में हैं। मेरियम ने अपनी रचनाओं में इस वात पर जोर दिया कि राजनीति विज्ञान में वैज्ञानिक तकनीक और प्रविधियों का विकास समय की सवसे वड़ी आवश्यकता है। **केटलिन, हेरल्ड लासवैल** तथा **कार्ल डी. एच.** जैसे विद्वान वर्षों से यह सावित करने हेतु प्रयत्नशील हैं कि राजनीतिशास्त्र मूलतः एक विज्ञान है और इसका सम्वन्ध राजनीतिक समस्याओं के वैज्ञानिक विश्लेषण एवं निरूपण से है।

(4) अध्ययन पद्धतियों के सम्बन्ध में अन्तर—परम्परावादी राजनीतिशास्त्री जिन अध्ययन पद्धतियों का सहारा लेते हैं, वे एकदम प्राचीन और अपरिष्कृत हैं। इसमें दार्शनिक पद्धति, ऐतिहासिक पद्धति तथा तुलनात्मक पद्धति, आदि का सहारा लिया जाता है। इसके विपरीत, आधुनिक राजनीतिशास्त्रियों ने आधुनिक उपकरणों के माध्यम से राजनीति के अध्ययन पर अधिक वल दिया है। वह मनुष्य के राजनीतिक व्यवहारों तथा उनसे सम्वन्धित सानुभविक सत्यों का विश्लेषण तथा निरूपण करता है। आधुनिक राजनीतिशास्त्र अपनी निम्नलिखित तीन विशेषताओं के आधार पर पारम्परिक राजनीतिशास्त्र से मौलिक रूप से भिन्न हो जाता है :

(i) परिवर्त्तियों की भाषा (The Language of Variables)—राजनीतिशास्त्र में इस विशेषता का जन्म प्रोफेसर लजार्सफेल्ड से हुआ। इस पद्धति का अनुसरण कर आधुनिक राजनीतिशास्त्री राजनीतिक समस्याओं का निरूपण परिवर्तियों की भाषा में करते हैं। इस पद्धति के प्रयोग के कारण राजनीतिक सिद्धान्तों के काल्पनिक पक्षों के सूत्रीकरण एवं प्रमाणीकरण की समस्या का हल मिल गया है।

(ii) प्रतिमानों का सटीक प्रयोग—आधुनिक राजनीतिशास्त्र में प्रतिमानों का सटीक प्रयोग बढ़ गया है। प्रतिमानों का प्रयोग प्रतीक के रूप में किया जाता है और प्रारम्भ में राजनीतिशास्त्रियों ने इसके प्रयोग का विरोध किया था, किन्तु आज अधिकांश राजनीतिशास्त्री इस वात पर सहमत हैं कि अगर प्रतिमानों का सटीक प्रयोग किया जाए तो प्रतीकात्मकता से कोई हानि सम्भव नहीं है। इसलिए प्रतिमानों के सटीक प्रयोग होने के साथ ही साथ इससे सम्भावित प्रतीकात्मकता की हानियों से बचने के लिए आंकड़ों (data) के प्रयोग का प्रचलन बढ़ा है।

(iii) आंकड़ा संग्रह तथा आंकड़ा विश्लेषण—आधुनिक राजनीतिशास्त्र की व्यवहारवादी मान्यता का सर्वाधिक महत्वपूर्ण आधार आंकड़ों के माध्यम से राजनीतिक कार्यकलापों का विश्लेषण, प्रमाणीकरण और सिद्धान्त निरूपण है। यह एक कठिन कार्य है क्योंकि इसके लिए विशेषज्ञीय ज्ञान तथा वैज्ञानिक तकनीकों के प्रयोग में दक्षता की आवश्यकता होती है। फिर भी कम्प्यूटरों के विकास के बाद वृहत संख्या में आंकड़ा संग्रह और आंकड़ा विश्लेषण की समस्या अब उतनी कठिन नहीं रह गई है। इसके अलावा आंकड़ा अधिकोषों (data banks) की भी मदद ली जा रही है।

संक्षेप में, आधुनिक राजनीतिशास्त्री सांख्यिकीय पद्धति, आनुभविक पद्धति, व्यवस्था विश्लेषण पद्धति, अन्तःअनुशासनात्मक अध्ययन पद्धति के माध्यम से राजनीति के विज्ञान निर्माण की ओर प्रयत्नशील हैं। व्यवहारवादी यह आशा करते हैं कि इस तरीके को अपनाकर वे अन्त में राजनीतिशास्त्र के 'सिद्धान्त' का निर्माण करने में सफल होंगे, जबकि परम्परावादी प्रतिमानों का प्रयोग नहीं करते हैं। व्यवहारवादी क्रान्ति से पूर्व-प्रतिमान के प्रयोग का उदाहरण केवल मॉन्टेस्क्यू के राजदर्शन में मिलता है, लेकिन वह आधुनिक राजनीतिशास्त्रियों की तरह सटीक नहीं था। व्यवहारवादी राजनीति में अवधारणाओं और प्रतिमानों के अलावा अवधारणात्मक विषय प्रविधि का भी उल्लेख मिलता है। सचमुच ही सिद्धान्त निर्माण की दिशा में यह एक महत्वपूर्ण कदम है।

(5) मूल्यों के सम्बन्ध में अन्तर—परम्परावादी और आधुनिक राजनीति विज्ञान में एक बहुत वड़ा अन्तर मूल्यों के सम्बन्ध में है। परम्परावादी राजनीतिक विचारक मूल्यों (values) में आस्था रखते हैं। वे आदर्श में तथा नैतिकता में विश्वास करते हैं। दूसरी ओर व्यवहारवादी मूल्य निरपेक्षता का दावा करते हैं। उनके अनुसार राज वैज्ञानिक अपने आपको नैतिक भावनाओं, मूल्यों, आदर्शों, मिथ्या झुकावों व पक्षपातों, आदि से दूर रखकर वैज्ञानिक अध्ययन और अनुसन्धान करें। राजवैज्ञानिक को मूल्य निरपेक्ष एवं तटस्थ रहना चाहिए।

(6) उद्देश्यों के सम्बन्ध में अन्तर—उद्देश्य की दृष्टि से भी परम्परावादी राजनीति विज्ञान तथा आधुनिक राजनीति विज्ञान में अन्तर है। परम्परावादियों की मान्यता है कि राजनीति विज्ञान का उद्देश्य श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना तथा व्यक्ति के श्रेष्ठ जीवन के मार्ग को प्रशस्त करना है। इसके विपरीत, व्यवहारवादी

यह मानते हैं कि राजनीति विज्ञान का उद्देश्य ज्ञान के लिए ज्ञान प्राप्त करना है। वे प्रविधियों पर अधिक जोर देते हैं और उस सार वस्तु की उपेक्षा करते हैं जिसके लिए इन उपकरणों को प्रयोग में लाया जाना है। आगे चलकर उत्तर-व्यवहारवादियों ने आधुनिक राजनीति विज्ञान में उद्देश्य के बारे में भी दृष्टिकोण में परिवर्तन किया। उनके मत में राजनीति वैज्ञानिक को एक मूक दर्शक ही नहीं बनना है, बल्कि समस्याओं के समाधान के लिए भी प्रयास करना है।

संक्षेप में, आधुनिक राजनीतिशास्त्र में ऐसी धारणाओं, विश्लेषण के उपकरणों एवं तकनीकों का प्रयोग हो रहा है जिनके आधार पर राजनीतिशास्त्र को राज्य और राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन के सीमित दृष्टिकोण से मुक्ति दिलाने का दावा किया गया है।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. आधुनिक राजनीति विज्ञान की परिभाषा कीजिए तथा इसके स्वरूप और क्षेत्र को स्पष्ट कीजिए।
2. राजनीति विज्ञान का एक स्वतन्त्र अनुशासन के रूप में विकास का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
3. परम्परागत एवं आधुनिक दृष्टिकोणों को ध्यान में रखते हुए राजनीति विज्ञान की परिभाषा एवं क्षेत्र की व्याख्या कीजिए।
4. परम्परागत राजनीति विज्ञान तथा आधुनिक राजनीति विज्ञान में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
5. 'राजनीति विज्ञान में आधुनिक विकास' पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।
6. पारस्परिक तथा आधुनिक दृष्टिकोणों को ध्यान में रखते हुए राजनीति शास्त्र की प्रकृति एवं क्षेत्र की व्याख्या कीजिए।
7. राजनीति विज्ञान के परम्परावादी एवं आधुनिक दृष्टिकोण में क्या अन्तर है?

3

व्यवहारवाद

(BEHAVIOURALISM)

"व्यवहारवाद का प्रयोग अनिवार्यतः, मूल्य सम्बन्धी नीतियों के सन्दर्भ में ही किया जा सकेगा, जिसका समर्थन केवल व्यवहारवादी तकनीकों के द्वारा सम्भव नहीं है।"[1] **—मलफोर्ड जी. सिवली**

व्यवहारवाद का आशय (Meaning of Behaviouralism)—द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् परम्परागत राजनीति विज्ञान के विरोध में एक व्यापक क्रान्ति प्रारम्भ हुई, जिसने सभी समाज विज्ञानों को प्रभावित किया। इस क्रान्ति को ही व्यवहारवाद का नाम दिया जाता है। यह व्यवहारवादी क्रान्ति 'नये राजनीति विज्ञान' के साथ इतनी अधिक जुड़ी हुई है कि इसे **'राजनीति के वैज्ञानिक अध्ययन का सहचर'** कहा जा सकता है।

व्यवहारवाद या व्यवहारवादी उपागम राजनीतिक तथ्यों की व्याख्या और विश्लेषण का एक विशेष तरीका है, जिसे द्वितीय महायुद्ध के वाद अमरीकी राजवैज्ञानिकों द्वारा विकसित किया गया यद्यपि इसकी जड़ें महायुद्ध के भी पूर्व ग्राहम बालस और ब्रेडले, आदि की रचनाओं में देखी जा सकती हैं। यह उपागम राजविज्ञान के सन्दर्भ में मुख्यतया अपना ध्यान राजनीतिक व्यवहार पर केन्द्रित करता है और इस बात का प्रतिपादन करता है कि राजनीतिक गतिविधियों का वैज्ञानिक अध्ययन व्यक्तियों के राजनीतिक व्यवहार के आधार पर ही किया जा सकता है। व्यवहारवाद अनुभवात्मक (Empirical) और क्रियात्मक है तथा इसमें व्यक्तिनिष्ठ मूल्यों और कल्पनाओं, आदि के लिए कोई स्थान नहीं है। व्यवहारवाद इस दृष्टि से परम्परावादियों के नितान्त विरुद्ध है कि वह राजविज्ञान को राज्य की कानूनी एवं दार्शनिक सीमाओं में बाँधने के लिए तैयार नहीं हैं। व्यवहारवाद के अनुसार राज्य के वाहर भी सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र की जो संस्थाएँ और सत्ताएँ और इन सबको प्रेरित करने वाला जो मानसिक व्यवहार है, उसका अध्ययन अधिक आवश्यक और महत्वंपूर्ण है।

व्यवहारवाद का प्रणेता **डेविड ईस्टन** है। डेविड ईस्टन व्यवहारवाद के सम्बन्ध में लिखते हैं, "व्यवहारवाद वास्तविक व्यक्ति पर अपना समस्त ध्यान केन्द्रित करता है। व्यवहारवाद के अध्ययन की इकाई मानव का ऐसा व्यवहार है जिसका प्रत्येक व्यक्ति द्वारा पर्यवेक्षण, मापन और सत्यापन किया जा सकता है। व्यवहारवाद राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन से राजनीति की संरचनाओं, प्रक्रियाओं, आदि के वारे में वैज्ञानिक व्याख्याएँ विकसित करना चाहता है।"

सिबली के मत में, "अमरीकी राज वैज्ञानिक व्यवहारवाद के सन्दर्भ में परीक्षण योग्य वैज्ञानिक सिद्धान्त तथा उनकी सत्यापन प्रक्रिया, दोनों को अपनाने पर जोर देते हैं, ताकि प्राकृतिक विज्ञानों की भाँति राजनीति का एक विज्ञान बन जाये। इस सन्दर्भ में उनकी दृढ़ धारणा है कि अवधारणाएँ, पद्धतियाँ, सिद्धान्त आदि सभी कुछ प्राकृतिक विज्ञानों के स्तर पर लाये जा सकते हैं। इसका मुख्य प्रयोजन यह है कि राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति के व्यवहार की समग्रता का अध्ययन हो।"

डेविड ट्रुमैन के अनुसार, व्यवहारवाद से अभिप्राय है कि अनुसन्धान व्यवस्थित हो तथा उसका प्रमुख आग्रह आनुभविक प्रणालियों के प्रयोग पर होना चाहिये।

1 'Behaviouralism will inevitably be used within a framework of value judgments, which cannot be supported through behavioural techniques alone."
—Mulford G. Sibly in *Limitations of Behaviouralism*' in James C. Charlesworth ed, *Contemporary Political Analysis*, p. 54.

रावर्ट ए. डहल के विचार—व्यवहारवाद का अर्थ अधिक स्पष्टता और व्यापकता के साथ रावर्ट ए. डहल ने स्पष्ट किया है। इस प्रसंग में उनकी विवेचना इस प्रकार है :

(1) यह राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत एक ऐसा विरोध आन्दोलन है जिससे अनेक ऐसे राजवैज्ञानिक विशेषकर अमरीकी सम्बद्ध हैं जो परम्परागत राजनीति विज्ञान से असन्तुष्ट हैं। यह परम्परागत राजनीति विज्ञान के विभिन्न उपागमों जैसे—ऐतिहासिक, दार्शनिक, विवरणात्मक, संस्थात्मक, आदि के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया है।

(2) व्यवहारवादी राजवैज्ञानिक यह मानते हैं कि कतिपय नवीन पद्धतियों एवं उपागमों का विकास किया जा सकता है जिनकी सहायता से राज.विज्ञान में आनुभविक प्रस्थापनाओं और कुछ सीमा तक व्यवस्थित सिद्धान्त का विकास सम्भव है।

(3) यह एक ऐसा आन्दोलन है जिसका उद्देश्य राजनीतिक अध्ययन को आधुनिक मनोविज्ञान, समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र में विकसित सिद्धान्तों, पद्धतियों, खोजों और दृष्टिकोणों के निकट सम्पर्क में लाना है।

(4) यह एक ऐसा प्रयत्न है जो राजनीति विज्ञान के आनुभविक तथ्यों को अधिक वैज्ञानिकता प्रदान करता है।

(5) इसका उद्देश्य प्रशासन सम्बन्धी सभी घटनाओं को मनुष्यों के एक ऐसे व्यवहार के रूप में प्रस्तुत करना है जिसका पर्यवेक्षण कर लिया गया हो अथवा जिसका पर्यवेक्षण किया जा सकता हो।

(6) व्यवहारवाद विषय के आनुभविक तत्वों को अधिक वैज्ञानिक वनाने का प्रयत्न है। यह ऐसा उपागम है जिसका उद्देश्य राजनीतिक जीवन के आनुभविक पक्ष को ऐसी प्रणालियों, सिद्धान्तों और कसौटियों के द्वारा, जो आधुनिक आनुभविक विज्ञान के अधिनियमों, अभिसमयों और अभिग्रहों को पूरा करती हो, स्पष्ट करना है।[1]

व्यवहारवाद एक ऐसा उपागम है जिसका उद्देश्य राजनीतिक जीवन के आनुभविक पक्ष को ऐसी प्रणालियों, सिद्धान्तों और कसौटियों के द्वारा, जो आधुनिक आनुभविक विज्ञान के अधिनियमों, अभिसमयों और अभिग्रहों को पूरा करती हों, स्पष्ट करना है। यह विषय के आनुभविक तत्वों को वैज्ञानिक वनाने का, जिस अर्थ में उसकी गणना हम आनुभविक विज्ञानों में करते हैं, एक प्रयत्न मात्र है।

संक्षेप में, व्यवहारवाद एक ऐसा दृष्टिकोण है जिसका लक्ष्य विश्लेषण की नई इकाइयों, नई पद्धतियों, नई तकनीकों, नये तथ्यों और एक व्यवस्थित सिद्धान्त के विकास को प्राप्त करना है। व्यवहारवाद की आधारभूत मान्यता यह है कि प्राकृतिक विज्ञानों और समाज विज्ञानों के वीच एक गुणात्मक निरन्तरता है।

व्यवहारवाद के उदय और विकास के कारण
(CAUSES OF RISE AND EVOLUTION OF BEHAVIOURALISM)

राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में व्यवहारवादी मान्यताओं के कुछ विखरे सूत्र प्लेटो, अरस्तू, मेकियावेली, जॉन लॉक, मॉन्टेस्क्यू, आदि के दर्शन में मिलते हैं, लेकिन एक सिद्धान्त के रूप में व्यवहारवाद वर्तमान शताव्दी की उपज है। पिछले कुछ दशकों में विशेषकर द्वितीय महायुद्ध के वाद 'शासन तथा राजनीति' के अध्ययन में व्यवहारवादी अध्ययन पद्धति को अधिक महत्व दिया गया है। यह अध्ययन पद्धति 20वीं शताब्दी की एक महत्वपूर्ण देन है जिसे विकसित करने का श्रेय अमरीकी राजनीति वैज्ञानिकों (शिकागो आन्दोलन) को है। व्यवहारवाद के उदय और विकास के मूल में अनेक कारण निहित रहे हैं जिनमें कुछ प्रमुख निम्नलिखित हैं :

(1) **परम्परागत अध्ययन पद्धतियों के प्रति असन्तोष**—20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में अनेक राजनीतिशास्त्रियों को परम्परागत राजनीतिशास्त्र की अध्ययन पद्धतियों के परिणामों से निराशा हुई। उनका विचार था कि परम्परागत पद्धतियों से राजनीतिक जीवन की वास्तविकता का चित्र हमारे सामने स्पष्ट नहीं हो सकता है।

राजवैज्ञानिकों में बढ़ते हुए असन्तोष के कई कारण थे, जैसे—**प्रथम**, राजनीतिशास्त्रियों ने देखा कि शासन के नीति-निर्माण एवं उसके निर्धारण के स्तर पर राजनीतिज्ञों एवं राजनेताओं को तो सम्मानजनक

1 **Robert Dahl, "The Behavioural Approach in Political Science." in James A.Grould and others, *Contemporary Political Thought*, 1969, pp. 118-119.**

स्थान दिया जाता था, जैसा कि द्वितीय महायुद्ध के दौरान संयुक्त राज्य अमेरिका में किया गया, परन्तु राजविज्ञान के विद्वानों के ज्ञान, कौशल एवं अनुभव की उपेक्षा की गयी थी जिससे उनमें निराशा उत्पन्न हुई। द्वितीय, राजवैज्ञानिकों ने यह अनुभव किया कि उनके अध्ययन विषय में सैद्धान्तिक पक्ष के विवेचन-अध्ययन पर ही वल दिया जा रहा था जो पर्याप्त एवं विश्वसनीय नहीं हो सकता। साथ ही सैद्धान्तिक पक्ष तथा यथार्थ शासन प्रक्रिया में महत्वपूर्ण अन्तर एवं विषमता को पाया गया। तृतीय, दो महायुद्धों के वीच के काल में फासीवादी, नाजीवादी, प्रजातिवादी एवं एकाधिकारी प्रवृत्तियों के उदय, विकास एवं लोकप्रियता के कारणों के विश्वसनीय तर्क तथा निदान परम्परागत प्रवृत्ति में सम्भव नहीं थे। राजनीतिशास्त्रियों ने पाया कि राजनीतिक क्रिया-प्रक्रिया तथा व्यवहार की सम्वद्धता को अनदेखा करने से राजनीतिक वास्तविकता का ज्ञान सीमित होना स्वाभाविक है। चतुर्थ, राजविज्ञान के निरन्तर विकास एवं लोकप्रियता के वाद भी विषय की अध्ययन पद्धति, जो कि मूलतः वर्णनात्मक शैली की थी, को अपर्याप्त माना गया। दार्शनिक, संस्थागत, औपचारिक, कानूनी एवं ऐतिहासिक पद्धतियों के योगदान की सीमाओं के परिणामस्वरूप उत्पन्न राजनीतिशास्त्र की शिथिलताओं के प्रति असन्तोष होना स्वाभाविक था। पंचम, अन्य विषयों, जैसे प्राकृतिक विज्ञानों तथा सामाजिक शास्त्रों में विकसित प्रक्रिया के फलस्वरूप नवीनतम एवं विश्वसनीय पद्धतियों और तकनीकों के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न हुई जवकि राजनीतिशास्त्रियों ने इस क्षेत्र में भी अपने आपको पिछड़ा पाया। इस सन्दर्भ में यह उचित माना गया कि अन्तर्विषयक आदान-प्रदान की निरन्तरता राजनीतिशास्त्र के अस्तित्व-संरक्षण एवं विकास हेतु आवश्यक है। व्यवहारवाद के उदय एवं विकास के लिए यह एक आवश्यक कदम सिद्ध हुआ। षष्ठ, द्वितीय विश्वयुद्ध के वाद जो स्थिति और वातावरण, विशेष रूप से अमेरिका में था, उसमें राजवैज्ञानिकों ने पाया कि पश्चिमी व्यवस्थाओं एवं वातावरण में किये गये अध्ययन शोध के निष्कर्ष एवं पद्धतियाँ केवल सीमित, क्षेत्रीय या राष्ट्रीय वातावरण में ही उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। किन्तु एशिया, अफ्रीका एवं लेटिन अमेरिका के नवस्वतन्त्र एवं पिछड़े देशों की कई समस्याओं, प्रक्रियाओं एवं चुनौतियों का अध्ययन परम्परागत पद्धतियों द्वारा करने पर अध्ययन से वास्तविक स्थिति का ज्ञान सम्भव नहीं है और न ही राजनीतिक कार्य एवं व्यवहार की अन्तरंग स्थिति को प्रमाणित स्तर पर समझा जा सकता है। अतः इस सम्बन्ध में राजशास्त्रियों की यह धारणा हो रही थी कि पश्चिमी सन्दर्भ में निर्धारित अवधारणाओं को नवोदित राजनीतिक व्यवस्थाओं पर आरोपित किया गया तो उसके निष्कर्ष विश्वसनीय नहीं होंगे। असन्तोष के इन्हीं कारणों के परिणामस्वरूप व्यवहारवादी आग्रह के अन्तर्गत अन्तःसांस्कृतिक एवं अन्तःराष्ट्रीय सन्दर्भ में राजनीतिक प्रक्रिया एवं व्यवहार के अध्ययन को उपयोगी माना गया।

(2) अन्य सामाजिक विज्ञानों से प्रेरणा—अन्य सामाजिक विज्ञानों में अध्ययन के नवीन तरीकों और उपकरणों के प्रयोग को प्रोत्साहन मिला तो राजनीतिशास्त्र का इससे अछूता रहना सम्भव नहीं था। जैसाकि रॉवर्ट डहल ने लिखा है कि व्यवहारवाद एक ऐसा आन्दोलन है जिसका उद्देश्य राजनीतिक अध्ययन को आधुनिक मनोविज्ञान, समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र में विकसित सिद्धान्तों, पद्धतियों, खोजों और दृष्टिकोणों के निकट सम्पर्क में लाना है।

(3) द्वितीय विश्वयुद्ध का प्रभाव—द्वितीय महायुद्ध ने व्यवहारवाद को गति प्रदान की। युद्धकालीन घटनाओं ने राजनीतिशास्त्रियों के मन में यह वात वैठा दी कि राजनीतिक जीवन की जटिलताओं को पूरी तरह समझने के लिए संस्थाओं और उनकी संरचनाओं के अध्ययन की सीमा से आगे वढ़कर उनकी संस्थाओं और उनमें कार्य करने वाले व्यक्तियों के व्यवहार का अध्ययन करना होगा।

(4) नवीन अध्ययन पद्धतियों का प्रयोग—द्वितीय महायुद्ध के बाद के दशकों में राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में यह विचार वल पकड़ता गया कि राजनीतिशास्त्र में नवीन अध्ययन पद्धतियों को स्थान देना होगा। परीक्षण उपकरणों, सर्वेक्षण पद्धतियों, सांख्यिकीय विश्लेषणों, गणितीय प्रारूपों, निदर्शन सर्वेक्षण जैसी प्रविधियों के वढ़ते हुए प्रयोग ने राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन को वस्तुनिष्ठ बनाकर व्यवहारवाद का पोषण सहज किया।

व्यवहारवाद का विकास—व्यवहारवाद का ऐतिहासिक विकास संयुक्त राजविज्ञान के यथार्थवादी एवं अनुभववादी अध्ययनों के साथ जुड़ा हुआ है। इसका प्रारम्भ 1908 में ग्राहम वालस की '*Human Nature in Politics*' और ए. एफ. वेण्टले की '*The Process of Government*' पुस्तकों से हुआ। वालस ने

राजनीति के अध्ययनकर्ताओं द्वारा संस्थाओं का विश्लेषण करने और मानव का विश्लेषण करने से बचने की प्रवृत्ति के प्रति असन्तोष व्यक्त किया। स्पष्टतया ही यह अनुभववादी या व्यवहारवादी अध्ययन को अपनाने के लिए एक आग्रह था। इसके बाद 1925 में प्रकाशित चार्ल्स मेरियम की रचना '*New Aspects of Politics*' को व्यवहारवाद की दिशा में एक महत्वपूर्ण चरण कहा जा सकता है। अमरीका में मेरियम की प्रेरणा से यथार्थवादी एवं परिमाणात्मक अध्ययन किये गये और सुप्रसिद्ध '**शिकागो सम्प्रदाय**' व्यवहारवाद का प्रमुख गढ़ बन गया। नव स्थापित '**पालिटीकल साइन्स एसोसियेशन**' और '**सोशल सांइन्स रिसर्च कौंसिल**' तथा '**फोर्ड, कारनेगी और रॉकफेलर**' जैसी निजी संस्थाओं से इसे सहायता तथा शक्ति मिली, जिससे व्यवहारवादी दृष्टिकोण सर्वव्यापक हो गया।

अब अमरीका में व्यवहारवाद एक वौद्धिक प्रवृत्ति के रूप में एक प्रभावशाली आन्दोलन का रूप धारण कर चुका है। इस विचारधारा का प्रतिनिधित्व करने वाले अनेक शोध पत्र प्रकाशित होते हैं जैसे 'Public Opinion, Quarterly World Politics, American Behavioural Science और Behaviour Science', आदि। वहाँ की '**समाज विज्ञान शोध समिति**' (Social Science Research Council) ने '**राजनीतिक व्यवहार**' तथा '**तुलनात्मक राजनीति**' पर दो समितियों का गठन किया है। इसे अब सभी प्रमुख राजवैज्ञानिक **डेविड ईस्टन, लासवेल, आमण्ड कोलमैन, हींज यूलाउ, डॉयस, एडवर्ड शील्स, पोवेल**, आदि अपना चुके हैं।

व्यवहारवाद का स्वरूप और मूल मान्यताएँ

व्यवहारवाद आज बहुत अधिक प्रचलित और व्यापक हो गया है, किन्तु इसके अर्थ के सम्बन्ध में सभी का दृष्टिकोण समान नहीं है। कुछ विद्वानों के अनुसार यह केवल एक '**मनोदशा**' (mood) या '**मनोवृत्ति**' है, तो कुछ विचारकों की दृष्टि में इसके अपने निश्चित विचार, सिद्धान्त और कार्यविधियाँ हैं। द्वितीय महायुद्ध और 1960 के बीच व्यवहारवाद एक साथ ही एक उपागम और एक चुनौती, एक अभिनवीकरण और एक सुधार आन्दोलन, एक विशेष प्रकार का अनुसन्धान और एक जमघट जमाने वालों की पुकार के रूप में माना जाता रहा है। लेकिन व्यवहारवाद ने अनिश्चितता की स्थिति को पार कर लिया है और अब इसके अर्थ पर्याप्त निश्चित हो गये हैं। **किर्क पैट्रिक** (Kirk Patrick) ने व्यवहारवाद के स्वरूप का स्पष्टता और विशदता के साथ विवेचन किया है, इसके अनुसार व्यवहारवाद की निम्न चार विशेषताएँ हैं :

(1) यह इस बात पर बल देता है कि राजनीतिक अध्ययन और शोध कार्य में विश्लेषण की मौलिक इकाई संस्थाएँ न होकर व्यक्ति होना चाहिए। (2) यह सामाजिक विज्ञानों को व्यवहारवादी विज्ञानों के रूप में देखता है और राजनीति विज्ञान की अन्य सामाजिक विज्ञान के साथ एकता पर बल देता है। (3) यह तथ्यों के पर्यवेक्षण, वर्गीकरण और माप के लिए अधिक परिशुद्ध प्रविधियों के विकास और उपयोग पर बल देता है और इस बात का प्रतिपादन करता है कि जहाँ तक सम्भव हो, सांख्यिकीय या परिमाणात्मक सूत्रीकरणों का उपयोग किया जाना चाहिए। (4) यह राजनीति विज्ञान के लक्ष्य को एक व्यवस्थित आनुभविक सिद्धान्त के रूप में परिभाषित करता है।

व्यवहारवाद का अधिकारी विद्वान डेविड ईस्टन को कहा जा सकता है। उसने अपने लेख '*The Current Meaning of Behaviouralism*' में व्यवहारवाद के आधार एवं लक्ष्यों को निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया है :

(1) **नियमन** (Verification)—व्यवहारवादी मानते हैं कि राजनीतिक व्यवहार में सामान्य तत्व ढूँढे जा सकते हैं, उन्हें राजनीतिक व्यवहार के सामान्यीकरणों अथवा सिद्धान्तों के रूप में व्यक्त किया जा सकता है और इनके आधार पर मानवीय व्यवहार की व्याख्या और भविष्य के लिए सम्भावनाएँ व्यक्त की जा सकती हैं।

(2) **सत्यापन** (Verification)—मानवीय व्यवहार के सम्बन्ध में एकत्रित सामग्री को दुबारा जाँचने और उसकी पुष्टि करने की क्रिया को सत्यापन कहते हैं। व्यवहारवादी अध्ययन पद्धति की एक विशेषता यह है कि उसके अन्तर्गत एकत्रित की गयी सामग्री का सत्यापन किया जाता है।

(3) **तकनीकी प्रयोग** (Use of Techniques)—आधार सामग्री प्राप्त करने एवं उनकी व्याख्या करने के साधनों को स्वयंसिद्ध नहीं माना जा सकता। वे समस्यात्मक होते हैं और स्वयं अध्ययनकर्ता द्वारा उन्हें सावधानी से शुद्ध एवं परीक्षित किये जाने की आवश्यकता है। मानवीय व्यवहार का पर्यवेक्षण करने और

उसका विश्लेषण कर परिणामों को अंकित करने के लिए कठोर शुद्धीकरण के साधनों को अपनाया जाना चाहिए। परिशुद्धीकरण की प्रक्रिया ज्ञान को विकासशीलता प्रदान करती है और इसके आधार पर नये तथ्य प्राप्त किये जाने पर पुरानी सामग्री को अप्रमाणित ठहराया जा सकता है।

(4) परिमाणनीकरण (Quantification)—उपलब्धियों के विवरण तथा आधार सामग्री को लेखवद्ध करने तथा उसमें सुस्पष्टता लाने के लिए मापन और परिमाणनीकरण किया जाना चाहिए। मापन और परिमाणनीकरण का यह कार्य उनके अपने लिये नहीं, वरन् अन्य प्रयोजनों के प्रकाश में किया जाना चाहिए।

(5) मूल्य निर्धारण (Value Determination) व आदर्श निर्माण (Model Building)—सामान्य व्यवहारवादी मूल्यों की दृष्टि से तटस्थ रहना चाहते हैं, फिर भी नैतिक मूल्यांकन के कुछ मूल्यों व आदर्शों का प्रतिपादन और प्रयोग आवश्यक हो जाता है। इस सम्वन्ध में अपनाये गये मूल्यों व आदर्शों को अध्ययनकर्ता के मूल्यों व आदर्शों से अलग रखा जाना चाहिए और सामान्य मूल्य व आदर्श अध्ययनकर्ता के मूल्यों व आदर्शों से अप्रभावित रहने चाहिए।

(6) व्यवस्थावद्धीकरण (Systematization)—अनुसन्धान आवश्यक रूप से क्रमवद्ध होना चाहिए अर्थात् सिद्धान्त एवं अनुसन्धान को सम्वद्ध और क्रमवद्ध ज्ञान के दो ऐसे भाग समझा जाना चाहिए जो परस्पर गुँथे हुए हैं। सिद्धान्त से अशिक्षित (Untutored) अनुसन्धान निरर्थक हो सकता है और आँकड़ों से असमर्थित सिद्धान्त निरर्थक रहेगा। वस्तुतः सिद्धान्त और तथ्य एक-दूसरे से अपृथकनीय होते हैं।

(7) विशुद्ध ज्ञान (Pure Science)—ज्ञान का प्रयोग वैज्ञानिक उद्यम का भी उतना ही अंग है जितना कि सिद्धान्तात्मक बोध (theoretical understanding) का। लेकिन तार्किक रूप में राजनीतिक व्यवहार का वोध और व्याख्या पहले ही आते हैं और एक ऐसा आधार प्रदान करते हैं जिनके बल पर समाज की महत्वपूर्ण व्यावहारिक समस्याओं को सुलझाने की चेष्टा की जा सकती है।

(8) समग्रता (Integration)—व्यवहारवादियों की एक प्रमुख मान्यता यह है कि समस्त मानव व्यवहार एक ही पूर्ण इकाई है और उसका अध्ययन खण्डों में नहीं होना चाहिए। व्यवहारवाद के अनुसार मानव व्यवहार में एक मूलभूत एकता पायी जाती है तथा इसी कारण विभिन्न समाज विज्ञान परस्पर अत्यन्त समीप हैं। अतः राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन जीवन के अन्य पक्षों के सन्दर्भ में ही किया जाना चाहिए।

इस सूची में व्यवहारवादी पन्थ के सभी प्रमुख आधार आ गये हैं। उपर्युक्त सूत्र अनुसन्धान के परम्परागत और व्यवहारवादी ढंग के प्रमुख अन्तरों का प्रतिनिधित्व करते हैं और लगभग सभी व्यवहारवादी कम-अधिक रूप में उन्हें स्वीकार करते हैं।

व्यवहारवाद की आलोचना
(CRITICISM OF BEHAVIOURALISM)

व्यवहारवाद की अनेक दुर्बलताएँ हैं जिनके कारण इसकी आलोचना की जाती है। आलोचना के प्रमुख आधार निम्नलिखित हैं :

(1) अत्यधिक शब्दाडम्बर—व्यवहारवाद द्वारा अपनायी गयी अपरिचित शब्दावली, नये संप्रत्ययों तथा शुष्क वाक्य रचना की कटु आलोचना की जाती है। व्यवहारवादी विचारकों ने जिस भारी भरकम शब्दावली का प्रयोग किया है उसके कारण ऐसा प्रतीत होता है कि यह केवल एक शब्दाडम्बर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वकील जिस प्रकार निरर्थक दलीलें दिया करते हैं उसी प्रकार आधुनिक विद्वान केवल शब्द-जाल को ही व्यवहारवाद की संज्ञा देते हैं। परिणाम यह होता है कि सुनहरे शब्द-जाल में राजनीति विज्ञान की आत्मा तड़पती ही रहती है। डॉ. एस. पी. वर्मा के शब्दों में, "तटस्थता और निष्पक्षता प्राप्त करने के लिए अनुभववादी सिद्धान्तवादियों ने एक नया उलझाने वाला और फूहड़ शब्द-जाल आविष्कृत कर लिया है।

(2) राजनीतिक व्यवहार की धारणा गलत—व्यवहारवादी यह मानते हैं कि राजनीति विज्ञान में संस्थागत अध्ययन के स्थान पर मनुष्य के राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन किया जाना चाहिए। परन्तु व्यवहारवादी मानव व्यवहार का विज्ञान प्रस्तुत करने में असमर्थ रहे हैं। चूँकि व्यवहारवादी नियमितताओं पर अत्यधिक बल देते हैं। वे मनुष्य के व्यवहार के मुख्यतः सामान्य एवं नियमित गुणों का ही अध्ययन करते हैं। व्यवहारवादी शोध में अद्वितीय (यूनीक) घटनाओं की अपेक्षा की जाती है। व्यवहारवादी घटनाओं के पीछे सामान्य नियम

एवं नियमितताएँ खोजने में व्यस्त रहते हैं, इसलिए आलोचक उन्हें सामान्य नियम खोजने वाले (नोमोथेटिक) कहकर पुकारते हैं।

(3) राजनीति विज्ञान विशुद्ध विज्ञान नहीं है—व्यवहारवादी सिद्धान्तकार राजनीति विज्ञान को विज्ञान वनाने के पक्ष में हैं जबकि यह सम्भव नहीं है। व्यवहारवादी इस तथ्य को भुला देते हैं कि प्राकृतिक विज्ञानों और राजनीति विज्ञान के तृथ्यों में वड़ा अन्तर है। राजनीति विज्ञान के तथ्य प्राकृतिक विज्ञानों के तथ्यों की तुलना में वहुत अधिक जटिल, अत्यधिक परिवर्तनशील होते हैं। न तो उनकी हर धारणा का मापन हो सकता है और न ही सत्यापन। इन कारणों से राजनीति विज्ञान को प्राकृतिक या भौतिक विज्ञानों के समकक्ष बनाने का प्रयास अत्यधिक कठिन है। कॉर्ल पॉपर के शव्दों में, ''राजनीति वैज्ञानिकों की भविष्यवाणियाँ ''अगर-मगर की स्थिति से आगे नहीं जा सकतीं।''

(4) पद्धतियों पर अत्यधिक बल—व्यवहारवादी तथ्यों और आँकड़ों को एकत्रित करने में इतने उलझें रहते हैं कि वे व्यावहारिक एवं महत्वपूर्ण तथ्यों को ही भुला देते हैं। केवल पद्धतियों पर ही महत्व देना उनकी सवसे वड़ी कमजोरी है। राजनीतिक घटनाओं और समस्याओं के आन्तरिक तत्वों का साक्षात्कारों एवं प्रश्नावलियों की प्रविधियों से पता नहीं लगाया जा सकता। अतः राजनीति के अन्तःस्तल का सत्यापन असम्भव है।

(5) मूल्य निरपेक्षता सम्भव नहीं—व्यवहारवादी मूल्य निरपेक्षता में अत्यधिक विश्वास करते हैं जवकि मूल्य निरपेक्षता असम्भव है। अनुसन्धानकर्ता के व्यक्तिगत मूल्य कहीं न कहीं उसके निष्कर्षों को प्रभावित करते ही हैं। जव कोई शोधकर्ता अपने शोध का प्रारम्भ करना चाहता है तो शोधसम्बन्धी विपयों के चुनाव में वह अपने मूल्यों, हितों तथा जिज्ञासाओं से प्रभावित रहता है। लियोस्ट्रॉस के शव्दों में ''मूल्य निरपेक्षता का परिणाम गटर की विजय ही हो सकता है और यही हुआ भी।''

(6) अत्यधिक खर्चीली पद्धति—व्यवहारवादी शोध पद्धति अत्यधिक खर्चीली है। अमेरिका में व्यवहारवादी अध्ययन के नाम पर करोड़ों डॉलर खर्च किये गये। इसमें वार-वार सर्वेक्षण किये जाते हैं, आँकड़े एकत्रित किये जाते हैं तथा विश्लेषण करने के लिए विभिन्न पद्धतियों का प्रयोग किया जाता है।

(7) अन्य पद्धतियों के महत्व को नकारना—व्यवहारवादी अन्य पद्धतियों के महत्व को स्वीकार नहीं करते। इस सम्बन्ध में सिवली लिखते हैं, 'राजनीति का अध्ययन यदि केवल इसी आधार पर नहीं करना है कि व्यक्ति का व्यवहार निर्दिष्ट-परिस्थितियों में क्या हो सकता है, परन्तु इस आधार पर भी कि वह आज क्या है, कल क्या था, भविष्य में क्या होगा और कैसा होना चाहिए तो हमारा काम केवल व्यवहारवाद से नहीं चलेगा, हमें राजनीतिक चिन्तन के इतिहास, नीति, दर्शन, सांस्कृतिक इतिहास, शास्त्रीय परम्परा के परिकल्पनाशील राजनीतिक दर्शन, राजनीतिक विवरण और प्रत्यक्ष राजनीतिक अनुभव, सभी से सहायता लेनी होगी।''

(8) सूक्ष्म अध्ययन के निष्कर्षों को वृहत् स्तर पर लागू करने की समस्या—व्यवहारवाद की एक समस्या सूक्ष्म-वृहत् (micro-macro) विश्लेषण के पारस्परिक सम्वन्धों का सन्तोषप्रद उत्तर देने की है। सूक्ष्म अध्ययन (micro-study) करके उसके निष्कर्षों को वृहत् आकार इकाइयों पर लागू करने का प्रयास कितना तर्कपूर्ण एवं वैज्ञानिक होगा? एक गाँव के थोड़े से मतदाताओं के व्यवहार एवं विचारों का अध्ययन करके निकाले गये निष्कर्षों को सम्पूर्ण सामाजिक इकाई पर लागू करना कितना वैज्ञानिक है?

(9) व्यवहारवाद नीति निर्धारण के परिप्रेक्ष्य में—जव हम व्यवहारवाद के निष्कर्षों को 'नीति निर्धारण' के प्रश्न से जोड़ते हैं तो उसकी कमियाँ और स्पष्ट होती हैं। नीति-निर्माण में अनेक तत्व योगदान देते हैं, केवल तथ्य नहीं देते, उसमें नैतिक तत्वों तथा राजनीति का भी हाथ रहता है। केवल तथ्यों के आधार पर नीति निर्माण नहीं किया जा सकता।

(10) संख्यात्मक पद्धति से मानवीय स्वभाव का मापन सम्भव नहीं—व्यवहारवाद पर एक और दोष यह थोपा जाता है कि संख्यात्मक प्रणाली के द्वारा मानवीय स्वभाव के गुणात्मक पहलुओं का यह अध्ययन करता है। मानवीय स्वभाव इतना जटिल है कि उसके अन्तर्तम की गहराइयों, उसकी जटिलताओं तथा सूक्ष्मताओं का विश्वसनीय तरीके से मापन नहीं हो सकता। मनुष्य की मनोवृत्तियों तथा प्रेरक कारणों का सच्चा ज्ञान क्या प्रश्नावलियों द्वारा किया जा सकता है?

व्यवहारवाद की उपयोगिता या व्यवहारवाद का राजनीति विज्ञान पर प्रभाव—व्यवहारवादी क्रान्ति के प्रारम्भिक दौर ने परम्परागत विचारकों और व्यवहारवादी विचारकों के वीच शीतयुद्ध के जिस वातावरण को जन्म

दिया था, वह आज समाप्त हो चुका है और हमने एक ऐसी स्थिति में प्रवेश कर लिया है, जिसमें व्यवहारवाद का उचित मूल्यांकन सम्भव है। व्यवहारवाद के फलस्वरूप आज राजनीति विज्ञान को **'नवीन राजनीति विज्ञान'** के नाम से पुकारा जाने लगा है। इसके परिणामस्वरूप राजनीति विज्ञान के साहित्य में पिछले चार दशकों में आशातीत वृद्धि हुई है। व्यवहारवाद के प्रयासों के परिणामस्वरूप संस्थाओं के औपचारिक अध्ययन को चुनौती दी गई है तथा अव व्यक्ति, प्रक्रिया तथा तथ्य राजनीति विज्ञान के अध्ययन के केन्द्र बन गये हैं। इसने राजनीति विज्ञान को अध्ययन और विश्लेषण के नये साधन तथा औजार भी दिये हैं। इसके तथ्यपूर्ण निष्कर्षों ने नीति निर्माण में योगदान देकर राजनीतिशास्त्र को **'सामाजिक इन्जीनियरिंग'** (Social Engineering) का माध्यम वनाने की दिशा में एक कदम आगे वढ़ाया है। व्यवहारवाद की निश्चित रूप से अपनी कुछ उपयोगिताएँ हैं, जिनका उल्लेख निम्न रूपों में किया जा सकता है :

(1) व्यवहारवाद केवल मात्र एक उपागम या दृष्टिकोण मात्र नहीं है, वरन् यह तो राजनीति विज्ञान की समस्त विषय-वस्तु को नवीन रूप में प्रस्तुत करने का एक साधन है। व्यवहारवाद केवल सुधार ही नहीं, वरन् पुनर्निर्माण क्रिया है तथा इसने राजविज्ञान को नये मूल्य, नयी भाषा, नयी पद्धतियाँ, उच्चतर प्रस्थिति, नवीन दिशाएँ और सवसे वढ़कर **'अनुभवात्मक वैज्ञानिकता'** प्रदान की है।

(2) व्यवहारवाद ने राजवैज्ञानिक के दृष्टिकोण को व्यापक वनाया है और उन्हें इस वात के लिए प्रेरित किया है कि एक समाज विज्ञान का अध्ययन दूसरे समाज विज्ञान के सन्दर्भ में ही किया जाना चाहिए। व्यवहारवादियों के इस विचार को **'अन्तर-अनुशासनात्मक दृष्टिकोण'** (Inter-disciplinary approach) कहा जा सकता है। डहल (Dahl) के मतानुसार व्यवहारवाद **"राजनीतिक अध्ययनों को आधुनिक मनोविज्ञान, समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों, उपलब्धियों और दृष्टिकोणों के निकट सम्पर्क में लाने में सफल हुआ है।"**

(3) राजवैज्ञानिक अव तक सामान्यतया ऐसे दार्शनिकों के रूप में कार्य करते रहे हैं, जो केवल नैतिक मूल्यों व आदर्शों से ही सम्वन्ध रखते थे। व्यवहारवाद ने राजनीति विज्ञान को यथार्थ के धरातल पर खड़ा करने का कार्य किया है। उसने इस वात पर जोर दिया है कि राज-वैज्ञानिक का सम्वन्ध 'क्या है' से है न कि 'क्या होना चाहिए' से। व्यवहारवाद ने संस्थाओं के स्थान पर व्यक्ति को राजनीतिक विश्लेषण की इकाई वनाने पर जोर देने की वात कही है, वह इसी दिशा में एक महत्वपूर्ण प्रयास है। इस प्रकार उसने राजविज्ञान को एकता और आधुनिकता प्रदान की है।

(4) व्यवहारवाद ने अपने वैज्ञानिक अनुभववाद के माध्यम से नवीन दृष्टि, नवीन पद्धतियाँ, नये मापन और नूतन क्षेत्र प्रदान किये हैं। व्यवहारवाद के परिणामस्वरूप ही राजनीति विज्ञान साक्षात्कार प्रणाली, मूल प्रश्नावली प्रणाली और सोशियोमैट्री, आदि अपनाने की ओर प्रवृत्त हुआ है। राजनीति के अन्तर्गत अव न केवल **'मतदान व्यवहार'** (voting behaviour) वरन् राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थाओं का अध्ययन भी इस पद्धति के आधर पर किया जाने लगा है।

सेला पूल (Ethiel de Sala Pool) के शब्दों में, **"अब हमारा अनुशासन एक नये सामंजस्य, एक सुखद एकता और आत्मविश्वासपूर्ण अभिज्ञान का अनुभव करता है जो कि स्वस्थ और शीघ्रवर्द्धन के अनुकूल है।"**

वस्तुतः व्यवहारवाद वैज्ञानिक अध्ययन पद्धति का प्रतीक है। नव राजनीतिशास्त्र के निर्माण में व्यवहारवाद की भूमिका उल्लेखनीय है। यद्यपि व्यवहारवादी अपनी नई शोध प्रणालियों के आधार पर उन उद्देश्यों को प्राप्त करने में सर्वथा असफल रहे, जिन्हें प्राप्त करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया था, परन्तु डॉ. एस. पी. वर्मा के शब्दों में, "इन सब कमियों के बावजूद व्यवहारवादियों ने राजनीति विज्ञान को उसकी गहरी तंद्रा से जगा दिया, उसमें शोध के लिए नवीन आयामों को खोला और नयी तकनीकों का विकास किया।"[1]

निबन्धात्मक प्रश्न

1. व्यवहारवाद के अर्थ, प्रकृति एवं विस्तार का वर्णन कीजिए।
2. व्यवहारवाद से आप क्या समझते हैं? व्यवहारवाद की मूल मान्यताओं की विवेचना कीजिए।
3. व्यवहारवाद से आप क्या समझते हैं? व्यवहारवाद का आलोचनात्मक मूल्यांकन प्रस्तुत कीजिए।
4. व्यवहारवादी आन्दोलन के उद्देश्यों तथा सीमाओं की विवेचना कीजिए।
5. व्यवहारवाद की असफलताओं के मुख्य कारणों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

1 S.P. Verma : *Modern Political Theory*, p. 97.

4

उत्तर-व्यवहारवाद

(POST-BEHAVIOURALISM)

"व्यवहारवादी क्रान्ति से हम अपने विश्लेषण को सार्थकता नहीं दे सकते, अतः हमें उत्तर-व्यवहारवादी बनना होगा।"[1]
—डेविड ईस्टन

1960 के दशक की समाप्ति से पहले डेविड ईस्टन के द्वारा, जो स्वयं व्यवहारवादी क्रान्ति के प्रमुख प्रतिपादकों में से था, व्यवहारवादी स्थिति पर एक प्रवल आक्रमण किया गया। व्यवहारवादी जिन्होंने अब उत्तर-व्यवहारवादियों का रूप ले लिया था, यह मानते हैं कि उनके द्वारा नगण्य और प्रायः निरर्थक शोध पर बहुत अधिक समय खर्च कर दिया गया था। जबकि वे वैचारिक संरचनाओं, प्रतिमानों, सिद्धान्तों और अधिसिद्धान्तों के निर्माण में लगे हुए थे, उनकी अपनी पाश्चात्य दुनिया को तीव्र सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक संकटों का मुकाबला करना पड़ रहा था और वे स्वयं उनके सम्बन्ध में सर्वथा अनजान थे। वे तो प्रसिद्ध विश्वविद्यालयों के शानदार प्रांगणों में अपने वातानुकूलित कक्षों एवं पुस्तकालयों में बैठे स्थिरता, स्वामित्व, सन्तुलन, संरक्षण, प्रतिमान, आदि की तकनीकी समस्याओं और मॉडल निर्माण की प्रवृत्तियों में उलझे हुए थे और विशेषीकृत तकनीकों के आधार पर कभी-कभी क्षेत्रीय अनुसन्धान भी कर लेते थे। तथापि बाहर का समाज विघटन और टूट-फूट की स्थितियों में से गुजरता हुआ दिखाई दे रहा था। आणविक अस्त्रों का आतंक, गृहयुद्ध, तानाशाही शासनों के अभ्युदय की प्रवृत्ति, बढ़ते हुए सामाजिक विभेद, आदि ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न हो रही थीं जिनके सम्बन्ध में व्यवहारवादी राजनीतिशास्त्रियों ने कभी कल्पना भी नहीं की थी। उत्तर-व्यवहारवादियों का प्रश्न था कि उस शोध अनुसन्धान की उपयोगिता क्या थी जिसने समाज और राजव्यवस्था के इन तीव्र रोगों, संकटों एवं समस्याओं के निदान की ओर ध्यान ही नहीं दिया था ?

उत्तर-व्यवहारवाद : अभिप्राय
(POST-BEHAVIOURALISM : MEANING)

व्यवहारवादी राजनीतिक विश्लेषण में 'प्रामाणिक अध्ययन' के दौर में प्रामाणिकता में अन्तर्निहित एवं प्रामाणिकता को प्रभावित करने वाले आधारभूत तथ्य 'मूल्य' (values) के अध्ययन को उचित स्थान नहीं दिया गया। विश्लेषण की तकनीक को विश्लेषण वस्तु (लक्ष्य) से अधिक महत्वपूर्ण बना दिया गया। इसके परिणामस्वरूप राजनीतिक विश्लेषण को तथाकथित वैज्ञानिकता का एक निश्चित स्तर तो प्राप्त हो गया, लेकिन उसके निष्कर्षों में 'प्रासंगिकता (relevance) एवं वैध शाश्वतता' का अभाव बना रहा। उत्तर-व्यवहारवादी राजनीतिक विश्लेषण में 'मूल्यों' को समाविष्ट कर राजनीतिक अध्ययन को औचित्यपूर्ण एवं शाश्वतता (प्रासंगिकता) प्रदान करने के समर्थक हैं। उत्तर-व्यवहारवाद अपने विश्लेषण में वैज्ञानिकता के तत्व को शिथिल करना नहीं चाहता बल्कि वह वैज्ञानिकता के परिप्रेक्ष्य को ज्यादा विस्तृत करना चाहता है। इस अर्थ में उत्तर-व्यवहारवाद को एक प्रकार की वैचारिक क्रान्ति कहा जा सकता है क्योंकि यह राजनीतिक प्रक्रिया के अध्ययन के नवीन समन्वयात्मक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है जिसमें 'तथ्य' (facts) एवं मूल्य (values) दोनों का विवेकसम्मत समावेश किया गया है।

डेविड ईस्टन के शब्दों में उत्तर-व्यवहारवादी क्रान्ति उस **'व्यवहारवाद'** का घोर विरोध करती है, जिसके द्वारा राजनीति विज्ञान को प्राकृतिक विज्ञान की कठोर वैज्ञानिक शोध पद्धति का प्रयोग कर, परिशुद्ध विज्ञान

1 1969 में अमरीकन पॉलिटिकल साइन्स एसोसियेशन के अध्यक्षीय भाषण का एक अंश।

का रूप देने का प्रयास किया गया है। ईस्टन ने यह भी स्पष्ट कहा कि (जो यहाँ उल्लेखनीय है) यह विरोध परम्परावादियों द्वारा किये गये इसी प्रकार के विरोध से सर्वथा भिन्न है। परम्परावादी वैज्ञानिक पद्धति का विरोध करते हैं क्योंकि वे प्रायः मनुष्य के व्यवहार में परीक्षण योग्य सामान्यताएँ खोजने की सम्भावनाओं को ही अस्वीकार करते हैं। उनका मत है कि मानवीय और सामाजिक व्यवहार अद्वितीय घटनाओं से भरा पड़ा है, उसका सामान्यीकरण नहीं हो सकता। उत्तर-व्यवहारवाद के समर्थक इस परम्परावादी तर्क से सहमत नहीं हैं। उनका मानना है कि मानव एवं सामाजिक व्यवहार का वैज्ञानिक अध्ययन न केवल सम्भव अपितु आवश्यक एवं उचित भी है। उत्तर-व्यवहारवाद के समर्थकों का कहना केवल यह है कि शोध किसी भी पद्धति से क्यों न किया गया हो उसे प्रासंगिकता की कसौटी पर खरा उतरना चाहिए। इस सिद्धान्त को डेविड ईस्टन 'प्रासंगिकता का सिद्धान्त' (Credo of relevance) अथवा 'प्रासंगिकता धर्म' कहकर पुकारते हैं। प्रासंगिकता का अभाव व्यवहारवादी शोध में तो लगभग है ही, परम्परावादी शोध में भी सम्भव है। अतएव एक अर्थ में उत्तर-व्यवहारवाद उन सभी परम्परावादी और व्यवहारवादी शोधों की आलोचना है जो प्रासंगिक नहीं हैं।

वस्तुतः उत्तर-व्यवहारवाद, व्यवहारवाद का अगला चरण, एक सुधार आन्दोलन तथा नवीन दिशा संकेत है। इसके दो नारे हैं—**'कर्म'** (action) तथा **'प्रासंगिकता'** (relevance)। यह व्यवहार वैज्ञानिकों से समाज तथा राजव्यवस्था की तात्कालिक समस्याओं, संकटों और चुनौतियों का अध्ययन करने तथा उनके निदान ढूँढने की माँग करता है। इसका मूल मन्तव्य है—सामाजिक शोध समाज की आवश्यकता के सन्दर्भ में 'प्रासंगिक' तथा 'संगतिपूर्ण' होनी चाहिए। यह (उत्तर-व्यवहारवाद) राजवैज्ञानिकों से मूल्य निरपेक्ष या तटस्थ भाव से अलग रहकर अध्ययन कराने के बजाय स्वयं उनको समाज एवं राजव्यवस्था की रक्षार्थ आगे आने के लिए आह्वान करता है। उन्हें मानव मूल्यों की रक्षार्थ 'कर्म' करने की ओर प्रवृत्त किया गया है।

उत्तर-व्यवहारवादी क्रान्ति : उदय के कारण
(POST-BEHAVIOURAL REVOLUTION : CAUSES OF ITS ORIGIN)

उत्तर-व्यवहारवादी क्रान्ति का जन्म व्यवहारवादी रूढ़िवादिता, जड़ता और दिशाहीनता के कारण हुआ। डेविड ईस्टन ने सन् 1969 में अमेरिकन पॉलिटिकल साइन्स एसोसियेशन के अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था कि "व्यवहारवादी क्रान्ति से हम अपने विश्लेषण को सार्थकता (Relevance) नहीं दे सकते हैं, अतः हमें उत्तर-व्यवहारवादी बनना होगा।" उत्तर व्यवहारवादी क्रान्ति के अभ्युदय के निम्नलिखित कारण हैं :

(1) यह व्यवहारवाद के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद व्यवहारवादी प्रयासों के माध्यम से राजनीति विज्ञान को विश्वसनीय, सैद्धान्तिक एवं वैज्ञानिक स्वरूप देने के प्रयास किये गये, लेकिन इसके वावजूद स्वयं कई व्यवहारवादी भी इन प्रयासों को अपर्याप्त एवं अपूर्ण अनुभव करने लगे।

(2) ऐसा माना गया कि सामाजिक विज्ञानों की अध्ययन पद्धतियों को प्राकृतिक विज्ञानों की तरह लागू करना घातक है, क्योंकि समाज एवं व्यक्ति की प्रकृति परिवर्तनशील होती है, अतः उनका अध्ययन प्राकृतिक विज्ञानों की तरह सम्भव नहीं है। अतः व्यवहारवाद द्वारा किया गया यह विभाजन कृत्रिम है कि व्यक्ति का औपचारिक व्यवहार एवं उसकी अचेतन की आकांक्षाएँ (विश्वास, भावना) अविच्छिन्न रूप से जुड़े हुए हैं।

(3) उत्तर-व्यवहारवाद एक तरह से व्यवहारवादी शोध के प्रति असन्तोष का परिणाम है। व्यवहारवादी शोध में तथ्य-मूल्य विच्छिन्नता (facts-value dichotomy) पर बल दिया गया है। व्यवहारवाद में मूल्यों के अध्ययन को वैज्ञानिकता की दुर्बलता माना गया है तथा तथ्य प्रधान अध्ययन को विज्ञान का पर्याय माना गया है क्योंकि तथ्य प्रधान अध्ययन वस्तुस्थिति का 'यथार्थ' अध्ययन है, मूल्य प्रधान अध्ययन की तरह आदर्श स्थिति का नहीं। लेकिन उत्तर-व्यवहारवादियों का मानना है कि तथ्य और मूल्य दोनों ही व्यक्ति के सन्दर्भ में प्रासंगिक (relevant) हैं, अतः इन दोनों में भेद करना कृत्रिम है। राजनीति विज्ञान को सही अर्थों में राजनीतिक एवं वैज्ञानिक दोनों ही रूपों में जीवन्त होना चाहिये, इसलिए मूल्यों को नकारा नहीं जाना चाहिये।

(4) व्यवहारवादी क्रान्ति के साथ ही समाज, राज व्यवस्थाएँ और विश्व अनेक संकटों और समस्याओं से घिर गये, उदाहरण के लिए, आणविक युद्ध का भय, अमरीका में काले और गोरों का विभेद, तानाशाही शासन की बढ़ती हुई सम्भावनाएँ और प्रवृत्तियाँ, वियतनाम में अघोषित युद्ध, जनसंख्या विस्फोट, आदि। किन्तु 'राजनीति को विशुद्ध विज्ञान' बनाने की अभिलाषा में व्यवहारवादियों ने समाज और विश्व मानवता

के प्रति अपने दायित्वों की उपेक्षा की। उत्तर-व्यवहारवादियों को जो प्रश्न कुरेद रहा था वह यह था कि उच्च तकनीकी पर्याप्तता और परिष्कृत शोध उपकरणों के प्रयोग की उपयोगिता क्या थी, यदि राजवैज्ञानिक इस स्थिति में भी नहीं थे कि वे समकालीन सामाजिक और राजनीतिक संकटों को समझ सकें और उनके समाधान की दिशा में योग दे सकें ?

क्या उत्तर-व्यवहारवाद परम्परावाद है?

(IS POST-BEHAVIOURALISM AKIN TO TRADITIONALISM?)

उत्तर-व्यवहारवाद और परम्परावाद दोनों ही व्यवहारवाद के कट्टर आलोचक होते हुए भी मूल रूप में एक दूसरे से भिन्न हैं। इन दोनों दृष्टिकोणों में मूल अन्तर यह है कि परम्परावादी व्यवहारवादी उपागम की सार्थकता को ही अस्वीकार करता है और राजनीति विज्ञान की शास्त्रीय परम्पराओं (classical traditions of political science) में अपने विश्वास को दोहराता है, उत्तर-व्यवहारवादी युग की उपलब्धियों को स्वीकार करते हैं, परन्तु राजनीति विज्ञान के क्षितिज को नूतन आयामों की दिशा में विस्तृत करने की दिशा में प्रयत्नशील हैं। डेविड ईस्टन के शब्दों में, "उत्तर-व्यवहारवाद भविष्य की ओर उन्मुख है और राजनीति विज्ञान को नवीन दिशाओं की ओर मोड़ने और उसके उत्तराधिकार को अस्वीकार करने के स्थान पर उसमें और भी बहुत कुछ जोड़ने के लिए प्रयत्नशील है।" वह (उत्तर-व्यवहारवाद) एक वास्तविक क्रान्ति है, न कि प्रतिक्रिया, विकास है न कि अनुरक्षण, भविष्य की दिशा में एक कदम है न कि पीछे की ओर हटने की प्रवृत्ति। यह एक आन्दोलन भी है और एक बौद्धिक प्रवृत्ति भी। उसे किसी विशेष विचारधारा से सम्बद्ध करना गलत है, क्योंकि उसके प्रतिपादकों में सभी विचारों और दृष्टिकोणों का समर्थन करने वाले राजनीतिशास्त्री—पहले सिरे के रूढ़िवादी और कट्टर वामपन्थी, विभिन्न प्रकार की प्राविधिक पद्धतियों को मानने वाले कठोर वैज्ञानिक और समर्पित दार्शनिक, तरुण और बुजुर्ग हैं। राजनीतिक, प्राविधिक और वय सम्बन्धी सभी असम्भाव्य अनेकताओं से इस समूह को जोड़ने वाली एक भावात्मक कड़ी है—अर्वाचीन राजनीतिक शोध की दिशा के सम्बन्ध में एक गहरा असन्तोष।

संक्षेप में, उत्तर-व्यवहारवादी आन्दोलन में शुद्ध राजवैज्ञानिक एवं शास्त्रीय (classical) विचारक दोनों ही शामिल हैं। किन्तु इसे 'परम्परावाद' का पुनरुत्थान नहीं समझ लेना चाहिए। उत्तर-व्यवहारवाद उसे (राजविज्ञान) यथास्थिति से उठाकर आगे ले जाना चाहता है। इसमें परम्परावाद की भाँति यथास्थिति नहीं वरन् नया स्वरूप उभर रहा है।

उत्तर-व्यवहारवाद के आधारभूत लक्षण अथवा मान्यताएँ

(BASIC POSTULATES OR SALIENT FEATURES OF POST-BEHAVIOURALISM)

डेविड ईस्टन ने उत्तर-व्यवहारवाद के दो प्रमुख लक्षण बतलाये हैं—**शोध की सार्थकता या प्रासंगिकता** (Relevance) और **क्रियानिष्ठता या कर्म** (action)। डेविड ईस्टन ने उत्तर-व्यवहारवाद की सात मान्यताओं या विशेषताओं का उल्लेख इस प्रकार किया है जिन्हें वह **'प्रासंगिकता के सिद्धान्त'** (Credo of Relevance) कहकर पुकारते हैं :

(1) प्रविधि से पूर्व सार (Substance must come before technique)—उत्तर-व्यवहारवादियों का कहना है कि व्यवहारवादी तकनीक को तथ्यों (सार या विषय वस्तु) के ऊपर प्रधानता देते हैं। उत्तर व्यवहारवादी यह मानते हैं कि प्रायः तथ्य और तकनीक दोनों का साथ-साथ उचित प्रयोग किया जाना चाहिए और ऐसा सम्भव भी है। तथ्यों को बलि चढ़ाकर व्यवहारवादी प्रायः तकनीक के पीछे भागते रहे हैं, जबकि उत्तर-व्यवहारवादी कहते हैं कि अनुसन्धान के लिए परिष्कृत उपकरणों का विकास करना उपयोगी है, परन्तु उससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात वह उद्देश्य है जिसके लिए इन उपकरणों को प्रयोग में लाया जा रहा है। उत्तर-व्यवहारवादियों के अभिमत में व्यवहारवादियों को चाहिए कि वे महत्वपूर्ण समसामयिक सामाजिक समस्याओं (तथ्यों) के साथ प्रयोजनात्मक रूप से अपने शोधकार्य की प्रासंगिकता स्थापित करें। यदि यह करने के मार्ग में उनकी शोध तकनीक या पेराडिम (paradigm) बाधक है, तो भले ही तकनीक छोड़ दें, पर प्रासंगिकता न छोड़ें। व्यवहारवादियों का नारा था—'अस्पष्ट होना जितना बुरा था, गलत होना उतना बुरा नहीं' (It was better to be wrong than vague); उत्तर-व्यवहारवादियों ने एक विपरीत नारा दिया कि **'अप्रासंगिक सुनिश्चितता से अस्पष्ट होना कम बुरा था'** (It was better to be vague than non-relevantly precise)

(2) सामाजिक परिवर्तन पर बल (Emphasis on social change)—व्यवहारवाद में मामूली परिवर्तनों से सम्बन्धित रूढ़िवादी विचारधारा छिपी हुई है। उत्तर-व्यवहारवाद व्यापक मूल्यों के सन्दर्भ में परिवर्तन का समर्थन करता है।

उत्तर-व्यवहारवादियों का मानना है कि जाने-अनजाने व्यवहारवादी परिवर्तन विरोधी (रूढ़िवादी) हो जाते हैं। परिवर्तन विरोध व्यवहारवाद के प्रणालीशास्त्र और तकनीक में निहित है। व्यवहारवादी तथ्यों के वर्णन और विश्लेषण तक अपने को सीमित रखता है। उन तथ्यों के व्यापक सन्दर्भ को, उनकी सामाजिक प्रासंगिकता को समझने की आवश्यकता पर ध्यान नहीं देता क्योंकि वह समझता है कि यह उसके प्रणालीशास्त्र के अनुसार वर्जित है। सामाजिक प्रासंगिकता या तथ्यों के व्यापक सन्दर्भ में उनको समझना शायद उसके पेराडिम की आवश्यकताओं के अनुरूप न हो या हो सकता है कि उसमें नैतिक तत्व निहित होने की सम्भावना न हो। अतएव वह व्यापक सन्दर्भ की ओर से उदासीन ही रहता है। इस सबका परिणाम यह हुआ कि व्यवहारवादी राजनीति विज्ञान ने एक ऐसी 'सामाजिक रूढ़िवादिता की विचारधारा' (an ideology of social conservatism) का रूप ले लिया था जिसमें केवल 'धीमी गति से होने वाले परिवर्तनों के लिए ही गुन्जाइश थी।'

(3) समस्याओं के विश्वसनीय निदान की आवश्यकता (Reliable solution of contemporary problems and crises)—उत्तर-व्यवहारवादियों के अनुसार राजनीति विज्ञान को अमूर्तिकरण, विश्लेषण, विशिष्ट शव्दावली के विकास, आदि में कम रुचि लेकर मानव जाति की आवश्यकताओं को पूरा तथा संकटों का समाधान करने में सहायता करनी चाहिए।

व्यवहारवादी युग में राजनीति विज्ञान ने 'राजनीति की क्रूर यथार्थताओं' (brute realities of politics) से अपना नाता विल्कुल ही तोड़ लिया था। व्यवहारवादी अन्वेषण का लक्ष्य यदि वास्तव में तथ्यों की गहराई तक पहुँचना था तो यह कैसे सम्भव माना जा सकता था कि राजवैज्ञानिक स्थिति की यथार्थताओं के प्रति अपनी आँखें सर्वथा बन्द रखें?

यह युग संकट और चिन्ता का युग था और व्यवहारवाद के अमूर्त प्रत्ययों एवं अवधारणाओं में व्यक्ति तथा समाज की व्यापक एवं गम्भीर समस्याओं के समाधान की क्षमता नहीं थी। अणुवम का भय, वढ़ती हुई जनसंख्या, दूषित वातावरण के खतरे, राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर एक ओर भयंकर गरीवी तथा दूसरी ओर विपुल सम्पन्नता का सहअस्तित्व, आदि ऐसे संकट हैं जिनका यदि तात्कालिक उपचार नहीं किया जाता तो सारी मानवता का विनाश हो सकता है। राजनीतिशास्त्र का औचित्य उसी स्थिति में सर्वमान्य होगा जबकि समाज में व्याप्त विषमताओं, संघर्षों, आकांक्षाओं, सन्दर्भों एवं चिन्ताओं के उचित समाधान किये जायें। इसीलिए व्यवहारवाद पर यह आक्षेप है किउसकी शोध वस्तुस्थिति से असम्बद्धता होती है। उत्तर-व्यवहारवाद का मूल उद्देश्य राजनीतिशास्त्र की मदद करना है ताकि इस संकट से बचा जा सके जिससे मानव जाति की वास्तविक आवश्यकता को पूरा किया जा सके।

(4) मूल्यों की महत्वपूर्ण भूमिका (Value Premises)—उत्तर-व्यवहारवादियों के अनुसार कोई भी ज्ञान विशेषकर सामाजिक विज्ञान मूल्यात्मक दृष्टि से न तो तथ्यों एवं प्रासंगिक यथार्थताओं से तटस्थ रहा है और न रह ही सकता है। अतएव व्यवहारवादियों को चाहिए कि अपने ज्ञान की सीमाएँ पहचानने के लिए उन आधारभूत मूल्यों को पहचानें जिन पर वह ज्ञान टिका है।

व्यवहारवादियों ने मूल्यों के महत्व को सर्वथा अस्वीकार न करते हुए भी विज्ञानवाद और मूल्य निरपेक्ष दृष्टिकोण पर इतना जोर दिया था कि, व्यावहारिक दृष्टि से, मूल्यों को सर्वथा उपेक्षणीय मान लिया गया था। इस स्थिति ने राजनीति विज्ञान को नीरस तथा प्रयोजनहीन बना दिया। वस्तुतः मूल्यों की आधारशिला पर ही ज्ञान की इमारत खड़ी की जा सकती थी, और मूल्यों को यदि ज्ञान प्रेरक शक्ति न माना जाये तो सदा ही यह खतरा रहता है कि ज्ञान को गलत उद्देश्यों के लिए काम में लाया जायेगा। राजनीति में मूल्यों का बहुत अधिक महत्व है और वैज्ञानिकता के नाम पर राजनीतिक अध्ययन से मूल्यों को बहिष्कृत नहीं किया जा सकता।

वस्तुतः उत्तर-व्यवहारवादियों ने मूल्यों की निर्णायक भूमिका को स्वीकार किया है। वे इस वात पर वल देते हैं कि यदि ज्ञान को सही प्रयोजनों के लिए प्रयोग में लाना है तो मूल्यों को उनकी केन्द्रीय स्थिति प्रदान करनी होगी।

(5) बुद्धिजीवियों की भूमिका (Intellectuals had a role to play)—उत्तर- व्यवहारवादियों ने राजनीतिशास्त्रियों को यह भी याद दिलाना चाहा कि बुद्धिजीवी होने के नाते समाज में उनकी अपनी एक

भूमिका है। राजनीति वैज्ञानिक बुद्धिजीवी होने के नाते यदि मानवीय मूल्यों के प्रति प्रतिबद्ध नहीं है तो वह अपनी उचित भूमिका नहीं निभाता वरन् अपने दायित्व से विमुख हो जाता है। सभ्यता के मानवीय मूल्यों के संरक्षण में अधिक-से-अधिक प्रयत्नशील होना उनका प्रमुख उत्तरदायित्व था। वस्तुनिष्ठ होने के नाते और ऐसे अनुसन्धानों के नाम पर, जिनमें बहुत अधिक समय खर्च होता है, राजनीति वैज्ञानिक यदि अपने को सामाजिक समस्याओं से अलग रखेंगे तो वे 'केवल ऐसे तकनीकविद् और यन्त्रवादी बनकर रह जायेंगे जो समाज के साथ खिलवाड़ में लगे हुए हैं।'

(6) **कर्मनिष्ठ विज्ञान (Action Science)**—उत्तर-व्यवहारवादी कर्मनिष्ठता पर बल देते हैं और उनका कथन है कि राजनीतिक विषयों के अध्ययनकर्ता को समाज के पुनर्निर्माण कार्य में रत होना चाहिए। उनका मत है कि ज्ञान व्यावहारिक रूप से सार्थक होना चाहिए। यदि हमारे व्यवहारवादी शोध परिणामों का रचनात्मक क्रियान्वयन नहीं हो सकता तो वह सार्थक ज्ञान नहीं, अर्थात् ज्ञान का क्रियात्मक होना (Knowledge must be put to work) आवश्यक है। डेविड ईस्टन के शब्दों में, "जानने का अर्थ है कार्य करने का उत्तरदायित्व अपने हाथों में लेना और कार्यरत होने का अर्थ है समाज के पुनर्निर्माण में अपने को लगा देना।" उत्तर-व्यवहारवादियों की माँग है कि कोरे चिन्तन की ओर उन्मुख ज्ञान के स्थान पर प्रत्येक शोधकर्ता को ऐसा शोध करना चाहिए जिसका समसामयिक समस्याओं के सुलझाने में योगदान हो। अतः राजनीति विज्ञान को **मनन-विज्ञान** (contemplative science) के स्थान पर **कार्य-विज्ञान** (action science) बनना चाहिए।

(7) **व्यवसाय का राजनीतिकरण (Politicisation of the Profession)**—राजवैज्ञानिक तटस्थ रहने में गर्व अनुभव करते हैं। वे समाज की राजनैतिक गर्मा-गर्मियों में स्वयं को शामिल करके सक्रिय भूमिका अदा करने में विश्वास नहीं रखते। जबकि उत्तर-व्यवहारवादी की मान्यता है कि राजनीतिशास्त्रियों को समाज में सकारात्मक भूमिका अदा करनी चाहिए जिससे समाज के उद्देश्यों को एक सुव्यवस्थित दिशा प्रदान की जा सके। अतः बुद्धिजीवियों के संघों और समुदायों, यहाँ तक कि विश्वविद्यालयों को भी मानव मूल्यों की रक्षार्थ संघर्ष के मैदान में आ जाना चाहिए। उनके व्यवसाय का राजनीतिकरण अपरिहार्य एवं वांछनीय है।

डेविड ईस्टन ने इस प्रकार उत्तर-व्यवहारवाद के प्रमुख लक्षण अथवा दिशाएँ गिनाई हैं। उनका मत है कि सभी उत्तर-व्यवहारवादी इन सभी बातों से सहमत हों, ऐसा नहीं। उसने तो उपर्युक्त विवेचन के आधार पर उत्तर-व्यवहारवाद के प्रमुख सूत्रों का एक कैमरा चित्र प्रस्तुत करने का मात्र-प्रयास किया है।

निष्कर्ष : समीक्षात्मक दृष्टि (Conclusions : Critical Overview)

सार रूप में यह कहा जा सकता है कि उत्तर-व्यवहारवाद, व्यवहारवाद की कमियों को दूर करने का प्रयास है और साथ ही इसमें बुद्धिजीवियों से यह अपेक्षा की गयी है कि वे अपने ज्ञान के माध्यम से समाज में सुधार करने का प्रयास करेंगे। उत्तर-व्यवहारवादी चाहते हैं कि राजनीति वैज्ञानिक का, अपने ज्ञान की छाप अपने युग के सामाजिक प्रश्नों और समस्याओं पर अंकित करना अनिवार्य उत्तरदायित्व है। संक्षेप में, उत्तर-व्यवहारवाद को व्यवहारवाद की अन्त्येष्टि करने वाली क्रान्ति के स्थान पर, व्यवहारवाद का विस्तार करने वाला आन्दोलन कहना उचित है।

वर्तमान समय (1970 ई. के बाद) में व्यवहारवादियों तथा उत्तर-व्यवहारवादियों के बीच पारस्परिक विरोध की स्थिति समाप्त हो गई है। व्यवहारवाद की इस बात को स्वीकार कर लिया गया है कि राजनीति विज्ञान में अधिकाधिक मात्रा में आनुभाविक अध्ययन और परिशुद्ध परिणाम देने वाली पद्धतियों को अपनाते हुए इसे सही अर्थों में विज्ञान की स्थिति प्रदान करने की चेष्टा की जानी चाहिये। लेकिन इसके साथ ही यह मान लिया गया कि राजनीति का ज्ञान वास्तविक राजनीतिक जीवन की समस्याओं और जटिलताओं से अलग रहकर नहीं किया जा सकता तथा समस्त राजनीतिक अध्ययन में मूल्यों को केन्द्रीय स्थिति प्राप्त होनी चाहिये। व्यवहारवादी तथा उत्तर-व्यवहारवादी प्रवृत्तियों के बीच उचित समन्वय स्थापित करने पर ही राजनीति विज्ञान का अध्ययन वैज्ञानिकता और साथ ही सार्थकता की स्थिति को प्राप्त कर सकेगा।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. उत्तर-व्यवहारवाद से आप क्या समझते हैं? उत्तर-व्यवहारवादी क्रान्ति के कारण बतलाइये। क्या उत्तर व्यवहारवाद परम्परावाद है?
2. उत्तर-व्यवहारवाद का आशय क्या है? उत्तर-व्यवहारवाद के आधारभूत लक्षण या मान्यताओं की विवेचना कीजिये।

5

राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त

(THEORIES OF THE ORIGIN OF STATE)

"वे परिस्थितियां जिनमें आदिम मनुष्यों ने सर्वप्रथम राजनीतिक चेतना का प्रकाश देखा और वे किसी प्रकार के राजनीतिक संगठन के रूप में एकत्रित हुए, ऐसे तथ्य हैं जो पूर्णतः नहीं तो अधिकांशतः अस्पष्टता के कोहरे से ढंके हैं।"[1]

—गार्नर

व्यक्ति स्वभावतः ही जिज्ञासु है और अपनी इस जिज्ञासा के कारण उसने राज्य की उत्पत्ति के इतिहास का पता लगाने का प्रयत्न किया है, किन्तु इतिहास द्वारा राज्य की उत्पत्ति का उचित ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सका है और इस सम्बन्ध में इतिहास के असफल हो जाने के कारण राजनीतिक विचारकों द्वारा कल्पना का आश्रय लिया गया है। गिलक्राइस्ट के अनुसार, **"राजनीतिक चेतना के उदय की परिस्थितियों के विषय में हम इतिहास से बहुत कम अथवा बिलकुल नहीं जानते। जहां इतिहास असफल हो जाता है, वहां हम कल्पना का आश्रय लेते हैं।"[2]** अतः इस सम्बन्ध में कल्पना के आधार पर राजनीतिक विचारकों ने कुछ सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। 'मनुष्य राजनीतिक संगठन में क्यों रहते हैं' वे 'प्रभुत्व के सम्मुख क्यों झुक जाते हैं', 'प्रभुत्व की क्या सीमाएं हैं', आदि के सम्बन्ध में इन विचारकों का जो दृष्टिकोण है, उसी आधार पर इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है।

राज्य की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्त इस प्रकार हैं :

1. दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त
2. शक्ति सिद्धान्त
3. पैतृक सिद्धान्त
4. मातृसत्तात्मक सिद्धान्त
5. सामाजिक समझौते का सिद्धान्त
6. ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त

इन सबके अतिरिक्त मार्क्सवादी सिद्धान्त है जो प्रमुख रूप से राज्य की प्रकृति का सिद्धान्त है और गौण रूप में राज्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त है।

सामाजिक समझौते का सिद्धान्त
(THE SOCIAL CONTRACT THEORY)

राज्य सम्बन्धी सम्पूर्ण दर्शन का अध्ययन करने की दृष्टि से राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रचलित विविध सिद्धान्तों में सामाजिक समझौते का सिद्धान्त सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। 17वीं और 18वीं सदी की राजनीतिक विचारधारा में तो इस सिद्धान्त का पूर्ण प्राधान्य था। इस सिद्धान्त के अनुसार, राज्य दैवीय न होकर एक मानवीय संस्था है जिसका निर्माण प्राकृतिक अवस्था में रहने वाले व्यक्तियों द्वारा पारस्परिक समझौते के आधार पर किया गया है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादक मानवीय इतिहास को दो कालों में विभाजित करते हैं : (1) प्राकृतिक अवस्था का काल और (2) नागरिक जीवन के प्रारम्भ के बाद का काल। इस सिद्धान्त के

---

1 "The circumstances under which primitive men first saw the light of political consciousness and came to associate themselves together under some form of political organization are facts veiled largely, if not wholly, in the midst of obscurity." —Gerner, *Principles of Political Science*, p. 87.

2 "Of the circumstances surrounding the dawn of political consciousness, we know little or nothing from history. Where history fails, we must resort to speculation." —R. N. Gilchrist, *Principles of Political Science*, p. 48.

सभी प्रतिपादक अत्यन्त प्राचीन काल में एक ऐसी प्राकृतिक अवस्था के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं जिसके अन्तर्गत जीवन को व्यवस्थित रखने के लिए राज्य या राज्य जैसी कोई अन्य संस्था नहीं थी। इस सिद्धान्त के विभिन्न प्रतिपादकों में इस प्राकृतिक अवस्था के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद हैं। कुछ इसे **'पूर्व-सामाजिक'** (Pre-social) और कुछ इसे **'पूर्व-राजनैतिक'** (Pre-Political) अवस्था मानते हैं। इस प्राकृतिक अवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति अपनी इच्छानुसार या प्राकृतिक नियमों के आधार पर अपना जीवन व्यतीत करते थे। कुछ ने प्राकृतिक अवस्था को अत्यन्त कष्टप्रद और असहनीय माना है तो कुछ ने इस वात का प्रतिपादन किया है कि प्राकृतिक अवस्था में मानव जीवन सामान्यतः आनन्दपूर्ण था केवल मनुष्यों को इस अवस्था में मामूली असुविधाएं अनुभव हुईं। प्राकृतिक अवस्था के स्वरूप के सम्बन्ध में मतभेद होते हुए भी यह सभी मानते हैं कि किसी न किसी कारण से मनुष्य प्राकृतिक अवस्था को त्यागने के लिए विवश हुए और उन्होंने समझौते द्वारा राजनीतिक समाज की स्थापना की।

इस समझौते के परिणामस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति की प्राकृतिक स्वतन्त्रता आंशिक या पूर्णरूप में लुप्त हो गयी और इस स्वतन्त्रता के वदले में उसे राज्य व कानून की ओर से सुरक्षा का आश्वासन प्राप्त हुआ। व्यक्तियों को प्राकृतिक अधिकारों के स्थान पर सामाजिक अधिकार प्राप्त हुए। इस प्रकार **लीकॉक** के शब्दों में, **"राज्य व्यक्ति के स्वार्थों द्वारा चालित एक ऐसे आदान-प्रदान का परिणाम था जिसमें व्यक्तियों ने उत्तरदायित्व के बदले विशेषाधिकार प्राप्त किए।"**[1]

इस समझौते के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के विविध मत हैं। कुछ के द्वारा सामाजिक समझौते के रूप में इसका वर्णन किया गया है और कुछ के द्वारा राजनीतिक समझौते के रूप में। समझौते की व्याख्या भी भिन्न-भिन्न प्रकार से की गयी है। **हॉब्स** ने इस समझौते की व्याख्या निरंकुश राजतन्त्र का समर्थन करने के लिए की और **लॉक** ने इसी आधार पर वैधानिक राजतन्त्र का समर्थन किया। इसके अतिरिक्त कुछ प्रतिपादकों के अनुसार, जिनमें **लॉक** मुख्य हैं, समझौता एक ऐतिहासिक तथ्य है तो दूसरी ओर **कॉण्ट**, आदि विद्वानों के अनुसार समझौता एक आदर्श सत्य का प्रतिपादन मात्र है।

समझौता सिद्धान्त का इतिहास—सामाजिक समझौता सिद्धान्त राजनीतिक दर्शन की तरह ही पुराना है और इसे पूर्व तथा पश्चिम दोनों ही क्षेत्रों में व्यापक समर्थन प्राप्त हुआ है। **महाभारत** के **शान्ति पर्व** में इस वात का वर्णन मिलता है कि पहले राज्य न था, उसके स्थान पर अराजकता थी। ऐसी स्थिति से तंग आकर मनुष्यों ने परस्पर समझौता किया और ब्रह्मा के परामर्श से मनु को अपना राजा एवं शासक स्वीकार किया। **कौटिल्य** ने भी अपने अर्थशास्त्र में इस वात को अपनाया है कि प्रजा ने राजा को चुना और राजा ने उसकी सुरक्षा का वचन दिया। स्वयं **कौटिल्य** के शब्दों में, **"मत्स्य न्याय से भयभीत हुई प्रजा ने वैवस्वत मनु को अपना राजा बनाया और अपने धान्य का छठवां भाग तथा पण्य एवं स्वर्ण का दसवां भाग उसके भाग्यधेय रूप से उसे देने की व्यवस्था की।"**

जैन और **बौद्ध साहित्य** में भी राज्य संस्था का आधार समझौते को ही माना गया है। वौद्ध साहित्य में राज्य संस्था के उदय से पूर्व अराजक दशा का वर्णन किया गया है, जिसका अन्त करने के लिए योग्यतम व्यक्ति के साथ सभी व्यक्तियों ने यह समझौता किया—**"अब तुम उस व्यक्ति को दण्ड दिया करो, जो दण्ड देने योग्य हो और उसे पुरस्कृत किया करो, जो पुरस्कार प्राप्त करने योग्य हो। इसके बदले में हम तुम्हें अपने क्षेत्र की उपज प्रदान किया करेंगे।"**[2]

पश्चिम में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन सर्वप्रथम यूनान के **सोफिस्ट विचारकों** के द्वारा किया गया। इन सोफिस्ट विचारकों का कथन था कि मनुष्य स्वभाव की मूलप्रवृत्तियां भय तथा स्वार्थ हैं। अतः मनुष्य अपनी सुरक्षा तथा अपने अन्य हितों को सफल वनाने के लिए अपनी ही इच्छा से किसी शक्तिशाली पुरुष को शासक मान लेते हैं और इस प्रकार संगठित जीवन का आरम्भ होता है। **इपीक्यूरियन विचारधारा** वाले वर्ग ने इसका संगठन किया और **रोमन विचारकों** ने भी इस बात पर वल दिया कि जनता ही राजसत्ता की अन्तिम स्रोत है। रोम के प्रसिद्ध विद्वान **अलपियन** का विचार था कि **"राजा की इच्छा इसलिए कानून होती है कि जनता उसे सर्वोच्च शक्तिसम्पन्न बनाती है।"** मध्य युग में भी यह विचार काफी प्रभावपूर्ण था और सिसरो के बाद ट्यूटोनिक

1 **"The state is the result of a bargain dictated by the individual's own interest on exchange of obligation in return of privileges."** —*Leacock*

2 **Rockhill, *Life of Buddha*.**

विचारधारा में हमें इस सिद्धान्त के दर्शन होते हैं। ट्यूटोनिक राजा पद ग्रहण के समय जनता के सामने सुचारु शासन की प्रतिज्ञा किया करते थे। इसके बाद **मेनगोल्ड** (Manegold) ही पहला धार्मिक विचारक था जिसने सामाजिक समझौते की स्पष्ट और यथार्थ व्याख्या की। उसके अनुसार, **"यदि राजा उस समझौते को भंग करता है जिसके अनुसार उसे राजा चुना गया था, तो साधारण ज्ञान के अनुसार वह जनता को आज्ञापालन के भार से मुक्त करता है, विशेषकर उस समय जबकि सबसे पहले स्वयं उसने इन विश्वास को तोड़ा हो जिसमें वह और प्रजा बंधी थी।"** 18वीं सदी में **थामस एक्वीनास** ने भी इस सिद्धान्त का परोक्ष समर्थन किया।

आधुनिक अनुबन्धवाद—16वीं और 17वीं सदी में समझौता सिद्धान्त वहुत अधिक लोकप्रिय हो गया और लगभग सभी विचारक इसे मानने लगे। ऐसी स्थिति में **लेग्वेट, जार्ज बुशनान, अल्थूसियस, सुआरेज**, आदि लेखकों ने इसका प्रकार किया। **रिचार्ड हूकर** प्रथम अंग्रेज लेखक था जिसने वैज्ञानिक रूप में समझौते की तर्कपूर्ण व्याख्या की। इसके वाद उच्च न्यायाधीश **ग्रेशियस** तथा **पुफेण्डोर्फ** और **स्पिनोजा** के लेखों में भी इस सिद्धान्त का पृष्ठपोषण हुआ, किन्तु इस सिद्धान्त का विस्तृत रूप में प्रतिपादन और वास्तविक रूप में समर्थन हॉव्स, लॉक और रूसो द्वारा किया गया। इन तीन लेखकों को राजनीतिक दर्शन में **अनुबन्धवादी या समझौतावादी** ही कहा जाता है।

थामस हॉब्स (1588-1679)

हॉव्स इंगलैण्ड का महान् दार्शनिक था और उसकी विचारधारा पर दो वातों का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। प्रथम थी उसके मन में व्याप्त भय की भावना और द्वितीय राजवंश के व्यक्तियों से उसका सम्पर्क। स्वयं हॉव्स का कथन है कि **"आर्मेडा के वर्ष में उसकी जननी ने दो जुड़वाओं को जन्म दिया, उसे तथा भय को।"** भय के इस साम्राज्य ने उसे डरपोक वना दिया और उसमें सभी प्रकार के संघर्षों को नितान्त अनुचित समझने की प्रवृत्ति उत्पन्न कर दी।

इंगलैण्ड का गृहयुद्ध, जिसमें चार्ल्स प्रथम को मौत के घाट उतार दिया गया था, हॉव्स ने स्वयं अपनी आंखों से देखा था। इस गृहयुद्ध के परिणामस्वरूप कानून और व्यवस्था समाप्त होकर अराजकता फैल चुकी थी। इस गृहयुद्ध का हॉव्स के मन पर अमिट प्रभाव पड़ा और सोच-विचार के बाद उसने यह अनुभव किया कि यदि राजा का शासन न रहे तो किसी भी समाज में अराजकता फैल सकती है, जो अत्यधिक भयंकर और वीभत्स होगी। अतः हॉव्स ने 1651 में प्रकाशित अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **'लेवायथन'** (Leviathan) में सामाजिक समझौते के सिद्धान्त के आधार पर निरंकुश राजतन्त्र का समर्थन किया। हॉव्स ने सामाजिक समझौता सिद्धान्त की व्याख्या इस प्रकार की है :

मानव स्वभाव—हॉव्स के समय में इंगलैण्ड में गृहयुद्ध हो रहा था और संघर्ष की इस अवस्था ने हॉव्स के सम्मुख मानव स्वभाव का घृणित पक्ष ही रखा। उसने यह अनुभव किया कि मनुष्य एक स्वार्थी, झगड़ालू तथा अहंकारी प्राणी है। जो सदा ही शक्ति से स्नेह करता और शक्ति प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। हॉब्स ने मानवीय प्रकृति की ये विशेषताएं वतलायी हैं—निजी स्वार्थ, असीमित और अनन्त इच्छाएं, सुरक्षा की भावना, भय, युद्ध तथा संघर्ष और अहं की प्रवृत्ति।

प्राकृतिक अवस्था—स्वार्थी, झगड़ालू और अहंकारी व्यक्तियों के जीवन पर किसी भी प्रकार का नियन्त्रण न होने का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक दूसरे मनुष्य को शत्रु की दृष्टि से देखने लगा और सभी भूखे भेड़ियों के समान एक-दूसरे को निगलने की चेष्टा करने लगे। मनुष्य को न्याय और अन्याय का कोई ज्ञान नहीं था और प्राकृतिक अवस्था **'शक्ति ही सत्य है'** की धारणा पर आधारित थी। **जो कोई जो कुछ भी ले सके और जितनी देर अपने पास रख सकने में समर्थ हो वही उतने समय के लिए उसका हो जाता था।**

हॉब्स के अनुसार, "ऐसे समय में जव मनुष्य एक ऐसी शक्ति के विना रहते थे जो उन्हें भयभीत वनाये रखे, वे उस अवस्था में रहते थे, जिसे युद्ध कहा जाता है और ऐसा युद्ध होता है जो प्रत्येक मनुष्य **की ओर से प्रत्येक मनुष्य के विरुद्ध होता है।** ऐसी दशा में उद्योग, संस्कृति, जल परिवहन, भवन निर्माण, यातायात के साधनों ज्ञान, समाज, आदि के लिए कोई स्थान नहीं होता तथा मनुष्य का जीवन एकाकी, दीन **अपवित्र, पाशविक एवं क्षीण होता है।"** प्राकृतिक अवस्था के अन्तर्गत केवल आत्मरक्षा का नियम ही प्रचलित था।

समझौते के कारण—जीवन और सम्पत्ति की इस अरक्षा ने मृत्यु और संहार के इस भय ने व्यक्तियों को यह विचारने के लिए प्रेरित किया कि इस असहनीय प्राकृतिक अवस्था का अन्त किया जाना चाहिए। इस प्राकृतिक अवस्था का अन्त करने के उद्देश्य से व्यक्ति एक राजनीतिक समाज के निर्माण की ओर प्रेरित हुए।

समझौते का स्वरूप—नवीन समाज का निर्माण करने के लिए सब व्यक्तियों ने एक समझौता किया। हॉब्स के मतानुसार, यह समझौता प्रत्येक व्यक्ति ने शेष व्यक्ति समूह से किया, जिसमें व्यक्ति प्रत्येक दूसरे व्यक्ति से कहता है कि **"मैं अपने ऊपर शासन करने का अपना अधिकार इस व्यक्ति अथवा इस जनसभा को इस शर्त पर सौंपने की स्वीकृति देता हूं कि तुम भी अपने सब अधिकार इसको सौंपोगे और इस तरह उसके सभी कार्यों को स्वीकृति दोगे।"**

इस प्रकार सभी व्यक्तियों ने एक व्यक्ति अथवा सभा के प्रति अपने अधिकारों का पूर्ण समर्पण कर दिया और यह व्यक्ति या सभा उस क्षेत्र में सर्वोच्च सत्ता बन गयी। यही राज्य का श्रीगणेश है। इस समझौते के अन्तर्गत शासक कोई पक्ष नहीं है और यह समझौता सामाजिक है, राजनीतिक नहीं। शासक समझौते का एक पक्ष न होकर समझौते का परिणाम होने के कारण उसका पद समझौते से कहीं अधिक उच्च है। समझौता पूर्ण निरंकुश, अटल तथा अखण्ड है।

नवीन राज्य का रूप—हॉब्स अपने समझौते के आधार पर एक ऐसे निरंकुश राजतन्त्रात्मक राज्य की स्थापना करता है जिसका शासक सम्पूर्ण शक्तिसम्पन्न है और जिसके प्रजा के प्रति कोई कर्तव्य नहीं हैं। शासित वर्ग को शासक के विरुद्ध विद्रोह का अधिकार नहीं है।

इस प्रकार हॉब्स समझौते के परिणामस्वरूप एक निरंकुश राजतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था की स्थापना करता है।

हॉब्स के सिद्धान्त की आलोचना—हॉब्स के इन विचारों की कटु आलोचना हुई। जनता, राजतन्त्रवादी और चर्च के समर्थक सभी ने भिन्न-भिन्न कारणों से इस समझौते की आलोचना की। **क्लैरेन्डन** ने तो यहां तक कहा है कि **"मैंने कभी कोई ऐसी पुस्तक नहीं पढ़ी जिसमें इतना राजद्रोह, विश्वासघात और धर्मद्रोह भरा हो।"**[1] प्रमुख रूप से निम्नलिखित आधारों पर हॉब्स के सिद्धान्त की आलोचना की जाती है :

(1) मानव स्वभाव का विश्लेषण एकांकी—हॉब्स ने मानव स्वभाव का चित्रण स्वार्थी, झगड़ालू और अहंकारी रूप में किया है, लेकिन मानव स्वभाव की यह व्याख्या पूर्णतः एकपक्षीय है। मानव स्वार्थी प्राणी होने के साथ-साथ सामाजिक प्राणी भी है और उसमें दया, सहानुभूति एवं प्रेम के तत्व भी पाये जाते हैं। मनुष्य समाज में स्वार्थवश नहीं वरन् स्वभाववश रहता है। अग्नि, बाढ़, अकाल, भूकम्प, आदि प्राकृतिक संकटों के अवसरों पर व्यक्ति जिस रूप में एक-दूसरे की सहायता करते हैं उससे उनके स्वभाव के मूल सद्गुण नितान्त स्पष्ट हैं।

(2) प्राकृतिक अवस्था का वर्णन अवास्तविक—हॉब्स के द्वारा प्राकृतिक अवस्था का जो चित्रण किया गया है वह न तो ऐतिहासिक है और न ही वास्तविक। ऐतिहासिक खोजों से पता चलता है कि व्यक्ति कभी भी मानव जीवन की इकाई नहीं रहा वरन् कुटुम्ब या कबीले मानव जीवन की सबसे छोटी इकाई रहे हैं। प्रत्येक मनुष्य के प्रत्येक दूसरे मनुष्य के साथ युद्ध की कल्पना भी नितान्त अवास्तविक है। वस्तुतः मनुष्य ने कभी भी ऐसा जीवन व्यतीत नहीं किया जब उस पर किसी शक्ति का नियन्त्रण न रहा हो।

(3) अतार्किक—यदि मान लिया जाए कि प्राकृतिक अवस्था का व्यक्ति असामाजिक, स्वार्थी और झगड़ालू था तो प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इस प्रकार के असामाजिक व्यक्तियों में समझौते व सामाजिक भावना का उदय कैसे हो गया? इस प्रकार के असामाजिक व्यक्तियों द्वारा राज्य की स्थापना नितान्त असम्भव प्रतीत होती है। इस सम्बन्ध में बाहन (Vaughan) ने ठीक ही लिखा है कि **"जिस प्रकार एक हब्शी अपना रंग नहीं बदल सकता उसी प्रकार एक रक्तपिपासु व्यक्ति जिसका वर्णन हॉब्स ने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में किया है, शान्तिप्रिय श्रमिक नहीं बन सकता।"**

(4) भय के आधार पर राज्य की स्थापना सम्भव नहीं—हॉब्स के द्वारा भय और स्वार्थ जैसी हेय भावनाओं के आधार पर राज्य की स्थापना की गयी है जो नितान्त अनुचित और असम्भव है। वास्तव में, राज्य या

1 **"I never saw any book which contain so much sedition, treason and impiety."** —*Clerandon*

समाज भय तथा स्वार्थ पर नहीं वरन् अनुमति, सद्भावना, सहयोग और सामाजिक हित भावना पर आधारित है और जैसा कि अरस्तू ने कहा है कि उनका अस्तित्व अच्छे नैतिक जीवन की प्राप्ति के लिए है। इसके अतिरिक्त हॉब्स का राज्य केवल एक पुलिस राज्य ही हो सकता है जैसा कि गूच ने कहा है, **"लेवायथन केवल अतिमानवीय आकार का पुलिसमैन है जो अपने हाथ में दण्ड लिए है, उसका राज्य अनिवार्य बुराई है, दवाव या यन्त्र है, स्वतन्त्र विकासोन्मुख सभ्यता की प्राप्ति का अपरिहार्य साधन नहीं है।"**

(5) स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश शासन की स्थापना—हॉब्स के द्वारा जिस स्वेच्छाचारी और निरंकुश शासन की स्थापना की गयी है वह अत्यन्त भयंकर है। उसने शासक की शक्ति पर कोई नियन्त्रण नहीं लगाया है और ऐसी स्थिति में व्यक्तियों की स्वतन्त्रता, जीवन और सम्पत्ति कुछ भी सुरक्षित नहीं रहे हैं। प्रश्न यह है कि व्यक्तियों ने स्वयं ही इस प्रकार के निरंकुश शासन की स्थापना की वात स्वीकार कैसे कर ली? लॉक ने हॉब्स की आलोचना करते हुए कहा है कि हॉब्स हमें यह विश्वास दिलाना चाहता है कि **"मनुष्य इतने मूर्ख हैं कि वे जंगली विल्लियों और लोमड़ियों की शरारतों से बचने के लिए शेरों द्वारा निगला जाना अधिक सुरक्षित समझते हैं।"**

(6) राज्य तथा सरकार में अन्तर नहीं—हॉब्स के सिद्धान्त की एक विशेष त्रुटि यह है कि उसने केवल राज्य के विरुद्ध नहीं वरन् सरकार के विरुद्ध भी प्रजा का विद्रोह अमान्य ठहराया है। विलोबी के अनुसार, **"राज्य और सरकार में अन्तर न मानना ही उसकी सवसे वड़ी भूल है।"**

महत्व—उपर्युक्त आलोचनाओं के वावजूद हॉब्स का राजनीतिक विचारधारा के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। **प्रथमतः**, उसने राजनीति के विचार क्षेत्र में तर्क एवं वुद्धि का समावेश किया और इस प्रकार मिथ्या धारणाओं तथा अन्धविश्वासों के आधार पर विचार करने की प्रवृत्ति का अन्त किया। **द्वितीयतः**, उसने विधि और सम्प्रभुता की आधारशिला रखने का कार्य किया है। वह पहला अंग्रेज दार्शनिक था जिसने सामाजिक व्यवस्था और अनुशासन को महत्वपूर्ण स्थान दिया। उसने इस विचार का प्रतिपादन किया कि राजसत्ता सर्वोपरि और अविभाज्य होती है और राज्य के नागरिकों के लिए उसके आदेश का पालन अनिवार्य होता है। राजसत्ता के सम्वन्ध में यह विचार अव भी मान्य है। अन्त में, हॉब्स चाहे उदार अथवा प्रजातन्त्रीय शासन का विरोधी रहा हो, किन्तु वह व्यक्तिगत हितों को महत्वपूर्ण स्थान देता है। उसके ग्रन्थ 'लेवायथन' में निरंकुश सम्प्रभु शक्ति का वर्णन होते हुए भी उसमें इस विचार को मान्यता दी गयी है कि राज्य लोगों की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए होता है और शासन अपनी शक्ति जनता से ही प्राप्त करता है। राज्य स्वयं साध्य नहीं है अपितु व्यक्ति राज्य का साध्य है। हॉब्स के दर्शन के महत्व के सम्वन्ध में वेपर ने ठीक ही कहा है कि **"आने वाली सन्तति का प्रायः उससे मतभेद रहा है, किन्तु यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि उसमें उन्हें एक ऐसी खान मिलती है जिसका खोदना श्रेयस्कर है, क्योंकि उसमें से एक मूल्यवान धातु निकलती है।"**

जॉन लॉक (1632-1704)

जॉन लॉक इंगलैण्ड का ही एक दार्शनिक था जिसका जन्म 1632 ई. में हुआ था। उसका पालन-पोषण अत्यन्त उदार वातावरण में हुआ था और इस वातावरण का उसके जीवन पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। लॉक ने अपने समय में इंगलैण्ड के उस गृह-युद्ध को देखा जिसमें उसके पिता ने राजा का विरोध और पार्लियामेण्ट का समर्थन किया था। इस गृह-युद्ध में उसकी सहानुभूति पार्लियामेण्ट और जनप्रतिनिधियों के पक्ष की ओर थी और 1688 की गौरवमय क्रान्ति के दो वर्ष पश्चात् उसने अपनी पुस्तक *The Two Treatises on Government*' में इस वात का प्रतिपादन किया कि निरंकुश राजतन्त्र के स्थान पर वैधानिक राजतन्त्र की स्थापना और पार्लियामेण्ट की अन्तिम सत्ता को स्वीकार करना नितान्त न्यायसंगत था। जॉन लॉक ने अपने सामाजिक समझौते की व्याख्या निम्न प्रकार से की है :

मानव स्वभाव और प्राकृतिक अवस्था—लॉक के विचार से मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसमें सदैव ही प्रेम, सहानुभूति, सहयोग और दया की भावनाएं विद्यमान हैं। मानव स्वभाव की इस सामाजिकता के कारण प्राकृतिक अवस्था संघर्ष की अवस्था नहीं हो सकती थी। वह मनुष्य की ऐसी अवस्था थी कि जहां सव समान थे। प्राकृतिक नियमों के अधीन जो उचित समझते थे करने के लिए स्वतन्त्र थे। प्राकृतिक अवस्था में कुछ प्राकृतिक नियम भी थे जिनका पालन प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक था और इस प्रकार के प्राकृतिक नियमों में सबसे प्रमुख नियम यह था कि **"तुम दूसरों के प्रति वैसा ही बर्ताव करो जिसकी तुम दूसरे से अपने प्रति आशा करते हो"** (Do unto others as you want others to do unto you)।

इस प्रकार लॉक के अनुसार मनुष्य का प्राकृतिक जीवन "**शत्रुता, नीचता, बलात्कार अथवा मनुष्य के आपसी नाश का जीवन न होकर सुख-शान्ति, आपसी सहयोग और रक्षा का जीवन था।**" इस अवस्था में मनुष्य तीन अधिकारों का उपभोग करता था और साथ-ही-साथ दूसरे लोगों के इन अधिकारों का भी सम्मान करता था। तर्कशास्त्र के नियमों के अधीन प्रत्येक मनुष्य **जीवन, सम्पत्ति तथा स्वतन्त्रता के अधिकार** का उपभोग इस प्रकार करता था कि दूसरे के अधिकारों को आंच न आये। इस प्रकार मनुष्य ऐसी अवस्था में रहता था, जहां उसके पास अधिकार भी थे और इसके साथ-साथ वह कर्तव्यों का भी पालन करता था। यह अवस्था नैतिकता और सामाजिकता से पूर्ण थी। डनिंग के अनुसार, "**लॉक द्वारा कल्पित प्राकृतिक अवस्था राज्य के पूर्व की थी, समाज से पूर्व नहीं। यह अवस्था परस्पर पाशविक संघर्ष की अवस्था नहीं थी, इसमें शान्ति और विवेक का आधिक्य था।**"

समझौते के कारण—विचारणीय प्रश्न यह है कि व्यक्ति, शान्ति, सदइच्छा और सहयोग की एक स्वर्गिक अवस्था को त्यागने के लिए क्यों तैयार हुए? इस सम्बन्ध में लॉक ने कहा है कि "यद्यपि प्राकृतिक अवस्था श्रेष्ठ थी, लेकिन इस अवस्था में व्यक्तियों को कुछ ऐसी असुविधाएं अनुभव हुईं, जिनके कारण व्यक्तियों ने इस अवस्था का त्याग करना ही उचित समझा। इस अवस्था में प्रमुख रूप से तीन असुविधाएं अनुभव की गयीं। **प्रथम**, प्राकृतिक नियम स्पष्ट नहीं थे। **द्वितीय**, इन नियमों की व्याख्या करने के लिए निष्पक्ष न्यायाधीश नहीं थे। **तृतीय**, इन नियमों को लागू करने के लिए कोई शक्तिशाली सत्ता नहीं थी। इन असुविधाओं को दूर करने के लिए ही राज्य के निर्माण का निश्चय किया गया।"

समझौता—हॉब्स के सिद्धान्त के अन्तर्गत राज्य का निर्माण करने के लिए केवल एक ही समझौता किया गया है, परन्तु लॉक के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि दो समझौते किए गये जिनमें पहला सामाजिक और दूसरा राजनीतिक। पहले समझौते द्वारा प्राकृतिक अवस्था का अन्त करके समाज की स्थापना की गयी। इसमें प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक दूसरे व्यक्ति से समाज की स्थापना और प्राकृतिक अधिकारों को प्राकृतिक नियमों के अनुसार मनवाने के लिए समझौता करता है। इस समझौते के बाद, एक समूह के रूप में व्यक्तियों द्वारा दूसरा समझौता किया गया, जिसे राजनीतिक समझौता कहा जा सकता है। इस समझौते द्वारा पहले समझौते की शर्तों को कार्यरूप में परिणत करने के लिए सरकार की स्थापना की गयी। यह समझौता एक प्रकार से शासक और शासितों के मध्य है, जिसमें समाज के द्वारा शासक को कानून बनाने, उनकी व्याख्या करने और उन्हें लागू करने का अधिकार दिया जाता है, परन्तु शासक की शक्ति पर यह प्रतिबन्ध लगा दिया गया है कि उसके द्वारा निर्मित कानून प्राकृतिक नियमों के अनुकूल और अनुरूप होंगे। इस प्रकार शासक के द्वारा अपने प्रजाजनों के जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति की रक्षा की गारण्टी दी गयी है।

नवीन राज्य का स्वरूप—लॉक के समझौता सिद्धान्त के अन्तर्गत सरकार को स्वयं एक लक्ष्य नहीं वरन् लक्ष्य प्राप्ति का साधन मात्र माना गया है और लक्ष्य है शान्ति तथा व्यवस्था स्थापित रखना और जन-कल्याण। स्वयं लॉक के शब्दों में, "**जनता द्वारा शासक को प्रदत्त कानून निर्माण का अधिकार सर्वोच्च अधिकार है, किन्तु यह निरंकुश नहीं है। इसका प्रयोग जनता के हितार्थ ही होना चाहिए जिसके लिए यह प्रदान किया गया है।**" इस प्रकार लॉक इस विचार का प्रतिपादन करता है कि यदि सरकार अपने उद्देश्य में असफल हो जाती है तो समाज को इस प्रकार की सरकार के विरुद्ध विद्रोह कर उसके स्थान पर दूसरी सरकार स्थापित करने का पूर्ण अधिकार है। लॉक ने शासक को भी समझौते का एक पक्ष मानकर शासक के अधिकारों को सीमित कर दिया है और इस तरह उसने गौरवपूर्ण क्रान्ति को न्यायोचित ठहराया है तथा सीमित संवैधानिक राजतन्त्र का पक्ष ग्रहण किया है।

आलोचना—लॉक के समझौता सिद्धान्त की आलोचना निम्नलिखित आधारों पर की गयी है :

(1) प्राकृतिक अवस्था का चित्रण अवास्तविक—लॉक का प्राकृतिक अवस्था का चित्रण अनैतिहासिक और हॉब्स से भी अधिक वास्तविकता से दूर है। ऐतिहासिक और दार्शनिक दोनों ही दृष्टियों से यह अमान्य है। प्रारम्भिक जन-समुदाय कभी भी इतना सामाजिक, शान्त और नैतिक नहीं रहा जितना कि लॉक के द्वारा समझा गया है।

(2) राज्य की स्थापना का उद्देश्य मात्र भौतिक नहीं—लॉक के अनुसार व्यक्तियों के जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति की रक्षा के लिए राज्य का निर्माण किया गया। इससे तो ऐसा प्रतीत होता है कि राज्य और

समाज का सम्बन्ध व्यक्तियों के नैतिक विकास से न होकर उनके भौतिक विकास से ही है। इस प्रकार का दृष्टिकोण न तो सही है और न ही वांछनीय।

(3) निरन्तर क्रान्ति की आशंका—लॉक ने कहा है कि यदि सरकार जनहित के विरुद्ध कार्य करे तो जनता के द्वारा विद्रोह करते हुए सरकार को पदच्युत करने का अधिकार दे दिया गया है। ऐसी स्थिति में लॉक का दर्शन जनता के लिए **'विद्रोह का लाइसेंस'** बन जाता है और सरकार के पास अपनी रक्षा के कोई साधन नहीं रहते।

(4) राजसत्ता विभाजित नहीं होती—लॉक के विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि राजसत्ता व्यक्तियों तथा राजा में बंटी हुई है, किन्तु वास्तव में राजसत्ता विभाजित नहीं होती है।

(5) कानूनी राजसत्ता को महत्व नहीं—लॉक के दर्शन की एक त्रुटि यह है कि लॉक ने कानूनी राजसत्ता को कोई महत्व नहीं दिया है। इस सम्बन्ध में **गिलक्राइस्ट** ने ठीक ही लिखा है कि **"हॉब्स ने राजनीतिक सत्ता को अस्वीकार करते हुए कानूनी राजसत्ता का प्रतिपादन किया है; हॉब्स ने राजनीतिक राजसत्ता की शक्ति को स्वीकार किया है, पर कानूनी राजसत्ता को मान्यता नहीं दी है। लॉक यह देखने में भी असफल रहा है कि क्रान्ति चाहे कितनी ही वांछनीय हो कभी भी वैध नहीं होती।"** इसके अतिरिक्त लॉक प्रभुसत्ता की प्रकृति अथवा स्थिति को भी स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं करता।

महत्व—उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद राजनीतिक विचारों के इतिहास में लॉक के विचारों का स्थायी महत्व है। **प्रथमतः**, लॉक ने राज्य और सरकार में अन्तर किया है और राजनीति में **'जनसहमति के सिद्धान्त'** (Theory of the Concept of the People) का प्रतिपादन किया। वस्तुतः उसका यह विचार सर्वमान्य है और इस दृष्टि से लॉक को प्रजातन्त्र का अग्रदूत कहा जा सकता है। लॉक ने इस बात का भी प्रतिपादन किया है कि शासक को आवश्यक रूप से जनहित में ही कार्य करना चाहिए। **द्वितीयतः**, लॉक द्वारा प्रतिपादित प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त त्रुटिपूर्ण होते हुए भी राजनीतिक दर्शन के लिए उसकी अपूर्व देन है और वर्तमान समय में लोकप्रिय मौलिक अधिकारों की धारणा का प्रतिपादन इसी आधार पर हुआ है। **तृतीयतः**, माण्टेस्क्यू द्वारा प्रतिपादित शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त के बीज भी लॉक के विचारों में निहित हैं। आधुनिक युग में, सबसे पहली बार उसने शक्ति विभाजन की विचारधारा का प्रतिपादन किया, माण्टेस्क्यू ने इस धारणा को विकसित किया और अमरीकी संविधान के निर्माताओं ने इसे प्रयोगान्वित किया। **चतुर्थतः**, लॉक ने धार्मिक सहिष्णुता के विचार का भी प्रतिपादन किया है। इस दृष्टि से लॉक को एक बहुत अधिक प्रगतिशील विचारक कहा जा सकता है।

18वीं सदी के राजनीतिक विचारों और शासन सम्बन्धी कार्यों पर लॉक के विचारों का बहुत प्रभाव पड़ा। फ्रांस की राज्यक्रान्ति तथा अमरीकी स्वतन्त्रता संग्राम को लॉक के सिद्धान्तों से प्रेरणा प्राप्त हुई। बैन्थम का उपयोगितावाद और मिल का व्यक्तिवाद भी उसके विचारों से प्रभावित है। इस सम्बन्ध में **प्रो. मैक्सी** का यह कथन एकदम सत्य ही है कि **"निर्माण करने वाला हाथ कहीं वाल्पोल का, कहीं जैफरसन का, कहीं गैम्बेटा का और कहीं कैवूर का था, किन्तु प्रेरणा निश्चित रूप से लॉक की ही थी।"**[1]

जीन जेकस रूसो (1712-1767)

18वीं सदी के महान् फ्रांसीसी विचारक रूसो का जन्म 23 जून, 1712 को जेनेवा में हुआ था। बाल्यकाल और युवावस्था में नियमित शिक्षा प्राप्त करने के स्थान पर उसने अत्यन्त अनियमित और अव्यवस्थित जीवन व्यतीत किया, लेकिन प्रकृति-प्रदत्त प्रतिभा के बल पर विश्व का एक महान दार्शनिक बन गया। उसने सम्पूर्ण सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था के पुनर्निर्माण की मांग कर फ्रांस की राज्यक्रान्ति को सुदृढ़ दार्शनिक आधार प्रदान किया। रूसो ने अपने प्रारम्भिक लेखों 'Discourses on the Progress of Arts and Sciences' और 'Discourse on Inequality' में प्राकृतिक अवस्था को आदर्श बतलाते हुए सभ्यताजन्य दोषों के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किए, परन्तु हमारे दृष्टिकोण से 1762 में उसकी प्रकाशित पुस्तक **'सामाजिक संविदा'** (The Social Contract) अधिक महत्वपूर्ण है। सामाजिक समझौता सिद्धान्त का वर्णन इसी पुस्तक में है।

1 **"The shaping hand was that of a Walpole, a Jefferson, a Gambetta or a Covour, the voice was invariably the voice of Locke."** —*Maxey*

हॉब्स और लॉक के समान रूसो के द्वारा सामाजिक समझौता सिद्धान्त का प्रतिपादन किसी विशेष उद्देश्य से नहीं किया गया है, लेकिन रूसो ने जिस रूप में अपने विचारों का प्रतिपादन किया है, उससे वह **'स्वतन्त्रता, समानता और प्रजातन्त्र का अग्रदूत'** बन गया है।

मानव स्वभाव और प्राकृतिक अवस्था—रूसो का मत है कि प्राकृतिक अवस्था के व्यक्तियों का जीवन बुद्धि द्वारा चालित न होकर भाव द्वारा चालित था और ये भाव मुख्यतः दो थे—आत्मरक्षा की प्रवृत्ति और दया की प्रवृत्ति। अपनी इस धारणा के आधार पर रूसो मानता है कि आदिम मनुष्य का स्वभाव लगभग पशुतुल्य निष्पाप, निर्दोष और स्वाभाविक रूप से श्रेष्ठ था। वह नैतिकता के विचारों से रहित और सहज भावना से काम करने वाला बुद्धिहीन प्राणी था।

रूसो के मतानुसार प्राकृतिक अवस्था सभ्य सामाजिक अवस्था से कहीं अधिक श्रेष्ठ थी। आदिम मनुष्य एकांकी और जंगली जीवन व्यतीत करता था। उसकी इच्छाएं और आवश्यकताएं बहुत अधिक सीमित थीं और वह पूर्णतया स्वतन्त्र, सन्तुष्ट और सुखी था। प्रत्येक मनुष्य अन्य के समान था और छोटे-बड़े का भेद न था। इस अवस्था में मनुष्य स्वार्थी होते हुए भी सदैव एक-दूसरे की सहायता के लिए तत्पर रहता था। वह इस सिद्धान्त के अनुसार आचरण करता था—**"अपना हित साधन करो, किन्तु दूसरे की कम-से-कम सम्भव हानि हो।"** यह प्राकृतिक अवस्था वर्बरता की अवस्था अवश्य थी, पर वह **'आदर्श वर्बर'** (Noble savage) था, उसमें सभ्य कहे जाने वाले मनुष्यों के दुर्गुण न थे।

इस प्रकार आदिम प्राकृतिक अवस्था आदर्श थी, लेकिन यह अवस्था अधिक समय तक न रह सकी और मानवीय सभ्यता के विकास के साथ-साथ मानव-जीवन में अनेक बुराइयों ने घर कर लिया। इस सम्बन्ध में रूसो की यह उक्ति प्रसिद्ध है कि **"मनुष्य स्वतन्त्र उत्पन्न होता है, किन्तु फिर भी प्रत्येक स्थान पर वह बन्धन में है।"**[1] "सभ्यता और संस्कृति के विकास के परिणामस्वरूप मानव में सम्पत्ति का विचार आया और तेरे-मेरे की भावना का उदय हुआ। रूसो ने लिखा है कि **"वह पहला व्यक्ति समाज का वास्तविक जन्मदाता था जिसने एक भू-भाग को एक बाड़े से घेरकर यह कहा कि यह मेरी भूमि है और जिसे उसके कथन के प्रति विश्वास करने वाले सरल व्यक्ति मिल गये।"**

मानव समाज में सम्पत्ति रूपी सर्प के उत्पन्न होते ही उसकी सुख-शान्ति काफूर हो गयी और संघर्ष, ईर्ष्या, द्वेष तथा अहंकार का प्रादुर्भाव हुआ। जनसंख्या की वृद्धि ने वातावरण को और अधिक विषाक्त कर दिया।

समझौता—इस प्रकार प्राकृतिक अवस्था की सरलता, समानता तथा प्रसन्नता जाती रही और समाज की लगभग वही दशा हो गयी जो हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था में थी। युद्ध और संघर्ष के इस वातावरण का अन्त करने के लिए व्यक्तियों ने पारस्परिक समझौते द्वारा समाज की स्थापना का निश्चय किया। समस्त व्यक्ति एक स्थान पर एकत्रित हुए और उनके द्वारा अपने सम्पूर्ण अधिकारों का समर्पण किया गया, किन्तु अधिकारों का यह समर्पण किसी व्यक्ति विशेष के प्रति नहीं वरन् सम्पूर्ण समाज के प्रति किया गया। समझौते के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण समाज की एक सामान्य इच्छा उत्पन्न होती है और सभी व्यक्ति इस सामान्य इच्छा के अधीन रहते हुए अपना कार्य करते हैं। स्वयं रूसो के शब्दों में समझौते के अन्तर्गत **"प्रत्येक अपने व्यक्तित्व और अपनी पूर्ण शक्ति को सामान्य प्रयोग के लिए, सामान्य इच्छा के सर्वोच्च निर्देशन के अधीन समर्पित करता है तथा एक समूह के रूप में हममें से प्रत्येक व्यक्ति समूह के अविभाज्य अंग के रूप में अपने व्यक्तित्व तथा अपनी पूर्ण शक्ति को प्राप्त कर लेता है।"** इस प्रकार के हस्तान्तरण से सभी व्यक्तियों को लाभ है और इस प्रकार के पारस्परिक संयोग से उत्पन्न समूह का नाम ही राज्य या राजनीतिक समाज है।

रूसो के सिद्धान्त की आलोचना—रूसो के सामाजिक समझौता सिद्धान्त की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की जाती है :

(1) प्राकृतिक अवस्था काल्पनिक—रूसो द्वारा चित्रित प्राकृतिक अवस्था नितान्त निराधार और काल्पनिक है। ऐतिहासिक तथ्यों से यह सिद्ध नहीं होता कि मनुष्य इतना शान्तिपूर्ण, सुखी व आदर्श जीवन व्यतीत करते थे। गार्नर के अनुसार, **"ऐसी अवस्था केवल कवि या दार्शनिक के मस्तिष्क में ही आ सकती है, वास्तविकता में नहीं।"**

---

1 **"Man is born free however, he is everywhere in chains."**

—Rousseau, *The Social Contract*, I (23).

(2) अस्पष्ट और जटिल—रूसो का सिद्धान्त अस्पष्ट और जटिल एवं साधारण व्यक्ति की समझ के परे है। रूसो ने व्यक्ति को प्रजा और नागरिक दोनों का स्थान प्रदान किया है। राज्य की सत्ता के अधीन होने के कारण वह प्रजा है और राजशक्ति का एक भाग होने के कारण वह नागरिक है। इसी प्रकार रूसो के अनुसार जब किसी व्यक्ति को दण्डित किया जाता है तो उसे यह दण्ड स्वयं उसकी अपनी इच्छा से मिलता है। ये बातें साधारण व्यक्ति की समझ के परे तो हैं ही बुद्धिमान व्यक्ति को भी हास्यास्पद प्रतीत होती हैं। रूसो अपनी विचारधारा की अस्पष्टता और जटिलता से स्वयं भी परिचित था और इसी कारण वह लिखता है कि **"जो सामाजिक अनुबन्ध को पूरा समझ ले वह मुझसे अधिक बुद्धिमान है।"**

(3) सिद्धान्त में विरोधाभास—रूसो का सिद्धान्त न केवल अस्पष्ट वरन् विरोधाभास से भी पूर्ण है। उदाहरण के लिए, एक ओर रूसो कहता है कि "वह समझौता व्यक्ति और समाज में होता है और दूसरी तरफ वह समाज को समझौते का परिणाम बतलाता है।"

(4) व्यक्ति की स्वतन्त्रता और अधिकारों का अन्त—रूसो के समझौते में व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण स्वतन्त्रता और अधिकार समाज को सौंप देता है और इस प्रकार व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा अधिकार समाप्त होते हैं। इसी आधार पर लॉर्ड मार्ले ने एक बार कहा था कि **"क्या विश्व के लिए यह अच्छा न होता, अगर रूसो का जन्म ही न हुआ होता।"**

(5) राजसत्ता निरंकुश व स्वेच्छाचारी—रूसो के समझौते के अन्तर्गत राजसत्ता के रूप में सामान्य इच्छा का निर्माण हुआ है, परन्तु उसने सामान्य इच्छा की जो व्याख्या की है, उससे निरंकुश व स्वेच्छाचारी राज्य को जन्म मिला है। रूसो द्वारा राज्य और समाज में अन्तर न किए जाने के कारण भी रूसो का राज्य सर्वाधिकारवादी बन गया है, जिसे हॉब्स का **'शीशरहित लेवायथन'** कहा जा सकता है।

महत्व—उपर्युक्त आलोचनाओं के होते हुए भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि रूसो ने राजनीतिक दर्शन को अमर भेंट प्रदान की है। उसने सामान्य इच्छा, लोकतन्त्र और जन-अनुमति पर आधारित शासन का प्रतिपादन किया है। रूसो के दर्शन में जनता की स्वतन्त्रता और उसके अधिकारों का सबसे प्रबल समर्थन मिलता है। फ्रांसीसी क्रान्ति बहुत सीमा तक रूसो के विचारों का ही परिणाम थी और अमरीकी संविधान के निर्माताओं ने भी रूसो से प्रेरणा ग्रहण की। रूसो के प्रभाव के सम्बन्ध में जे. एम. कोहन ने ठीक ही कहा है कि **"दो शताब्दियों तक यूरोपीय विचारधारा पर रूसो का जितना प्रभाव पड़ा उतना अन्य किसी व्यक्ति का नहीं।"**[1] प्रो. डर्निंग के शब्दों में, **"रूसो की मृत्यु के पश्चात् हलचल के युग की दार्शनिक प्रणालियों और शासन संगठनों में सभी ओर उसकी आत्मा तथा उसके विचार दृष्टिगोचर होते हैं—उनका स्वरूप भले ही अदृश्य एवं परिवर्तित हो।"**

रूसो की सामान्य इच्छा

रूसो के राजनीतिक दर्शन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व सामान्य इच्छा का सिद्धान्त है। व्यक्ति समझौते द्वारा समुदाय के लिए अपनी शक्ति का जो परित्याग करता है, उससे उसकी वैयक्तिक इच्छा का स्थान एक सामान्य इच्छा (General will) ले लेती है। रूसो ने सामान्य इच्छा की पृष्ठभूमि में 'यथार्थ इच्छा' और 'आदर्श इच्छा' में अन्तर किया है, जो इस प्रकार है :

यथार्थ इच्छा (Actual Will)—सामान्यतया यथार्थ इच्छा और आदर्श इच्छा का एक ही अर्थ लिया जाता है, परन्तु रूसो के द्वारा इनका प्रयोग विशेष अर्थों में किया जाता है। रूसो के अनुसार, यथार्थ इच्छा मानव की इच्छा का वह भाग है जिसका लक्षण व्यक्तिगत स्वार्थ की पुष्टि हो और जो स्वयं व्यक्ति में केन्द्रित हो। इसके अन्तर्गत सामाजिक हित की अपेक्षा व्यक्तिगत स्वार्थ की प्रबलता होती है। डॉ. आशीर्वादम के शब्दों में, **"यह व्यक्ति की समाज-विरोधी इच्छा है, क्षणिक एवं तुच्छ इच्छा है। यह संकुचित तथा स्वविरोधी है।"**

आदर्श इच्छा (Real Will)—इसके विपरीत, आदर्श इच्छा मानव की वह इच्छा है जिसका लक्ष्य सम्पूर्ण समाज का कल्याण हो। इस इच्छा के अनुसार मानव स्वयं के हित को सामाजिक हित का अभिन्न अंग मानता है तथा सम्पूर्ण समाज के हित को दृष्टि में रखते हुए ही विचार करता है। इस इच्छा में व्यक्तिगत स्वार्थ का सामाजिक हित के साथ सामंजस्य तथा व्यक्तिगत स्वार्थ पर सामाजिक हित की प्रधानता होती है। डॉ.

1 "No one had as much influence as he on two centuries."
—J. M. Cohen, *Introduction to Rousseau's Confession*

आशीर्वादम के शब्दों में **"यह जीवन के समस्त पहलुओं पर व्यापक रूप में दृष्टिपात करती है। यह विवेकपूर्ण इच्छा है। यह व्यक्ति तथा समाज के सामंजस्य में प्रदर्शित होती है।"**

जहां तक सामान्य इच्छा का सम्बन्ध है, सामान्य इच्छा मानव की आदर्श इच्छाओं का योग मात्र है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि सामान्य इच्छा मानव की इच्छा का वह श्रेष्ठ भाग है जो सम्पूर्ण समाज के लिए आवश्यक रूप में हितकर हो। डॉ. आशीर्वादम के मतानुसार, **"सामान्य इच्छा की परिभाषा एक समाज के सदस्यों की आदर्श इच्छाओं के योग अथवा इससे भी अधिक उत्तम शब्दों में उनके एकीकरण के रूप में की जा सकती है।"** प्रसिद्ध विद्वान ग्रीन ने सामान्य इच्छा की सूक्ष्म और अर्थपूर्ण व्याख्या करते हुए लिखा है कि **"सामान्य आदर्शों की सामान्य चेतना"**[1] ही सामान्य इच्छा है। रूसो की विचारधारा के प्रमुख व्याख्याकार बोसांके के अनुसार, **"सामान्य इच्छा सम्पूर्ण समाज की सामूहिक इच्छा अथवा सभी व्यक्तियों की ऐसी इच्छाओं का समूह है जिसका लक्ष्य सामान्य हित की पुष्टि हो।"**[2]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि रूसो की सामान्य इच्छा के दो अंग हैं : (1) सामान्य व्यक्तियों की इच्छा और (2) सामान्य हित पर आधारित इच्छा। सामान्य इच्छा के इन दो अंगों में द्वितीय प्रथम से अधिक महत्वपूर्ण है और जैसा कि स्वयं रूसो ने कहा है, **"मतदाताओं की संख्या से कम तथा उस सामाजिक हित की भावना से अधिक इच्छा सामान्य बनती है जिसके द्वारा वे एकता में बंधते हैं।"**[3]

सामान्य इच्छा का निर्माण—इस सम्वन्ध में रूसो का कहना है कि हम सवकी इच्छा से चलते हैं और सामान्य इच्छा पर पहुंचते हैं। जव कभी जनता के सामने कोई प्रश्न उपस्थित होता है तो जनता का प्रत्येक व्यक्ति उस प्रश्न पर व्यक्तिगत दृष्टिकोण से विचार करता है। ऐसा समाज यदि सभ्य और सुसंस्कृत हो और उसमें नागरिकता की भावना हो तो विचारों के आदान-प्रदान की इस प्रक्रिया में व्यक्तियों की स्वार्थमयी इच्छाएं एक-दूसरे की इच्छाओं को नष्ट कर देती हैं और इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप सामान्य इच्छा का उदय होता है। पारस्परिक वाद-विवाद के परिणामस्वरूप व्यक्तिगत इच्छाएं परिष्कृत हो जाती हैं और उनकी इच्छा का सर्वोत्तम रूप प्रकट होता है, जो सामान्य इच्छा है।

सामान्य इच्छा की विशेषताएं—सामान्य इच्छा को स्पष्ट रूप से समझने के लिए उसकी विशेषताओं और लक्षणों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। सामान्य रूप से सामान्य इच्छा की निम्नलिखित विशेषताएं वतलायी जा सकती हैं :

(1) अखण्डता—सामान्य इच्छा का एक विशेष लक्षण उसकी एकता या अखण्डता है। यद्यपि सामान्य इच्छा की एकता में विभिन्नता भी होती है, किन्तु विवेकयुक्त और बुद्धिजन्य होने के कारण इसमें किसी प्रकार का आत्मविरोध नहीं होता है। जैसा कि स्वयं रूसो ने कहा है, **"सामान्य इच्छा राष्ट्रीय चरित्र में एकता उत्पन्न करती है और उसे स्थिर रखती है।"**

(2) अदेयता—सामान्य इच्छा का दूसरा लक्षण है अदेयता, जिसका तात्पर्य यह है कि वह इच्छा किन्हीं व्यक्तियों को हस्तान्तरित नहीं की जा सकती है। इसी आधार पर रूसो का कहना है कि सामान्य इच्छा प्रतिनिधियों द्वारा व्यक्त किए जाने के योग्य नहीं होती है। रूसो प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र का उपासक है जिसमें व्यक्ति स्वयमेव अपनी इच्छा व्यक्त करते हैं। रूसो के अनुसार प्रतिनिधियों के माध्यम से इसे व्यक्त करना व्यक्तियों के वहुमूल्य अधिकारों का हनन तथा लोकतन्त्र की हत्या है।

(3) अविच्छेद्यता—सामान्य इच्छा की एक विशेषता यह है कि इसे प्रभुसत्ता से अलग नहीं किया जा सकता। प्रभुसत्ता इच्छा में निहित है और वह इसका प्राण है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति के शरीर से उसके प्राण को पृथक् नहीं किया जा सकता, वैसे ही प्रभुसत्ता को सामान्य इच्छा से अलग कर सकना सम्भव नहीं है।

(4) सर्वोच्च एवं निरंकुश—सामान्य इच्छा का एक लक्षण इसका सर्वोच्च एवं निरंकुश होना है। इस पर दैवीय, प्राकृतिक या परम्परागत नियमों का कोई प्रतिवन्ध नहीं होता और यह किसी व्यक्ति या समूह के

1 "Common consciousness of the common end." —*T. H. Green*

2 "General Will is the will of the whole society 'as such' or the will of all individuals 'in so far as' they aim at the common good." —Bosanquet, *Philosophical Theory of the State*, p. 88.

3 "What makes the will general is less the number of voters than the common interest uniting them." —*Rousseau*

अधिकारों से भी नियन्त्रित नहीं होती। सभी के द्वारा सामान्य इच्छा का पालन किया जाना चाहिए और उन्हें ऐसा करना ही होगा, कोई भी इसकी अवहेलना नहीं कर सकता है।

(5) **स्थायी**—सामान्य इच्छा किसी प्रकार से भावात्मक आवेशों, आवेगों या सनक का परिणाम नहीं होती, अपितु मानव के जन-कल्याण की स्थायी प्रवृत्ति और विवेक का परिणाम होती है।

(6) **लोक-कल्याणकारी**—सामान्य इच्छा का सबसे प्रमुख लक्षण लोककल्याण है। सामान्य इच्छा व्यक्तियों की आदर्श इच्छाओं का योग होती है और व्यक्तियों की ये आदर्श इच्छाएं जन-कल्याण से प्रेरित होती हैं। अतः सामान्य इच्छा का लक्ष्य सदैव ही सम्पूर्ण समाज का कल्याण होता है। रूसो के शब्दों में, **"सामान्य इच्छा सदैव ठीक ही होती है, परन्तु वह निर्णय जो इसका पथ-प्रदर्शक होता है, सदैव समझदारीपूर्ण नहीं होता है।"**

(7) **विवेक पर आधारित औचित्यपूर्ण इच्छा**—यह इच्छा किसी प्रकार की भावनाओं पर नहीं, वरन् तर्क तथा विवेक पर आधारित होती है। यह सम्भव है कि सामान्य इच्छा के अन्तर्गत की गयी सामान्य हित की कल्पना गलत हो, किन्तु यह व्यक्तिगत स्वार्थ से भ्रष्ट नहीं होता। स्वयं रूसो के शब्दों में—**"सामान्य इच्छा सदैव ही विवेकपूर्ण एवं न्यायसंगत होती है क्योंकि जनता की वाणी वास्तव में ईश्वर की वाणी होती है।"**

'सामान्य इच्छा' और 'सर्वसम्मति' में अन्तर

अनेक बार सामान्य इच्छा को सर्वसम्मति या सबकी इच्छा का पर्यायवाची समझ लिया जाता है, किन्तु दोनों को एक ही समझना गलत है। इन दोनों में प्रमुख रूप से निम्नलिखित अन्तर किए जा सकते हैं :

(1) सर्वसम्मति, जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है, समाज के सब व्यक्तियों की इच्छा होती है, किन्तु सामान्य इच्छा के लिए ऐसा होना आवश्यक नहीं है और साधारणतया ऐसा होता भी नहीं है। सामान्य इच्छा किसी एक व्यक्ति, कुछ व्यक्तियों या सभी व्यक्तियों की इच्छा हो सकती है।

(2) सामान्य इच्छा में एक ऐसी एकता होती है जैसी कि सर्वसम्मति में कभी भी नहीं होती। सामान्य इच्छा एक सम्पूर्ण के रूप में समाज की इच्छा को अभिव्यक्त करती है, यह सदस्यों की परस्पर विरोधी इच्छाओं के बीच समझौता नहीं है वरन् यह एकल तथा एकात्मक इच्छा है।

(3) सर्वसम्मति किन्हीं परिस्थितियों में कुछ व्यक्तियों के विशेष हितों से सम्बन्धित हो सकती है, किन्तु सामान्य इच्छा अनिवार्यतः समस्त जनता के कल्याण में ही होगी। इन दोनों का भेद स्पष्ट करते हुए रूसो कहता है कि **"समाज के समस्त सदस्यों की इच्छाओं का कुल योग सामान्य इच्छा कभी नहीं हो सकता, क्योंकि समस्त सदस्यों की इच्छाओं में सदस्यों के व्यक्तिगत स्वार्थों का सम्मिश्रण होता है, जबकि सामान्य इच्छा का सम्बन्ध केवल सामान्य हितों से होता है।"**

सामान्य इच्छा की आलोचना—रूसो का सामान्य इच्छा का सिद्धान्त राजनीतिक चिन्तन के सर्वाधिक विवादास्पद विषयों में से एक है। एक ओर कुछ विचारकों की दृष्टि में सामान्य इच्छा का सिद्धान्त यदि भयंकर नहीं तो सारहीन अवश्य है, जबकि दूसरे विचारकों के लिए यह सिद्धान्त लोकतन्त्र तथा राजनीतिक दर्शन का एक बुनियादी पत्थर है। सामान्य इच्छा के विचार की प्रमुख आलोचनाएं निम्न प्रकार से की जाती हैं :

(1) **अस्पष्ट एवं अव्यावहारिक**—रूसो का सामान्य इच्छा का विचार नितान्त अस्पष्ट एवं अव्यावहारिक है। एक विशेष समय पर सामान्य इच्छा का ज्ञान प्राप्त कर सकना बहुत अधिक कठिन ही नहीं, वरन् लगभग असम्भव है। स्वयं रूसो इस सम्बन्ध में पूर्ण निश्चित नहीं है और वह अपने ग्रन्थ **'सामाजिक समझौता'** (Social Contract) में इस सम्बन्ध में विभिन्न तथा परस्पर विरोधी बातें कहता है। सामान्य इच्छा के निवास के सम्बन्ध में यह अनिश्चितता निस्सन्देह शोचनीय है। वेपर (Wayper) ने लिखा है कि **"जब रूसो हमें सामान्य इच्छा का पता ही नहीं दे सकते, तो इस सिद्धान्त के प्रतिपादन का लाभ ही क्या हुआ? रूसो ने हमें एक ऐसे अन्धकार में छोड़ दिया है जहां हम सामान्य इच्छा के बारे में अच्छी तरह सोच भी नहीं सकते।"**[1]

(2) **यथार्थ इच्छा तथा आदर्श इच्छा का भेद काल्पनिक**—रूसो का सामान्य इच्छा का विचार यथार्थ और आदर्श इच्छा के भेद पर आधारित है, लेकिन जैसा कि हॉबहाउस (Hobhouse) ने कहा है, **"यथार्थ इच्छा तथा आदर्श इच्छा का अन्तर व्यवहार में सही नहीं होता है।"** मानव में सदैव व्यक्तिगत स्वार्थ एवं लोकहित की जो प्रवृत्ति पायी जाती है, उन्हें एक-दूसरे से पूर्णतया पृथक् कर सकना सम्भव नहीं होता है। वास्तव में समाज

---

1 वेपर, राजदर्शन का स्वाध्याय, पृ. 173.

मनुष्यों का वह संग्रह अथवा योग है जिससे प्रत्येक का व्यक्तित्व, उसकी राय तथा पृथक्-पृथक् हितों का स्वतन्त्र अस्तित्व रहता है। अतः सामान्य इच्छा जैसी कोई वस्तु नहीं होती है।

(3) सामान्य हित की व्याख्या सम्भव नहीं—सामान्य इच्छा का विचार सामान्य हित पर आधारित है, किन्तु सामान्य हित की परिभाषा का प्रयास लहरों को मुट्ठी में बांधने के प्रयास के समान है। इसके अतिरिक्त किसी कार्य को करने के पूर्व पूर्ण निश्चिततापूर्वक यह कैसे कहा जा सकता है कि अमुक कार्य का परिणाम जन-कल्याण ही होगा। केवल परिणाम द्वारा ही निश्चय होता है कि अमुक कार्य उचित है या अनुचित। सामान्य हित की व्याख्या सम्भव न होने के कारण ही सामान्य इच्छा के सम्वन्ध में मार्ले ने कहा है कि **"रूसो ने कोरी वहस में अपना समय नष्ट कर दिया है।"**

(4) निरंकुश तथा अत्याचारी राज्य का पोषक—सामान्य इच्छा के प्रतिपादन का उद्देश्य तो जनता के अधिकारों की रक्षा है, किन्तु यह धारणा व्यवहार में निरंकुश तथा अत्याचारी राज्य की पोषक भी वन सकती है। एक विशेष समय पर सामान्य इच्छा क्या है, यह निश्चित करने की शक्ति रूसो शासक को सौंप देता है और यदि शासक दुराचारी हो तो वह अपने स्वार्थ को ही सामान्य इच्छा का रूप दे सकता है। इसके अतिरिक्त रूसो के सिद्धान्त में जनता के द्वारा अपने समस्त अधिकारों का समर्पण कर दिया गया है और जनता को किसी भी परिस्थिति में समाज के विरोध का अधिकार नहीं है। इस सम्वन्ध में डब्ल्यू. टी. जोन्स (W. T. Jones) ने ठीक ही कहा है कि **"रूसो के सामान्य इच्छा विषयक सिद्धान्त में कुछ ऐसे अस्थिर तत्व हैं जो उसे जनतन्त्र के समर्थन से हटाकर निरंकुश शासन के समर्थन की ओर ले जाते हैं।"** ए. डाइड (A. Dide) के अनुसार, **"रूसो सामान्य इच्छा की आड़ में बहुमत की निरंकुशता का प्रतिपादन तथा समर्थन करता है"** और वाहन (Vaughan) ने तो यहां तक कह डाला है कि **"रूसो ने अपनी समष्टिवादी विचारधारा से व्यक्ति को शून्य बना दिया है।"** सामान्य इच्छा की धारणा व्यक्ति की ही नहीं वरन् व्यक्तित्व की भी शत्रु है। बर्ट्रेण्ड रसल, आइवर ब्राउन तथा मरे ने भी रूसो की विचारधारा पर निरंकुशतावाद तथा अधिनायकवाद के पोषण का आरोप लगाया है।

(5) प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र में सम्भव नहीं—रूसो का विचार है कि सामान्य इच्छा की सिद्धि के लिए सभी व्यक्तियों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से प्रभुसत्ता के प्रयोग में सक्रिय भाग लिया जाना चाहिए। इस शर्त का पालन प्राचीन यूनानी नगर राज्यों में भले ही सम्भव हो, वर्तमान समय के प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्रों में कतई सम्भव नहीं हो सकता। रूसो द्वारा प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त का यह तिरस्कार अन्तिम रूप में लोकतन्त्र का ही तिरस्कार हो जाता है क्योंकि वर्तमान समय में प्रतिनिध्यात्मक शासन ही लोकतन्त्र का एकमात्र व्यावहारिक रूप है।

महत्व—आलोचनाओं के बावजूद इस वात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि रूसो का सामान्य इच्छा का विचार राजनीतिक विचारधारा के लिए उनकी अत्यन्त महत्वपूर्ण देन है। इसके महत्व को निम्न रूपों में स्पष्ट किया जा सकता है :

(1) रूसो का सामान्य इच्छा का विचार प्रजातन्त्र का प्रतिष्ठापक है क्योंकि उसका यह विश्वास है कि सत्ता का आधार जन स्वीकृति है, जनता की इच्छा है, विधि-निर्माण में जनता का प्रत्यक्ष सहयोग वांछित है, सरकार सतत् रूप में जनता के प्रति उत्तरदायी होनी चाहिए, आदि। सामान्य इच्छा का विचार राजनीतिक क्षेत्र में हमारे सम्मुख एक ऐसा आदर्श प्रस्तुत करता है, जिसकी प्राप्ति सदैव हमारा लक्ष्य होना चाहिए। इस सम्बन्ध में मैकाइवर ने ठीक ही कहा है कि **"सामान्य इच्छा का प्रयोग मात्र शासन को स्वशासन में परिणत कर देता है।"**[1]

(2) सामान्य इच्छा का सिद्धान्त राष्ट्रवाद का प्रेरक सिद्धान्त भी है क्योंकि सामान्य इच्छा की धारणा में यह आशय मिलता है कि जिस जीवन में समता, समभाव, एकता, साहचर्य, समर्पण, आत्मीयता तथा सम्मान की भावना है, वही जीवन श्रेष्ठ है।

(3) सामान्य इच्छा की धारणा ने भावनावादी तथा रोमांचवादी आन्दोलन पर भी प्रभाव डाला तथा इसे फ्रांस की क्रान्ति का प्रेरक विचार कहा जा सकता है। जर्मन विद्वान शिलर प्रकृति तथा भावना के प्रतिपादक रूसो को नवयुवकों का पथ-प्रदर्शक मानता है और यह कहा जाता है की **रॉब्सपीयर** (Robespierre) के

---

1 **"....The exercise of the general will transforms mere government into self-government."**
—MacIver, *The Modern State*, p. 443.

नेतृत्व में तथा इसके परिणामस्वरूप फ्रांस तथा अन्य देशों में जो क्रान्तियां हुई हैं, उनका सन्देश रूसो की पुस्तक 'सामाजिक अनुवन्ध' में वर्णित सामान्य इच्छा के आदर्श में है।

(4) इस सिद्धान्त में व्यक्ति तथा समाज दोनों के हित को प्रधानता दी गयी है।

(5) यह सिद्धान्त व्यक्ति तथा समाज में शरीर तथा उसके अंगों के समान सम्बन्ध स्थापित करके सामाजिक स्वरूप को सुदृढ़ करता है।

(6) यह सिद्धान्त इस सत्य का प्रतिपादन करता है कि राज्य एक स्वाभाविक और अनिवार्य संस्था और राज्य की सामान्य इच्छा को क्रियात्मक रूप देने का साधन है। जी. डी. एच. कोल के शब्दों में, **"यह हमें सिखाता है कि राज्य मनुष्य की प्राकृतिक आवश्यकताओं और इच्छाओं पर ही आधारित है। राज्य के प्रति हमें इसलिए आज्ञाकारी होना चाहिए, क्योंकि यह हमारे व्यक्तित्व का ही प्राकृतिक विस्तृत रूप है।"**[1]

इसी प्रकार सामान्य इच्छा के विचार के महत्व के सम्बन्ध में डब्ल्यू. जोन्स ने लिखा है कि **"सामान्य इच्छा की कल्पना रूसो के राजनीतिक सिद्धान्त का एक केन्द्रीय विचार ही नहीं है, यह सिद्धान्त राजनीतिशास्त्र के लिए भी उसकी एक अत्यन्त मौलिक, अत्यन्त रुचिकर तथा ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण देन है।"**

हॉब्स, लॉक और रूसो की तुलना

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सामाजिक समझौता सिद्धान्त का प्रतिपादन प्रमुख रूप से हॉब्स, लॉक और रूसो द्वारा किया गया है। यद्यपि इन तीनों ही विचारकों के द्वारा राज्य को मानव-निर्मित एक कृत्रिम संस्था कहा गया है, लेकिन यह समझौता किस प्रकार सम्पन्न हुआ और समझौते के परिणामस्वरूप किस प्रकार के राज्य की स्थापना हुई, इस सम्बन्ध इन विचारकों में पर्याप्त मतभेद है। हॉब्स, लॉक और रूसो के विचारों की तुलना निम्नलिखित प्रकार से की जा सकती है :

(1) मानव स्वभाव—हॉब्स के अनुसार मानव असामाजिक, स्वार्थी, अहंकारी, असहयोगी, झगड़ालू और एक दूसरे का शत्रु होता है, परन्तु मृत्यु का भय और सुख प्राप्ति की आशा उसे एक राज्य के निर्माण की ओर प्रेरित करती है। लॉक ने हॉब्स के नितान्त विपरीत रूप में मानव स्वभाव का चित्रण किया है। लॉक के अनुसार मनुष्य स्वभावतः अच्छा और विवेकशील प्राणी है। उसने मनुष्य को सामाजिक, नैतिक, सहयोगी, दयावान और शान्तिप्रिय वताया है। रूसो के द्वारा किया गया मानव स्वभाव का चित्रण भी लॉक से मिलता-जुलता ही है। उसके अनुसार मनुष्य, मूलतः अच्छा, स्वतन्त्र, समान व आत्मनिर्भर होता है, लेकिन थोड़े समय बाद व्यक्तिगत सम्पत्ति और मेरे-तेरे की भावना उत्पन्न हो जाने के कारण मानव स्वभाव में, अनेक बुराइयों का प्रवेश हो जाता है।

प्राकृतिक अवस्था—हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक अवस्था का जीवन एकाकी, अपवित्र, पाशविक व क्षणिक है। यह अवस्था प्रत्येक व्यक्ति की प्रत्येक दूसरे व्यक्ति के साथ युद्ध की अवस्था है जिसमें किसी को भी झूठ-सच, पाप-पुण्य और न्याय-अन्याय का कोई ज्ञान और विचार नहीं है। इस अवस्था में शक्ति ही सत्य है और व्यक्ति का जीवन तथा सम्पत्ति सुरक्षित नहीं है। लॉक हॉब्स से नितान्त विपरीत प्राकृतिक अवस्था को शान्ति, सम्पन्नता, सहयोग, समानता और स्वतन्त्रता की अवस्था मानता है, जिसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक दूसरे व्यक्ति के साथ उसी प्रकार का आचरण करता है जिस प्रकार का आचरण वह अपने प्रति चाहता है। लॉक प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकारों की भी कल्पना करता है। रूसो भी लॉक से मिलती-जुलती ही प्राकृतिक अवस्था का चित्रण करता है, लेकिन रूसो की यह प्राकृतिक अवस्था थोड़े समय बाद दूषित होकर हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था जैसी ही हो जाती है।

(3) समझौते के कारण—हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक अवस्था असहनीय थी और इस प्रकार की अवस्था में अधिक समय तक नहीं रहा जा सकता था। मृत्यु के भय से मुक्ति पाने और जीवन एवं सम्पत्ति की रक्षा के लिए उन्हें एक शक्ति की आवश्यकता प्रतीत हुई और उन्होंने प्राकृतिक अवस्था को त्याग कर ऐसे शासक की सत्ता के अन्तर्गत रहना स्वीकार किया, जो कानून बनाये तथा शासन करे। लॉक के अनुसार, समझौता इसलिए किया गया, क्योंकि प्राकृतिक दशा असुविधाजनक थी। इसके अन्तर्गत सर्वसम्मत नियमां, नियमों की

1 "It teaches us that the State is natural in that it has its basis in the will and the natural need of man. The State exists and claims out obedience, because it is a natural extension of our personality." —G. D. H. Cole

व्यवस्था करने और इन नियमों को लागू करने वाली शक्ति का अभाव था। इस अभाव को दूर कर सुसंगठित समाज की स्थापना हेतु ही समझौता किया गया। रूसो के अनुसार सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ-साथ असमानता, अहंकार, स्वार्थ, युद्ध, हिंसा, द्वेष, भेदभाव की उत्पत्ति और मानवता का पतन हुआ। ऐसी स्थिति में जीवन और सम्पत्ति की रक्षा हेतु व स्वतन्त्रता, समानता और आदर्श जीवन की प्राप्ति हेतु राज्य की स्थापना की गयी।

(4) **समझौते का स्वरूप**—हॉब्स राज्य, समाज और सरकार में कोई भेद नहीं मानता है, इसलिए हॉब्स ने अपने सिद्धान्त में केवल एक ही समझौते का वर्णन किया है, जिसे सामाजिक समझौता कहा जा सकता है। इस समझौते के द्वारा सभी व्यक्ति अपनी प्राकृतिक अवस्था को त्याग कर एक शासन की सत्ता के अधीन रहना स्वीकार करते हैं। यह समझौता व्यक्तियों के मध्य ही होता है और शासक इस समझौते का कोई पक्ष नहीं है, इसे इसलिए राजनीतिक समझौता नहीं कहा जा सकता।

इसके विपरीत, लॉक के वर्णन के अनुसार दो प्रकार के समझौते होते हैं। प्रथम, व्यक्ति पारस्परिक समझौते के आधार पर समाज की स्थापना करते हैं, जिसे सामाजिक समझौता कहा जा सकता है। दूसरा, समझौता सामूहिक रूप से समाज और राज्य के बीच हुआ है, जिसके द्वारा शासक की शक्ति की मर्यादाएं निश्चित की गयी हैं। इस दूसरे समझौते को राजनीतिक कहा जा सकता है। इस प्रकार लॉक का समझौता एक ही साथ सामाजिक और राजनीतिक दोनों ही है।

रूसो के सिद्धान्त में मानव व्यक्तित्व के दो रूप माने गए हैं—एक व्यक्तिगत और दूसरा सामाजिक। रूसो के अनुसार, मनुष्य की व्यक्तिगत हैसियत और उसकी सामाजिक हैसियत के बीच समझौता होता है। व्यक्तिगत हैसियत में व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता और अधिकार का परित्याग करता है, दूसरी ओर समाज का एक अंग होने के कारण वह अपनी सामाजिक हैसियत से इस शक्ति, स्वतन्त्रता और अधिकार को फिर से प्राप्त कर लेता है। इस समझौते से प्रत्येक व्यक्ति को लाभ ही होता है। सामूहिक रूप से किया गया समझौता सामान्य इच्छा का रूप ले लेता है। इस प्रकार एक ही समझौता होता है जिससे राजनीतिक समाज की स्थापना होती है।

(5) **राजसत्ता का स्वरूप**—हॉब्स के सिद्धान्त के अन्तर्गत शासक समझौते का पक्ष नहीं है और समझौते के फलस्वरूप निरंकुश, स्वेच्छाचारी एवं सर्वोच्च प्रजा के सत्ताधारी राजा का प्रादुर्भाव होता है। राजा की शक्ति असीमित है और प्रजा के द्वारा किसी भी स्थिति में राजा के विरुद्ध विद्रोह नहीं किया जा सकता है हॉब्स का शासक किसी के भी प्रति उत्तरदायी नहीं है। हॉब्स के मत के नितान्त विपरीत लॉक यह कहता है कि राजसत्ता सीमित व वैधानिक होती है और यह जनता एवं शासक में विभाजित है। शासक भी समझौते का एक पक्ष होने के कारण इस समझौते से वाध्य है और जनता जनहित के विरुद्ध कार्य करने वाले शासक के विरुद्ध विद्रोह कर उसे पदच्युत कर सकती है। इस प्रकार लॉक का शासक स्वेच्छाचारी व निरंकुश नहीं है। रूसो के अनुसार, राजसत्ता किसी एक व्यक्ति अथवा वर्ग विशेष में निहित न होकर सम्पूर्ण समाज में निहित होती है, जिसे उसने सामान्य इच्छा का नाम दिया है। यह सामान्य इच्छा आवश्यक रूप से शुभ, नैतिक, न्यायिक और उचित है तथा इस सामान्य इच्छा की शक्ति पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं है। रूसो ने अपने सिद्धान्त के आधार पर लोकतन्त्र की स्थापना की है।

रूसो का प्रभुसत्ताधारी हॉब्स का शीशविहीन 'लेवायथन'

हॉब्स, लॉक और रूसो इन तीनों समझौतावादियों की विचारधारा के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट है कि हॉब्स और लॉक का समझौता सिद्धान्त एक-दूसरे के नितान्त विपरीत है तथा रूसो ने अपने समझौता सिद्धान्त में हॉब्स और लॉक के विचारों का समन्वय करने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार रूसो के विचार कहीं हॉब्स से मिलते-जुलते हैं और कहीं लॉक से।

हॉब्स तथा रूसो के प्रभुसत्ता सम्बन्धी विचार बहुत कुछ सीमा तक एक-से हैं। सामान्य इच्छा के जो लक्षण रूसो ने वताये हैं वे लगभग वैसे ही हैं जिनका वर्णन हॉब्स ने अपने सम्प्रभु में किया है। अन्तर केवल यह है कि हॉब्स का सम्प्रभु एक मानव देव है और रूसो सम्प्रभुता का निवास सामान्य इच्छा से मानता है।

इसलिए वाहन (Vaughan) का कथन ठीक है कि **"यदि हॉब्स के मानव देव (लेवायथन) का शीश काट दिया जाए तो वह रूसो की सामान्य इच्छा होगी।"**[1]

हॉब्स तथा रूसो के प्रभुसत्ताधारी की प्रमुख समानताएं इस प्रकार हैं :

(1) हॉब्स के मानव देव की अविभाज्यता सम्बन्धी गुण रूसो की सामान्य इच्छा में भी पाया जाता है।

(2) हॉब्स की प्रभुसत्ता की भांति रूसो भी अपनी सामान्य इच्छा को अहस्तान्तरणीय मानता है, जिसके हस्तान्तरण का अर्थ है प्रभुसत्ता का लोप।

(3) हॉब्स की भांति रूसो भी सम्प्रभुता को स्थायी मानता है।

(4) रूसो के सामान्य इच्छा सम्बन्धी विश्लेषण में हॉब्स के सम्प्रभु की एक और विशेषता पायी जाती है और वह है एकता।

(5) रूसो भी हॉब्स की भांति एक ही समझौते की चर्चा करता है जिसके फलस्वरूप राज्य तथा समाज दोनों की उत्पत्ति होती है, वह लॉक की भांति दो समझौतों की चर्चा नहीं करता।

(6) हॉब्स की भांति रूसो की सामान्य इच्छा को 'न्यायिक इच्छा' कहता है और इस बात का प्रतिपादन करता है कि सम्प्रभु सदैव ही न्यायप्रिय होता है।

(7) इन सबके अतिरिक्त हॉब्स और रूसो के बीच सबसे बड़ी समानता यह है कि रूसो के सामाजिक समझौते में भी हॉब्स के समान व्यक्ति अपनी समस्त शक्तियों का निर्माण कर देता है और समझौते के परिणामस्वरूप उत्पन्न रूसो की सामान्य इच्छा भी उतनी ही निरंकुश है जितना कि हॉब्स का 'लेवायथन', रूसो भी इस बात का प्रतिपादन करता है कि राज्य का व्यक्तियों के पूर्व जीवन पर अधिकार होता है और व्यक्ति का मूल कर्तव्य राज्य की आज्ञाओं का पालन करना है।

एक दृष्टि से तो रूसो का सम्प्रभु हॉब्स से भी अधिक निरंकुश है। हॉब्स राज्य को असीमित शक्ति प्रदान करते हुए भी व्यक्ति को आत्म सुरक्षा के अधिकार के हित में राज्य का विरोध करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ देता है, लेकिन रूसो किसी भी स्थिति में व्यक्ति को राज्य का विरोध करने का अधिकार प्रदान नहीं करता। उसकी दृष्टि में सामान्य इच्छा व्यक्तियों की आदर्श इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है और इसलिए वह किसी भी स्थिति में गलत नहीं हो सकती। स्वयं रूसो की भाषा में, **"जिस प्रकार प्रकृति ने मनुष्य को उनके शरीर के विभिन्न अवयवों पर पूर्ण नियन्त्रण का अधिकार प्रदान किया है, ठीक उसी प्रकार सामाजिक समझौते ने राजनीतिक सावयव (सामान्य इच्छा) को उसके शरीर के विभिन्न अवयवों (व्यक्ति) के ऊपर पूर्ण निरंकुश अधिकार प्रदान किए हैं।"**

हॉब्स और रूसो में भेद—हॉब्स की विचारधारा में उपर्युक्त समानता होते हुए भी इन दोनों विचारकों की असमानताएं अधिक महत्वपूर्ण हैं। **प्रथमतः**, हॉब्स के अनुसार व्यक्ति अपनी शक्तियों का समर्पण एक व्यक्ति विशेष या समूह के प्रति करता है, जो कि संविदा का कोई पक्ष नहीं वरन् उससे बाहर है, किन्तु रूसो के अनुसार व्यक्ति अपनी शक्तियां किसी व्यक्ति समूह को नहीं वरन् सम्पूर्ण समाज को समर्पित करता है। रूसो का कहना है कि क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको समष्टि के प्रति समर्पित करता है, किसी व्यक्ति विशेष के प्रति नहीं, अतः जो कुछ वह देता है वह उसे सम्प्रभुतासम्पन्न समाज का सदस्य होने के नाते पुनः प्राप्त हो जाता है और इस प्रकार राज्य में भी वह उतना स्वतन्त्र रहता है जितना कि पहले था। रूसो के राजनीतिक समाज की स्थापना से व्यक्ति की स्वतन्त्रता में कोई कमी नहीं होती, लेकिन हॉब्स के समझौते में शक्तियों का निर्माण एक बाहरी सत्ता के प्रति होने के कारण हॉब्स रूसो के समान यह दावा नहीं कर सकता कि समझौते के उपरान्त भी व्यक्ति उतना ही स्वतन्त्र है, जितना कि पहले था। इस प्रकार रूसो का सम्प्रभु एक सम्पूर्ण समाज है जबकि हॉब्स का केवल एक व्यक्ति।

द्वितीयतः, इन दोनों में यह भी महत्वपूर्ण अन्तर है कि हॉब्स के सम्प्रभु का विधायी तथा कार्यपालिका दोनों शक्तियों पर अधिकार है और इसलिए यह निरंकुश है और प्रजानन दास, किन्तु रूसो का सम्प्रभु-समाज केवल विधायी शक्तियों का प्रयोग करता है, कार्यपालिका शक्तियां वह सरकार को सौंप देता है जो कि उसका अभिकर्ता अथवा सेवक है। रूसो में सम्प्रभुतासम्पन्न राज्य तथा सरकार में भेद है, जबकि हॉब्स में दोनों तद्रूप हैं। इस प्रकार हॉब्स और रूसो दोनों की संविदा के अन्तर्गत यद्यपि व्यक्ति सम्पूर्ण शक्तियों का समर्पण करते

1 **"Hobbe's Leviathan is Rousseau's General Will, with his head chopped off."** —*Vaughan*

हैं, लेकिन अन्तर यह है कि रूसो इस समर्पण के बाद भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखता है, हॉब्स की संविदा के अन्तर्गत व्यक्तियों की स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। इसी दृष्टि से रूसो के सिद्धान्त के सम्बन्ध में कहा गया है कि **"रूसो का प्रभुसत्ताधारी हॉब्स का लेवायथन है जिसका मस्तक काट दिया गया है।"**

जहां तक लॉक और रूसो का सम्बन्ध है, लॉक के अनुसार यह समर्पण केवल आंशिक होता है, केवल प्राकृतिक कानून की व्याख्या करने तथा उसे लागू करने का अधिकार ही समाज को समर्पित किया जाता है, अन्य समस्त प्राकृतिक अधिकार व्यक्ति के पास ही बने रहते हैं। रूसो की तरह लॉक के समझौते में अधिकारों का पूर्ण समर्पण नहीं होता।

लॉक और रूसो में एक अन्तर यह है कि रूसो सम्प्रभुतासम्पन्न जनता को अपनी विधायी शक्तियां जनता के प्रतिनिधियों की किसी सभा के पक्ष में हस्तान्तरित करने का निषेध करता है, लॉक के विचार में विधायी शक्तियों का प्रयोग सामान्यतया जनता के प्रतिनिधियों द्वारा ही होना चाहिए। इस प्रकार जबकि रूसो प्रत्यक्ष जनतन्त्र का समर्थन करते हुए संसदात्मक संस्थाओं का बहिष्कार करता है, लॉक संसदात्मक संस्थाओं का प्रबल समर्थक है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रूसो अपने संविदा सिद्धान्त के अन्तर्गत कुछ बातें हॉब्स और कुछ बातें लॉक से ग्रहण कर एक नवीन सम्पूर्ण तैयार करता है। हॉब्स से उसने प्रभुसत्ता की निरंकुशता का विचार ग्रहण किया है और लॉक से यह विचार लिया है कि एक अच्छे शासन का मापदण्ड यही है कि उसने प्रजा के सुख के लिए क्या कुछ किया है। उसने इन दोनों गुणों को अपनी सामान्य इच्छा में स्थान दिया है। इस सम्बन्ध में गिलक्राइस्ट ने लिखा है कि **"जैसे हॉब्स का सिद्धान्त प्रभुसत्ता की निरंकुशता और लॉक का सिद्धान्त सार्वजनिक शासन का समर्थन करता है ठीक उसी प्रकार रूसो का सिद्धान्त लोकप्रिय सम्प्रभुता का समर्थन करता है।"**[1]

सामाजिक समझौता सिद्धान्त की आलोचना

17वीं और 18वीं सदी में समझौता सिद्धान्त अत्यन्त लोकप्रिय रहा। **हूकर, मिल्टन, ग्रोशियस, वुल्फ, काण्ट, ब्लैकस्टोन, स्पिनोजा,** आदि अनेक विचारकों ने इस सिद्धान्त का समर्थन किया, परन्तु 18वीं सदी के अन्त और 19वीं सदी के राजनीतिक विचारकों ने इस सिद्धान्त की कड़ी आलोचना प्रस्तुत की। अंग्रेज दार्शनिक ह्यूम ने घोषित किया कि, **"शासक और शासितों के सम्बन्धों के आधार के रूप में समझौता असंगत है तथा इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता है।"** सर हेनरी मेन ने कहा है कि **"समाज तथा सरकार की उत्पत्ति के इस वर्णन से बढ़कर व्यर्थ की वस्तु और क्या हो सकती है?"** ब्लंटशली ने इस सिद्धान्त को **'अत्यधिक भयंकर'**, ग्रीन ने **'कपोल कल्पना'** और वूल्जे ने **'सरासर झूठा'** बतलाया। **बेंथम, सर फ्रेडरिक पोलक, वाहन, एडमण्ड बर्क,** आदि विद्वानों के द्वारा भी इस सिद्धान्त की कटु आलोचना की गयी है। वाहन के अनुसार, **"सामाजिक समझौता सिद्धान्त न तो इतिहास को समझने का ही उचित साधन है और न ही किसी ठोस राजनीतिक दर्शन का उदाहरण है।"**[2] इस सिद्धान्त की आलोचना ऐतिहासिक, दार्शनिक, तार्किक और वैज्ञानिक आधारों पर की जाती है।

ऐतिहासिक आधार

(1) समझौता अनैतिहासिक—ऐतिहासिक दृष्टि से सामाजिक समझौता सिद्धान्त एक गल्प मात्र है क्योंकि इतिहास में इस बात का कहीं भी उदाहरण नहीं मिलता कि आदिम मनुष्यों ने पारस्परिक समझौते के आधार पर राज्य की स्थापना की हो। संविदा सिद्धान्त के समर्थक अपने पक्ष में 11 नवम्बर, 1620 के **'मेफ्लावर पैक्ट'** (Mayflower Pact) का उदाहरण देते हैं जिसमें 'मेफ्लावर' नामक जहाज पर बैठे हुए इंगलैण्ड से अमरीका जाने वाले अंग्रेजों ने अनुबन्ध किया था कि, "हम लोग शान्ति और सुख का जीवन व्यतीत करने के उद्देश्य से एक राजनीतिक समाज की रचना करेंगे।" किन्तु इस उदाहरण से समझौता सिद्धान्त की पुष्टि नहीं होती क्योंकि समझौता सिद्धान्त में वर्णित प्राकृतिक अवस्था के लोगों और 'मेफ्लावर पैक्ट' से सम्बन्धित लोगों की राजनीतिक चेतना में बहुत अधिक अन्तर है। मेफ्लावर पैक्ट से सम्बन्धित लोग प्राकृतिक अवस्था में नहीं रह रहे थे, वरन् उन्हें राजनीतिक संगठन और राजनीतिक संस्थाओं का पूर्ण ज्ञान था और उन्होंने एक

1 "Just as Hobbes' theory support absolution and Locke upholds constitutional government, Rouseau's theory supports popular sovereignty." Gilchrist, *Principles of Political Science*, p. 63.

2 "The contract theory gives neither a satisfactory clue to history, nor a sound political philosophy." —*Vaughan*

राज्य में प्राप्त अनुभव के आधार पर ही दूसरे क्षेत्र में राजनीतिक संस्थाएं स्थापित की थीं। इस सम्बन्ध में डॉ. गार्नर ठीक ही लिखते हैं कि **"इतिहास में कोई ऐसा प्रामाणिक उदाहरण नहीं मिलता जिसके अनुसार ऐसे व्यक्तियों द्वारा, जिन्हें पहले से राज्य का पता नहीं था, आपसी समझौते से राज्य की स्थापना की गयी हो।"** गिलक्राइस्ट भी इसी दृष्टिकोण को मानते हैं।

(2) प्राकृतिक अवस्था की धारणा गलत—सामाजिक समझौता सिद्धान्त मानवीय इतिहास को प्राकृतिक अवस्था और सामाजिक अवस्था इस प्रकार के दो कालों में बांट देता है और एक ऐसी अवस्था की कल्पना करता है जिसके अन्तर्गत किसी भी प्रकार का समाज और राज्य नहीं था, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह काल विभाजन नितान्त असत्य है। इतिहास में कहीं पर भी हमें ऐसी अवस्था का प्रमाण नहीं मिलता, जब मानव संगठनविहीन अवस्था में रहता हो।

(3) राज्य विकास का परिणाम है, निर्माण का नहीं—इतिहास के अनुसार राज्य और इस प्रकार की अन्य मानवीय संस्थाओं का विकास हुआ है, निर्माण नहीं। स्वभाव से ही सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य आरम्भ में परिवारों में, फिर कुलों, फिर कबीलों और फिर जनपदों अथवा राज्यों में संगठित हुआ। ला फर (La Fur) ने कहा है कि **"परिवार की भांति ही राज्य समाज के लिए आवश्यक है और वह समझौते का नहीं, वरन् वस्तुस्थिति के प्रभाव का परिणाम है।"** अतः समझौता सिद्धान्त की इस बात को स्वीकार नहीं किया जा सकता कि राज्य का किसी एक विशेष समय पर निर्माण किया गया है।

दार्शनिक आधार

ऐतिहासिक आधार पर समझौता सिद्धान्त की जो आलोचनाएं की गयीं उन्हें दृष्टि में रखते हुए काण्ट, आदि अनेक विचारकों द्वारा इस बात का प्रतिपादन किया गया कि चाहे ऐतिहासिक दृष्टि से कोई समझौता न हुआ हो, लेकिन दार्शनिक दृष्टिकोण से समझौता सिद्धान्त के औचित्य पर सन्देह नहीं किया जा सकता है। उनके मतानुसार, इस सिद्धांत के आधार पर राज्य के स्वरूप एवं व्यक्ति और राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों को उचित रूप से समझा जा सकता है, लेकिन दार्शनिक आधार से भी इस सिद्धान्त पर अनेक आपत्तियां की जा सकती हैं जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं :

(1) राज्य की सदस्यता ऐच्छिक नहीं—इस सिद्धान्त के अन्तर्गत राज्य को एक ऐसे संगठन के रूप में चित्रित किया गया है जिसकी सदस्यता ऐच्छिक हो, किन्तु राज्य की सदस्यता ऐच्छिक नहीं वरन् अनिवार्य होती है और व्यक्ति उसी प्रकार राज्य के सदस्य होते हैं जिस प्रकार परिवार के। यदि राज्य एक क्लब या व्यापारिक संस्था की तरह स्वेच्छा से बनाया गया संगठन होता तो व्यक्ति को यह स्वतन्त्रता होती कि वह जब चाहे तब उसमें शामिल हो जाए और जब चाहे तब उससे अलग हो जाए। बर्क के प्रभावपूर्ण शब्दों में, **"राज्यों को काली मिर्च, कहवा, वस्त्र या तम्बाकू अथवा ऐसी ही अन्य सामान्य व्यापार की साझेदारी समझौते के समान नहीं समझा जाना चाहिए, जिसे अस्थायी स्वार्थ के लिए कर लिया गया हो और समझौते के पक्ष इच्छानुसार भंग कर सकते हों। इसे सम्मान की दृष्टि से देखा जाना चाहिए। यह तो समस्त विज्ञान, समस्त कला, समस्त गुणों और समस्त पूर्णता के बीच एक साझेदारी है।"** क्योंकि इस सिद्धान्त के अन्तर्गत राज्य को साधारण साझेदारी पर आधारित ऐच्छिक समुदाय के रूप में चित्रित किया गया है, अतः इस सिद्धान्त द्वारा किया गया राज्य के स्वरूप का प्रतिपादन नितान्त त्रुटिपूर्ण है।

(2) राज्य और व्यक्ति के सम्बन्धों की अनुचित व्याख्या—जिस प्रकार सन्तान और माता-पिता के बीच सम्बन्ध पाये जाते हैं, उनकी व्याख्या किसी समझौते के आधार पर नहीं की जा सकती, उसी प्रकार व्यक्ति और राज्य के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों की व्याख्या भी किसी समझौते के आधार पर नहीं की जा सकती है। वस्तुतः व्यक्ति और राज्य के बीच पारस्परिक सम्बन्ध समझौते पर नहीं वरन् मानवीय स्वभाव पर ही आधारित हैं। आलोचक वॉन हालर (Van Haller) ने इस सम्बन्ध में ठीक ही लिखा है कि **"यह कहना कि व्यक्ति और राज्य में समझौता हुआ उतना ही युक्तिसंगत है जितना यह कहना कि व्यक्ति और सूर्य में इस प्रकार का समझौता हुआ कि सूर्य व्यक्ति को गर्मी दिया करे।"**

(3) राज्य कृत्रिम संस्था नहीं है—इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य मनुष्य की कृति है, लेकिन वस्तुतः राज्य एक कृत्रिम संस्था नहीं वरन् मानवीय स्वभाव पर आधारित प्राकृतिक संस्था है। राज्य मनुष्यों की स्वाभाविक सामाजिक प्रवृत्ति का ही परिणाम है। मालबर्ग (Malburgh) का कथन है कि **"राज्य व्यक्तियों के**

बीच स्वेच्छा से किए हुए समझौते से नहीं बना है। मनुष्यों को उन सामाजिक आवश्यकताओं से वाध्य होकर राज्य में रहना पड़ा जिनसे वह बच नहीं सकता था।"

(4) **विद्रोह का पोषक**—समझौता सिद्धान्त राज्य को व्यक्तिगत सनक का परिणाम बताकर विद्रोह, क्रान्ति एवं अराजकता को प्रोत्साहित करता है और नागरिकों के व्यवस्थित जीवन के अन्त का कारण बन जाता है। ब्लंटशली के अनुसार, **"सामाजिक समझौता सिद्धान्त अत्यन्त भयानक है क्योंकि यह राज्य और अन्य संस्थाओं को व्यक्तिगत सनक का परिणाम बताता है।"**[1] लाइबर (Liber) ने भी लिखा है कि **"इस सिद्धान्त को अपनाने से अराजकता फैलने का डर है।"**

(5) **प्राकृतिक अवस्था में अधिकारों का अस्तित्व सम्भव नहीं**—इस सिद्धान्त के समर्थकों का और प्रमुख रूप से लॉक का विचार है कि व्यक्ति प्राकृतिक अवस्था में प्राकृतिक अधिकारों का उपभोग करते थे, परन्तु प्राकृतिक अधिकारों और प्राकृतिक स्वतन्त्रता की धारणा नितान्त भ्रमपूर्ण है। अधिकारों का उदय समाज में ही होता है और एक राज्य के अन्तर्गत रहकर ही अधिकारों का उपभोग किया जा सकता है। ग्रीन ने ठीक ही कहा है कि **"प्राकृतिक अवस्था में, जो कि एक असामाजिक स्थिति होती है, अधिकारों की कल्पना स्वयं ही एक विरोधाभास है।"** आगे चलकर उसने लिखा है, **"समझौता सिद्धान्त का वास्तविक दोष यह नहीं है कि वह अनैतिहासिक है वरन् यह है कि इसके अनुसार अधिकारों और कर्तव्यों का समाज से पृथक् भी अस्तित्व सम्भव है।"**[2]

अतार्किक—सामाजिक समझौता न केवल इतिहास और दर्शन वरन् तर्क की दृष्टि से भी नितान्त असंगत है। यह वात समझ में नहीं आती कि प्राकृतिक अवस्था में रहने वाले व्यक्तियों में, जो कि राज्य संस्था से नितान्त अपिरिचित थे, एकाएक ही राजनीतिक चेतना का उदय कैसे हो गया? हमारा व्यावहारिक अनुभव हमें यह बताता है कि राजनीतिक चेतना सामाजिक जीवन में ही उत्पन्न होती है, प्राकृतिक अवस्था में नहीं, प्राकृतिक अवस्था में रहने वाले व्यक्तियों की स्थिति में इतने शीघ्रगामी एवं आश्चर्यजनक परिवर्तन की व्याख्या तर्क के आधार पर सम्भव नहीं है। कहावत है कि **"एक रात में चीता अपना रंग नहीं बदल सकता।"**[3]

वैधानिक आधार

सामाजिक समझौता सिद्धान्त वैधानिक आधार पर भी खरा नहीं उतरता और इस पर निम्न आक्षेप किए जाते हैं :

(1) **प्राकृतिक अवस्था में समझौता सम्भव नहीं**—यदि तर्क के लिए यह मान लिया जाए कि आदिम मनुष्य अननी सामाजिक चेतना में इतना आगे बढ़ चुका था कि वह समझौता कर सके, तो प्राकृतिक अवस्था में किए गये किसी भी समझौते का वैधानिक दृष्टि से कोई महत्व नहीं है क्योंकि किसी समझौते को वैध रूप प्राप्त होने के लिए यह आवश्यक है कि उसके पीछ राज्य की स्वीकृति का बल हो, लेकिन प्राकृतिक अवस्था में राज्य का अस्तित्व न होने के कारण सामाजिक समझौते के पीछे इस प्रकार की कोई शक्ति नहीं थी। ग्रीन के शब्दों में, **"समझौता सिद्धान्त में चित्रित प्राकृतिक स्थिति के अन्तर्गत कानूनी दृष्टि से कोई समझौता नहीं किया जा सकता है।"** क्योंकि समझौता वैध नहीं है, अतः उससे प्राप्त सब अधिकार भी मिथ्या हो जाते हैं।

(2) **समझौता वर्तमान समय में मान्य नहीं**—कोई भी समझौता जिन निश्चित लोगों के मध्य होता है उन्हीं पर लागू होता है। अतः किसी अज्ञात समय में अज्ञात व्यक्तियों द्वारा किया गया समझौता उसके बाद समय और वर्तमान लोगों पर लागू हो, यह कानूनी दृष्टि से अमान्य है। बेन्थम के अनुसार, **"मेरे लिए आज्ञा पालन जरूरी है, इसलिए नहीं कि मेरे प्रपितामह ने तृतीय ज़ार्ज के प्रपितामह से कोई समझौता किया था, वरन् इसलिए कि विद्रोह से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती है।"** इसी प्रकार का तर्क अपनाते हुए डॉ. आशीर्वादम ने कहा कि **"यदि पूर्वजों ने खट्टे अंगूर खाये, तो उनके बच्चों के दांत क्यों उत्तरें।"**

समझौता सिद्धान्त का महत्व

यद्यपि सामाजिक समझौता सिद्धान्त की इतनी अधिक आलोचनाएं की गयी हैं और आज यह सिद्धान्त अस्वीकृत हो गया है, किन्तु राजनीतिक विचारों के इतिहास में यह सिद्धान्त पर्याप्त महत्वपूर्ण है।

1 "The Social Contract Theory is highly dangerous, since it makes the State and its institutions as product of individual caprice." —Bluntschlli, *Theory of the State*, p. 295.

2 "The real flow in the Theory of Contract is not that it is unhistorical but that it implies the possibility of rights and obligations independently of soicety." —*Green*

3 A leopard cannot change his colour overnight."

सर्वप्रथम, इस सिद्धान्त के द्वारा राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त का खण्डन किया गया, जिसके अन्तर्गत राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता था। मैकाइवर ने लिखा है कि **"ऐतिहासिक दृष्टि से इस सिद्धान्त ने राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उन असंख्य तर्कों को समाप्त कर दिया, जो धार्मिक ग्रन्थों की त्रुटिपूर्ण व्याख्याओं पर आधारित थे और राज्य को दुबारा एक सच्चे आधार पर आश्रित कर दिया अर्थात् इसने लोगों की इच्छा और सामान्य उद्देश्य को राज्य का आधार बनाया।"**

द्वितीयतः, इस सिद्धान्त के द्वारा इस सत्य का प्रतिपादन किया गया कि शक्ति अथवा शासक की व्यक्तिगत इच्छा नहीं, वरन् जनसहमति ही राज्य का आधार है। यह सिद्धान्त इस मौलिक तथ्य का समर्थक है कि राजा अपनी शक्ति प्रजा से प्राप्त करता है और राजा को मनमानी करने का अधिकार नहीं हो सकता।

तृतीयतः, सामाजिक समझौते के सिद्धान्त द्वारा प्रभुत्व सम्बन्धी विचारधारा में भी महत्वपूर्ण योग प्रदान किया गया है। हॉब्स के विचारों के आधार पर आस्टिन ने वैधानिक सम्प्रभुता के विचार का प्रतिपादन किया, लॉक ने राजनीतिक प्रभुत्व के सिद्धान्त को प्रेरणा प्रदान की और रूसो के सामान्य इच्छा सम्बन्धी विचारों से **लोकप्रिय सम्प्रभुता (Popular Sovereignty)** सम्बन्धी धारणा को अपूर्व वल मिला। इस प्रकार समझौता सिद्धान्त ने राजनीतिक विचारधारा के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया है और लॉक तथा रूसो की विचारधारा ने कुछ देशों के राजनीतिक घटनाचक्र पर भी व्यापक प्रभाव डाला है।

ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त

अब तक राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया, उनमें दैवी सिद्धान्त, शक्ति सिद्धान्त, सामाजिक समझौता सिद्धान्त, पैतृक सिद्धान्त और मातृक सिद्धान्त प्रमुख हैं, लेकिन राज्य की उत्पत्ति की व्याख्या के रूप में इनमें से किसी भी सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया जा सकता। दैवी सिद्धान्त, शक्ति सिद्धान्त और समझौता सिद्धान्त में एक बात समान रूप से पायी जाती है कि राज्य का एक विशेष समय पर निर्माण किया गया है, किन्तु वास्तव में राज्य का निर्माण नहीं किया गया, यह तो निरन्तर विकास का परिणाम है। इसके साथ ही पैतृक और मातृक सिद्धान्त की इस बात को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता कि राज्य परिवार का विस्तार मात्र है क्योंकि परिवार और राज्य की प्रकृति में कुछ आधारभूत भेद हैं। डॉक्टर गार्नर ने सत्य ही कहा है कि **"राज्य न तो ईश्वर की सृष्टि है, न वह उच्चकोटि के शारीरिक बल का परिणाम है, न किसी प्रस्ताव या समझौते की कृति है और न परिवार का ही विस्तृत रूप है। यह तो क्रमिक विकास से उदित एक ऐतिहासिक संस्था है।"**[1]

राज्य विकास का परिणाम है और राज्य की उत्पत्ति की सही व्याख्या ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त द्वारा ही की गयी है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य का विकास एक लम्बे समय से चला आ रहा है और आदिकालीन समाज से क्रमिक विकास करते-करते इसने वर्तमान राष्ट्रीय राज्य के स्वरूप को प्राप्त किया है। बर्गेस ने उचित ही कहा है कि **"राज्य मानव समाज का निरन्तर विकास है जिसका प्रारम्भ अत्यन्त अधूरे और विकृत, किन्तु उन्नतिशील रूपों में अभिव्यक्त होकर मनुष्यों के एक समग्र एवं सार्वभौम संगठन की ओर विकास हुआ है।"** जिस प्रकार भाषा प्राणियों की अर्थहीन बड़बड़ाहट से निकली है, ठीक इसी प्रकार राज्य की उत्पत्ति बहुत प्राचीन और इतिहास से परे असभ्य समाज से हुई है।

यह बताना कि कब और किस प्रकार राज्य अस्तित्व में आया, अत्यधिक कठिन है। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध समाजशास्त्री समनर तथा केलर (Summner and Keller) ने अपनी पुस्तक '*The Science of Society*' में कहा है कि **"यह कहना कि राज्य किस समय सबसे पहले दिखायी दिया, उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार यह कहना कि कब नैतिक नियम कानून बने या बच्चा कब युवक हुआ या युवक कब एक प्रौढ़ बना।"** अन्य सामाजिक संस्थाओं के समान ही विभिन्न परिस्थितियों की सहायता पाकर और अनेक तथ्यों से प्रभावित होकर यह आविर्भूत हुआ। राज्य के विकास का क्रम भी एक-सा नहीं रहा है। प्रकृति, परिस्थिति और स्वभाव के भेदों के कारण विभिन्न समयों, अवस्थाओं और स्थानों में राज्य के विकास का क्रम भी विभिन्न रहा है। भाषा और राजनीतिक चेतना के समान ही राज्य का विकास भी धीरे-धीरे हुआ है। इस विकास-क्रम के

1 **"The State is neither the handwork of God, nor the result of superior physical force, nor the creation of resolution or convention, or a mere expansion of the family. The State is not merely an artificial mechanical creation but an institution or natural growth of historical evolution."**
—Garner, *Introduction to Political Science*, p. 87.

अन्तर्गत समय-समय पर राज्य के विकास को विभिन्न तत्वों द्वारा प्रभावित किया गया है। फिर भी उन प्रमुख प्रभावों को जिनसे राज्य के विकास में सहायता मिली, प्रकट करना असम्भव है। राज्य के विकास में सहायक प्रमुख तत्व इस प्रकार हैं : (1) मूल सामाजिक प्रवृत्ति, (2) रक्त सम्बन्ध, (3) धर्म, (4) शक्ति, (5) आर्थिक गतिविधियां और (6) राजनीतिक चेतना।

(1) मूल सामाजिक प्रवृत्ति (Natural Social Instinct)—राज्य के विकास में सम्भवतः सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व मनुष्यों की मूल सामाजिक प्रवृत्ति है। अरस्तू ने मानवीय प्रकृति का चित्रण करते हुए कहा है कि **"यदि कोई मनुष्य ऐसा है जो समाज में न रह सकता हो अथवा जिसे समाज की आवश्यकता ही न हो क्योंकि वह अपने आप में पूर्ण है तो उसे मानव समाज का सदस्य मत समझो वह जंगली जानवर या देवता ही हो सकता है।"** सामाजिक प्रकृति वाले ये मनुष्य जब साथ-साथ रहे तो सामाजिक और राजनीतिक जीवन की अनेक पेचीदगियाँ सामने आयीं और इन समस्याओं के सहज स्वाभाविक हल के रूप में स्वतः ही राज्य का उदय हो गया। प्रारम्भ में मानव जीवन नितान्त सरल होने के कारण राज्य का स्वरूप भी सरल था। जैसे-जैसे मानव जीवन जटिल होता गया वैसे-वैसे राज्य के जीवन में भी व्यापकता और जटिलता ने प्रवेश किया।

(2) रक्त-सम्बन्ध (Kinship)—यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि सामाजिक संगठन का प्राचीनतम रूप रक्त सम्बन्ध पर आधारित था और रक्त सम्बन्ध एकता का प्रथम और दृढ़तम बन्धन रहा है। आंग्ल कहावत **'खून पानी से गाढ़ा होता है'** (Blood is thicker than water) इसी तथ्य पर आधारित है। प्रारम्भिक समय में जो बात उन्हें पास लाती थी और एक दल के रूप में संगठित होने के लिए प्रेरित करती थी, वह सामान्य उत्पत्ति में विश्वास ही था और परिवार प्राचीनतम तथा निकटतम रक्त सम्बन्ध की इकाई था। यद्यपि यह प्रश्न विवादास्पद है कि कबीला, कुल या परिवार में पहले कौन अस्तित्व में आया, लेकिन इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि परिवार के स्पष्ट व्यक्ति नियन्त्रण के आधार पर ही राज्य की स्थापना हुई होगी। इस सम्बन्ध में सर हेनरी मेन ने लिखा है कि **"समाज के प्राचीनतम इतिहास की आधुनिकतम गवेषणाएं इस निष्कर्ष की ओर इंगित करती हैं कि समूहों को एकता के सूत्र में बांधने वाला प्रारम्भिक बन्धन रक्त सम्बन्ध ही था।"**[1]

आगे चलकर जब जनसंख्या की वृद्धि के कारण कुटुम्ब का आकार बढ़ा तथा जाति और कुल बने तब समाज का जन्म हुआ। इस सम्बन्ध में मैकाइवर का कथन है कि **"रक्त सम्बन्ध समाज को जन्म देता है और कालान्तर में समाज राज्य को।"**[2] यह कहना बहुत कठिन है कि परिवार ने किस प्रकार राज्य को जन्म दिया। प्राचीनकाल में सम्भवतया रक्त सम्बन्ध माता से जाना जाता था और बहुपति प्रथा व अस्थायी वैवाहिक सम्बन्ध प्रचलित थे, किन्तु कालान्तर में कृषि के आविष्कार के कारण व्यक्तियों ने एक विशेष स्थान पर स्थायी रूप से रहना प्रारम्भ किया। कृषि कार्य में स्थायी रूप से पारस्परिक सहयोग की आवश्यकता के कारण विवाह पद्धति का प्रचलन हुआ और धीरे-धीरे पुरुषों की प्रधानता बढ़ने लगी। इस प्रकार पहले कुटुम्ब, फिर कुल, फिर समाज तथा बाद में राज्य अस्तित्व में आया। परिवार के पिता का अधिकार परिवार के सदस्यों पर पूर्णतया अक्षुण्ण था। परिवार के कुलपति ने, जो बाद में कबीले का सरदार बना, अपने में धार्मिक, प्रशासनिक, नैतिक और न्यायिक अधिकारों को शामिल कर लिया। आगे चलकर कुटुम्ब, कुल या कबीले के प्रधान तत्व ने सामन्तशाही का रूप ले लिया और फिर आधुनिक समाज अस्तित्व में आया।

(3) धर्म (Religion)—रक्त सम्बन्ध की भांति ही धर्म का भी राज्य की स्थापना में महत्वपूर्ण योग रहा है। राज्य के विकास कार्य में रक्त सम्बन्ध और धर्म परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित रहे हैं। वस्तुतः प्रारम्भिक समाज में रक्त सम्बन्ध और धर्म एक ही वस्तु के दो पहलू थे और दोनों परिवार तथा कबीलों को परस्पर जोड़ने का कार्य साथ-साथ ही करते थे। विल्सन के अनुसार, प्रारम्भिक समाज में **"धर्म समान रक्त का प्रतीक, उसकी एकता, पवित्रता और दायित्व की अभिव्यक्ति था।"**[3] गेटल ने तो यहां तक लिखा है कि **"रक्त सम्बन्ध और धर्म एक ही वस्तु के दो रूप थे और समूह की एकता व उनके कर्तव्यों को धार्मिक मान्यता प्राप्त थी।"**[4]

---

1 "The most recent researches into the primitive history of society point to the conclusion that the earliest tie which knitted man together in communities was kinship."
—Maine, *The History of Institution*, pp. 64-65.

2 "Kinship creates society and society at length creates the state."
—MacIver, *The Modern State*, p. 33.

3 "Religion was the sign and seal of common blood, the expression of the oneness its sanctity, its obligations."
—*Wilson*

4 "Kinship and religion were therefore, two aspects of the same thing and the unity and obligations of the group were given religious sanction."
—Gettell, *Political Science*, p. 64.

धर्म का प्रारम्भिक रूप रक्त सम्बन्ध पर ही आधारित था। व्यक्ति अपने परिवार के वृद्ध व्यक्तियों के मृत हो जाने पर भी उनके प्रति बहुत अधिक श्रद्धा रखते थे और उनका विचार था कि शरीर के नष्ट हो जाने पर भी आत्मा शेष रहती है। अतः इस आत्मा को प्रसन्न करने के लिए उन्होंने पितृ-पूजा प्रारम्भ कर दी। इस प्रकार धर्म ने कुटुम्बों को एकता के सूत्र में बांधा। जो लोग एक ही रक्त सम्बन्ध से जुड़े थे उनके कुल देवता भी एक हुए, जो अधिकतर उनके पुरखे होते थे। जैंक्स ने कहा है कि "कुटुम्ब के संगठन में सभी मनुष्य एक ही देवता की पूजा करते थे, एक ही धर्म को मानते थे और मिल-जुलकर धार्मिक कार्य करते थे। उस समय धर्म ही कानून होता था।" प्रारम्भ में जाति के शासन के लिए '**वृद्धों की एक समिति**' (Elder's Council) होती थी और धार्मिक नियमों से पूर्णतया परिचित इन वृद्ध व्यक्तियों द्वारा शासन किया जाता था। यह निश्चितं रूप से कहा जा सकता है कि धर्म ने प्राचीन काल में असभ्य मनुष्यों को सभ्यता प्रदान की और उनमें अनुशासन उत्पन्न किया।

उस समय धर्म का एक दूसरा प्रचलित रूप प्राकृतिक शक्तियों की पूजा थी। जंगली अवस्था में जबकि बुद्धि का विकास नहीं हुआ था और व्यक्ति प्राकृतिक परिवर्तनों को समझने में असमर्थ थे, उन्होंने बादल की गड़गड़ाहट, बिजली की कड़क, हवा की सनसनाहट और वस्तुओं के परिवर्तन में ईश्वर की शक्ति का अनुभव किया और प्रकृति की प्रत्येक शक्ति उनके लिए देवता बन गयी। व्यक्ति पृथ्वी, सूर्य, अग्नि, इन्द्र और वरुण की उपासना करने लगे और एक ही शक्ति के उपासकों में परस्पर घनिष्ठ मैत्री-भाव उत्पन्न हुआ जो राज्य का आधार बना।

थोड़े समय बाद मिथ्या विश्वासों और ऐन्द्रियजालिक नीतियों का प्रादुर्भाव हुआ। प्रारम्भिक समाज में विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों को देवता या भूत-प्रेत समझा जाता था और जब कोई व्यक्ति यह सिद्ध कर देता था कि वह प्राकृतिक शक्तियों को नियन्त्रित रख सकता है तब समाज में उसे असाधारण शक्ति और सम्मान प्राप्त हो जाता था। उस समय विश्वास किया जाता था कि देश में वर्षा या सूखा, उपज या अकाल, बीमारी, युद्ध और समृद्धि सभी कुछ तान्त्रिक की कुशलता और जादूगरी पर निर्भर है। ऐसी स्थिति में धीरे-धीरे वही तान्त्रिक पुरोहित या राजा बन गया। इसी बात को लक्ष्य करते हुए गिलक्राइस्ट ने कहा है कि "**प्रमुख जादूगर से राजा बनने का चरण आसान है।**"[1] स्पार्टा में ऐसा हुआ भी, वहां तान्त्रिक राजा सांसारिक व धार्मिक क्षेत्रों का प्रधान बन गया।

इस प्रकार राज्य के विकास में धर्म के महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। प्रारम्भिक समाज में धर्म और राजनीति परस्पर घुले-मिले थे। धर्म ने व्यक्तियों को राजनीतिक रूप से संगठित किया और उन्हें आज्ञापालन व अनुशासन का पाठ पढ़ाया। राज्य के विकास में धर्म का यह महत्व केवल प्रारम्भिक समाज तक ही सीमित नहीं था। आज भी पाकिस्तान, सऊदी अरब और अफगानिस्तान जैसे राज्य में धर्म और राजनीति में गहरा सम्बन्ध है और राजनीति धर्म पर आधारित है।

(4) **शक्ति (Force)**—राज्य संस्था के विकास में शक्ति या युद्ध का स्थान भी विशेष महत्वपूर्ण रहा। पहले सामाजिक व्यवस्था थी, जिसे राजनीतिक अवस्था में परिवर्तित करने का कार्य युद्ध के द्वारा ही किया गया। जैंक्स ने कहा भी है कि "**जन समाज का राजनीतिक समाज में परिवर्तन शान्तिपूर्ण उपायों से नहीं हुआ यह परिवर्तन युद्ध द्वारा हुआ है।**"

मनुष्य स्वभावतः दूसरों पर आधिपत्य स्थापित करना चाहता है और संघर्ष एवं आक्रमण की प्रवृत्ति भी मनुष्यों की मूलप्रवृत्तियों में से एक है। मानवीय विकास के प्रारम्भिक काल में ये प्रवृत्तियां बहुत अधिक सक्रिय थीं। कृषि तथा व्यवसाय की उन्नति के साथ जब लोग निश्चित स्थानों पर बस गये, तो निजी सम्पत्ति की धारणा का उदय हुआ। ऐसी स्थिति में निवास-स्थान तथा सम्पत्ति की रक्षार्थ युद्ध होने लगे और युद्ध ने नेतृत्व के महत्व को जनता के सामने रखा। लोग सुरक्षा प्रदान करने की क्षमता रखने वाले शक्तिशाली व्यक्ति का नेतृत्व स्वीकार करने लगे। इस नेता की अधीनता में एक कबीला दूसरे कबीले पर आधिपत्य जमाने की चेष्टा में संलग्न रहा और संघर्ष की इस प्रक्रिया में विजयी कबीले का सैनिक सरदार राजा बन बैठा। बलपूर्वक शक्ति ने प्रभुसत्ता का रूप धारण किया और शासक के प्रति भक्ति तथा निष्ठा की भावना का जन्म हुआ। इस

1 "From chief magician, the step to chief or king is simple."
—Gilchrist, *Principles of Political Science*, p. 87.

प्रकार युद्ध से राज्य की उत्पत्ति हुई। कहा भी गया है कि "युद्ध से राजा का जन्म होता है" (War begets the king)। गैटल के अनुसार, यह कथन कम-से-कम अर्द्ध-सत्य अवश्य है, क्योंकि सत्ता तथा कानून की आवश्यकता को जन्म देने तथा पारिवारिक संगठन को अधिकाधिक राजनीतिक स्वरूप देने में सैनिक कार्यवाही विशेष रूप से सहायक सिद्ध हुई।

(5) **आर्थिक गतिविधियां** (Economic Activities)—राज्य की उत्पत्ति और विकास में आर्थिक गतिविधियों का भी प्रमुख हाथ रहा है। गैटल ने लिखा है कि **आर्थिक चेष्टाएं, जिनके द्वारा मनुष्य ने मौलिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि की तथा बाद को सम्पत्ति और धन का संचय किया, राज्य के निर्माण में आवश्यक तत्व रही हैं।'** प्लेटो, मैकियावेली, हॉब्स, लॉक, एडम स्मिथ और माण्टेस्क्यू ने भी राज्य की उत्पत्ति और विकास में आर्थिक तत्वों के योग को स्वीकार किया है, किन्तु इनसे बहुत आगे वढ़कर कार्ल मार्क्स ने तो इस विचार के अभिव्यक्त किया है कि "**राज्य आर्थिक परिस्थिति की ही अभिव्यक्ति है।**" सामाजिक संगठन का आधार बहुत अधिक अंश तक किसी समाज विशेष में स्थापित आर्थिक सम्बन्ध होते हैं और इसलिए आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन के साथ-साथ सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था में भी परिवर्तन होते हैं।"

आदिम काल से अब तक मनुष्य चार आर्थिक अवस्थाओं से होकर गुजरा है जिसके अनुकूल ही उसमें तत्कालीन सामाजिक तथा राजनीतिक संगठन रहे हैं, प्रथम, आखेट अवस्था में मनुष्य के जीवन का एकमात्र साधन शिकार था और इसी कारण मनुष्य का जीवन अस्थिर, असंगठित तथा भ्रमणशील था। **द्वितीय**, पशुपालन अवस्था में मनुष्य पशु पालकर अपना गुजारा करते थे। इस अवस्था में भी उनका जीवन भ्रमणशील ही था, किन्तु उनमें सामूहिकता और संगठन का अंश आ गया था। **तृतीय**, कृषि अवस्था में जीवन का आधार कृषि हो जाने पर मनुष्य निश्चित स्थान पर स्थायी रूप से रहने लगे। इससे निजी सम्पत्ति का उदय हुआ, समाज में वर्ग पैदा हो गये और संघर्ष बढ़े। ऐसी स्थिति में कानून, न्यायालय और राजनीतिक सत्ता की स्थापना हुई। **चतुर्थ**, आज की औद्योगिक अवस्था है जिसमें आर्थिक जीवन के जटिल और विशाल ढांचे ने राष्ट्रीय राज्यों को जन्म दिया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आर्थिक विकास के साथ मनुष्य के राजनीतिक संगठन में भी परिवर्तन हुए हैं और राज्य के विकास पर आर्थिक गतिविधियों के प्रभाव का यह स्पष्ट प्रमाण है।

(6) **राजनीतिक चेतना** (Political Consciousness)—राज्य के विकास में योग देने वाला एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व राजनीतिक चेतना है। राजनीतिक चेतना का तात्पर्य उन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए जागरूकता है जिनके हेतु राज्य की स्थापना की जाती है। अनेक विद्वानों के अनुसार, राज्य के विकास में राजनीतिक चेतना ने सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व के रूप में कार्य किया है। गिलक्राइस्ट के शब्दों में, "**राज्य निर्माण के सभी तत्वों की तह में, जिनमें रक्त सम्बन्ध व धर्म भी सम्मिलित है, राजनीतिक चेतना है, जो सबसे मुख्य तत्व है।**"[1] ब्लंटशली के अनुसार भी मनुष्य में सामाजिक जीवन की इच्छा ही राज्य निर्माण का कारण बनती है।

जब व्यक्ति किसी निश्चित प्रदेश पर बस गये और उनके द्वारा अपनी आजीविका के स्थायी साधन प्राप्त कर लिए गए तो उनकी यह स्वाभाविक इच्छा हुई कि लोग उनके साधनों को हड़प न लें। फलतः नियमों की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी और यही राजनीतिक चेतना का मूल था। प्रारम्भ में यह राजनीतिक चेतना अप्रकाशित एवं अव्यक्त रूप में थी, सभ्यता के विकास के साथ-साथ यह प्रकाशित तथा व्यक्त होने लगी। शासन, अनुशासन, युद्ध, आदि के लिए अब राजनीतिक संगठन की आवश्यकता और भी स्पष्ट हो गयी। इसके अतिरिक्त कुछ व्यक्तियों में शक्ति की आकांक्षा भी बढ़ी और सैनिक कार्यवाहियों द्वारा वे अधिकाधिक शक्ति की प्राप्ति करने लगे। युद्ध में विजयी नेता राजा हो गए और उनका प्रभुत्व स्थापित हो गया। इस प्रकार शासन और कानून का जन्म हुआ और राज्य मूर्त रूप में सामने आया। वर्तमान समय में भी राजनीतिक चेतना राज्य के विकास में सक्रिय है और इसी चेतनावश मानव जाति द्वारा विश्व राज्य की स्थापना की दिशा में सोचा जाने लगा है।

निष्कर्ष—राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त ही सर्वाधिक मान्य है जिसके अनुसार किसी एक तत्व के द्वारा नहीं वरन् मूल सामाजिक प्रवृत्ति, रक्त सम्बन्ध, धर्म, शक्ति, आर्थिक गतिविधियां और राजनीतिक चेतना—सभी के द्वारा सामूहिक रूप से राज्य का विकास किया गया है। डॉ.

1 **"Underlying all other elements in state formation including kinship and religion, is political consciousness, the superme element."** —**Gilchrist, *Principles of Political Science*, p. 88.**

गार्नर ने कहा कि है "इनमें से भी किसी भी एक तत्व के कारण राज्य का उदय नहीं हुआ है वरन् सबके सामूहिक रूप से कार्य करने के परिणामस्वरूप ही राज्य अस्तित्व में आया है।" वस्तुतः इन सभी तत्वों के द्वारा पारस्परिक सहयोग के आधार पर राज्य का विकास किया गया है। रक्त सम्बन्ध पर आधारित परिवार राज्य का सबसे प्राचीन रूप था, धर्म ने इन परिवारों को एकता प्रदान की और आर्थिक गतिविधियों ने व्यक्तियों को संगठित होने के लिए प्रेरित किया। इसके साथ ही शक्ति और राजनीतिक चेतना ने राज्य के रूप को स्पष्टता और व्यापकता प्रदान की। इस प्रकार राज्य का उदय हुआ और उसने विकास करते-करते अपने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त किया।

राज्य की उत्पत्ति, प्रकृति और कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में मार्क्सवादी दृष्टिकोण
(MARXIST APPROACH OF THE ORIGIN, NATURE AND FUNCTION OF THE STATE)

कार्ल मार्क्स और ऐंजिल्स के द्वारा प्रमुख रूप से अपनी रचनाओं **'साम्यवादी घोषणापत्र'** और **'पूंजी'** में जिस राजनीतिक विचारधारा का प्रतिपादन किया गया है, उसे ही मार्क्सवाद कहा जाता है। इस मार्क्सवादी धारणा के प्रमुख सिद्धान्त निम्न हैं :

1. द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद।
2. इतिहास की आर्थिक व्याख्या या आर्थिक नियतिवाद।
3. वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त।
4. अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त।
5. पूंजीवादी व्यवस्था का विश्लेषण और उसके भविष्य के सम्बन्ध में धारणा।
6. राज्य और शासन सम्बन्धी धारणा।
7. प्रजातन्त्र, धर्म और राष्ट्रवाद के सम्बन्ध में धारणा।

राज्य का उदय और उसकी प्रकृति
(ORIGIN AND NATURE OF THE STATE)

मार्क्सवाद राज्य को एक अस्वाभाविक, अस्थायी और वर्गीय शोषण पर आधारित संस्था मानता है। इस सम्बन्ध में उसने अपनी विचारधारा का विस्तार से प्रतिपादन किया है और उसका अध्ययन निम्न रूपों में किया जा सकता है :

(1) राज्य की उत्पत्ति का आधार वर्ग विभेद (Class distinction is the basis of the Origin of State)—मार्क्स की राज्य सम्बन्धी धारणा, उसके ही द्वारा प्रतिपादित की गयी एक अन्य धारणा 'वर्ग संघर्ष' के साथ जुड़ी हुई है। मार्क्स 'साम्यवादी घोषणा पत्र' में लिखते हैं कि—**"अब तक के समस्त मानव जीवन का इतिहास वर्ग संघर्ष का ही इतिहास है।"**[1] राज्य का उदय इस वर्ग संघर्ष की प्रवृत्ति के आधार पर ही हुआ है और इसीलिए यह एक अस्वाभाविक संस्था है।

मार्क्सवादी विचारधारा में सामान्य मत के सर्वथा विपरीत राज्य को एक वर्गीय संस्था माना गया है। आदिम साम्यवादी अवस्था में समाज के सदस्यों के बीच हितों का कोई संघर्ष न होने के कारण राज्य नहीं था, लेकिन दास-प्रथा के युग में स्थिति बदल गयी। इस युग में स्वामियों के हाथ में भूमि, सम्पत्ति और उत्पादन के सभी साधन थे और वे दासों का शोषण करते थे। स्वामी वर्ग के सदस्यों की संख्या बहुत कम थी और बहुसंख्यक समाज के विरुद्ध अपनी स्थिति बनाये रखने के लिए उन्हें शक्ति का सहारा लेना पड़ा। इनके द्वारा सेना, पुलिस, न्यायालय और जेल, आदि की व्यवस्था की गयी। इन संस्थाओं पर उन लोगों का अधिकार था, जो शोषक वर्ग के समर्थक थे और यहीं से राज्य संस्था का सूत्रपात हुआ।

(2) राज्य और शासन शोषण के यन्त्र (State and Government are the instruments of Exploitation)—राज्य का उदय वर्ग भेद के कारण हुआ और राज्य संस्था सदैव ही शोषक वर्ग के सहायक के रूप में कार्य करती रही है। सामन्तवादी युग में सामन्त और पूंजीपति राज्य की सहायता से क्रमशः किसानों और मजदूरों का शोषण करते रहे हैं। मार्क्स के अनुसार, प्राचीन काल के निरंकुश राज्यों के समान ही वर्तमान समय के लोकतन्त्रीय कहे जाने वाले राज्यों के सम्बन्ध में भी यह सत्य है। इन राज्यों में लोकतन्त्र

1 'The history of all hitherto to society is the history of class struggle.—Communist Manifesto (Marx and Engels : *Selected Works*, Vol. I., p. 33).

केवल दिखावे की ही वस्तु होती है और राज्य की वास्तविक शक्ति पूंजीपति वर्ग अथवा उसके समर्थकों के ही हाथ में होती है। इन लोकतन्त्रीय राज्यों में भी कानूनों का निर्माण पूंजीपतियों के सम्पत्ति सम्बन्धी और अन्य हितों की रक्षा करने के लिए ही किया जाता है। इस प्रकार मार्क्स और ऐंजिल्स के अनुसार राज्य एक पक्षपातरहित संस्था नहीं है, जिसका उद्देश्य सभी वर्गों और व्यक्तियों के हितों की रक्षा करना हो वरन् यह एक ऐसी वर्गीय संस्था है, जिसका उद्देश्य शोषक वर्ग के हितों की रक्षा करना और उसे शोषित वर्ग के ज्यादा से ज्यादा शोषण की ओर बढ़ाना है। स्वयं मार्क्स के शब्दों में, **"राज्य केवल एक ऐसा यन्त्र है जिसकी सहायता से एक वर्ग दूसरे वर्ग का शोषण करता है।"**[1] ऐंजिल्स ने भी कहा है कि **"राज्य अपने सभी रूपों में एकमात्र शासक वर्ग की संस्था रही है और प्रत्येक अवस्था में इसने दलित या शोषित वर्ग को दबाये रखने का कार्य किया है।"**

(3) अन्तरिम काल में सर्वहारा वर्ग की तानाशाही (Dictatorship of the Proletariat for the Interim Period)—मार्क्स राज्य को अस्वाभाविक और अनावश्यक कहकर उसके विलीन हो जाने की बात तो करता है, लेकिन इसके साथ ही वह यह मानता है कि साम्यवादी क्रान्ति के प्रथम चरण में ही राज्य का अन्त सम्भव या उचित नहीं है। पूंजीवाद के अन्त के बाद भी राज्य कुछ समय तक बना रहेगा और इस काल में 'सर्वहारावर्ग की तानाशाही' स्थापित होगी। इस काल में राज्य की शक्ति का प्रयोग सर्वहारा वर्ग के द्वारा पूंजीपतियों के विरोध को कुचलने तथा पूंजीवाद के बचे हुए तत्वों को समाप्त करने के लिए किया जाएगा।

मार्क्स ने **'साम्यवादी घोषणा पत्र'** में कहा है कि अन्तरिम काल में सर्वहारा वर्ग की तानाशाही सरकार द्वारा व्यक्तिगत सम्पत्ति और पैतृक अधिकारों की समाप्ति, यातायात और संवाद-वाहन के साधनों का राष्ट्रीयकरण तथा पूंजीपतियों की जमा पूंजी को समाप्त करने के कठोर कदम उठाये जाने चाहिए। मार्क्स 'सर्वहारा वर्ग की तानाशाही' को ही वास्तविक लोकतन्त्र मानता था, जो 'भारी **बहुसंख्या की जागृति तथा स्वतन्त्र व्यवस्था है और यह भारी बहुसंख्या के हितों के लिए है।**

(4) राज्यहीन व वर्गहीन समाज की स्थापना का आदर्श (Establishment of Stateless and Classless Society is the ideal)—मार्क्स राज्य का अस्तित्व वर्ग-संघर्ष के कारण मानते हैं और उनके अनुसार राज्य एक स्थायी संस्था नहीं है। अतः उनका विचार है कि सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के बाद जब विरोधी वर्गों का अन्त हो जाएगा, तो राज्य की सत्ता का भी अन्त हो जाएगा और राज्यहीन तथा वर्गविहीन समाज की स्थापना के बाद से ही वास्तविक साम्यवादी समाज का प्रारम्भ होगा।

राज्यहीन और वर्गविहीन आदर्श समाज में धर्म, जाति, रंग तथा धन के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जाएगा और प्रत्येक को अधिक से अधिक न्याय प्राप्त हो सकेगा। ऐसे समाज में प्रत्येक व्यक्ति को कुछ निश्चित समय के लिए आवश्यक रूप से परिश्रम करना पड़ेगा और उत्पादन सामाजिक जरूरतों के अधीन होगा। प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकताओं और योग्यता के अनुसार वस्तुएं व पारिश्रमिक प्राप्त होगा **(Each according to his need and each according to his ability)** और जो व्यक्ति कार्य करने योग्य नहीं होंगे, उनके लिए सामाजिक सहायता और सामाजिक बीमे की व्यवस्था की जाएगी।

(5) राष्ट्रवाद का विरोध और अन्तर्राष्ट्रवाद का समर्थन (It opposes Nationalism and supports Internationalism)—राज्य सम्बन्धी धारणा के प्रसंग में ही राष्ट्रवाद के सम्बन्ध में मार्क्स की विचारधारा की भी विवेचना की जा सकती है क्योंकि वर्तमान समय के राष्ट्रीय राज्य का आधार राष्ट्रवाद ही है। मार्क्स इस राष्ट्रवाद को भी अस्वीकार करता है और उसका विचार है कि **'मजदूरों का कोई देश नहीं होता।'**[2] इसी कारण मार्क्सवादी धारणा में **'विश्व के श्रमिको, एक हो जाओ'** का नारा लगाया गया था। मार्क्स का विश्वास था कि जब व्यक्ति द्वारा व्यक्ति का शोषण समाप्त हो जाएगा तो एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र के शोषण का भी अन्त हो जाएगा। वर्ग संघर्ष और वर्ग शत्रुता के कम होने पर राष्ट्रों की आपसी शत्रुता का भी कोई कारण नहीं रहेगा, युद्ध सदैव के लिए समाप्त हो जाएंगे और स्थायी शान्ति की स्थापना होगी।

---

1 **'State is nothing more than a machine for the oppression of one class by another."** —*Marx*

2 **"The working men have no country."** —**Marx and Engels : *Selected Works*, Vol. I, p. 49.**

राज्य की भूमिका
(ROLE OF THE STATE)

मार्क्सवादी धारणा के अन्तर्गत राज्य की भूमिका का अध्ययन दो रूपों में किया जा सकता है : (1) पूंजीवादी युग और उसके पूर्व की अवस्थाओं में राज्य की भूमिका और (2) सर्वहारा वर्ग की तानाशाही में राज्य की भूमिका। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के वाद जिस साम्यवादी समाज की स्थापना होगी, वह वर्गविहीन और राज्यविहीन समाज होगा। जव उस अवस्था में राज्य ही नहीं रहेगा, तो राज्य की भूमिका का प्रश्न उत्पन्न नहीं होता।

मार्क्स का कथन है कि राज्य एक वर्गीय संगठन है, जिसका उदय शोषक वर्ग की सहायक संस्था के रूप में हुआ है और शोषक वर्ग ने राज्य की सहायता से सदैव ही दलित वर्गों का शोषण किया है। चाहे दास युग हो, सामन्तवादी युग हो या पूंजीवादी युग राज्य की भूमिका सदैव ही शोषक वर्ग की सहायक संस्था के रूप में रही है।

सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद में राज्य की भूमिका (State's role in Dictatorship of the Proletariat)—मार्क्स राज्य को अस्वाभाविक और अनावश्यक कहकर उसके विलीनीकरण की वात तो करता है, लेकिन इसके साथ ही वह यथार्थवादी है और इस वात को मानता है कि साम्यवादी क्रान्ति के प्रथम चरण में ही राज्य का अन्त सम्भव या वांछनीय नहीं है। पूंजीवाद के अन्त के वाद भी राज्य कुछ समय तक वना रहेगा और इस काल में 'सर्वहारा वर्ग की तानाशाही', स्थापित होगी। इस 'सर्वहारा वर्ग की तानाशाही' में राज्य की भूमिका की मार्क्स ने कुछ विस्तार के साथ विवेचना की है। मार्क्स इस तानाशाही को "भारी बहुसंख्या की जाग्रत तथा स्वतन्त्र व्यवस्था" कहता है और उनका कथन है कि यही वास्तविक लोकतन्त्र है। इस काल में राज्य की शक्ति का प्रयोग सर्वहारा वर्ग के द्वारा पूंजीपतियों के विरोध को कुचलने तथा पूंजीवाद के बचे हुए तत्वों को समाप्त करने के लिए किया जाएगा।

मार्क्स के अनुसार सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद में राज्य की द्वारा निम्नलिखित कार्यक्रम अपनाया जाना चाहिए :

(1) भूमि के रूप में सम्पत्ति की व्यवस्था का अन्त किया जाए और भूमि के समस्त लगान का उपयोग सार्वजनिक कार्य के लिए किया जाए।

(2) आय-कर इस तरह लगाया जाय कि आय के साथ-साथ वह भी काफी मात्रा में वढ़ता जाए।

(3) उत्तराधिकार की प्रथा विल्कुल समाप्त कर दी जाए।

(4) राज्य की पूंजी से राष्ट्रीय वैंक खोलकर लेन-देन का समस्त कार्य राज्य के हाथों में केन्द्रित कर दिया जाय। वैंकों पर राज्य का एकाधिकार हो।

(5) भगोड़ों और विद्रोहियों की सम्पत्ति जब्त कर ली जाए।

(6) डाक, तार तथा यातायात के समस्त साधनों पर राज्य का पूरा एकाधिकार स्थापित किया जाए।

(7) एक बड़ी योजना बनाकर राज्य के सभी उद्योग-धन्धों तथा उत्पादन के साधनों का विस्तार किया जाए, परती पड़ी हुई तमाम जमीन को आवाद किया जाए और जमीन को अधिक उपजाऊ बनाया जाए।

(8) प्रत्येक व्यक्ति के लिए कार्य करना अनिवार्य हो। उद्योग-धन्धों तथा विशेष रूप से खेत-बाड़ी को चलाने के लिए लोगों को संगठित किया जाए।

(9) कृषि कार्य का उद्योग-धन्धों के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जाइ, देश की आवादी को शहरों और गांवों में उचित रूप से बांटकर नगरों और गांवों के भेद को धीरे-धीरे मिटा दिया जाए।

(10) सार्वजनिक पाठशालाओं में सभी बच्चों के लिए मुफ्त शिक्षा की व्यवस्था की जाए। बच्चों से कारखानों में काम लेने की वर्तमान प्रथा को विल्कुल समाप्त कर दिया जाए। पढ़ाई-लिखाई का सम्वन्ध औद्योगिक उत्पादन के साथ जोड़ा जाए।

सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद द्वारा शान्ति और व्यवस्था वनाये रखने और इसी श्रेणी के अन्य कार्य तो किये ही जाएंगे। इस प्रकार सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद में राज्य का कार्यक्षेत्र बहुत ही अधिक व्यापक है। व्यवहार के अन्तर्गत अब तक किसी भी मार्क्सवादी या साम्यवादी राज्य में अन्तिम आदर्श स्थिति साम्यवाद

(वर्गविहीन और राज्यहीन समाज) को प्राप्त नहीं किया जा सका है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सैद्धान्तिक स्थिति चाहे जो भी हो, व्यवहार के अन्तर्गत मार्क्सवादी धारणा को अपनाने वाली व्यवस्थाओं में राज्य की भूमिका वहुत अधिक व्यापक और बहुत अधिक महत्वपूर्ण है।

आलोचना (Criticism)—राज्य के सम्बन्ध में मार्क्सवादी धारणा की प्रमुख आलोचनाएं निम्न प्रकार हैं :

(1) राज्य एक वर्गीय संगठन नहीं वरन् एक नैतिक संगठन (State is not a Class Organisation, but a Moral Institution)—मार्क्सवादी धारणा के अनुसार राज्य एक ऐसा वर्गीय संगठन है जिसका प्रयोग पूंजीपति वर्ग श्रमिक वर्ग का शोषण करने के लिए करता है, किन्तु आलोचकों के अनुसार राज्य एक वर्गीय संगठन नहीं वरन् एक नैतिक संगठन है, जिसका उद्देश्य मानवीय व्यक्तित्व का विकास है। राज्य का आधार शक्ति नहीं, वरन् इच्छा है। कुछ राज्य भले ही शोषक वर्ग के सहायक के रूप में कार्य करते हों, किन्तु सभी राज्यों के सम्बन्ध में इस प्रकार की बात नहीं कही जा सकती है। **सेबाइन के शब्दों में "यह सिद्धान्त कि राज्य केवल शोषण का एजेण्ट है, एक क्रान्तिकारी अल्पमत का प्रचार मात्र है। यह ऐसा सिद्धान्त नहीं है जिस पर कोई शासन कार्य कर सकता है।"**[1] अतः आलेचकों का विचार है कि राज्य को एक वर्गीय संगठन मानकर चलना एक दुर्भावनापूर्ण विचार' (Prejudicial idea) है।

(2) वर्तमान राज्य सर्वहारा वर्ग का शत्रु न होकर मित्र (Present State is not a Enemy, but a Freind of Proletariat Class)—मार्क्सवादी धारणा में राज्य को सर्वहारा वर्ग का शत्रु वतलाया गया है, किन्तु वाद का इतिहास इस धारणा की पुष्टि नहीं करता है। पिछले लगभग 50 वर्षों से विश्व के लगभग सभी राज्यों द्वारा कल्याणकारी राज्य का विचार स्वीकार कर लिया गया है और अमरीका तथा पश्चिमी यूरोप के सभी देशों में श्रमिकों के हित में अनेक कानूनों का निर्माण किया गया है। इन राज्यों में श्रमिकों के कार्य और अवकाश के घण्टे निश्चित किये गये हैं, उनके लिए न्यूनतम वेतन की व्यवस्था की गयी है और वेकारी, बीमारी तथा बुढ़ापे की अवस्था में उनकी सहायता के लिए योजनाएं बनायी गयी हैं। इस प्रकार राज्य श्रमिकों के शोषण के साधन के रूप में नहीं, वरन् उनके उत्थान और कल्याण के प्रमुख साधन के रूप में कार्य कर रहा है।

(3) राज्य अस्थायी नहीं वरन् स्थायी (State is not Temporary, but Permanent)—मार्क्सवादी धारणा में राज्य को एक अस्थायी संस्था मानकर निश्चित रूप से उसके **'विलीनीकरण की धारणा'** व्यक्त की गयी है, किन्तु वास्तव में, राज्य मानवीय स्वभाव की मूल स्थायी प्रवृत्तियों पर आधारित होने के कारण एक शाश्वत संस्था है और उसके विनाश की कोई सम्भावना नहीं है। साम्यवादियों ने 1917 ई. में सोवियत रूस में सत्ता प्राप्त की और कुछ समय बाद उन्होंने तथाकथित बुर्जुआ वर्ग को भी समाप्त कर दिया, लेकिन इस साम्यवादी व्यवस्था में राज्य समाप्त होने के बजाय अधिक से अधिक शक्तिशाली होता जा रहा है। यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि सत्ता में कुछ ऐसा आकर्षण होता है कि एक बार प्राप्त कर लेने के बाद उसका त्याग बहुत अधिक कठिन होता है। **लास्की के शब्दों में, शक्ति के विष का कुप्रभाव सर्वविदित है और यह मान लेना कठिन है कि साम्यवादी उसके प्रभाव से बचे रहेंगे।"**[2]

(4) राज्य के विलीनीकरण की धारणा कपोल-कल्पित (Withering away of the State is imaginary only)—यद्यपि मार्क्स के द्वारा सेण्ट साइमन, फोरियर और प्रोधा जैसे विचारकों के सिद्धान्तों को काल्पनिक कहकर उनका उपहास किया गया है, किन्तु स्वयं उसकी राज्यहीन और वर्गहीन समाज की धारणा कम काल्पनिक और कम उपहास योग्य नहीं है। मार्क्स ने कहीं पर भी यह बतलाने का प्रयत्न नहीं किया है कि वर्गविहीन समाज किस प्रकार विकासक्रम का स्वाभाविक और आवश्यक परिणाम है। इसके अलावा चाहे कैसा ही वर्गहीन समाज हो, उसे राज्य की शक्ति के बिना स्थिर नहीं रखा जा सकता है।

1 **"The theory that states are merely agents of exploitation is essentially the propaganda of a revolutionary minority, it is not a theory upon which any Government in power can operate."**
—***Sabine***

2 **"The poison of power is notorious and it is difficult to see why communists should be held immune from its toxins."**
—**H. J. Laski, *Communism*, p. 86.**

(5) प्रजातन्त्र के सम्बन्ध में धारणा त्रुटिपूर्ण (Concept about Democracy is wrong)—प्रजातान्त्रिक राज्य और शासन के सम्बन्ध में मार्क्सवादी धारणा त्रुटिपूर्ण है उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता है। प्रजातन्त्र के अपने कुछ दोष हो सकते हैं, लेकिन मानवीय इतिहास में अब तक स्थापित व्यवस्थाओं की तुलना में प्रजातन्त्र निस्सन्देह एक श्रेष्ठ शासन व्यवस्था है। तानाशाही के आधार पर थोड़े से समय के लिए भले ही कुछ लाभ प्राप्त किए जा सकें, लेकिन ये लाभ स्थायी होंगे, इस बात की सम्भावना बहुत कम है।

(6) राष्ट्रवाद वर्तमान जीवन की महानतम् शक्ति (Nationalism is the greatest Power of modern life)—अन्तर्राष्ट्रीयता की धारणा आगे आने वाले समय के लिए चाहे कितनी स्वाभाविक और वांछनीय क्यों न हो, इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि वर्तमान समय की तो महानतम शक्ति राष्ट्रवाद ही है। वर्गीयता से राष्ट्रीयता की भावना प्रबल होती है यह बात सभी संकटकालीन परिस्थितियों में देखी जा सकती है। इसलिए **'विश्व के श्रमिको ! एक हो जाओ'** इस अपील का कोई औचित्य नहीं है।

इस प्रकार राज्य के उदय, प्रकृति और कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में मार्क्सवादी धारणा को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में मार्क्सवादी धारणा की असत्यता का प्रमाण यह है कि मार्क्सवाद की अन्य बातें तो सत्य चरितार्थ हो गयीं हैं, लेकिन मार्क्सवाद के अन्तिम आदर्श राज्यविहीन और वर्गविहीन समाज के आदर्श को प्राप्त नहीं किया जा सका है। कभी इस आदर्श को प्राप्त किया जा सकेगा, यह भी सन्देह का विषय ही है।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. सामाजिक समझौता सिद्धान्त की विवेचना कीजिए और 'प्राकृतिक अवस्था', 'सामाजिक समझौते' एवं 'शासकीय समझौते' के विषय में हॉब्स, लॉक और रूसो के विचारों की व्याख्या कीजिए।
2. "रूसो का प्रभुसत्ताधारी हॉब्स का लेवायथन है जिसका सिर काट दिया गया है।" आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
3. "सामाजिक समझौता का सिद्धान्त न तो हमें इतिहास के वारे में और न ही राजनतिक दर्शन के बारे में सन्तोषजनक उत्तर प्रदान करता है।" (वाहन) उक्त कथन के सन्दर्भ में सामाजिक समझौता सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
4. "राज्य एक विकसित वस्तु है न कि निर्मित।" इस कथन को स्पष्ट करते हुए राज्य की उत्पत्ति के ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।
5. रूसो की सामान्य इच्छा की धारणा की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।
6. राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौता सिद्धान्त की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।
7. राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मार्क्सवादी सिद्धान्त की विवेचना कीजिए।
8. राज्य के उत्पत्ति, प्रकृति और कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में मार्क्सवादी दृष्टिकोण की व्याख्या कीजिए।

6

राज्य के कार्यों के सिद्धान्त
(उदारवादी, लोक कल्याणकारी और समाजवादी सिद्धान्त)
(THEORIES OF THE FUNCTIONS OF STATE)
(Liberal, Welfare and Socialist)

"राज्य के कार्यक्षेत्र के निर्धारण की समस्या राजनीतिक सिद्धान्त की समस्याओं में सबसे अधिक गहन है।"[1]
—कोकर

राज्य के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में विविध मत

राज्य के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में जिन विविध विचारधाराओं का प्रतिपादन किया गया; उनमें सर्वाधिक प्रमुख हैं : **उदारवाद, समाजवाद और लोक कल्याणकारी राज्य।**

उदारवाद
(LIBERALISM)

उदारवादी विचारधारा अन्य विचारधाराओं की भांति निश्चित और क्रमबद्ध विचारधारा नहीं है। उदारवाद न तो किसी अन्य व्यक्ति के विचारों का परिणाम है और न ही यह विचारधारा किसी युग के साथ जुड़ी हुई है। वास्तव में, यह कोई एक दर्शन नहीं, वरन् अधिक विचारों का सम्मिश्रण है। यह एक जीवन दृष्टि, जीवन क्रम तथा मस्तिष्क की एक प्रवृत्ति है जिसके अन्तर्गत अनेक मान्यताएं, आदर्श एवं संस्थाएं हैं। ऐसी स्थिति में उदारवाद की व्याख्या स्वाभाविक रूप से एक कठिन कार्य हो जाता है।

कुछ व्यक्ति उदारवाद को व्यक्तिवाद का पर्यायवाची मानते हैं जो कि पूर्णतया सत्य नहीं है। यद्यपि व्यक्तिवाद उदारवाद का अभिन्न अंग है, किन्तु दोनों एक ही चीज नहीं हैं। **जार्ज सेबाइन** ने लिखा है कि लगभग 1830 तक इन दोनों में कोई विशेष भेद नहीं था। क्योंकि उस समय तक ये दोनों विचारधाराएं व्यक्ति के जीवन में राज्य के हस्तक्षेप की विरोधी थीं। लेकिन इसके वाद स्थिति वदल गयी। ग्रीन जैसे उदारवादियों के द्वारा नकारात्मक स्वतन्त्रता के साथ-साथ सकारात्मक स्वतन्त्रता पर जोर देते हुए कहा गया कि समाज के सभी सदस्यों के कल्याण और विकास के लिए राज्य के द्वारा समुचित सुविधाओं की व्यवस्था की जानी चाहिए। यदि जन-कल्याण के इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए व्यक्तियों के जीवन में हस्तक्षेप करना या राज्य द्वारा व्यक्तियों के जीवन पर नियन्त्रण रखा जाना आवश्यक हो, तो राज्य ऐसा भी कर सकता है।

प्रायः लोकतन्त्र को उदारवाद का नाम दे दिया जाता है, लेकिन यह भी सीमित अर्थ में ही सही है। आधुनिक लोकतन्त्र बहुसंख्यक वर्ग की सत्ता में विश्वास करता है, लेकिन उदारवाद सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में बहुसंख्यक वर्ग की अपेक्षा अल्पसंख्यक वर्ग के हित की रक्षा के प्रति अधिक जागरूक है। इस प्रकार उदारवाद लोकतन्त्र से कुछ अधिक हो जाता है।

उदारवाद परिवर्तन और प्रगति का संदेश देता है और व्यक्तिवाद तथा लोकतन्त्र भी इसमें शामिल हैं। **मैकूगवर्न** इसी बात को दृष्टि में रखते हुए कहते हैं कि "एक राजनीतिक सिद्धान्त के रूप में उदारवाद दो

1 **"The Problem of determining the province of state activity, is the most difficult of all the problems of political theory."**
—Coker, *Recent Political Thought*, p. 381.

पृथक् तत्वों का मिश्रण है। इनमें एक लोकतन्त्र है और दूसरा व्यक्तिवाद।"[1] लेकिन उदारवाद केवल यही नहीं है। व्यक्ति और राज्य के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय पर अब तक दो प्रकार की विचारधाराओं का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार की विचारधाराएं राज्य को समस्त मानवीय जीवन का केन्द्र और अपने आप में एक साध्य मानती हैं, लेकिन दूसरी श्रेणी की विचारधाराएं इस बात का प्रतिपादन करती हैं कि व्यक्ति और राज्य में व्यक्ति ही साध्य है। उदारवाद द्वितीय प्रकार की इन विचारधाराओं का समूह है **जो इस बात पर बल देता है कि समस्त मानवीय व्यवस्था का केन्द्र व्यक्ति ही है। राज्य, समाज और अन्य संस्थाएं इस व्यक्ति के कल्याण के साधन मात्र ही हैं और समस्त राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था का निर्धारण व्यक्ति को केन्द्र मानकर ही किया जाना चाहिए।**

उदारवाद के मूल सिद्धान्त

उदारवाद एक विशाल नदी की भांति है जिसमें बहुत-सी छोटी नदियां मिलती हैं और उनसे प्रवाह क्रम में बहुत-सी शाखाएं और उपशाखाएं निकल पड़ती हैं। उदारवाद के मूल सिद्धान्त निम्नलिखित कहे जा सकते हैं :

(1) मानवीय विवेक में आस्था—उदारवादी विचारधारा का सर्वप्रमुख तत्व मानवीय बुद्धि और विवेक में मूलभूत आस्था है। यूरोप के विभिन्न देशों में मध्य युग के अन्तर्गत ईसाइयत ने मनुष्य की बुद्धि को कठोर बन्धनों में जकड़ रखा था और ऐसा माना जाता था कि चर्च के अधिकारी, विशेषकर पोप, शास्त्रों का जो अर्थ बतलाते हैं, वही प्रामाणिक है। लेकिन 17वीं और 18वीं सदी में नवजागरण के साथ ही प्रमुख उदारवादी दार्शनिकों ने शास्त्रों के अन्धानुकरण के स्थान पर स्वयं अपने विवेक के आधार पर सोचना प्रारम्भ किया। जॉन लॉक और टामस पेन को ऐसे विचारकों में प्रमुख कहा जा सकता है। टामस पेन ने तो समस्त रूढ़िवादियों को चुनौती देते हुए कहा कि **'मेरा अपना मन ही मेरा चर्च है।'** इस प्रकार उदारवाद इस बात में विश्वास करता है कि भावना पर विवेक को प्रधानता दी जानी चाहिए। उदारवाद ने इस दृष्टिकोण को अपनाकर स्वतन्त्र चिन्तन को प्रोत्साहित किया।

(2) इतिहास तथा परम्पराओं का विरोध—उदारवाद मानवीय विवेक में विश्वास करता है और किसी भी ऐसे विचार, संस्था या सिद्धान्त को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है जो बुद्धिसंगत न हो, चाहे वह कितना ही पुराना क्यों न हो और चाहे उसे कितना ही पवित्र क्यों न समझा जाता रहा हो। उदारवाद का विश्वास रहा है कि यदि प्रगति के लिए इतिहास तथा परम्पराओं के प्रति विद्रोह किया जाना आवश्यक हो तो इस प्रकार का विद्रोह अवश्य ही किया जाना चाहिए। इंगलैण्ड के उपयोगितावादी उदारवादियों ने उपयोगिता के नाम पर पहले से चली आ रही व्यवस्था और परम्पराओं का खण्डन किया। उनके प्रभाव के कारण ही 19वीं सदी में इंगलैण्ड के जीवन के हर क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। लेकिन उदारवादी सदैव ही विद्यमान व्यवस्था के विरोधी नहीं रहे हैं पर आज तो वे बहुत सीमा तक विद्यमान राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था को बनाये रखने के पक्ष में हो गये हैं।

(3) मानवीय स्वतन्त्रता की धारणा में विश्वास—उदारवादी विचारधारा के अनुसार, मनुष्य जन्म से ही स्वतन्त्र उत्पन्न होता है और स्वतन्त्रता उसका प्राकृतिक एवं जन्मसिद्ध अधिकार है। स्वतन्त्रता का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति के जीवन पर किसी स्वेच्छाचारी सत्ता का नियन्त्रण न हो और ऐसा वातावरण हो कि व्यक्ति अपने विवेक के अनुसार आचरण कर सके। उदारवादियों ने सदैव ही मानव जीवन पर निरंकुश सत्ता का विरोध किया है और वे राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, बौद्धिक और धार्मिक सभी क्षेत्रों में स्वतन्त्रता का समर्थन कर रहे हैं। लास्की के शब्दों में, **"स्वतन्त्रता के साथ इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, क्योंकि इसका जन्म ही समाज के किसी वर्ग द्वारा जन्म अथवा धर्म के आधार पर प्राप्त विशेषाधिकारों के विरोध में हुआ था।"**[2]

(4) व्यक्ति साध्य तथा समाज और राज्य साधन—उदारवादियों का मूल आधार व्यक्ति है और वे व्यक्ति को साध्य मानकर ही आगे बढ़ते हैं। उनके अनुसार, व्यक्ति का भौतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक कल्याण,

---

1 "Liberalism as a political concept is a compound of two separate elements. One of these is democracy, the other is individualism." —W. M. McGovern, *From Luther to Hitler*. p. 11.

2 "It is directly related to freedom for it came as the foe of privilege conferred on any class in the community by virtue of birth or creed." —*H. J. Laski*

उसकी रचनात्मक शक्तियों का विकास ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण चीज है। समाज और राज्य तो साधन मात्र हैं और उनका महत्व उसी सीमा तक है, जहां तक वे इस लक्ष्य की पूर्ति में सहायक होते हैं।

(5) समाज और राज्य कृत्रिम संगठन—उदारवादी समाज और राज्य को प्राकृतिक नहीं वरन् कृत्रिम मानते हैं और उनका विचार है कि इनका निर्माण व्यक्तियों के द्वारा अपनी कुछ विशेष आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ही किया गया। व्यक्ति अपने आप में पूर्ण है, समाज और राज्य का संगठन उनके द्वारा अपनी निश्चित योजना के अनुसार किया गया है और इस नाते व्यक्तियों को यह अधिकार प्राप्त हो जाता है कि वे समाज और राज्य के संगठन में अपनी आवश्यकतानुसार संशोधन-परिवर्तन का कार्य कर सकें। इस प्रकार उदारवादी न तो राज्य की प्राकृतिकता में विश्वास करते हैं और न ही व्यक्ति और राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय पर सावयव सिद्धान्त में।

(6) व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों की धारणा में विश्वास—उदारवादियों का विश्वास रहा है कि व्यक्ति के कुछ जन्मजात और अउल्लंघनीय अधिकार हैं, जिन्हें उनके प्राकृतिक अधिकार कहा जा सकता है। उनका कथन है कि अधिकारों की सृष्टि किसी मानवीय संस्था, समाज या राज्य द्वारा नहीं की गयी है, वरन् ये तो इन संस्थाओं के अस्तित्व के पूर्व से विद्यमान रहे हैं और समाज तथा राज्य की उत्पत्ति इन अधिकारों की रक्षा के लिए ही हुई है। इस सम्बन्ध में **लॉक का प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त** विशेष प्रसिद्ध है जिनके अनुसार व्यक्ति के मुख्य प्राकृतिक अधिकार **जीवन, सम्पत्ति और स्वतन्त्रता** के अधिकार हैं।

(7) धर्मनिरपेक्ष राज्य का आदर्श—उदारवाद धर्म निरपेक्ष राज्य के आदर्श में विश्वास करता है जिसके अनुसार, राज्य का कोई धर्म नहीं होना चाहिए, राज्य के द्वारा अपने सभी नागरिकों को पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए और धर्म के आधार पर अपने नागरिकों में किसी प्रकार का पक्षपात नहीं किया जाना चाहिए।

मध्यकालीन यूरोप के विभिन्न देशों में किसी न किसी एक विशेष धर्म को प्रधानता प्राप्त थी। ऐसी स्थिति में उदारवादियों ने प्रारम्भ से ही धार्मिक सहिष्णुता और स्वतन्त्रता की आवाज उठायी। जॉन लॉक धार्मिक सहिष्णुता का कट्टर समर्थक था। 18वीं सदी के फ्रेंच दार्शनिकों ने भी चर्च और राज्य को पृथक् करने के लिए आन्दोलन किया और इस प्रकार के आन्दोलन के परिणामस्वरूप फ्रांसीसी क्रान्ति के बाद फ्रांस और संयुक्त राज्य अमेरिका में धर्मनिरपेक्ष राज्यों की स्थापना हुई। इसके बाद तो यूरोप के सभी देशों में धर्मनिरपेक्षता की लहर ही आ गयी। वस्तुतः धर्मनिरपेक्षता का आदर्श उदारवाद की एक वहुत बड़ी देन है।

(8) शासकीय स्वेच्छाचारिता का विरोध और कानून की प्रधानता का प्रतिपादन—उदारवाद अपने स्वभाव से ही शासकीय स्वेच्छाचारिता का विरोध करता है और इस बात का प्रतिपादन करता है कि शासन में व्यक्ति की नहीं वरन् कानून की प्रधानता होनी चाहिए। शासक वर्ग भी इन कानूनों को मानने के लिए उतनी ही सीमा तक बाध्य होना चाहिए, जितनी सीमा तक शासित वर्ग। यदि शासक वर्ग मनमानी करता है और जनता के हितों का ध्यान नहीं रखता, तो ऐसी स्थिति में जनता को अत्याचारी शासन के विरुद्ध विद्रोह का अधिकार प्राप्त हो जाता है। लेकिन इसके साथ ही उदारवाद की धारणा है कि परिवर्तन हेतु शान्तिपूर्ण और वैधानिक उपाय ही अपनाये जाने चाहिए। इस सम्बन्ध में 1688 की इंगलैण्ड की गौरवपूर्ण क्रान्ति उनका आदर्श है।

(9) लोकतान्त्रिक पद्धति का समर्थन—लोकतान्त्रिक पद्धति का समर्थन उदारवाद का अन्तिम, किन्तु सबसे अधिक महत्वपूर्ण विचार कहा जा सकता है। उदारवाद का जन्म ही स्वेच्छाचारी शासन के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में हुआ और लोक-प्रभुत्व उदारवाद का मूल तत्व है। उदारवादी विचारधारा के अनुसार सभी मनुष्य स्वतन्त्र उत्पन्न होते हैं, इसलिए किसी को भी दूसरों पर उनकी सहमति के बिना शासन करने का अधिकार नहीं हो सकता है। वे इस बात पर बल देते हैं कि व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा का सर्वोच्च उपाय यही हो सकता है कि शासन की शक्ति स्वयं जनता के हाथों में हो और किसी व्यक्ति अथवा वर्ग विशेष को स्वेच्छाचारी ढंग से शासन करने का अधिकार न हो। इसी उदारवादी विचार को अभिव्यक्ति देते हुए फ्रांस के **'मानवीय अधिकारों की घोषणा'** में कहा गया था, **''राष्ट्र ही तत्वतः सम्पूर्ण प्रभुत्व का स्रोत है। कोई व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का समूह किसी ऐसी सत्ता का अधिकारी नहीं हो सकता, जो राष्ट्र से न प्राप्त हुई हो।''**[1]

1 **"The nation is essentially the source of all sovereignty, not can any individual, or any body of man, be entitled to any authority which is not expressly derived from it."**

—*Declaration of the Rights on Man and of Citizens*. Article III.

(10) अन्तर्राष्ट्रीयता और विश्व-शान्ति में विश्वास—उदारवाद अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राज्य की निरंकुशता को स्वीकार नहीं करता और विश्व-शान्ति तथा विश्वबन्धुत्व के आदर्श का प्रतिपादन करता है। उदारवाद की अनुसार प्रत्येक राष्ट्र को शनैः-शनैः शान्तिपूर्वक प्रगति करना चाहिए और उसे अन्य राष्ट्रों की वैसी ही प्रगति में सहायता देनी चाहिए। उदारवाद के अनुसार राष्ट्रीय वैमनस्य की भावना को प्रोत्साहित नहीं किया जाना चाहिए और राज्यों के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता तथा सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को स्वीकार कर लिया जाना चाहिए।

राज्य के उद्देश्य और कार्यों के सम्बन्ध में उदारवाद

राज्य के उद्देश्यों और कार्यों के सम्बन्ध में उदारवादियों का सदैव एक ही दृष्टिकोण नहीं रहा है और इस सम्बन्ध में उसकी विचारधारा परिस्थितियों के अनुसार विकसित होती रही है। इस सम्बन्ध में उदारवाद के प्रमुख रूप से दो रूप बतलाये जा सकते हैं—(1) **परम्परागत उदारवाद**, तथा (2) **आधुनिक जनतन्त्रात्मक उदारवाद**।

परम्परागत उदारवाद—मूल रूप में उदारवाद का जन्म स्वेच्छाचारी शासन और व्यवस्था के विरुद्ध एक स्वतन्त्रता आन्दोलन के रूप में हुआ था और परम्परागत उदारवाद का मूल तत्व स्वतन्त्रता ही रहा। **जॉन लॉक और जॉन स्टुअर्ट मिल** को इस परम्परागत उदारवाद का प्रतिनिधि विचारक कहा जा सकता है। **प्रो. हाबहाउस** ने अपने 'उदारवाद' शीर्षक ग्रन्थ में परम्परागत उदारवाद के नौ मूल सिद्धान्त बतलाये हैं, जो इस प्रकार हैं :

(1) नागरिक स्वतन्त्रता (Civil Liberty)—नागरिक स्वतन्त्रता शासकीय स्वेच्छाचारिता का विरोध करती है और इसका कथन है कि व्यक्तियों पर व्यक्तियों को नहीं, वरन् कानूनों को प्रभुत्व प्राप्त होना चाहिए। मध्ययुग की सामन्ती व्यवस्था में सामन्त वर्ग के वर्गीय विशेषाधिकारों का बोलबाला था। व्यक्तियों को अपने जीवन और सम्पत्ति सुरक्षा प्राप्त नहीं थीं, सामान्त वर्ग के द्वारा व्यक्तियों को मनमाने तरीके से सताया जाता, उन्हें कारागृह में डाल दिया जाता और उनकी सम्पत्ति को छीन लिया जाता था। नागरिक स्वतन्त्रता के आदर्श द्वारा इस स्वेच्छाचारिता का विरोध किया गया और इस बात का प्रतिपादन किया गया कि व्यक्तियों को अपनी इच्छानुसार जीवन व्यतीत करने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए।

(2) वित्तीय स्वतन्त्रता (Fiscal Liberty)—मध्य युग के निरंकुश शासकों द्वारा अनेक बार जनता पर मनमाने कर लगा दिये जाते थे, अतः नागरिक चेतना के उदय के साथ इस बात पर बल दिया गया कि नागरिकों पर उनके प्रतिनिधियों की इच्छा के बिना कोई कर नहीं लगाये जायें। उदारवादी सम्पत्ति को व्यक्तियों का एक पवित्र अधिकार मानते थे, इसीलिए उनके द्वारा यह कहा गया कि नागरिकों पर कर लगाने का अधिकार जनप्रतिनिधियों के बहुमत को ही हो सकता है। इसका अर्थ है **उत्तरदायी शासन**। 18वीं सदी के अन्त में अमरीकी स्वतन्त्रता संग्राम इसी प्रश्न को लेकर प्रारम्भ हुआ था और उनका प्रसिद्ध नारा था **'बिना प्रतिनिधित्व के कर नहीं'** (No taxation without representation)।

(3) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता—उदारवादियों के द्वारा सदैव ही व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर बहुत अधिक बल दिया गया है। उनके द्वारा शासकीय और धार्मिक निरंकुशता का विरोध करते हुए इस बात का प्रतिपादन किया गया कि व्यक्ति को अपने जीवन के सभी क्षेत्रों के अन्तर्गत स्वयं अपने सम्बन्ध में निर्णय करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त होना चाहिए। व्यक्तियों के जीवन और उनके रहन-सहन में राज्य या समाज के अन्य व्यक्तियों द्वारा उस समय तक हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिए, जब तक कि सामाजिक हित की दृष्टि से इस प्रकार का हस्तक्षेप नितान्त आवश्यक न हो गया हो। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अन्तर्गत विचार और भाषण की स्वतन्त्रता, रहन-सहन की स्वतन्त्रता, धार्मिक विश्वास और आराधना की स्वतन्त्रता, आदि विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं। **जॉन स्टुअर्ट मिल का तो कहना है कि व्यक्ति को अपने जीवन के साथ तरह-तरह के प्रयोग करने का अधिकार भी प्राप्त होना चाहिए, यदि उसके इन प्रयोगों का समाज के अन्य व्यक्तियों पर विपरीत प्रभाव न पड़े।**

(4) सामाजिक स्वतन्त्रता (Social Liberty)—उदारवादी चिन्तन में सामाजिक स्वतन्त्रता का भी विशेष महत्व रहा है। सामाजिक स्वतन्त्रता का अर्थ यह है कि जन्म, सम्पत्ति, वर्ण, जाति अथवा लिंग के आधार पर व्यक्तियों में कोई भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए। समाज के सभी व्यक्तियों को विकास के लिए समान और पर्याप्त अवसर प्रदान किये जाने चाहिए, क्योंकि इसके अभाव में स्वतन्त्रता का उपभोग सम्भव नहीं

है। विशेष प्रकार के पद, पेशे, व्यवसाय, उच्च शिक्षा की सुविधाएं और निगम अथवा समुदाय की सदस्यता वंशानुगत गुणों पर आधारित नहीं होनी चाहिए, वरन् इसके द्वार सबके लिए खुले होने चाहिए।

(5) **आर्थिक स्वतन्त्रता** (Economic Liberty)—परम्परागत उदारवाद के सन्दर्भ में आर्थिक स्वतन्त्रता का अर्थ यह है कि व्यक्तियों के आर्थिक जीवन और उनके द्वारा संचालित उद्योग तथा व्यापार में राज्य के द्वारा हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिए, मध्य युग के सामन्ती राज्यों ने भूमि, वस्तुओं तथा सम्पत्ति के क्रय-विक्रय, भाड़े पर श्रमिक रखने तथा धन उधार लेने और देने पर अनेक प्रकार के प्रतिवन्ध लगा रखे थे। उदारवादियों ने उन्हें हटाने की मांग की और इस बात पर भी बल दिया कि आर्थिक क्षेत्र में राज्य के द्वारा **'हस्तक्षेप की नीति'** (Policy of Laissez faire) अपनायी जानी चाहिए। राज्य के द्वारा व्यापारिक और औद्योगिक क्षेत्रों में 'मुक्त प्रतियोगिता' के विचार को अपना लिया जाना चाहिए। वस्तुओं के मूल्य और उनके उत्पादन की मात्रा स्वयं निर्धारित करने के स्थान पर, मांग और पूर्ति के नियम के द्वारा निर्धारित होने के लिए छोड़ दी जानी चाहिए। व्यक्तियों को आर्थिक क्षेत्र में **'संविदा की स्वतन्त्रता'** प्राप्त होनी चाहिए और उन्हें अपनी आर्थिक उन्नति के लिए संघ और समुदाय वनाने की स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए।

(6) **पारिवारिक स्वतन्त्रता** (Domestic Liberty)—इसका अर्थ यह है कि स्त्रियों को, विशेषकर विवाह तथा सम्पत्ति के क्षेत्र में, पुरुषों के समान ही अधिकार प्राप्त होने चाहिए। बच्चों को भी, विशेष परिस्थितियों के अन्तर्गत माता-पिता के दुर्व्यवहार के विरुद्ध सुरक्षा प्राप्त होनी चाहिए और माता-पिता को उनके शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक विकास के लिए उत्तरदायी ठहराया जाना चाहिए।

(7) **जातीय तथा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता** (Racial and National Liberty)—उदारवादी विचारक राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के प्रवल समर्थक थे और भौगोलिक तथा प्रशासकीय, दोनों क्षेत्रों में स्वशासन के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते थे। वे जातीय समानता का भी समर्थन करते थे। किन्तु इस सम्बन्ध में एक विशेष और आपत्तिजनक बात यह देखने में आयी है कि कुछ उदारवादी विचारकों द्वारा किया गया जातीय तथा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का समर्थन यूरोपीय राष्ट्रों तथा गोरी जातियों तक ही सीमित रहा है।

(8) **अन्तर्राष्ट्रीय स्वतन्त्रता** (International Liberty)—उदारवाद एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य के विरुद्ध वल प्रयोग का विरोधी रहा है और उसका विचार है कि शान्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के आधार पर कार्य किया जाना चाहिए। आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में राज्यों के द्वारा परस्पर अधिकाधिक समीप आने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

(9) **राजनीतिक स्वतन्त्रता** (Political Liberty)—हाबहाउस के अनुसार, उदारवाद की यह सवसे बड़ी विशेषता और सर्वोच्च देन थी। राज्य के कार्यों में सक्रिय रूप से भाग लेने का नाम ही राजनीतिक स्वतन्त्रता है और इसके अन्तर्गत ये चार चीजें सम्मिलित हैं : **नागरिकों को अपने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार, निर्वाचित होने का अधिकार, सार्वजनिक पद ग्रहण करने का अधिकार और राजनीतिक मामलों में समुचित जानकारी प्राप्त करने तथा उन पर स्वतन्त्रतापूर्वक विवाद करने का अधिकार।** इस प्रकार उदारवाद की राजनीतिक स्वतन्त्रता लोकतन्त्र की पर्यायवाची है।

परम्परागत उदारवाद के इन सिद्धान्तों को दृष्टि में रखते हुए इसे बहुत कुछ सीमा तक **'व्यक्तिवाद का सहयोगी दर्शन'** कहा जा सकता है।

आधुनिक जनतन्त्रात्मक उदारवाद का विकास

19वीं सदी के मध्य तक उदारवाद परम्परागत रूप में प्रचलित रहा, लेकिन इसके बाद बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार उदारवाद के स्वरूप में परिवर्तन हो गया। 1860 तक अधिकांश उदारवादी लोकतन्त्र और आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप की नीति में विश्वास करते थे, लेकिन इस समय तक परिस्थितियां कुछ तो परिवर्तित हो गयी थीं और कुछ तेजी से परिवर्तित होती जा रही थीं। आर्थिक क्षेत्र में अहस्तक्षेप की नीति को अपनाने के परिणाम निर्धन श्रमिक वर्ग के लिए वहुत ही अधिक बुरे हुए थे और यह बहुत अधिक जरूरी हो गया था कि निर्धन व्यक्तियों के हितों की रक्षा के लिए राज्य द्वारा आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप किया जाय। इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह थी कि ब्रिटेन उदारवाद का घर रहा है और ब्रिटेन में मताधिकार क्रमशः व्यापक होते जाने के कारण किसी भी राजनीतिक दल (ब्रिटेन के उदार दल के लिए भी) के लिए यह जरूरी हो गया था कि राजनीतिक प्रभुत्व प्राप्त करने के लिए निम्न वर्गों पर ध्यान केन्द्रित किया जाय। इन नवीन

उदारवादियों द्वारा यह कहा गया कि निर्धन, साधनहीन और अशिक्षित जनता अपने हितों की रक्षा नहीं कर सकती और धनीमानी वर्ग उनके शोषण का प्रयत्न करता हैं। अतः जनता के हित के लिए सभी सम्भव कार्य सरकारी क्षेत्र में आ जाने चाहिए। इस दृष्टि से उदारवादियों ने राज्य द्वारा संचालित स्कूलों की व्यवस्था, मद्य-निषेध, वच्चों तथा स्त्रियों के श्रम के अधिकाधिक नियमन, श्रमिकों के लिए क्षतिपूर्ति की व्यवस्था, आदि का समर्थन प्रारम्भ किया। इसके वाद उनके द्वारा इस वात पर वल दिया गया कि राज्य द्वारा व्यापार, वृद्धावस्था के लिए पेंशन योजना तथा बेकारी और बीमारी वीमा योजना को अपनाया जाना चाहिए।

इस प्रकार 19वीं सदी के मध्य तक तो उदारवाद इस पक्ष में था कि राज्य का कार्यक्षेत्र संकुचित होना चाहिए, लेकिन इसके वाद उदारवाद के द्वारा राज्य के कार्यक्षेत्र में क्रमिक वृद्धि का प्रतिपादन किया गया। उदारवादी विचारधारा का यह नवीन रूप थॉमस हिल ग्रीन के साथ प्रारम्भ हुआ और इंगलैण्ड का उदारवादी दल आज उदारवाद के इस रूप में ही विश्वास करता है। उदारवाद का यह नवीन रूप पूंजीवाद की अपेक्षा समाजवाद के ही अधिक समीप है।

आधुनिक जनतन्त्रात्मक उदारवादी : थॉमस हिल ग्रीन

ग्रीन को आधुनिक जनतन्त्रात्मक उदारवादी विचारधारा का प्रतिनिधि विचारक कहा जा सकता है। उसके द्वारा राज्य के अहस्तक्षेप पर बल देने वाले परम्परागत उदारवाद और राज्य को दैवीय स्तर प्रदान करने वाले हीगलवादी आदर्शवाद दोनों को ही अस्वीकार करते हुए औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए जनतन्त्रात्मक उदारवाद का प्रतिपादन किया गया है।

ग्रीन आदर्शवादी होने के साथ-साथ उदारवादी इस दृष्टि से है कि उसने राज्य को भी कभी एक साध्य नहीं माना है। ग्रीन के मतानुसार राज्य एक साध्य की प्राप्ति का साधन मात्र है और साध्य है—राज्य में रहने वाले व्यक्तियों का पूर्ण नैतिक विकास। ग्रीन बार-बार इस बात पर बल देता है कि संस्थाओं का अस्तित्व व्यक्तियों के लिए होता है, व्यक्तियों का अस्तित्व संस्थाओं के लिए नहीं। ग्रीन की स्वतन्त्रता की धारणा भी हीगल से भिन्न है और उसके अन्तर्गत व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास को सर्वोपरि महत्व प्रदान किया गया है। ग्रीन का विचार है कि व्यक्ति अपने अन्तःकरण की मांग पर राज्य की सत्ता का भी विरोध कर सकता है। ग्रीन का यह विचार उदारवादी धारणा के ही अनुरूप है।

इस प्रकार ग्रीन एक उदारवादी है, लेकिन वह वैसा परम्परागत उदारवादी विचारक नहीं है जो राज्य को 'एक आवश्यक बुराई' मानते हुए सामाजिक और आर्थिक जीवन में उसके प्रत्येक हस्तक्षेप का विरोध करते हैं। ग्रीन राज्य को एक आवश्यक बुराई मानने के स्थान पर उसे एक नैतिक संगठन मानता है। परम्परागत उदारवादियों मिल, आदि का विचार है कि राज्य का कार्य केवल रक्षा करना है। लेकिन ग्रीन के अनुसार राज्य का प्रमुख कर्तव्य व्यक्ति द्वारा उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करवाना है। राज्य यद्यपि व्यक्तियों को प्रत्यक्ष रूप से नैतिक नहीं वना सकता, लेकिन उसके द्वारा नैतिक विकास के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर कर उनके नैतिक विकास में सहायता पहुंचाई जा सकती है। इस दृष्टि से राज्य के द्वारा अज्ञान, शराबखोरी और भिखमंगापन, आदि बाधाओं को दूर किया जाना चाहिए और ऐसे कानूनों का निर्माण किया जाना चाहिए जो श्रमिक वर्ग के हितों की अधिकाधिक रक्षा करें और समस्त जनता को स्वास्थ्य तथा शिक्षा के क्षेत्र में अधिकाधिक सुविधाएं प्रदान करें। ग्रीन ने राज्य के द्वारा सद्जीवन के मार्ग की सभी बाधाओं को दूर करने की जो वात कही है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि उसने बीसवीं सदी के जनकल्याणकारी राज्य की नींव डाली।

उसने उदारवाद और आदर्शवाद दोनों के दोषों को दूर करते हुए एक समन्वयकारी और सन्तुलित विचारधारा का प्रतिपादन किया। ग्रीन की उपलब्धि यह थी कि उसने **उदारवाद को एक नया धार्मिक विश्वास प्रदान किया और उसे बदलती हुई परिस्थितियों में जनहित और जनतन्त्रात्मक व्यवस्था के अनुकूल बनाया। उदारवाद को यह नवीन रूप प्रदान कर ग्रीन ने सर्वाधिकार के विरुद्ध उदारवाद की रक्षा करने का ही कार्य किया है।**

उदारवाद की आलोचना

परम्परागत उदारवाद की तो लगभग उसी प्रकार से आलोचना की जाती है जिस प्रकार से व्यक्तिवाद की आलोचना की गयी है, क्योंकि परम्परागत उदारवाद व्यक्तिवाद की ही भांति आर्थिक क्षेत्र में राज्य के

अहस्तक्षेप की नीति का प्रतिपादन करता है। लेकिन इसके अतिरिक्त भी उदारवाद की कुछ आलोचनाएं की गयी हैं। उदारवाद के इन आलोचकों में **ब्रिटिश संसद के अनुदारवादी सदस्य एडमण्ड बर्क** का नाम सबसे प्रमुख रूप में लिया जा सकता है।

एडमण्ड बर्क के अनुसार उदारवाद की प्रथम और गम्भीर त्रुटि यह है कि इसके द्वारा इतिहास और परम्पराओं को उचित महत्व प्रदान नहीं किया गया है। परम्पराओं के पीछे पीढ़ियों का अनुभव निहित होता है और अतीत से एकदम और पूर्ण सम्बन्ध तोड़ लेना न तो सम्भव है और न ही उचित। आज का जीवन बहुत कुछ सीमा तक भूतकालीन परिस्थितियों का ही परिणाम है।

उदारवाद की आलोचना करते हुए यह भी कहा जा सकता है कि इस दर्शन में मानवीय वृद्धि को बहुत अधिक महत्व प्रदान किया गया है जो अनुचित है। वास्तव में मानवीय घटना-चक्र के निर्धारण में वृद्धि की अपेक्षा ईश्वरीय इच्छा और संयोग के द्वारा अधिक भाग लिया गया है।

उदारवादी राज्य को एक कृत्रिम संस्था और समझौते का परिणाम मानते हैं, लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं है। राज्य न तो किसी समझौते के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुआ है और न ही यह कोई व्यावसायिक ढंग की साझेदारी है, जिसे इच्छानुसार भंग किया जा सकता है। तथ्य यह है कि **राज्य उच्चतम मानवीय गुणों के विकास और महानतम् आदर्शों की प्राप्ति में क्रियाशील एवं शाश्वत संस्था है।**

आदर्शवादी और फासीवादी विचारक भी उदारवाद की आलोचना करते हुए कहते हैं कि उदारवाद में व्यक्ति को जिस प्रकार की पूर्ण स्वतन्त्रता देने की बात कही गयी है, वह तो मानवीय जीवन को एक प्रकार की पूर्ण अराजकता में परिणत कर देगी। समस्त समाज के विकास और सामूहिक जीवन की पूर्णता के लिए व्यक्तियों की स्वतन्त्रता को सीमित करना नितान्त आवश्यक हो जाता है।

मार्क्सवादी विचारकों के द्वारा भी उदारवाद की आलोचना की गयी है क्योंकि उनके अनुसार उदारवाद पूंजीपति वर्ग के हितों का पोषण करता है और पूंजीवाद का सहायक दर्शन है।

उदारवाद का प्रभाव और महत्व

आज उदारवादी दर्शन की आलोचना की जा सकती है। लेकिन यह एक तथ्य है कि 19वीं सदी में यूरोप तथा अमरीका में उदारवादी दर्शन सबसे अधिक प्रभावशाली था और इस दर्शन ने राष्ट्रों के इतिहास को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित किया। इसने यूरोप के विभिन्न राज्यों तथा अमरीका के औद्योगिक विकास को अत्यधिक प्रोत्साहित किया और इसके परिणामस्वरूप इन क्षेत्रों के निवासियों ने आर्थिक क्षेत्र में आश्चर्यजनक प्रगति की। इसके द्वारा मुक्त व्यापार पर बल दिया गया, जिसके परिणामस्वरूप विश्व के विभिन्न देश एक-दूसरे के समीप आये और एक विश्व बाजार का निर्माण हुआ। इसने धर्म तथा राजनीति को एक-दूसरे से पृथक् कर, धर्मनिरपेक्षता का मार्ग प्रशस्त किया, जो आज के प्रगतिशील युग का एक बहुत बड़ा प्रतीक है। इसने विशेषाधिकारों पर आधारित पुरानी व्यवस्था का अन्त कर स्वतन्त्रता, समानता तथा लोकतन्त्र का समर्थन किया। आज की संसदीय संस्थाएं और वयस्क मताधिकार का सिद्धान्त इस उदारवादी दर्शन की ही देन है। इसने राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त का समर्थन कर विभिन्न जातियों की राष्ट्रीय स्वाधीनता में महत्वपूर्ण योग दिया। उदारवाद की एक विशेषता यह रही है कि इसके द्वारा बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार सदैव ही अपने स्वरूप में परिवर्तन कर लिया गया। यदि परम्परागत उदारवाद पूंजीवाद का सहायक दर्शन रहा है तो आज का उदारवाद समाजवाद के समीप है। इस प्रकार **उदारवाद को लोकतन्त्र, राष्ट्रीय स्वाधीनता और आर्थिक प्रगति का दर्शन कहा जा सकता है।** पश्चिमी देशों पर उदारवाद के प्रभाव के सम्बन्ध में प्रो. लास्की लिखते हैं कि **"पिछले लगभग सौ वर्षों की अमरीकी सभ्यता के उदारवादी दर्शन को ही पूर्णता कहना अनुचित न होगा।"**[1]

समाजवाद

18वीं सदी के उत्तरार्द्ध और 19वीं सदी के प्रारम्भ में व्यक्तिवादी विचारधारा बहुत लोकप्रिय थी, लेकिन इस विचारधारा को अपनाने का सामाजिक, आर्थिक और औद्योगिक जीवन पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। फलस्वरूप व्यक्तिवादी विचारधारा के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई और इस प्रतिक्रिया के रूप में समाजवाद का जन्म

1 **"There is a sense, indeed in which American civilisation of the last hundred years may not illegitimately be regarded as the fulfilment of the liberal idea."**

—Laski, *The Rise of European Liberalism*, pp. 237-38.

हुआ। आधुनिक समय में समाजवाद बहुत अधिक लोकप्रिय है और प्रत्येक देश द्वारा किसी-न-किसी रूप में इसे ग्रहण करने का प्रयत्न किया जा रहा है। समाजवाद की इतनी अधिक लोकप्रियता के कारण ही समाजवाद का रूप बहुत अधिक अस्पष्ट हो गया है। सी. ई. एम. जोड (C. E. M. Joad) के शब्दों में कहा जा सकता है, **"समाजवाद एक ऐसे टोप के समान है जिसकी आकृति भंग हो गयी है क्योंकि हर कोई उसे धारण करने का प्रयत्न करता है।"**[1]

समाजवाद का अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द 'Socialism', 'Socius' से लिया गया है जिसका अर्थ है समाज और जैसा कि शब्द व्युत्पत्ति से स्पष्ट है समाजवाद, व्यक्तिवाद के नितान्त विरुद्ध समाज को केन्द्रीय मानने वाली और समाज पर आधारित विचारधारा है। समाजवाद का आधारभूत उद्देश्य समानता की स्थापना करना है और समाजवाद के अनुसार समानता की स्थापना के लिए स्वतन्त्र प्रतियोगिता का अन्त किया जाना चाहिए, राज्य द्वारा आर्थिक क्षेत्र में अधिकाधिक कार्य किये जाने चाहिए, उत्पादन के साधनों पर सम्पूर्ण समाज का अधिकार होना चाहिए और उत्पादन व्यवस्था का संचालन भी वर्गों के सामूहिक हितों को दृष्टि में रखते हुए किया जाना चाहिए। यद्यपि समाजवाद की परिभाषा का कार्य अत्यन्त कठिन है फिर भी विद्वानों द्वारा निम्न प्रकार से समाजवाद की परिभाषाएं देने का प्रयत्न किया गया है :

एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार, "समाजवाद वह नीति या सिद्धान्त है जिसका उद्देश्य केन्द्रीय लोकतन्त्रात्मक सत्ता के आधार पर उत्पादन और वितरण की वर्तमान व्यवस्था के स्थान पर एक श्रेष्ठ व्यवस्था स्थापित करना है।"[2]

सैलर्स के शब्दों में, "समाजवाद एक ऐसी जनतन्त्रात्मक विचारधारा है, जिसका उद्देश्य समाज में एक ऐसा आर्थिक संगठन स्थापित करना है जो कि व्यक्ति को अधिकतम न्याय और स्वाधीनता प्रदान कर सके।"[3]

रैमजे मेकडानल्ड के अनुसार, "सामान्य शब्दों में समाजवाद की इससे अच्छी परिभाषा नहीं दी जा सकती कि यह समाज की भौतिक तथा आर्थिक शक्तियों को संगठित करना और उन पर मानवीय शक्ति का नियन्त्रण स्थापित करना चाहता है।"[4]

भारतीय समाजवाद के नेता **स्व. जयप्रकाश नारायण** ने समाजवाद की परिभाषा करते हुए लिखा था कि, "समाजवादी समाज एक ऐसा वर्गविहीन समाज होगा, जिसमें सब श्रमजीवी होंगे। इस समाज में सारी सम्पत्ति सच्चे अर्थों में सार्वजनिक अथवा राष्ट्रीय सम्पत्ति होगी। अनार्जित आय तथा आय से सम्बन्धित भीषण असमानताएं सदैव के लिए समाप्त हो जायेंगी। ऐसे समाज में मानव जीवन तथा उनकी प्रगति योग्यतानुकूल होगी और सब लोग सबके हित के लिए जीवित रहेंगे।"

समाजवाद के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण बात यह है कि समाजवाद आधारभूत रूप में एक लोकतान्त्रिक विचारधारा है और इसे किसी भी रूप में समाजवाद का पर्यायवाची नहीं मान लिया जाना चाहिए। इबन्सटिन (Ebenstein) के शब्दों में, **"समाजवाद और साम्यवाद विचारधारा और जीवन मार्ग के रूप में उतने ही परस्पर भिन्न हैं जितने कि उदारवाद और सर्वाधिकारवाद।"**[5]

समाजवाद के अनुसार राज्य का कार्यक्षेत्र

समाजवादी विचारधारा के अनुसार राज्य का कार्यक्षेत्र व्यापकतम होना चाहिए और राज्य के द्वारा सभी अवस्थाओं में व्यक्ति के आचरण का नियमन और संचालन किया जाना चाहिए। इस विचारधारा के अनुसार राज्य के द्वारा वे सभी कार्य किये जाने चाहिए, जो व्यक्ति और समाज की उन्नति के लिए आवश्यक हों क्योंकि व्यक्ति एवं समाज की उन्नति के लिए किये जाने वाले कार्यों की कोई सीमा नहीं है, अतः सामाजिक

---

1 "Socialism is like a hat, that has lost its shape, because every-one wears it." —*C.E.M. Joad*

2 "Socialism is that policy or theory, which aims at securing by the action of the central democratic authority a better distribution and in due subordination there to a better production of welath than now prevails." —*Encyclopaedia Britannica.*

3 "Socialism is a democratic movement, whose purpose is the securing of an economic organisation society, which will give the maximum possible at any time of justice and liberty." —*Sellers*

4 "No better definition of Socialism can be given in general terms than that it aims at the organisation of the material economic forces of society and their control of the human forces." —*Ramsay Macdonald*

5 "Socialism and Communism represent two incompatible ways of thought and life, as incompatible as liberalism and totalitarianism." —W. Ebenstein, *Modern Political Thought*, p. 636.

जीवन के प्रायः सभी कार्य राज्य के अन्तर्गत आ जाते हैं। गार्नर के शब्दों में कहा जा सकता है कि **"इस सिद्धान्त के समर्थक व्यक्तिवादियों की भांति राज्य पर अविश्वास करके एवं बुराई मानकर उसके कार्यक्षेत्र को कम से कम करने के विपरीत राज्य को सर्वोच्च एवं निश्चित रूप से लाभप्रद मानते हैं और चाहते हैं कि राज्य के कार्य जनता के सामान्य, आर्थिक, बौद्धिक एवं नैतिक हितों की अभिवृद्धि करें।"**

साधारणतः यह कहा जा सकता है कि समाजवादी विचारधारा के अनुसार राज्य को आन्तरिक एवं बाहरी सुरक्षा एवं न्याय-व्यवस्था के साथ ही सार्वजनिक शिक्षा एवं स्वास्थ्य का प्रबन्ध करना चाहिए, उत्पादन में वृद्धि और आर्थिक विषमता के अन्त का प्रयत्न करना चाहिए। सभी व्यक्तियों के लिए स्वस्थ मनोरंजन का प्रबन्ध एवं अपाहिज और बूढ़े व्यक्तियों की सहायता करनी चाहिए और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग स्थापित करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

समाजवाद का समर्थन

समाजवाद का समर्थन प्रमुख रूप से निम्नलिखित आधारों पर किया जाता है :

(1) व्यक्तिवादी विकृतियों का निवारण—व्यक्तिवादी व्यवस्था में पूंजीपति द्वारा लाभ को दृष्टि में रखते हुए ही सम्पूर्ण औद्योगिक व्यवस्था का संचालन किया जाता है। एक वस्तु कभी तो मांग की अपेक्षा बहुत अधिक मात्रा में उत्पन्न हो जाती है और कभी बहुत कम। लाभ का बहुत बड़ा अंश पूंजीपति द्वारा अपने ही पास रख लिया जाता है और श्रमिक को कम-से-कम वेतन दिया जाता है। व्यक्तिवादी या पूंजीवादी व्यवस्था की इन बुराइयों को दूर करने का एक ही मार्ग है कि उत्पादन के साधनों पर सामूहिक स्वामित्व स्थापित किया जाय और समाजवाद इसी बात का प्रतिपादन करता है। अतः यह कहा जा सकता है कि पूंजीवादी व्यवस्था से उत्पन्न बुराइयों को दूर करने के लिए समाजवाद को अपनाना नितान्त आवश्यक है।

(2) समाजवादी व्यवस्था न्याय पर आधारित है—न्याय की यह मांग है कि भूमि तथा उत्पत्ति के अन्य प्राकृतिक साधनों पर किसी एक वर्ग का आधिपत्य न होकर सम्पूर्ण समाज का नियन्त्रण होना चाहिए और इन साधनों का उपयोग सभी व्यक्तियों के लाभ की दृष्टि से किया जाना चाहिए। यह कहा जा सकता है कि समाजवादी व्यवस्था सभी व्यक्तियों की आधारभूत समानता और न्याय के सिद्धान्त पर आधारित है।

(3) आंगिक एकता सिद्धान्त पर आधारित—व्यक्तिवाद व्यक्ति और समाज का चित्रण दो ऐसी पृथक् इकाइयों के रूप में करता है जिनके हित परस्पर विरोधी हों, किन्तु वास्तव में व्यक्ति और समाज में उसी प्रकार का सम्बन्ध होता है जिस प्रकार का सम्बन्ध शरीर और शरीर के अंगों में पाया जाता है। समाजवाद व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध के विषय में प्रचलित आंगिक एकता सिद्धान्त पर आधारित है और इस सत्य का प्रतिपादन करता है कि व्यक्ति और समाज के हित परस्पर विरोधी नहीं हो सकते हैं।

(4) संघर्ष के स्थान पर सहयोग की स्थापना—व्यक्तिवाद आन्तरिक क्षेत्र में वर्ग-संघर्ष को तथा बाहरी क्षेत्र में युद्ध को जन्म देता है, लेकिन समाजवाद दोनों ही क्षेत्रों में संघर्ष के स्थान पर सहयोग के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित करता है।

(5) समाजवादी व्यवस्था लोकतन्त्र के अनुरूप है—लोकतन्त्रीय व्यवस्था समानता के सिद्धान्त पर आधारित है, लेकिन उत्पादन के साधनों पर सामूहिक स्वामित्व एवं गम्भीर आर्थिक विषमता के अन्त के बिना यह समानता एक दिखावा मात्र बनकर रह जाती है। आर्थिक क्षेत्र में समाजवादी मार्ग को अपनाकर समानता की स्थापना की जा सकती है। अतः यह कहा जा सकता है कि समाजवाद लोकतन्त्र के नितान्त अनुरूप एवं उसका सहायक और पूरक है।

(6) यह अधिक स्वाभाविक है—समाजवाद पूंजीवाद की अपेक्षा स्वाभाविक है। प्रकृति जल और वायु प्रदान करने में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करती इसलिए यह वांछनीय है कि भूमि तथा खनिज पदार्थों पर भी सबका समान नियन्त्रण हो।

समाजवाद की आलोचना

पूंजीवादी व्यवस्था के अन्त के लिए समाजवाद एक सुन्दर मार्ग प्रस्तुत करता है। समाजवाद ने व्यक्तिवाद की अपेक्षा सामाजिक हित को उच्चतर स्थान प्रदान कर एक प्रशंसनीय कार्य किया है, किन्तु इन गुणों के होते हुए भी समाजवाद पूर्णतया दोषमुक्त नहीं है। इस व्यवस्था की प्रमुख रूप से अग्र आधारों पर आलोचना की जाती है :

(1) उत्पादन क्षमता में कमी—यह मानव स्वभाव है कि वह व्यक्तिगत लाभ की प्रेरणा के आधार पर ही ठीक प्रकार से कार्य कर सकता है। समाजवादी व्यवस्था में उत्पादन कार्य राज्य के हाथ में आ जाने और सभी व्यक्तियों का पारिश्रमिक निश्चित होने के कारण कार्य के लिए आधारभूत प्रेरणा का अभाव हो जाता है और व्यक्ति आलसी वन जाता है। उद्योगों के प्रवन्धकर्ता सरकारी अधिकारियों के सम्मुख लाभ का प्रश्न होने से समाज की आर्थिक उन्नति रुक जाती है।

(2) नौकरशाही का विकास—समाजवादी व्यवस्था में उद्योगों पर राजकीय नियन्त्रण होगा और उसका प्रबन्ध सरकारी अधिकारियों द्वारा किया जायगा। सरकारी अधिकारियों के हाथ में शक्ति आ जाने का स्वाभाविक परिणाम नौकरशाही का विकास होगा। काम की गति मन्द हो जायेगी, सरल-से-सरल कार्य देर से होंगे और घूंसखोरी तथा भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन मिलेगा।

(3) राज्य की कुशलता में कमी—समाजवादी व्यवस्था में राज्य के अधिकतम व्यापक कार्यक्षेत्र के कारण राज्य की कार्य-कुशलता में भी कमी आ जायगी। समाजवादी व्यवस्था में सार्वजनिक निर्माण सम्बन्धी उत्पादन, वितरण तथा श्रमिक विधान सम्बन्धी सभी कार्य राज्य द्वारा होंगे। इस सम्बन्ध में आलोचकों को इस बात का भय है कि राज्य के हाथ में सभी कार्यों के आ जाने पर भी कार्य ठीक प्रकार से सम्पन्न नहीं हो सकेगा। राज्य के द्वारा आधारभूत कार्यों में की गयी अकुशलता स्वयं राज्य के अस्तित्व के लिए भी भयंकर सिद्ध हो सकती है।

(4) मनुष्य का नैतिक पतन—समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत सभी कार्यों को करने की शक्ति राज्य के हाथ में आ जाने से आत्मनिर्भरता, आत्मविश्वास, साहस और आरम्भक के नैतिक गुणों का अन्त हो जायगा। मनुष्य आलसी और अकर्मण्य बन जायेंगे। यह एक स्वाभाविक बात है कि मनुष्य उसी सीमा तक विकास के लिए उन्मुख रहते हैं जिस सीमा तक उन्हें अपनी प्रतिभा के दर्शन हेतु क्षेत्र प्राप्त होता रहता है। समाजवादी व्यवस्था में उसे अपने विकास की नवीन दिशाएं प्राप्त न होने के कारण वह हतप्रभ हो जायगा और उसका नैतिक पतन हो जायगा। मनुष्य के नैतिक जीवन की वर्तमान स्थिति में समाजवादी व्यवस्था को अपनाने के फलस्वरूप भ्रष्टाचार, गुटवन्दी और व्यक्तिगत द्वेष में वृद्धि ही होगी।

(5) व्यक्तिवादी स्वतन्त्रता का अन्त—समाजवाद में राज्य के कार्य और शक्तियां इतनी वढ़ जाती हैं कि इसे व्यक्ति के प्रत्येक क्षेत्र में हस्तक्षेप करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। इससे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है।

(6) समाजवादी व्यवस्था अपव्ययी होगी—आलोचक यह भी कहते हैं कि समाजवादी व्यवस्था पूंजीवादी व्यवस्था की अपेक्षा आर्थिक दृष्टिकोण से अधिक खर्चीली होगी। जब सरकार के द्वारा किसी प्रकार का कार्य किया जाना होता है तो एक छोटे से कार्य के लिए अनेक कर्मचारी रखे जाते हैं और फिर भी यह कार्य सरलतापूर्वक सम्पन्न नहीं हो पाता।

(7) समाजवाद एक प्रकार की व्यवस्थित लूट है—समाजवाद को अन्यायपूर्ण कहते हुए भी इसकी आलोचना की जाती है। आलोचकों के अनुसार धनिक वर्ग अपने विवेक और परिश्रम के कारण ही धनवान बन सका है और धनिकों से उनका धन छीनकर उसे निर्धनों में वितरित करने की वात न्यायपूर्ण नहीं कही जा सकती है। डेविडसन समाजवाद को **''एक संगठित एवं व्यवस्थित लुटेरापन मानता है।''** इसी प्रकार लेवेलिये (Leveleye) ने कहा है कि **''समाजवाद इस सिद्धान्त पर आधारित है कि योग्य, परिश्रमी और भाग्यशाली व्यक्ति अपने गुणों और श्रम के पुरस्कार के रूप में जो प्राप्त करे मूर्ख, आलसी और अविवेकी व्यक्तियों में समान रूप से बांट दिया जाय।''**

महत्व—यद्यपि समाजवाद की इस प्रकार की आलोचनाएं की जाती हैं लेकिन वर्तमान समय में इस प्रकार की आलोचनाओं का कोई व्यावहारिक महत्व नहीं रहा है। व्यवहार में उद्योगों के राजकीय नियन्त्रण से न तो उनकी उत्पादन क्षमता में ही कोई कमी हुई है और न ही व्यक्ति के नैतिक स्तर का पतन हुआ है। इसके अतिरिक्त वर्तमान समय के राज्य जिस उत्साह और गति से समाजवादी व्यवस्था को अपनाने के लिए प्रयत्नशील हैं, उससे भी समाजवादी कार्यक्रम की उपादेयता और लोकप्रियता स्वतः स्पष्ट है।

लोककल्याणकारी राज्य की धारणा का अभ्युदय

साधारणतया लोककल्याणकारी राज्य का तात्पर्य एक ऐसे राज्य से होता है जिसके अन्तर्गत शासन की शक्ति का प्रयोग किसी वर्ग विशेष के कल्याण हेतु नहीं वरन् सम्पूर्ण जनता के कल्याण के लिए किया जाता है। इस रूप में लोककल्याणकारी राज्य का विचार नया नहीं है। भारत में प्राचीनकाल से रामराज्य की जो धारणा प्रचलित है, वह एक ऐसे राज्य का प्रतीक है, जिसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व का स्वतन्त्र रूप से सर्वांगीण विकास करने का प्रयत्न किया जाता है। यद्यपि भारतीय राजनीतिक विचारकों ने राजपद के दैवी उदय का प्रतिपादन किया है, लेकिन इसके साथ ही उन्होंने नरेशों के कर्तव्यों की विस्तृत विवेचना की है और उनका मूल विचार है कि राजा के द्वारा सभी कार्य लोककल्याण की दृष्टि से ही किये जाने चाहिए। **महाभारत, पाराशर की स्मृतियां तथा मार्कण्डेय, मनु और याज्ञवल्क्य**, आदि की विचारधारा में यह बात स्पष्टतया देखी जा सकती है। उदाहरणार्थ, वेदव्यास ने '**महाभारत**' में कहा है कि **"जो नरेश अपनी प्रजा को पुत्र के समान समझकर उसकी चतुर्मुखी उन्नति का प्रयत्न नहीं करता, वह नरक का भागी होता है।"** लगभग इसी प्रकार की धारणा यूनान के नगर राज्यों में प्रचलित थी। **प्लेटो** और **अरस्तू** द्वारा राज्य को एक नैतिक संगठन माना गया है, जिसका उद्देश्य किसी एक वर्ग के हित में नहीं वरन् सभी नागरिकों के हित में कार्य करना है। मध्ययुग में यद्यपि इस विचार के दर्शन नहीं होते, लेकिन 18वीं और 19वीं सदी में **टामस पेन, थामस जेफरसन, काण्ट, ग्रीन** और **बेन्थम** की विचारधाराओं में पुनः इस आदर्श को देखा जा सकता है कि राज्य अपने सभी सदस्यों के कल्याण में कार्य करे।

इस प्रकार अपने मूल रूप में लोककल्याणकारी राज्य की धारणा सदैव ही विद्यमान रही है, लेकिन वर्तमान समय में जिस अर्थ विशेष में इस धारणा का प्रयोग किया जाता है, वह वर्तमान परिस्थितियों की ही उपज है। इसे आधुनिक औद्योगीकरण की देन कहा जा सकता है। लोककल्याणकारी राज्य की धारणा का उदय प्रमुख रूप से निम्न प्रवृत्तियों का परिणाम है :

(1) **व्यक्तिवाद के प्रति प्रतिक्रिया**—18वीं सदी के उत्तरार्द्ध और 19वीं सदी के प्रारम्भ में विश्व के अधिकांश राज्यों द्वारा व्यक्तिवादी '**यदभाव्यम् नीति**' (Laissez faire) को अपना लिया गया था और इस नीति के अनुसार राज्य के कार्यक्षेत्र को सीमित कर दिया गया था। इस नीति को अपनाने के परिणामस्वरूप यूरोप के राज्य अधिकाधिक सम्पत्तिशाली वनते गये, लेकिन इसके साथ ही सम्पत्ति का केवल कुछ ही हाथों में केन्द्रीकरण भी होने लगा। एक ओर तो अत्यधिक सम्पत्तिशाली वर्ग उत्पन्न हो गया, दूसरी ओर एक ऐसा श्रमिक वर्ग था जिसके पास अपनी क्षमता से अधिक कार्य करने पर भी जीवन के साधन नहीं थे। ऐसी स्थिति में बहुसंख्यक जनता में विद्यमान व्यवस्था के प्रति असन्तोष उत्पन्न हुआ और **रस्किन, कार्लायल, विलियम गाडविन**, आदि विद्वानों द्वारा इस असन्तोष की अभिव्यक्ति की गयी। बुद्धिजीवियों के एक बड़े भाग द्वारा यह मांग की गयी कि राज्य के द्वारा अपने बहुसंख्यक वर्ग की दुर्दशा एक शान्त दर्शक के रूप में देखने के बजाय इस स्थिति में सुधार करने के लिए सक्रिय कदम उठाये जाने चाहिए।

(2) **मार्क्सवाद का उदय और पूंजीवादी राज्यों पर उसकी प्रतिक्रिया**—व्यक्तिवादी व्यवस्था को नष्ट करने के उद्देश्य से ही 1848 में कार्ल मार्क्स और ऐंजिल्स ने '**समाजवादी घोषणापत्र**' (*Communist Manifesto*) प्रकाशित किया। साम्यवादी विचारधारा से प्रेरणा ग्रहण करते हुए ही 1917 में सोवियत रूस में सर्वहारा वर्ग द्वारा एक सफल क्रान्ति की गयी और तमाम आन्तरिक एवं बाहरी विरोधों के वावजूद सोवियत रूस में सुव्यवस्थित रूप में साम्यवादी शासन-व्यवस्था स्थापित हो गयी। यह साम्यवादी व्यवस्था निश्चित रूप से पाश्चात्य देशों में प्रचलित पूंजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध और उनके लिए भय का एक कारण थी। ऐसी स्थिति में पूंजीवादी देशों ने अपनी व्यवस्था पर पुनर्विचार करना प्रारम्भ किया और वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि विद्यमान व्यवस्था को बनाये रखने के लिए इसमें कुछ मौलिक परिवर्तन किये जाने आवश्यक हैं। साम्यवाद के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के लिए उनके द्वारा अपनी शासन-व्यवस्था को सर्वजन हितकारी बनाने का प्रयत्न किया गया।

(3) **विकासवादी समाजवाद का प्रभाव**—19वीं और 20वीं सदी में समाजवाद के एक अन्य रूप '**विकासवादी समाजवाद**' का प्रभाव भी वढ़ने लगा है। इस विचारधारा का उद्देश्य क्रान्ति और हिंसात्मक मार्ग से दूर रहते हुए शान्तिपूर्ण और संवैधानिक साधनों एवं शिक्षा के माध्यम से समाजवादी विचारों का प्रसार करके देश की अर्थव्यवस्था को समाजवादी ढंग से संचालित करना था। विकासवादी समाजवाद के द्वारा इस बात पर जोर

दिया गया कि राज्य के द्वारा समाज के निम्नतर वर्गों की स्थिति में सुधार करने के लिए आवश्यक प्रयत्न किये जाने चाहिए। लोककल्याणकारी राज्य इस प्रवृत्ति का स्वाभाविक परिणाम था।

(4) मताधिकार का विस्तार और लोकतन्त्र का विकास—18वीं सदी के अन्त तक ब्रिटेन, आदि लोकतन्त्रीय राज्यों में सीमित मताधिकार की ही व्यवस्था थी, अतः राज्य द्वारा निम्न वर्गों के हितों की उपेक्षा की जा सकती थी। लेकिन 1832 के सुधार कानून से ब्रिटेन में मताधिकार का विस्तार होने लगा और वीसवीं सदी में भारत, आदि राज्यों में वयस्क मताधिकार को अपना लिया गया। इन राज्यों के लिए अपने बहुसंख्यक मतदाताओं (निम्न वर्गों) की स्थिति पर ध्यान देना जरूरी हो गया। निम्न वर्गों की स्थिति में सुधार के लिए राज्य के कार्यक्षेत्र को व्यापक करना आवश्यक था, अतः लोककल्याण की प्रवृत्ति को अपनाया गया।

इसके अतिरिक्त, यह भी सोचा जाने लगा कि प्रजातन्त्र का अर्थ केवल मतदान का अधिकार नहीं है वरन् जनता को राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक क्षेत्र में अनेक सुविधाएं प्रदान कर उसके जीवन को सुखपूर्ण, सम्मानित तथा नैतिक रूप से श्रेष्ठतर बनाना है। प्रजातन्त्र को वास्तविकता प्रदान करने के लिए लोककल्याण की प्रवृत्ति को अपनाना आवश्यक था और ऐसा ही किया गया।

उपर्युक्त प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप आज विश्व के अधिकांश राज्यों द्वारा लोककल्याण की धारणा को अपना लिया गया है।

लोककल्याणकारी राज्य की परिभाषा

अपने वर्तमान रूप में लोककल्याणकारी राज्य की प्रमुख रूप से इस प्रकार से परिभाषाएं की गयी हैं :

1918 में प्रकाशित 'Encyclopaedia of Social Sciences' में लोककल्याणकारी राज्य की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि **"लोककल्याणकारी राज्य का तात्पर्य एक ऐसे राज्य से है जो अपने सभी नागरिकों को न्यूनतम जीवनस्तर प्रदान करना अपना अनिवार्य उत्तरदायित्व समझता है।"**

टी. डब्ल्यू. केण्ट के अनुसार, **"लोकहितकारी वह राज्य है जो अपने नागरिकों के लिए व्यापक समाज सेवाओं की व्यवस्था करता है।"[1] इन समाज सेवाओं के अनेक रूप होते हैं। इनके अन्तर्गत शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार और वृद्धावस्था में पेंशन, आदि की व्यवस्था होती है। इनका मुख्य उद्देश्य नागरिकों को सभी प्रकार की सुरक्षा प्रदान करना होता है।**

डॉ. अब्राहम के अनुसार, **"कल्याणकारी राज्य वह है जो अपनी आर्थिक व्यवस्था का संचालन आय के अधिकाधिक समान वितरण के उद्देश्य से करता है।"[2]**

जवाहरलाल नेहरू ने अपने एक भाषण में लोककल्याणकारी राज्य को परिभाषित करते हुए कहा था, "सबके लिए समान अवसर प्रदान करना, अमीरों और गरीबों के बीच अन्तर मिटाना और जीवन स्तर को ऊपर उठाना लोकहितकारी राज्य के आधारभूत तत्व हैं।"

उपर्युक्त सभी परिभाषाओं में लोककल्याण के आर्थिक पक्ष पर अधिक बल दिया गया है, परन्तु कल्याण की धारणा केवल भौतिक ही नहीं, वरन् मानवीय स्वतन्त्रता और प्रकृति से भी सम्बन्धित है। सन् 1954 में मैसूर विश्वविद्यालय में दीक्षान्त भाषण देते हुए न्यायमूर्ति छागला ने लोककल्याणकारी राज्य की सही धारणा को व्यक्त करते हुए कहा था, **"लोककल्याणकारी राज्य का कार्य एक ऐसे पुल का निर्माण करना है जिसके द्वारा व्यक्ति जीवन की पतित अवस्था से निकलकर एक ऐसी अवस्था में प्रवेश कर सके, जो उत्थानकारी और उद्देश्यपूर्ण है। लोककल्याणकारी राज्य का यथार्थ उद्देश्य नागरिक द्वारा सच्ची स्वतन्त्रता के उपभोग को सम्भव बनाना है।"**

इस प्रकार लोककल्याणकारी राज्य का अर्थ है राज्य के कार्यक्षेत्र का विस्तार। राज्य के कार्यक्षेत्र के विस्तार का अर्थ प्रायः व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर बन्धन लिया जाता है, लेकिन कल्याणकारी राज्य का अर्थ राज्य के कार्यक्षेत्र का इस प्रकार विस्तार करना होता है कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर कोई विशेष बन्धन न लगे, राज्य के कार्यक्षेत्र के साथ-ही-साथ व्यक्ति का भी अपना स्वतन्त्र कार्यक्षेत्र हो। वास्तव में, लोककल्याणकारी राज्य की धारणा पश्चिमी प्रजातन्त्र और साम्यवादी अधिनायकतन्त्र दोनों से ही भिन्न है। पश्चिमी प्रजातन्त्र

1 **"It (welfare state) is a state that provides for its citizens, a wide range of social services."**
—*T. W. Kent*

2 **"A welfare state is a community, where state's power is deliberately used to modify the normal play of economic forces, so as to obtain a more equal distribution of income for every citizen."**
—*Dr. Abraham*

राजनीतिक स्वतन्त्रता को एक ऐसी स्थिति प्रदान करता है, जिसके अन्तर्गत नागरिकों को आर्थिक सुरक्षा प्राप्त नहीं होती! इसके विपरीत, आर्थिक सुरक्षा के विचार पर आधारित साम्यवादी अधिनायकतन्त्र में राजनीतिक स्वतन्त्रता का अभाव होता है।

लेकिन लोककल्याणकारी राज्य की धारणा राजनीतिक स्वतन्त्रता और आर्थिक सुरक्षा के वीच सामंजस्य का सफल प्रयल है। होब्मेन (Hobman) के शब्दों में, **''यह (कल्याणकारी राज्य) दो अतिथियों में एक समझौता है जिसमें एक तरफ साम्यवाद है तो दूसरी तरफ अनियन्त्रित व्यक्तिवाद।''**[1] लोककल्याणकारी राज्य लोकहित पर आधारित होता है और इस सम्बन्ध में लोकहित से हमारा तात्पर्य राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से अवसर की असमानता को दूर कर उसकी साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति करना होता है। इस व्यवस्था का उद्देश्य किसी एक समुदाय या वर्ग विशेष के हितों की साधना न होकर जनता के सभी वर्गों के आवश्यक हितों की साधना होता है।

लोककल्याणकारी राज्य के लक्षण

लोककल्याणकारी राज्य की उपर्युक्त धारणा को दृष्टि में रखते हुए इस प्रकार के राज्य के प्रमुख रूप से निम्नलिखित लक्षण बताये जा सकते हैं :

(1) आर्थिक सुरक्षा की व्यवस्था—लोककल्याणकारी राज्य प्रमुख रूप से आर्थिक सुरक्षा के विचार पर आधारित है। हमारा अब तक का अनुभव स्पष्ट करता है कि शासन का रूप चाहे कुछ भी हो, व्यवहार में राजनीतिक शक्ति उन्हीं लोगों के हाथों में केन्द्रित होती है, जो आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली होते हैं। अतः राजनीतिक शक्ति को जनसाधारण में निहित करने और जनसाधारण के हित में इसका प्रयोग करने के लिए आर्थिक सुरक्षा की व्यवस्था नितान्त आवश्यक है। लोककल्याणकारी राज्य के सन्दर्भ में आर्थिक सुरक्षा का तात्पर्य निम्नलिखित तीन बातों से लिया जा सकता है :

(क) सभी व्यक्तियों को रोजगार—ऐसे सभी व्यक्तियों को जो शारीरिक और मानसिक दृष्टि से कार्य करने की क्षमता रखते हैं, राज्य के द्वारा उनकी योग्यतानुसार उन्हें किसी न किसी प्रकार का कार्य अवश्य ही दिया जाना चाहिए। जो व्यक्ति किसी भी प्रकार का कार्य करने में असमर्थ हैं या राज्य जिन्हें कार्य प्रदान नहीं कर सका है उनके जीवन-यापन के लिए राज्य द्वारा **'बेरोजगारी बीमे'** की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(ख) न्यूनतम जीवन-स्तर की गारण्टी—एक मनुष्य को अपने कार्य के बदले में इतना पारिश्रमिक अवश्य ही मिलना चाहिए कि उसके द्वारा न्यूनतम जीवन स्तर की प्राप्ति की जा सके। न्यूनतम जीवन-स्तर के सम्बन्ध में अर्थशास्त्री क्राउथर ने कहा है कि **''नागरिकों के लिए अधिकार रूप में उन्हें स्वस्थ बनाये रखने के लिए पर्याप्त भोजन की व्यवस्था की जानी चाहिए। निवास, वस्त्र, आदि के न्यूनतम जीवन-स्तर की ओर से उन्हें चिन्तारहित होना चाहिए। शिक्षा का उन्हें पूर्णतया समान अवसर प्राप्त होना चाहिए और बेरोजगारी, बीमारी तथा वृद्धावस्था के दुख से उनकी रक्षा की जानी चाहिए।''** लोककल्याणकारी राज्य में किसी एक के लिए अधिकता के पूर्व सबके लिए पर्याप्त की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(ग) अधिकतम समानता की स्थापना—सम्पत्ति और आय की पूर्ण समानता न तो सम्भव है और न ही वांछनीय तथापि आर्थिक न्यूनतम के पश्चात होने वाली व्यक्ति की आय का उसके समाज सेवा सम्बन्धी कार्य से उचित अनुपात होना चाहिए। जहां तक सम्भव हो व्यक्तियों की आय के न्यूनतम और अधिकतम स्तर में अत्यधिक अन्तर नहीं होना चाहिए। इस सीमा तक आय की समानता तो स्थापित की ही जानी चाहिए कि कोई बी व्यक्ति अपने धन के आधार पर दूसरे का शोषण न कर सके।

(2) राजनीतिक सुरक्षा की व्यवस्था—लोककल्याणकारी राज्य की दूसरी विशेषता राजनीतिक सुरक्षा की व्यवस्था कही जा सकती है। इस प्रकार की व्यवस्था की जानी चाहिए कि राजनीतिक शक्ति सभी व्यक्तियों में निहित हो और ये अपने विवेक के आधार पर इस राजनीतिक शक्ति का प्रयोग कर सकें। इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु निम्न बातें आवश्यक हैं :

(क) लोकतन्त्रीय शासन—राजतन्त्र, अधिनायकतन्त्र या कुलीनतन्त्र के अन्तर्गत व्यक्ति अपने विवेक के आधार पर राजनीतिक कर्त्तव्यों का सम्पादन नहीं कर सकता। वस्तुतः इन शासन-व्यवस्थाओं में उसके कोई राजनीतिक अधिकार होते ही नहीं हैं। लोककल्याणकारी राज्य में व्यक्ति के राजनीतिक हितों की साधना को

1 D. L. Hobman, *The Welfare State*, p. 1.

भी आर्थिक हितों की साधना के समान ही समझा जाता है, अतः एक लोकतन्त्रीय शासन-व्यवस्था वाला राज्य ही लोककल्याणकारी राज्य हो सकता है।

(ख) **नागरिक स्वतन्त्रताएं**—संविधान द्वारा लोकतन्त्रीय शासन की स्थापना कर देने से ही राजनीतिक सुरक्षा प्राप्त नहीं हो जाती। व्यवहार में राजनीतिक सुरक्षा के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए नागरिक स्वतन्त्रता का वातावरण होना चाहिए, अर्थात् नागरिकों को विचार-अभिव्यक्ति और राजनीतिक दलों के संगठन की स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होनी चाहिए। इन स्वतन्त्रताओं के अभाव में लोकहित की साधना नहीं हो सकती और लोकहित की साधना के बिना लोककल्याणकारी राज्य, आत्मा के बिना शरीर के समान होगा।

सोवियत रूस जैसे साम्यवादी राज्यों में नागरिकों के लिए नागरिक स्वतन्त्रताओं और परिणामतः राजनीतिक सुरक्षा का अभाव होने के कारण उन्हें लोककल्याणकारी राज्य नहीं कहा जा सकता।

(3) **सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था**—सामाजिक सुरक्षा का तात्पर्य सामाजिक समानता से है और इस सामाजिक समानता की स्थापना के लिए आवश्यक है कि धर्म, जाति, वंश, रंग, सम्पत्ति के आधार पर उत्पन्न भेदों का अन्त करके व्यक्ति को व्यक्ति के रूप में महत्व प्रदान किया जाय। डॉ. बेनीप्रसाद के शब्दों में, **"सामाजिक समानता का सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि प्रत्येक व्यक्ति के सुख का महत्व हो सकता है तथा किसी को भी अन्य किसी के सुख का साधन-मात्र नहीं समझा जा सकता है।"** वस्तुतः लोककल्याणकारी राज्य में जीवन के सभी पक्षों में समानता के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया जाना चाहिए।

(4) **राज्य के कार्यक्षेत्र में वृद्धि**—लोककल्याणकारी राज्य का सिद्धान्त व्यक्तिवादी विचार के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया है और इस मान्यता पर आधारित है कि राज्य को वे सभी जनहितकारी कार्य करने चाहिए, जिनके करने से व्यक्ति की स्वतन्त्रता नष्ट या कम नहीं होती। इसके द्वारा न केवल आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक सुरक्षा की व्यवस्था वरन् जैसा कि हॉब्सन ने कहा है, **"डॉक्टर, नर्स, शिक्षक, व्यापारी, उत्पादक, बीमा कम्पनी के एजेण्ट, मकान बनाने वाले, रेलवे नियन्त्रक तथा सैकड़ों रूपों में कार्य किया जाना चाहिए।"**

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना—इन सबके अतिरिक्त एक लोककल्याणकारी राज्य, अपने राज्य विशेष के हितों से ही सम्बन्ध न रखकर अन्तर्राष्ट्रीय होता है। वैज्ञानिक प्रगति तथा राजनीतिक चेतना के विकास ने विश्व के सभी देशों को एक-दूसरे के इतना निकट ला दिया है कि त्रस्त मानवता के बीच में अकेला राज्य अपना जीवन सुखपूर्वक व्यतीत नहीं कर सकता है। एक कल्याणकारी राज्य तो **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** अर्थात् **'सम्पूर्ण विश्व ही मेरा कुटुम्ब है'** के विचार पर आधारित होता है।

लोक कल्याणकारी राज्य के कार्य

परम्परागत विचारधारा राज्य के कार्यों को दो वर्गों (अनिवार्य तथा ऐच्छिक) में विभाजित करने की रही है और यह माना जाता रहा है कि अनिवार्य कार्य तो राज्य के अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए किये जाने जरूरी हैं, किन्तु ऐच्छिक कार्य राज्य की जनता के हित में होते हुए भी राज्य के द्वारा उनका किया जाना तत्कालीन समय की विशेष परिस्थितियों और शासन के दृष्टिकोण पर निर्भर करता है, लेकिन लोककल्याणकारी राज्य की धारणा के विकास के परिणामस्वरूप अनिवार्य और ऐच्छिक कार्यों की वह सीमा रेखा समाप्त हो गयी है और अब यह माना जाने लगा है कि परम्परागत रूप में ऐच्छिक कहे जाने वाले कार्य भी राज्य के लिए उतने ही आवश्यक हैं जितने कि अनिवार्य समझे जाने वाले कार्य। लोककल्याणकारी राज्य के प्रमुख कार्य निम्न प्रकार हैं :

(1) **आन्तरिक सुव्यवस्था तथा विदेशी आक्रमणों से रक्षा**—एक राज्य जब तक विदेशी आक्रमण से अपनी भूमि और सम्मान की रक्षा करने की क्षमता नहीं रखता और आन्तरिक शान्ति और व्यवस्था स्थापित रखते हुए व्यक्तियों को जीवन की सुरक्षा का आश्वासन नहीं देता, उस समय तक वह राज्य कहलाने का ही अधिकारी नहीं है। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए राज्य सेना और पुलिस रखता है, सरकारी कर्मचारी तथा न्याय की व्यवस्था करता है और इन कार्यों से सम्बन्धित व्यय को पूरा करने के लिए नागरिकों पर कर लगाता है।

(2) **व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों और राज्य एवं व्यक्तियों के सम्बन्धों की व्यवस्था**—मानव के स्वार्थी होने और उनकी पृथक्-पृथक् विचारशीलता होने के कारण उनके विचारों और कार्यों में भेद होता है और किन्हीं प्रतिबन्धों के अभाव में विचारों और कार्यों का भेद संघर्ष का रूप ग्रहण कर सकता है। अतः राज्य

के द्वारा व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियन्त्रण किया जाता है। इसके लिए राज्य कानूनों का निर्माण करता है एवं पुलिस और न्यायालयों की सहायता से उन्हें कार्य में परिणत करता है। इसके अतिरिक्त, वर्तमान समय में व्यक्ति एवं राज्य के सम्बन्धों को नियमित करना भी आवश्यक हो गया है और यह कार्य भी राज्य के द्वारा ही किया जाता है। राज्य का यह कार्य अधिक महत्वपूर्ण है और इस कार्य को भली-भांति सम्पन्न करने पर ही व्यक्तियों की स्वतन्त्रता एवं राज्य की सत्ता निर्भर करती है।

(3) कृषि उद्योग तथा व्यापार का नियमन और विकास—लोककल्याणकारी राज्य के दायित्व एक ऐसे राज्य के द्वारा ही पूरे किये जा सकते हैं जो आर्थिक दृष्टि से पर्याप्त सम्पन्न हो, अतः इस प्रकार के राज्य के द्वारा कृषि, उद्योग तथा व्यापार के नियमन एवं विकास का कार्य किया जाना चाहिए। इसमें मुद्रा निर्माण, प्रामाणिक माप और तौल की व्यवस्था, व्यवसायों का नियमन, कृषकों को राजकोषीय सहायता, नहरों का निर्माण, वीज वितरण के लिए गोदाम खोलना और कृषि सुधार, इत्यादि विषय सम्मिलित हैं। राज्य के द्वारा जंगल, आदि प्राकृतिक साधनों और सम्पत्ति की रक्षा की जानी चाहिए और कृषि तथा उद्योगों के वीच सन्तुलन स्थापित किया जाना चाहिए।

(4) आर्थिक सुरक्षा सम्बन्धी कार्य—लोककल्याणकारी राज्य का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य आर्थिक सुरक्षा सम्बन्धी होता है। आर्थिक सुरक्षा के अन्तर्गत अनेक वातें सम्मिलित हैं, जिनमें सभी व्यक्तियों को रोजगार और अधिकतम समानता की स्थापना प्रमुख है। ऐसे व्यक्तियों को जो शारीरिक और मानसिक दृष्टि से कार्य करने की क्षमता रखते हैं, राज्य के द्वारा उन्हें उनकी योग्यता के अनुसार किसी-न-किसी प्रकार का कार्य अवश्य ही दिया जाना चाहिए। जो व्यक्ति किसी भी प्रकार कार्य करने में असमर्थ हैं या राज्य जिन्हें कार्य नहीं प्रदान कर सका है उनके लिए राज्य द्वारा **'जीवन निर्वाह भत्ते'** की व्यवस्था की जानी चाहिए।

लोककल्याणकारी राज्य के द्वारा यद्यपि आय की पूर्ण समानता स्थापित नहीं की जा सकती, लेकिन जहां तक सम्भव हो, व्यक्तियों की आय के न्यूनतम स्तर में अधिक अन्तर नहीं होना चाहिए। इस सीमा तक आय की समानता तो स्थापित की ही जानी चाहिए कि कोई भी व्यक्ति अपने धन के आधार पर दूसरे का शोषण न कर सके।

(5) जनता के जीवन-स्तर को ऊंचा उठाना—लोककल्याणकारी राज्य के द्वारा नागरिकों को न्यूनतम जीवन-स्तर की गारण्टी दी जानी चाहिए। ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि नागरिकों को अपने आपको स्वस्थ बनाये रखने के लिए पर्याप्त भोजन, वस्तु, निवास, शिक्षा और स्वास्थ्य की सामान्य सुविधाएं अवश्य ही प्राप्त हों। इसके साथ ही राज्य के द्वारा नागरिकों के जीवन-स्तर को उत्तरोत्तर ऊंचा उठाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

(6) शिक्षा और स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्य—लोककल्याणकारी राज्य का उद्देश्य व्यक्तियों के लिए उन सभी सुविधाओं की व्यवस्था करना होता है जो उनके व्यक्तित्व के विकास हेतु सहायक और आवश्यक हैं। इस दृष्टि से शिक्षा और स्वास्थ्य की सुविधा का विशेष उल्लेख किया जा सकता है। इस प्रकार का राज्य शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना करता है और एक निश्चित स्तर तक शिक्षा को अनिवार्य तथा निःशुल्क किया जाता है। औद्योगिक तथा प्राविधिक शिक्षा की व्यवस्था भी राज्य द्वारा की जाती है। इसी प्रकार चिकित्सागृहों तथा प्रसवगृहों, आदि की स्थापना की जाती है जिनका उपयोग जनसाधारण निःशुल्क कर सकते हैं।

(7) सार्वजनिक सुविधा सम्बन्धी कार्य—लोककल्याणकारी राज्य के द्वारा परिवहन, संचार साधन, रेडियो, सिंचाई के साधन, बैंक, विद्युत, कृषि के वैज्ञानिक साधनों, आदि की व्यवस्था से सम्बन्धित सार्वजनिक सुविधा के कार्य किये जाते हैं। यद्यपि इन सुविधाओं के लिए राज्य द्वारा शुल्क प्राप्त किया जाता है, किन्तु इन सुविधाओं का महत्व इस दृष्टि से है कि व्यक्ति अपने लिए इन साधनों की व्यवस्था नहीं कर सकता, साधनसम्पन्न राज्य ही कर सकता है। इसके अतिरिक्त, इन सुविधाओं के लिए राज्य द्वारा उचित शुल्क ही प्राप्त किया जाता है और जो कुछ लाभ होता है, वह सार्वजनिक कोष में जाता है तथा उसका उपयोग भी स्वाभाविक रूप से अधिक सार्वजनिक सुविधाएं प्रदान करने के लिए ही किया जाता है।

(8) समाज सुधार—लोककल्याणकारी राज्य का लक्ष्य व्यक्तियों का न केवल आर्थिक वरन् सामाजिक कल्याण भी होता है। इस दृष्टि से राज्य के द्वारा मद्यपान, बाल-विवाह, छुआछूत, जाति-व्यवस्था, आदि परम्परागत सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के उपाय किये जाने चाहिए।

(9) आमोद-प्रमोद की सुविधाएं—जनता को स्वस्थ मनोरंजन की सुविधाएं प्रदान करने के लिए राज्य के द्वारा सार्वजनिक उद्यानों, क्रीड़ा-क्षेत्रों, सार्वजनिक तरण-तालों (Swimming Pools), सिनेमागृहों, रंगमंच, रेडियो, आदि का प्रवन्ध करना चाहिए।

(10) नागरिक स्वतन्त्रताओं की व्यवस्था—इन राज्यों के द्वारा अपने सभी नागरिकों को विचार अभिव्यक्ति, सम्मेलन, संगठन, आदि की स्वतन्त्रता प्रदान की जानी चाहिए, जिससे लोकतान्त्रिक आदर्श की व्यावहारिक प्राप्ति सम्भव हो सके।

(11) अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र के कार्य—लोक कल्याण का आदर्श किसी एक राज्य विशेष से नहीं वरन् समस्त मानवता से सम्बन्ध रखता है, अतः एक लोककल्याणकारी राज्य द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र के अन्तर्गत युद्ध ही नहीं वरन् अधिकाधिक राज्यों के साथ सद्भावना और सहयोग का मार्ग अपनाया जाना चाहिए। अपने अस्तित्व और सीमाओं या सम्मान की रक्षा के लिए उनके द्वारा शक्ति का प्रयोग किया जा सकता है, किन्तु राजनीतिक या आर्थिक स्वार्थों की पूर्ति हेतु उसके द्वारा अन्य किसी राज्य के विरुद्ध वल प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए।

ऊपर लोककल्याणकारी राज्य के कुछ कर्तव्य गिनाने गये हैं, किन्तु लोककल्याणकारी राज्य के समस्त कर्तव्यों की सूची तैयार कर सकना सम्भव नहीं है। व्यक्ति के जीवन में राज्य हस्तक्षेप कहां से प्रारम्भ हो और कहां पर समाप्त हो जाय इस सम्वन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। इस प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर स्थानीय तथा राष्ट्रीय परिस्थितियों और आवश्यकता के सन्दर्भ में ही दिया जा सकता है। आज की जटिल परिस्थितियों में कोई भी व्यक्ति केवल अपने लिए या अपने ही प्रयास से जीवित नहीं रह सकता है और समाज द्वारा जन-हितकारी कार्यों का सम्मान अच्छे जीवन की एक आवश्यकता वन गयी है। अतः राज्य के द्वारा अपने नागरिकों को वे समस्त सुविधाएं प्रदान की जानी चाहिए जो उनके सामूहिक कल्याण की वृद्धि करने वाली हों।

लोककल्याणकारी राज्य का मूल्यांकन

यद्यपि लोककल्याणकारी राज्य वर्तमान समय की सर्वाधिक लोकप्रिय प्रवृत्ति है, फिर भी लोककल्याणकारी राज्य के विरुद्ध कुछ तर्क दिये जाते हैं जो इस प्रकार हैं :

(1) वैयक्तिक स्वतन्त्रता का हनन—कुछ व्यक्तियों का कहना है कि लोककल्याण की प्रवृत्ति को अपना लेने पर जव राज्य के कार्य वहुत अधिक वढ़ जाते हैं, तो स्वभावतः राज्य की शक्तियों में वृद्धि होती है और अति शक्तिशाली राज्य तो वैयक्तिक स्वतन्त्रता को समाप्त कर देता है। अमरीकी राज्य सचिव **वायर्नेस** ने इसी आधार पर इनमें **'विकराल सरकार'** (Big Government) की झलक पायी थी।

(2) ऐच्छिक समुदाय पर आघात—जब लोककल्याण की प्रवृत्ति को अपना लेने पर राज्य के कार्य वहुत अधिक वढ़ जाते हैं तो राज्य अनेक ऐसे कार्य करने लगता है जो वर्तमान समय में ऐच्छिक समुदायों के लिए घातक होते हैं और मानव जीवन के सम्वन्ध में उपयोगी भूमिका निभाने वाले ऐच्छिक समुदाय समाप्त हो जाते हैं।

(3) नौकरशाही का भय—लोककल्याणकारी प्रवृत्ति को अपना लेने पर राज्य नौकरशाही में भी बहुत अधिक वृद्धि होगी और नौकरशाही में यह अत्यधिक वृद्धि लालफीताशाही, भाई-भतीजावाद, भ्रष्टाचार, आदि अन्य वुराइयों को जन्म देगी।

(4) अत्यधिक खर्चीला—लोककल्याणकारी राज्य बहुत अधिक खर्चीला आदर्श है, क्योंकि राज्य को विभिन्न लोककल्याणकारी सेवाएं सम्पादित करने में बहुत अधिक धनराशि की आवश्यकता होती है। सामान्य आर्थिक साधनों वाला राज्य इस प्रकार का व्यय भार वहन नहीं कर सकता। **सीनेटर टाफ्ट** ने इसी कारण कहा है कि **''लोककल्याण की नीति राज्य को दिवालियापन की ओर ले जायेगी।''**

लोककल्याणकारी राज्य के जो उपर्युक्त दोष बताये जाते हैं, उनके कारण लोककल्याणकारी राज्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वास्तव में, ये दोष लोककल्याणकारी राज्य के नहीं, वरन् मानवीय जीवन की दुर्वलताओं के हैं। **सर्वप्रथम**, लोककल्याणकारी राज्य का तात्पर्य राज्य द्वारा व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन पर अधिकार नहीं है। लोककल्याणकारी राज्य में न केवल व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए एक वहुत बड़ा क्षेत्र वच जाता है, वरन् यह व्यक्ति की स्वतन्त्रता को वास्तविकता का रूप प्रदान करता है। लोककल्याणकारी राज्य के कारण ऐच्छिक समुदायों के कार्यक्षेत्र पर भी कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता। इससे उनके कार्य और

महत्व में वृद्धि होती है, कमी नहीं। जहां तक नौकरशाही की बुराइयों का सम्बन्ध है, वे तो दोषपूर्ण राज्य व्यवस्था और मानवीय चरित्र की दुर्वलता के परिणाम हैं और इनमें सुधार कर इन्हें दूर किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, यह देखने में आया है कि लोककल्याण की प्रवृत्ति तत्काल तो राजकोष से भारी व्यय को जन्म देती है, लेकिन लम्बे समय में इसका नागरिकों की कार्यकुशलता पर अच्छा प्रभाव पड़ता है जिससे उत्पादन में वृद्धि होती है और राष्ट्रीय आय तेजी के साथ बढ़ती है। व्यवहार में लोककल्याणकारी राज्य की प्रवृत्ति को विश्व में लगभग सभी राज्यों द्वारा किसी न किसी रूप में अपना लिया गया है और इसे अपनाने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग भी नहीं है।

लोकतन्त्र और लोककल्याणकारी राज्य

कुछ व्यक्तियों, विशेषतया व्यक्तिवादी विचारकों का मत है कि लोककल्याण की प्रवृत्ति लोकतन्त्र के लिए घातक है। उनका विचार यह है कि लोकतन्त्र अधिकाधिक व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर वल देता है, लेकिन लोककल्याणकारी राज्य अपने कार्यक्षेत्र में बहुत अधिक वृद्धि कर व्यक्ति की स्वतन्त्रता को आघात पहुंचाता है। लोककल्याणकारी राज्य व्यक्तियों की पहल, आत्मनिर्भरता और आत्मविश्वास को आघात पहुंचाता है, वे प्रत्येक वात के सम्बन्ध में राज्य की ओर देखने लगते हैं और उनकी स्थिति दासों की सी हो जाती है। उनका कथन है कि एक लोककल्याणकारी और सर्वाधिकारवादी या साम्यवादी राज्य में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। लोककल्याणकारी राज्य द्वारा भी अपने कार्यक्षेत्र का अधिकाधिक विस्तार किया जाता है, जनहित के नाम पर जनता पर भारी कर लगाये जाते हैं, समाज के उच्च वर्गों से उनकी न्यायपूर्ण सम्पत्ति का एक वड़ा भाग छीन लिया जाता है, और यदि कोई व्यक्ति राज्य की इन प्रवृत्तियों के विरोध का साहस करता है तो उसे **'जनहित का शत्रु'** करार देकर यातना दी जाती है। लोककल्याणकारी राज्य एक **'विकराल सरकार'** को जन्म देता है जो जनता की स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र को समाप्त कर देती है।

लोकतन्त्र और लोककल्याण की प्रवृत्ति के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में अपनाया गया उपर्युक्त दृष्टिकोण सही नहीं है। वास्तव में, राज्य द्वारा अपनायी गयी लोककल्याण की प्रवृत्ति ने लोकतन्त्र को सशक्तता ही प्रदान की है, उसे दुर्वल नहीं किया है। 1929-30 के विश्वव्यापी आर्थिक संकट के काल में अमरीकी राष्ट्रपति फ्रेंकलिन डी. रूजवेल्ट ने, **'नव निर्माण आर्थिक नीति'** (New Deal Economic Policy) अपनाकर प्रजातन्त्र के विरुद्ध खड़े इस आर्थिक संकट को दूर कर दिया। **विल्सन की प्रगतिशील नीति, रूजवेल्ट की नव-निर्माण और ट्रूमैन की उचित नीति** (Fair Deal) तत्कालीन आलोचनाओं का पात्र तो हुई थी, लेकिन आज सभी व्यक्ति इस बात को स्वीकार करते हैं कि इस नीति ने अमरीकी प्रजातन्त्र को डगमगाने से वचा लिया। इसी प्रकार ब्रिटेन और पश्चिमी यूरोप के अन्य राज्यों द्वारा 19वीं सदी में **'यदभाव्यमु की नीति'** (Policy of laissez faire) अपनायी गयी थी, लेकिन इस नीति के परिणामस्वरूप समाज के निम्न वर्गों (श्रमिक और कृषक वर्ग) की स्थिति दयनीय हो गयी। श्रमिक वर्ग में असन्तोष उग्र से उग्रतर होने लगा और प्रथम विश्वयुद्ध के अन्त तक यह आशंका होने लगी कि ये राज्य समाजवाद के प्रभाव में चले जायेंगे। लेकिन इन राज्यों की सरकारों ने फैक्ट्री कानून और सर्वसाधारण जनता के कल्याण की अन्य अनेक योजनाएं अपनाकर श्रमिक वर्ग के असन्तोष को कम करने में सफलता प्राप्त की। वर्तमान समय में अमरीका और पश्चिमी यूरोप के इन राज्यों के अन्तर्गत सामाजिक सुरक्षा योजनाएं, कृषि उत्पादन वस्तुओं को कीमत की सहायता, निःशुल्क शिक्षा और चिकित्सा की व्यवस्था, आवास की व्यवस्था, श्रमकल्याण योजनाएं, प्राकृतिक साधनों के विकास और बेकारी, बीमारी तथा बुढ़ापे से सुरक्षा, आदि कार्य किये जा रहे हैं और इन कल्याणकारी योजनाओं के कारण ही साम्यवाद इन राज्यों में अपना प्रभाव स्थापित नहीं कर सका है। इस प्रकार लोककल्याण की प्रवृत्ति ने इन बदलती हुई परिस्थितियों में लोकतन्त्र के रक्षक के रूप में कार्य किया है।

जहां तक भारत तथा अफ्रीका और एशिया के नव-लोकतन्त्रों का सम्बन्ध है, लोककल्याणकारी राज्य की प्रवृत्ति इनकी एकमात्र जीवनदायिनी शक्ति कही जा सकती है। इन राज्यों के द्वारा राजनीतिक क्षेत्र में लोकतन्त्र को अपना लिया गया है, लेकिन आर्थिक क्षेत्र में स्थिति बहुत अधिक खराब है। एक ओर तो छोटा-सा सम्पत्तिशाली वर्ग है दूसरी ओर एक ऐसा विशाल निर्धन वर्ग जिसे भरपेट भोजन भी प्राप्त नहीं है। यह भीषण निर्धनता प्रजातन्त्र के लिए एक बहुत बड़ा संकट वनी हुई है। ऐसी स्थिति में सभी व्यक्तियों को न्यूनतम जीवन-स्तर प्रदान करना तथा धनी और निर्धन की खाई को पाटना बहुत अधिक आवश्यक है और यह कार्य

लोककल्याण की प्रवृत्ति को अपनाने से ही सम्भव है। भारत, आदि राज्यों के द्वारा यही किया गया है। वास्तव में, लोकतन्त्र और कल्याणकारी राज्य परस्पर विरोधी नहीं वरन् एक-दूसरे के पूरक हैं और आज की परिस्थितियों में लोकतन्त्र की रक्षा के लिए लोककल्याण की प्रवृत्ति को अपनाया जाना नितान्त आवश्यक है।

आधुनिक राज्य के कार्य या राज्य का उचित कार्यक्षेत्र
(FUNCTIONS OF MODERN STATE OR PROPER SPHERE OF STATE ACTION)

राज्य के कार्य देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होते रहे हैं। प्राचीन काल में राज्य के द्वारा केवल वे ही कार्य किये जाते थे, जिनका करना राज्य के अस्तित्व के लिए नितान्त आवश्यक होता था, किन्तु आज राज्य के द्वारा किये जाने वाले कार्य इतने अधिक वढ़ गये हैं कि उनकी एक सूची वना पाना सम्भव नहीं है।

राज्य के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में उदारवादी सिद्धान्त, समाजवादी सिद्धान्त और लोक कल्याणकारी राज्य की धारणा का जो प्रतिपादन किया गया है उनमें से वर्तमान समय में समाजवादी सिद्धान्त या लोककल्याणकारी राज्य की धारणा ही मान्य है। इस बात को वर्तमान् में सभी पक्षों द्वारा स्वीकार कर लिया गया है कि आधुनिक राज्य का कार्यक्षेत्र पर्याप्त व्यापक है। वर्तमान समय में राज्य के द्वारा जो कार्य किये जाते हैं, उनका वर्गीकरण दो शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है : (1) **आवश्यक या अनिवार्य कार्य** तथा (2) **ऐच्छिक कार्य।**

आवश्यक कार्य—आवश्यक कार्यों में राज्य के वे कार्य सम्मिलित हैं, जिनका करना राज्य को अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए नितान्त आवश्यक है। प्रत्येक राज्य के द्वारा चाहे वह कितना ही पिछड़ा हुआ क्यों न हो, इन आवश्यक कार्यों को पूरा किया जाता है। ये आवश्यक कार्य निम्नलिखित हैं :

(1) **बाहरी आक्रमण से रक्षा**—बाहरी आक्रमण से अपनी सीमाओं की रक्षा राज्य का एक ऐसा कार्य है, जिसे पूरा किये विना राज्य अपने अस्तित्व की ही रक्षा नहीं कर सकता। राज्य के द्वारा यह कार्य एक व्यवस्थित और संगठित जल, थल और नभ सेना के द्वारा पूरा किया जाता है।

(2) **वैदेशिक सम्बन्धों का संचालन**—बाहरी आक्रमण से अपनी रक्षा करने हेतु राज्य एक सुसंगठित सेना रखता है, किन्तु वाहरी आक्रमण की स्थिति उत्पन्न न हो और अन्य राजाओं के साथ परस्पर हितकारी सम्वन्ध वने रहें, इसके लिए राज्य के द्वारा वैदेशिक सम्बन्धों का संचालन किया जाता है। अन्य राज्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का यह कार्य राज्य द्वारा अत्यन्त प्रारम्भिक काल से किया जाता रहा है। इस कार्य के अन्तर्गत राज्य अपने राजदूत दूसरे देशों में भेजता है और अन्य देशों के राजदूतों को अपने यहां रखने की व्यवस्था करता है।

(3) **आन्तरिक क्षेत्र में शान्ति और व्यवस्था**—राज्य का एक मुख्य कार्य नागरिकों के जानमाल की रक्षा, आन्तरिक उपद्रवों से उनका वचाव तथा उनकी व्यक्तिगत स्वाधीनता की रक्षा करना है। शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने में असमर्थ राज्य, राज्य कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता। शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने हेतु राज्य पुलिस दल की व्यवस्था करता है और विशेष परिस्थितियों में राज्य इस कार्य हेतु सेना का प्रयोग भी करता है।

(4) **न्याय प्रबन्ध**—शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने का कार्य सेना और पुलिस के द्वारा ही नहीं किया जा सकता वरन् इसके लिए उत्तम न्याय प्रबन्ध भी आवश्यक होता है। अतः न्याय प्रबन्ध भी राज्य का एक अनिवार्य कार्य है। एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति तथा व्यक्ति और राज्य के बीच उत्पन्न होने वाले विवादों का हल करने के लिए प्रत्येक राज्य में न्यायालयों की स्थापना की जाती है।

गैटिल राज्य के आवश्यक कार्यों में आर्थिक कार्य को भी सम्मिलित करता है जिसके अन्तर्गत राज्य के द्वारा कर निर्धारित करना, आयात-निर्यात कर लगाना, मुद्रा सम्बन्धी व्यवस्था करना; भूमि, जंगल और सार्वजनिक सम्पत्ति का प्रवन्ध करना; डाक, तार और रेल का प्रबन्ध, आदि कार्य आते है।

ऐच्छिक कार्य—ऐच्छिक कार्य का आशय उन कार्यों से होता है जिनका करना राज्य के अस्तित्व के लिए तो आवश्यक नहीं होता, किन्तु जो नागरिकों के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक हित में होते हैं। ये कार्य स्वतन्त्र रूप से व्यक्तियों द्वारा भी किये जा सकते हैं किन्तु व्यक्तियों की तुलना में राज्य के कार्य अधिक अच्छे प्रकार से कर सकता है। वर्तमान समय में ऐसा माना जाता है कि राज्य के द्वारा अधिक से अधिक ऐच्छिक कार्य किये जाने चाहिए। राज्य के ऐसे ऐच्छिक कार्य अग्रलिखित होते हैं :

(1) **शिक्षा**—शिक्षा श्रेष्ठ सामाजिक जीवन की प्रथम अवस्था है और शिक्षा के बिना कोई भी व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर सकता है। इसलिए वर्तमान समय के प्रत्येक राज्य में जनता को शिक्षित करने के कार्य पर अत्यधिक बल दिया जाता है। सामान्यतया ऐसा माना जाता है कि राज्य के द्वारा निःशुल्क और अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए। वर्तमान युग में औद्योगिक शिक्षा पर अधिक जोर दिया जाना चाहिए और नागरिकों के मानसिक विकास के लिए वाचनालय, पुस्तकालय और प्रयोगशालाओं की स्थापना की जानी चाहिए।

(2) **स्वास्थ्य-रक्षा और सफाई**—जीवन का आनन्द अच्छे स्वास्थ्य पर ही निर्भर है और स्वस्थ व्यक्ति ही सामाजिक जीवन के कर्तव्यों को भलीभांति पूर्ण कर सकता है। जनता के स्वास्थ्य की रक्षा के लिए राज्य अनेक प्रकार के कानून बनाता है जिनके द्वारा स्वास्थ्य के लिए हानिकारक स्थितियों को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है। इसके अतिरिक्त, सफाई, रोशनी, स्वच्छ जल, अस्पताल, नर्सिंग होम, आदि का प्रबन्ध भी राज्य के द्वारा किया जाता है, जिससे नागरिकों के शरीर की रक्षा और उनका शारीरिक विकास सम्भव हो सके।

(3) **यातायात के साधनों का प्रबन्ध**—आधुनिक समय में यातायात के साधन देश के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन के प्राण हैं। आज कोई भी राज्य सड़कें, रेलें, तार, हवाई जहाज, रेडियो, टेलीफोन, कारखाने, आदि की सुविधा के बिना जीवित नहीं रह सकता है। जनता की सुविधा तथा देश के आर्थिक विकास के लिए राज्य के द्वारा इन सुविधाओं का प्रबन्ध किया जाता है।

(4) **व्यापार व उद्योग-धन्धों की सहायता**—राज्य का एक महत्वपूर्ण कार्य व्यापार व उद्योग-धन्धों की सहायता है। राज्य के द्वारा यह कार्य अनेक साधनों द्वारा किया जाता है जैसे आयात किये गये माल पर कर लगाना, उद्योगों की वित्तीय सहायता, औद्योगिक अन्वेषण केन्द्रों की स्थापना, मेलों और प्रदर्शनियों का प्रबन्ध, वैज्ञानिक शिक्षा प्रदान करना, आदि।

(5) **श्रमिकों का कल्याण**—श्रमिकों का कल्याण भी राज्य का एक महत्वपूर्ण कार्य है और वर्तमान समय में राज्य श्रमिकों की पूंजीपतियों व बड़े जमींदारों से रक्षा करने के लिए फैक्ट्री कानून व न्यूनतम मजदूरी कानून, आदि का निर्माण करता है।

(6) **बैंकिंग और मुद्रा का प्रबन्ध**—विश्व के प्रायः सभी सभ्य देशों में राज्य के द्वारा मुद्रा का प्रबन्ध किया जाता है और अन्य देशों के साथ अपनी मुद्रा की विनिमय दर का निश्चय किया जाता है।

(7) **कृषि की उन्नति और ग्राम का संगठन**—वर्तमान समय में सरकार कृषि की उन्नति तथा ग्रामीण संगठन के कार्य पर भी जोर देती है। कृषि की उन्नति के लिए विजली के कुओं, कृषि अनुसन्धान तथा इसी प्रकार की दूसरी सुविधाएं दी जाती हैं और ग्रामीण संगठन के लिए ग्राम पंचायत, आदि की स्थापना की जाती है।

(8) **असहाय, अपाहिज और वृद्ध व्यक्तियों की सहायता**—वर्तमान समय का राज्य एक कल्याणकारी संस्था है और राज्य के द्वारा बूढ़े, निर्धन, अन्धे, असहाय और अपाहिज लोगों की रक्षा के लिए अनेक प्रकार के कार्य किये जाते हैं। कुछ राज्यों में बेकार लोगों को सहायता देने तथा वृद्धावस्था में लोगों को पेंशन देने का प्रबन्ध किया जाता है।

(9) **मनोरंजन की व्यवस्था**—स्वस्थ मनोरंजन सफल व्यक्तित्व और सामाजिक जीवन की आधारशिला है। अतः राज्य के द्वारा अपने नागरिकों को स्वस्थ मनोरंजन के साधन प्रदान करने का कार्य भी किया जाता है। राज्य बगीचे और पार्क, खेलकूद के मैदान, सार्वजनिक तरण तालों, सिनेमा, रेडियो, नाट्य-गृहों, आदि का प्रबन्ध करता है। अपने इसी कार्य के अन्तर्गत राज्य के द्वारा चलचित्रों और नृत्यघरों पर नियन्त्रण रखा जाता है, जिससे मनोरंजन अश्लील न हो जायं।

(10) **सामाजिक सुधार**—वर्तमान समय में राज्य के द्वारा सामाजिक उन्नति और सुधार के लिए भी कार्य किये जाते हैं। उदाहरण के लिए, भारत में राज्य के द्वारा अस्पृश्यता, जाति-पांति के भेद, बाल-विवाह और बहुविवाह के विरुद्ध प्रयत्न किये गये हैं। प्रत्येक प्रगतिशील राज्य का धर्म है कि वह सामाजिक बुराइयों को दूर करे।

वास्तव में, राज्य के ऐच्छिक कार्य इतने अधिक हैं कि उनकी कोई एक सूची बनाना सम्भव नहीं है। राज्य का कार्य नागरिकों को वे सभी सुविधाएं और अवस्थाएं प्रदान करना है जिनके द्वारा उनकी भलाई और उन्नति हो सकती है। राज्य के ऐच्छिक कार्य भी आज आवश्यक कार्यों के समान ही महत्वपूर्ण हो गये हैं। कल तक राज्य के जिन कार्यों को उनके ऐच्छिक कार्य समझा जाता था वे आज आवश्यक प्रतीत होने लगे हैं। सभ्यता के विकास के साथ-साथ राज्य का कार्यक्षेत्र बढ़ता ही जा रहा है।

राज्य के जो अनिवार्य और ऐच्छिक कार्य बताये गये हैं उन कार्यों को एक लोकतन्त्रात्मक और लोककल्याणकारी राज्य ही ठीक प्रकार से कर सकता है।

राजनीतिक नियन्त्रण की सीमाएं
(LIMITS OF POLITICAL CONTROL)

वर्तमान समय में राज्य के कार्यक्षेत्र में तेजी से वृद्धि होती जा रही है और राज्य के कार्यक्षेत्र की इस वृद्धि को देखते हुए यह बहुत आवश्यक हो गया है कि राज्य के नियन्त्रण की कुछ सीमाएं निर्धारित कर दी जायं, ताकि राज्य के द्वारा अपनी शक्ति का दुरुपयोग करते हुए नागरिक स्वतन्त्रता का हनन न किया जा सके। कुछ ऐसे विशेष कार्य हैं जो राज्य को नहीं करने चाहिए। यदि वह उन्हें करता है तो स्वयं अपने ही उद्देश्य की प्राप्ति में बाधक बनता है। इस सम्बन्ध में मैकाइवर ने अपनी पुस्तक '*The Modern State*' में लिखा है, **"एक ही सत्ता को जीवन के समस्त कार्य सौंप देना अनावश्यक और ब्यर्थ है। कुछ कार्य यह सत्ता बुरे और भद्दे तरीके से ही कर सकती है। हम पैंसिल तेज करने के लिए कुल्हाड़ी का प्रयोग नहीं करते। कुछ कार्य यह सत्ता कर ही नहीं सकती और यदि उसे वे कार्य सौंप दिये जायं तो आधार सामग्री ही नष्ट हो जायगी।"** राज्य के द्वारा निम्नलिखित क्षेत्रों में हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिए :

(1) **वैयक्तिक मत**—प्रत्येक प्रकार के राज्य का अन्तिम उद्देश्य अपने नागरिकों के व्यक्तित्व का विकास होना चाहिए और व्यक्तित्व के विकास के अन्तर्गत वैयक्तिक मत पर नियन्त्रण रखा जाना चाहिए। लूथर, मिल्टन, लॉक, माण्टेस्क्यू और मिल जैसे प्रतिष्ठित विचारकों ने विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का पक्ष ग्रहण किया और इनका कथन है कि **"राज्य के द्वारा विचार पर नियन्त्रण नहीं रखा जाना चाहिए चाहे विचार किसी भी प्रकार का क्यों न हो।"**

इसके अतिरिक्त, विचार व्यक्ति के निजी विश्वास की वस्तु है, इस कारण भी व्यक्ति के विचारों को नियन्त्रित नहीं किया जा सकता। लास्की लिखते हैं **"जिन व्यक्तियों को अपने अनुभव के आधार पर सोचने की आज्ञा नहीं दी जाती वे शीघ्र ही सोचना बन्द कर देंगे और जिन व्यक्तियों की विचार-शक्ति समाप्त हो जाती है वे यथार्थ रूप में नागरिक नहीं रहते।"**[1] विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता देना ही पर्याप्त नहीं, वरन् राज्य को उसके उचित उपयोग हेतु सुविधाएं भी प्रदान करनी चाहिए, तभी प्रजातन्त्र यथार्थ हो सकता है।

परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि विचार स्वातन्त्र्य पर कोई नियन्त्रण ही न हो। लॉक ने लिखा है, "मानवीय समाज के विपरीत अथवा सभ्य समाज को बनाये रखने के लिए आवश्यक नैतिक मूल्यों के विरुद्ध कोई भी विचार असहनीय है। इसी प्रकार लास्की का विचार है, "क्योंकि राज्य का कार्य कानून की व्यवस्था करना है, उसको अवश्य ही यह देखना चाहिए कि शान्ति स्थापित हो रही है। इसलिए यह कहना उचित है कि कोई भी विचार, जो तात्कालिक अव्यवस्था का कारण बने, दण्डनीय है, इस प्रकार समाज हित में वैयक्तिक हितों को प्रतिबन्धित किया जा सकता है, लेकिन ये प्रतिबन्ध न्यूनतम ही होने चाहिए।

(2) **नैतिकता**—नैतिकता उन नियमों और सिद्धान्त का नाम है, जिनका सम्बन्ध हमारे अन्तःकरण से होता है। कानून का सम्बन्ध व्यक्ति की बाहरी क्रियाओं से होता है जबकि नैतिकता का सम्बन्ध आन्तरिक सहानुभूतियों से होता है और यह विश्वास पर आधारित है। अतः नैतिकता राज्य व्यवस्थापन से बाहर है। राज्य व्यक्ति को नैतिक बनाने के लिए बाध्य नहीं कर सकता। राज्य द्वारा निर्धारित नैतिकता वास्तविक अर्थ में नैतिकता नहीं है। जैसा कि मैकाइवर ने कहा है, **"राज्य नैतिकता का निर्देश नहीं दे सकता। यह केवल बाहरी क्रियाओं का आदेश दे सकता है, इसलिए राज्य को केवल उन क्रियाओं की आज्ञा देनी चाहिए, जिनके पीछे समाज**

1 Laski, *A Grammar of Politics*, p. 120.

कल्याण की भावना हो। सभी नैतिक आदेशों को वैधानिक आदेशों में परिवर्तित करना नैतिकता का विचार करना होगा।"[1]

अतः राज्य नैतिकता के क्षेत्र में ऐसे प्रत्यक्षतः पदार्पण नहीं कर सकता, किन्तु राज्य कुछ सीमा तक परोक्ष रूप में कार्य अवश्य कर सकता है। राज्य ऐसी अवस्थाएं उत्पन्न कर सकता है जो व्यक्ति को नैतिक जीवन के मार्ग पर आगे बढ़ायें। इस रूप में राज्य नैतिकता की रक्षा और उसकी वृद्धि अवश्य ही करता है।

(3) रीति-रिवाज—रीति-रिवाज एक लम्बे समय से चले आने वाले व्यवहार और आदतों का नाम है। रीति-रिवाज इस अर्थ में प्राकृतिक होते हैं कि इनका सोच-समझकर निर्माण नहीं किया जाता, वरन् वे स्वतः ही उत्पन्न होते हैं। रीति-रिवाजों की प्रकृति ही ऐसी है कि इनका क्षेत्र राजनीतिक क्रियाओं के क्षेत्र से बाहर है। जैसा कि मैकाइवर ने कहा है, **"प्रथाओं को बनाने और मिटाने में राज्य की शक्ति नहीं के बराबर होती है।"** रीति-रिवाजों के पीछे समाज की सामूहिक शक्ति का बल होता है और उन पर किया गया कोई आघात राष्ट्रीय सुरक्षा को गम्भीर स्थिति में डाल देता है। **मैकाइवर के शब्दों में, "यदि रीति-रिवाजों को चोट पहुंचायी जाये तो वे भी कानून को उल्टा चोट पहुंचाते हैं केवल किसी विशेष कानून को नहीं वरन् कानून पालन करने की भावना को सार्वजनिक इच्छा के ऐक्य को।"[2]** अतः राज्य को लोगों के रीति-रिवाजों में अनुचित हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। परन्तु यदि कोई रीति-रिवाज बुरा है तो राज्य को उसमें सुधार करने का पूरा अधिकार होता है।

(4) धर्म—राज्य को लोगों के धार्मिक जीवन में भी हस्तक्षेप का कोई अधिकार नहीं होना चाहिए। धर्म व्यक्ति की अपनी श्रद्धा और विश्वास का विषय है। अतः स्वाभाविक रूप से यह राज्य के क्षेत्र में बाहर हो जाता है। राज्य के द्वारा जब भी जनता के धार्मिक जीवन में हस्तक्षेप किया जाता है तो जनता राज्य के विरुद्ध हो जाती है और जनता के द्वारा सभी कानूनों की अवज्ञा प्रारम्भ कर दी जाती है। भारत में औरंगजेब का शासन इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है। इस बात को दृष्टि में रखकर ही भारतीय संविधान के द्वारा धर्मनिरपेक्ष राज्य के आदर्श को अपनाया गया है।

(5) फैशन—रीति-रिवाज का ही परिवर्तनीय रूप है और यह हमारे बातचीत करने के ढंग, वेशभूषा, संगीत-कला और साहित्य से सम्बन्धित होता है। व्यक्तिगत रुचियों और अभिरुचियों का विषय होने के कारण राज्य इस पर कठिनता से ही नियन्त्रण रख सकता है और यदि कभी राज्य ऐसा प्रयत्न भी करे तो उसे असफलता ही हाथ लगती है। मैकाइवर के शब्दों में, **"यदि राज्य फैशन जैसे महत्वहीन परिवर्तनों की घोषणा स्वयं करे तो यह एक पाशविक क्रूरता होगी, जिसका परिणाम क्रान्ति भी हो सकता है।"**

(6) संस्कृति—संस्कृति लोगों के उस जीवन ढंग का नाम है जो अपने आपको कला, साहित्य, धर्म, फैशन, संगीत और विचारों के रूप में प्रकट करती है। यह समाज की कृति है जो आन्तरिक शक्तियों द्वारा जीवित है। संस्कृति के क्षेत्र में राज्य का कोई अधिकार नहीं है। राज्य निःसन्देह उसको विकास के अवसर प्रदान कर सकता है, लेकिन वह उसका निर्माण नहीं कर सकता है। मैकाइवर के शब्दों में, **"संस्कृति जो कि व्यक्तियों की आत्मा या किसी विशेष युग की अभिव्यक्ति है, राज्य की सामर्थ्य से बाहर है।"**

निबन्धात्मक प्रश्न

1. राज्य के कार्यों के उदारवादी सिद्धान्त की व्याख्या और परीक्षण कीजिए।
2. समाजवाद क्या है? राज्य के कार्यों के समाजवादी सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
3. लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए। लोक कल्याणकारी राज्य के प्रमुख कार्य क्या हैं?
4. 'आधुनिक राज्य लोक कल्याणकारी राज्य है।' इस कथन को ध्यान में रखते हुए लोक कल्याणकारी राज्य के कार्यों की विवेचना कीजिए।
5. एक आधुनिक राज्य के कार्यों का वर्णन कीजिए। राजनीतिक नियन्त्रण की सीमाएं क्या हैं?

1 MacIver *The Modern State*, p. 161.
2 *Ibid.*, p. 16

7

सम्प्रभुता और बहुलवाद
(SOVEREIGNTY AND PLURALISM)

"एक राज्य का दूसरे राज्य से, राज्य का अपने नागरिकों से तथा एक नागरिक का दूसरे नागरिक से क्या सम्बन्ध होता है, यह तभी समझा जा सकता है जब हम राज्य के उस तत्व पर विचार करें जो उसे अन्य समुदायों से पृथक् करता है तथा जिसे हम सम्प्रभुता कहते हैं।"[1] —गैटिल

जनसंख्या, निश्चित क्षेत्र, सरकार और सम्प्रभुता–राज्य के इन तत्वों में सम्प्रभुता सबसे अधिक महत्वपूर्ण तत्व है जिसके आधार पर राज्य को अन्य सभी समुदायों से पृथक् किया जा सकता है। राज्य के लिए सम्प्रभुता का वही महत्व है जो व्यक्ति के जीवन के लिए प्राणों का होता है। वस्तुतः सम्प्रभुता के बिना राज्य के अस्तित्व की कल्पना ही नहीं की जा सकती है।

सम्प्रभुता का अर्थ

सम्प्रभुता का आंग्ल पर्यायवाची 'सावरेनटी' (Sovereignty) लैटिन शब्द 'सुपर' (Super) और 'एनस' (Anus) से लिया गया है, जिसका अर्थ उस भाषा में सर्वोच्च शक्ति होता है। शब्द की व्युत्पत्ति द्वारा स्पष्ट सम्प्रभुता के इसी अर्थ को वर्तमान समय में भी स्वीकार किया जाता है, लेकिन इस प्रकार का स्पष्ट अर्थ होते हुए भी राजनीति विज्ञान के विभिन्न विद्वानों ने सम्प्रभुता के सम्बन्ध में विभिन्न विचार व्यक्त किये हैं और ब्राइस के शब्दों में कहा जा सकता है कि "सम्प्रभुता का प्रश्न राजनीति विज्ञान के सर्वाधिक विवादास्पद और उलझे हुए प्रश्नों में से एक है।" सम्प्रभुता के सम्बन्ध में व्यक्त किये गये प्रमुख विचार निम्न प्रकार हैं :

सम्प्रभुता की सर्वप्रथम व्याख्या जीन बोदां (Jean Bodin) के द्वारा की गयी जिनके अनुसार, **"सम्प्रभुता नागरिकों और प्रजाजनों के ऊपर राज्य की वह सर्वोच्च शक्ति है जिस पर कानून का कोई अंकुश न हो।"[2]**

ग्रोशियस (Grotious) ने लगभग अर्ध-शताब्दी बाद कहा कि **"सम्प्रभुता उस व्यक्ति में निहित सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति है जिसके कृत्य अन्य किसी पर आश्रित न हों और जिसकी आज्ञा का उल्लंघन न किया जा सकता हो।"[3]**

डिग्विट (Dugvit) के अनुसार, **"सम्प्रभुता राज्य की आदेश देने की शक्ति होती है; राज्य के रूप में संगठित राष्ट्र की यह इच्छा होती है, यह वह अधिकार है जिसके आधार पर राज्य के निश्चित क्षेत्र के सभी व्यक्तियों को असीमित आदेश दिये जा सकते हैं।"[4]**

बर्गेस (Burgess) के अनुसार, **"यह व्यक्तिगत रूप से प्रजाजन व उनके समुदायों के ऊपर प्राप्त राज्य की मौलिक, निरपेक्ष व असीमित शक्ति है।"[5]**

---

1 "The relation of state to state, of a state to its citizens, of one citizen to another can be understood only after a further discussion of the characteristic which distinguished the state from all other organizations its sovereignty." —Gettell, *Political Science*, p. 121.

2 "Sovereignty is the the suppreme power of the state, over citizens and subjects unrestrained by Law." —*Jean Bodin*

3 "Sovereignty is the supreme power vested in him, whose acts are not subject to any other and whose will cannot be over-ridden. —*Grotious*

4 "Sovereignty is the commanding power of the state, it is the will of the nations organized in the state, is the right to give unconditional orders to all individual in the territory of the state." —*Dugvit*

5 "Sovereignty is the original, absolute and unlimited power over the individual subjects and over all associations of subjects." —*Burgess*

विलोबी (Willoughby) के अनुसार, "**सम्प्रभुता राज्य की सर्वोपरि इच्छा होती है।**"[1]

यद्यपि इन परिभाषाओं में भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग किया गया है, तथापि इन सभी विद्वानों का आशय यही है कि सम्प्रभुता का तात्पर्य एक निश्चित क्षेत्र में राज्य की सर्वोपरि शक्ति से है, लेकिन इनमें से किसी भी परिभाषा को पूर्ण नहीं कहा जा सकता है। इसका कारण यह है कि सम्प्रभुता के दो पक्ष होते हैं—आन्तरिक सम्प्रभुता एवं बाहरी सम्प्रभुता। सम्प्रभुता के इन दो पक्षों में से उपर्युक्त परिभाषाओं में सम्प्रभुता के केवल एक पक्ष—आन्तरिक सम्प्रभुता—को ही व्यक्त किया गया है। सम्प्रभुता के इन दोनों पक्षों की विवेचना निम्न प्रकार है :

आन्तरिक सम्प्रभुता—आन्तरिक सम्प्रभुता का तात्पर्य यह है कि राज्य व्यक्तियों या व्यक्ति समुदायों से उच्चतर होता है और वह अपने निश्चित क्षेत्र के अन्तर्गत रहने वाले सभी व्यक्तियों और निश्चित क्षेत्र में स्थित सभी समुदायों और संगठनों को किसी भी प्रकार की आज्ञा दे सकता है तथा शक्ति के आधार पर इन आज्ञाओं को मनवा सकता है। व्यक्ति अथवा समुदायों द्वारा इन आज्ञाओं के विरुद्ध अन्यत्र कहीं भी अपील नहीं की जा सकती है। डॉ. गार्नर के शब्दों में कहा जा सकता है कि "**सम्प्रभुता राज्य के सम्पूर्ण क्षेत्र में विस्तृत होती है और एक राज्य के अन्तर्गत स्थित सभी व्यक्ति और समुदाय इसके अधीन होते हैं।**"

बाहरी सम्प्रभुता—बाहरी सम्प्रभुता का तात्पर्य यह है कि राज्य किसी भी बाहरी सत्ता के प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष नियन्त्रण से स्वतन्त्र होता है। एक राज्य को इस बात की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होती है कि वह विदेशों से जैसे चाहे वैसे सम्बन्ध स्थापित करे। कानूनी दृष्टि से वह मैत्री, युद्ध या तटस्थता, इनमें से किसी भी मार्ग को अपना सकता है। लास्की ने सम्प्रभुता के इस बाहरी पक्ष की ओर संकेत करते हुए कहा है कि "**आधुनिक राज्य प्रभुत्वसम्पन्न राज्य होता है। अतः वह अन्य राज्य के सम्बन्धों के विषय में स्वतन्त्र होता है। वह उसके सम्बन्ध में अपनी इच्छा को किसी बाहरी शक्ति से प्रभावित हुए विना ही व्यक्त कर सकता है।**"[2]

सम्प्रभुता के इन दोनों पक्षों को दृष्टि में रखते हुए सम्प्रभुता की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि "**सम्प्रभुता राज्य की वह सर्वोच्च शक्ति है जिसके द्वारा राज्य के निश्चित क्षेत्र के अन्तर्गत स्थित सभी व्यक्तियों और समुदायों पर पूर्ण नियन्त्रण रखा जाता है और जिसके आधार पर एक राज्य अपने ही समान दूसरे राज्य के साथ अपनी इच्छानुसार सम्बन्ध स्थापित कर सकता है।**"

सम्प्रभुता के लक्षण

सम्प्रभुता की उपर्युक्त धारणा के आधार पर सम्प्रभुता के प्रमुख रूप से निम्नलिखित लक्षण बताये जा सकते हैं :

(1) निरंकुशता (Absoluteness)—सम्प्रभुता का अर्थ सर्वोच्च शक्ति से है और जैसा कि सम्प्रभुता के इस अर्थ से ही स्पष्ट है, यह सर्वोच्च शक्ति निरपेक्ष एवं निरंकुश होती है। सम्प्रभुता आन्तरिक और बाहरी दोनों ही क्षेत्रों में निरंकुश एवं सर्वोच्च होती है। आन्तरिक क्षेत्र में सम्प्रभुता सभी व्यक्तियों और समुदायों पर नियन्त्रण रखती है; शक्ति के आधार पर उनसे अपनी आज्ञाओं को मनवा सकती है एवं किसी के द्वारा भी राज्य की आज्ञाओं को चुनौती नहीं दी जा सकती है। इसी प्रकार बाहरी क्षेत्र में एक राज्य दूसरे राज्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के सम्बन्ध में पूर्णतया स्वतन्त्र होता है। वैधानिक दृष्टि से आन्तरिक एवं बाहरी क्षेत्र में राज्य की सम्प्रभुता पर किसी भी प्रकार का नियन्त्रण नहीं होता है। ऑस्टिन के शब्दों में कहा जा सकता है कि "**सम्प्रभु अन्य सभी से आदेश पालन कराने की स्थिति में होता है, किन्तु स्वयं किसी के आदेश पालन का अभ्यस्त नहीं होता।**"

(2) मौलिकता (Originality)—मौलिकता का अर्थ है कि राज्य की सम्प्रभुता मौलिक है, किसी अन्य सत्ता द्वारा प्रदत्त नहीं। यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि सम्प्रभुता प्रदत्त हो सकती है तो यह भी मानना पड़ेगा कि इसे देने वाली सत्ता राज्य तथा प्रभुसत्ता से भी ऊपर रहेगी और अपनी दी हुई वस्तु को उसके द्वारा अपनी इच्छानुसार वापस लिया जा सकेगा। सम्प्रभुता की परिभाषा के अनुसार सम्प्रभुता से उच्च किसी अन्य सत्ता का अस्तित्व असम्भव है।

---

1 "Sovereignty is the supreme will of the state."
—*Willoughy*

2 "The modern state is a sovereign state. It is, therefore, independent in the face of other communities. It may infuse its will towards them with substance which need not be affected by the will of any external power."
—*H. Laski*

(3) सर्वव्यापकता (All Comprehensiveness)—सम्प्रभुता की सर्वव्यापकता का तात्पर्य है कि राज्य के अन्तर्गत स्थित सभी व्यक्तियों और समुदायों पर राज्य की प्रभुत्व शक्ति का नियन्त्रण रहता है और इनमें से कोई भी सम्प्रभु शक्ति से मुक्त होने का दावा नहीं कर सकता। यदि राज्य के अन्तर्गत किसी व्यक्ति विशेष या वर्ग विशेष को विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं तो इन विशेषाधिकारों का अस्तित्व राज्य की इच्छा पर निर्भर करता है।

सर्वव्यापकता का केवल एक अपवाद कहा जा सकता है और वह है **'राज्येतर सम्प्रभुता का सिद्धान्त'** (Principle of Extra-territorial Sovereignty)। इस सिद्धान्त के अनुसार एक देश के अन्तर्गत स्थित राजदूतावास उस देश की सम्पत्ति समझा जाता है जिस देश का वह प्रतिनिधित्व करता है और दूतावास के क्षेत्र में उसी देश के कानून लागू होते हैं, जिस देश का वह प्रतिनिधित्व करता है, लेकिन यह सिद्धान्त सम्प्रभुता की सर्वव्यापकता पर नियन्त्रण नहीं, वरन् अन्तर्राष्ट्रीय शिष्टता और सौजन्यता के आधार पर एक राज्य का दूसरे राज्य को दिया गया विशेष सम्मान है। यदि कोई राज्य अपनी सम्प्रभुता का प्रयोग करते हुए इन विशेषाधिकारों एवं सुविधाओं को वापस लेना चाहे, तो ले सकता है।

(4) स्थायित्व (Permanency)—अनेक वार सम्प्रभुता को एक सरकार विशेष का पर्यायवाची समझ लिया जाता है, लेकिन ऐसा समझना भ्रमपूर्ण है। वस्तुतः सम्प्रभुता स्थायी होती है और सम्प्रभुता का अन्त करना राज्य को ही समाप्त करना है। ब्रिटिश संविधान में **"राजा मृत है, राजा चिरायु हो"** (King is dead, long live the king) की जो कहावत प्रचलित है वह सरकार और सम्प्रभुता के भेद को स्पष्ट करते हुए यही वताती है कि सम्प्रभुता एक ऐसी संस्था के रूप में होती है जो कभी भी समाप्त नहीं होती। न केवल सरकारों के परिवर्तन वरन् एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य पर विजय प्राप्त कर लेने से भी सम्प्रभुता नष्ट नहीं होती, वरन् विजित राज्य की प्रभुत्व शक्ति विजेता राज्य के हाथों में चली जाती है। गार्नर ने कहा है कि "स्थायित्व से आशय यह है कि जब तक राज्य कायम रहता है तब तक सम्प्रभुता कायम रहती है। प्रभुत्वधारी की मृत्यु अथवा अल्पकालीन पदच्युति तथा राज्य के पुनः संगठन के कारण सम्प्रभुता का नाश नहीं होता।"

(5) अपृथक्करणीयता (Inalienability)—सम्प्रभुता राजा से अपृथक्करणीय होती है अर्थात् राज्य स्वयं को नष्ट किये विना सम्प्रभुता का त्याग नहीं कर सकता। सम्प्रभुता राज्य के व्यक्तित्व का मूल तत्व है और उसे अलग करना आत्महत्या के समान है। प्रायः ऐसा भ्रम हो सकता है कि किसी राज्य के एक खण्ड के पृथक् होने से अथवा उसका कोई एक भाग किसी अन्य राज्य द्वारा जीत लिये जाने पर उस खण्ड अथवा भाग से सम्बन्धित सम्प्रभुता उस राज्य से पृथक् हो जाती है, किन्तु वास्तव में इससे सम्प्रभुता राज्य से पृथक् नहीं होती, वरन् सम्प्रभुता का हस्तान्तरण मात्र होता है। गार्नर ने कहा है कि **"सम्प्रभुता राज्य का व्यक्तित्व और उसकी आत्मा है। जिस प्रकार मनुष्य का व्यक्तित्व अदेय है और वह किसी दूसरे को दे नहीं सकता, उसी प्रकार राज्य की सम्प्रभुता भी किसी अन्य को नहीं दी जा सकती है।"** यह बात लाइबर (Lieber) ने सुन्दर ढंग से इस प्रकार व्यक्त की है, **"जिस प्रकार निज को नष्ट किये विना मनुष्य अपने जीवन तथा व्यक्तित्व को अथवा वृक्ष अपने फलने-फूलने के स्वभाव को पृथक् नहीं कर सकता, उसी प्रकार सम्प्रभुता को राज्य से पृथक् नहीं किया जा सकता है।"**[1] रूसो कहता है कि **"सम्प्रभुता में सामान्य इच्छा का अनुष्ठान होने के कारण उसका कभी विच्छेद नहीं किया जा सकता ...शक्ति हस्तान्तरित की जा सकती है, पर इच्छा नहीं।"**

(6) अनन्यता (Exclusiveness)—इसका अर्थ यह है कि एक राज्य में केवल एक ही प्रभुशक्ति हो सकती है जो वैध रूप से जनता को आज्ञा-पालन का आदेश देती है। एक राज्य के अन्दर एक से अधिक प्रभुशक्तियों का अस्तित्व मान लेना **'राज्य के भीतर राज्य'** की मान्यता को स्वीकार कर लेना और राज्य की एकता को भंग करना है।

(7) अविभाज्यता (Indivisibility)—सम्प्रभुता का एक अन्य प्रमुख लक्षण उसकी अविभाज्यता है। सम्प्रभुता पूर्ण है, उसे विभाजित करने का अर्थ उसे नष्ट करना अथवा एक से अधिक राज्यों की रचना करना है। इस सम्बन्ध में कालहन ने लिखा है कि **"सम्प्रभुता एक पूर्ण वस्तु है, जिस प्रकार हम एक अर्ध-वर्ग अथवा एक अर्ध-त्रिभुज की कल्पना नहीं कर सकते, उसी प्रकार आधी अथवा तिहाई सम्प्रभुता की कल्पना भी नहीं की**

1 "Sovereignty can no more be alienated than a tree can alienate its right to sprout or man can transfer his life and personality without self-destruction."
—Leiber, *Political Ethics*, Vol. I, p. 219.

जा सकती है।''[1] रूसो ने ठीक ही कहा है कि **''प्रभुता का विभाजन केवल एक धोखा है।''** इसी प्रकार गैटिल ने कहा है कि **''विभाजित प्रभुता अपने आप में एक विरोधाभास है।''** सम्प्रभुता का अर्थ है राज्य की सर्वश्रेष्ठ सत्ता और एक ही समय पर एक राज्य में दो सर्वश्रेष्ठ सत्ताएँ निवास नहीं कर सकतीं।

सम्प्रभुता की अविभाज्यता के विचार से अनेक विचारक सहमत नहीं हैं। बहुलवादी सम्प्रभुता को राज्य और अन्य समुदायों में विभाजित मानते हैं। इसके अतिरिक्त लावेल, ब्राइस, फ्रीमैन, आदि लेखकों का विचार है कि संघ राज्यों में सम्प्रभुता विभाजित होती है। अंग्रेज इतिहासकार फ्रीमैन तो यहाँ तक कहता है कि **''संघात्मक आदर्श की पूर्णता के लिए प्रभुत्व शक्ति का पूर्ण विभाजन अनिवार्य है।''**[2] लेकिन लावेल, ब्राइस, फ्रीमैन, आदि विद्वानों का दृष्टिकोण सही नहीं है और इन विद्वानों द्वारा शासन एवं प्रभुत्व शक्ति को एक ही समझ लेने के कारण इस प्रकार की बात कही गयी है। संघ राज्य में सम्प्रभुता अविभाज्य ही होती है। यह सम्प्रभुता संविधान में निहित होती है और व्यवहार में इसका प्रयोग संविधान में संशोधन करने वाली शक्ति करती है। गैटिल ने ठीक ही कहा है, **''संघीय शासन प्रणाली में सम्प्रभुता का विभाजन नहीं होता, जो कि समस्त राज्य में निहित होती है, परन्तु इसकी अनेक शक्तियों का विभाजन होता है, जो कि वैधानिक रीति से शासन के विविध अंगों में विभक्त होती है।''**[3]

सम्प्रभुता के विविध रूप

'सम्प्रभुता' शब्द को अनेक अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है। इस सम्बन्ध में भ्रम दूर करने के लिए सम्प्रभुता के कुछ प्रचलित रूपों की व्याख्या निम्न प्रकार की जा सकती है :

(1) औपचारिक तथा वास्तविक सम्प्रभुता (Nominal and Real Sovereignty)—औपचारिक या नाममात्र की सम्प्रभुता का तात्पर्य एक व्यक्ति या ऐसी इकाई से है, जिसके पास सैद्धान्तिक दृष्टि से सम्पूर्ण शक्ति निहित हो, किन्तु जिसके द्वारा व्यवहार में इस प्रकार की शक्ति का अपने ही विवेक के आधार पर उपयोग न किया जा सके, व्यवहार में इन शक्तियों का प्रयोग उनके नाम पर कोई अन्य व्यक्ति ही करे। इंगलैण्ड का सम्राट इस प्रकार के औपचारिक सम्प्रभु का आदर्श उदाहरण है। सैद्धान्तिक दृष्टि से इंगलैण्ड में सम्राट ही सम्प्रभु है किन्तु वास्तविक सम्प्रभु पार्लियामेण्ट और मन्त्रिमण्डल है जो व्यवहार में सम्राट की सम्प्रभुता का उपयोग करता है। इसी प्रकार भारत में भी राष्ट्रपति को औपचारिक सम्प्रभु और संसद एवं मन्त्रिमण्डल को वास्तविक सम्प्रभु कहा जा सकता है। औपचारिक तथा वास्तविक सम्प्रभुता का यह भेद संसदात्मक-व्यवस्था में ही देखा जाता है।

(2) वैधानिक तथा राजनीतिक सम्प्रभुता (Legal and Political Sovereignty)—एक राज्य के अन्तर्गत कानूनों का निर्माण करने और उनका पालन कराने की सर्वोच्च शक्ति जिसके पास होती है उसे वैधानिक सम्प्रभु कहा जाता है। यह वह सम्प्रभु है जिसे न्यायालय स्वीकार करता है। वैधानिक दृष्टि से इस सर्वोच्च शक्ति पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होता और यह धार्मिक निर्देशों, नैतिक सिद्धान्तों और जनमत के आदेशों का उल्लंघन कर सकती है। गार्नर ने इसकी परिभाषा देते हुए कहा है कि ''वैध प्रभुत्व वह निश्चित सत्ता है जो राज्य के सर्वोच्च आदेशों को वैध रूप से पूरा कर सके, वह सत्ता जो दैवी कानून, नैतिक सिद्धान्तों तथा जनमत की उपेक्षा कर सके।'' इसी प्रकार **डायसी** ने लिखा है कि ''वैध सम्प्रभुता कानून बनाने वाली वह शक्ति है जो अन्य किसी भी कानून या विधि से मर्यादित नहीं होती है।'' इंगलैण्ड में **संसद सहित सम्राट** (King in Parliament) को इसी प्रकार एक वैधानिक सम्प्रभु कहा जा सकता है। **डायसी** इंगलैण्ड के इस वैधानिक सम्प्रभु के सम्बन्ध में लिखते हैं कि ''संसद कानून की दृष्टि से इतनी सर्वशक्ति-सम्पन्न है कि एक बच्चे को पूरी उम्र का, मृत्यु के बाद किसी व्यक्ति को राजद्रोही या अवैध सन्तान को वैध घोषित कर सकती है अथवा उचित समझे तो किसी व्यक्ति को स्वयं से सम्बन्धित मामले में भी न्यायाधीश बना सकती है।''[4]

---

1 **"Sovereignty is an entire thing. To divide is to destroy it. It is the supreme power of the state and we might just as well speak of half a square or half a triangle, as half a sovereignty."**
—***Calhoun's Works***, **Vol. I, p. 146.**

2 **"The complete division of Sovereignty we may look upon as essential to the absolute perfection of the federal ideas."**
—***Freeman***

3 **Gettell, *Political Science*, p. 125.**

4 **Dicey, *The Law of the Constitution*, p. 66.**

कानूनी सम्प्रभुता की निम्नलिखित विशेषताएँ बतायी जाती हैं :

(1) यह निश्चित होती है और न्यायालय इसे स्वीकार करता है।

(2) यह किसी एक व्यक्ति या व्यक्ति समूह में निहित हो सकती है।

(3) यह निश्चित रूप से संगठित, स्पष्ट और विधि द्वारा मान्य होती है।

(4) वैधानिक दृष्टि से राज्य की इच्छा की घोषणा केवल यही कर सकती है।

(5) व्यक्तियों को सभी अधिकार कानूनी सम्प्रभुता से ही प्राप्त होते हैं। अतः स्वाभाविक रूप से व्यक्ति को इस सम्प्रभुता के विरुद्ध कोई अधिकार प्राप्त नहीं हो सकते।

(6) यह असीमित और सर्वोच्च होती है।

राजनीतिक सम्प्रभुता

प्रत्यक्ष प्रजातन्त्रीय शासन-व्यवस्था वाले देशों में तो वैधानिक सम्प्रभुता और राजनीतिक सम्प्रभुता में कोई अन्तर नहीं होता, लेकिन जिस प्रकार का प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र वर्तमान समय में विश्व के अधिकांश राज्यों में प्रचलित है, उसके अन्तर्गत वैधानिक सम्प्रभु और राजनीतिक सम्प्रभु अलग-अलग इकाइयाँ होती हैं। वैधानिक दृष्टि से तो इंगलैण्ड में पार्लियामेण्ट सम्प्रभु है, किन्तु वास्तविक रूप में पार्लियामेण्ट की सत्ता पर अनेक प्रतिवन्ध हैं। पार्लियामेण्ट जनता के कल्याण और इच्छाओं के विरुद्ध किसी प्रकार के कानून का निर्माण नहीं कर सकती, क्योंकि जनता पार्लियामेण्ट के सदस्यों को निर्वाचित करती और उन पर नियन्त्रण रखती है। वैधानिक सम्प्रभु की सत्ता पर नियन्त्रण रखने वाली इस शक्ति को ही राजनीतिक सम्प्रभु कहा जाता है। डायसी के शब्दों में, "जिस सम्प्रभु को वकील लोग मानते हैं, उनके पीछे एक दूसरा सम्प्रभु रहता है। इस सम्प्रभु के सामने वैधानिक सम्प्रभु को सिर झुकाना ही पड़ता है। जिसकी इच्छा को अन्तिम रूप में राज्य के नागरिक मानते हैं वही राजनीतिक सम्प्रभु है।"[1] गार्नर ने भी कहा है कि "वैध सम्प्रभुता के पीछे एक दूसरी सम्प्रभुता भी है जो वैध रूप से अज्ञात एवं असंगठित है और जिसमें इतनी क्षमता नहीं होती कि वह राज्य की इच्छा को वैध आदेश के रूप में व्यक्त कर सके, परन्तु फिर भी जो ऐसी सत्ता है जिसके सम्मुख सम्प्रभुता को नतमस्तक होना पड़ता है और वह है राजनीतिक सम्प्रभुता।" कार्लायल के शब्दों में पार्लियामेण्ट को इस राजनीतिक सम्प्रभु के प्रति यह कहना होता है कि **"मैं उनका नेता हूँ और मुझे उनकी आज्ञाओं का पालन करना चाहिए।"**[2]

लेकिन यह राजनीतिक सम्प्रभुता कानून द्वारा ज्ञात नहीं होती। यह तो असंगठित और अनिश्चित होती है। संकीर्ण दृष्टिकोण से एक देश के निर्वाचकों को राजनीतिक सम्प्रभु कहा जा सकता है क्योंकि वे ही वैधानिक सम्प्रभु का निर्णय करते हैं, लेकिन दलीय राजनीति, लोकमत और प्रचार के साधनों का भी वैधानिक सम्प्रभु पर नियन्त्रण रहता है। इसलिए गिलक्राइस्ट के शब्दों में कहा जा सकता है कि **"राजनीतिक सम्प्रभु एक राज्य के अन्तर्गत उन सभी प्रभावों का योग होता है, जो कानूनी सम्प्रभु के पीछे निहित रहते हैं।"**[3]

वैधानिक और राजनीतिक सम्प्रभुता के बीच सम्बन्ध

प्रत्यक्ष लोकतन्त्रीय शासन में वैध और राजनीतिक प्रभुता में कोई अन्तर नहीं होता है और वे क्रियात्मक रूप में मिल जाती हैं, क्योंकि विधि निर्माण में जनता का प्रत्यक्ष हाथ होता है; किन्तु अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र में जनता के प्रतिनिधि विधि निर्माता होते हैं। ऐसी स्थिति में जन-प्रतिनिधियों से निर्मित व्यवस्थापिका वैधानिक सम्प्रभु और उस वैधानिक सम्प्रभु पर नियन्त्रण रखने वाले निर्वाचक राजनीतिक सम्प्रभु कहलाते हैं।

कानून निर्वाचक समूह की इच्छा के अनुरूप होना चाहिए और व्यवस्थापिका सभा को सब तरह से उनके आदेशों का पालन करना चाहिए। यदि व्यवस्थापिका ऐसा नहीं करती, तो निर्वाचकों और व्यवस्थापिका में एक-दूसरे के साथ सामंजस्य नहीं रहता और इनमें परस्पर राजनीतिक संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। वैध और राजनीतिक सम्प्रभु दो भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं। वे राज्य की प्रभुता के दो पक्ष हैं यद्यपि उनकी अभिव्यक्ति भिन्न

1 "Behind the sovereign, which the lawyer recognises there is and the sovereign to whom the legal sovereign must bow." —*Dicey*

2 "I am their leader and I must follow them." —*Carlyle*

3 "The sum total of influence in a state, which lie behind the law." —Gilchrist, *The Principle of Political Science*, p. 24.

मार्गों से होती है। अतः इन दोनों के बीच अधिकाधिक सामंजस्य स्थापित किया जाना चाहिए। **प्रो. रिची** ने ठीक ही कहा है कि **"श्रेष्ठ शासन की समस्या अधिकांश में वैधानिक सम्प्रभु तथा राजनीतिक सम्प्रभु के मध्य पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने की समस्या है।"**

एक श्रेष्ठ व्यवस्था के अन्तर्गत वैधानिक सम्प्रभुता को राजनीतिक सम्प्रभु की इच्छा के दर्पण के रूप में कार्य करना चाहिए। वैध प्रभुता या सत्ता राजनीतिक प्रभुता या सत्ता की इच्छा के विरुद्ध आचरण करने का साहस नहीं कर सकती। यदि वह ऐसा करती है तो वैध सत्यता (legal truth) राजनीतिक असत्यता में परिणत हो जाती है।

लोक प्रभुता

लोक प्रभुता का विचार आधुनिक लोकतन्त्र का आधारभूत सिद्धान्त है। इस धारणा के अनुसार अन्तिम प्रभुसत्ता जनता में निहित होती है। लोक प्रभुता के विचार को मध्य युग में **मार्सिग्लिओ ऑफ पेडुआ (Marsiglio of Padua) और विलियम ऑफ ओकम** (William of Occam), आदि विचारकों के द्वारा जन्म दिया गया, परन्तु इस धारणा का प्रमुख प्रतिपादक रूसो है जिसने 'सामान्य इच्छा' को ही लोक प्रभुता माना है। 'सामान्य इच्छा' से रूसो का तात्पर्य सबकी इच्छा के उस भाग से था जिसमें सामान्य हित निहित हो। उन्नीसवीं सदी में जनतन्त्र के विकास के साथ-साथ लोक प्रभुता के सिद्धान्त को भी लोकप्रियता मिली और आजकल तो निर्विवाद रूप से यह स्वीकार कर लिया गया है कि राजनीतिक सत्ता का अन्तिम संरक्षण जनता-जनार्दन के हाथों में ही है और जैसा कि ब्राइस ने कहा है, **"आधुनिक युग में लोक प्रभुता, लोकतन्त्र का आधार और पर्याय बन चुकी है।"** परन्तु लोक प्रभुता के सिद्धान्त के प्रतिपादक स्पष्ट रूप से यह नहीं बताते कि 'जनता' शब्द से उनका तात्पर्य क्या है? एक अर्थ में नवजात शिशु से लेकर मृतप्राय व्यक्ति तक, निम्नतम अपराधी से लेकर आदर्शतम नागरिक तक, सभी इस शब्द के अन्तर्गत आ जाते हैं। दूसरे अर्थ में, इस शब्द में केवल उन्हीं व्यक्तियों का बोध होता है जिनमें राजनीतिक चेतना हो, जो उत्तरदायित्वपूर्ण हों, जिन्हें मताधिकार प्राप्त हो और जो जनसंख्या के बहुमत का निर्माण करते हों। प्रथम अर्थ वाली जनता को प्रभु मानना तो कोरी मूर्खता होगी। इस प्रकार लोक प्रभुता से केवल मताधिकार प्राप्त जनसंख्या के बहुमत का ही बोध हो सकता है और इस अर्थ में राजनीतिक प्रभुता तथा लोक प्रभुता में कोई अन्तर नहीं रह जाता। इसीलिए गार्नर ने लिखा है कि **"लोकप्रिय सम्प्रभुता का अर्थ निर्वाचक समूह की जनसंख्या की शक्ति से अधिक कुछ नहीं होता और यह उन्हीं देशों में सम्भव है जिनमें व्यापक मताधिकार की प्रणाली प्रचलित करने के लिए वैध रूप से स्थापित मार्गों द्वारा उनकी इच्छा को व्यक्त और प्रसारित करने के लिए क्रियान्वित होती है।"** डॉ. आशीर्वादम के अनुसार लोक प्रभुता के सिद्धान्त में निम्न गुण विशेष उल्लेखनीय हैं :

(1) शासन का अस्तित्व जनहित के लिए होता है।

(2) यदि जान-बूझकर जन इच्छाओं की अवहेलना की जाती है तो क्रान्ति की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है।

(3) जनमत की अभिव्यक्ति के लिए सरल वैधानिक साधनों की व्यवस्था होनी चाहिए।

(4) निश्चित अवधि के बाद चुनाव, स्थानीय स्वायत्त शासन, लोक निर्णय, आरम्भक और प्रत्याह्वान द्वारा सरकार जनता के प्रति प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी होनी चाहिए।

(5) शासन के द्वारा अपनी शक्तियों का प्रयोग संविधान द्वारा निर्धारित सीमाओं के अन्तर्गत ही किया जाना चाहिए, स्वेच्छाचारिता से नहीं।

विधितः और यथार्थ सम्प्रभुता (De jure and De facto Sovereignty)—एक देश के संविधान द्वारा जिस व्यक्ति या समुदाय को शासन करने का अधिकार प्रदान किया जाता है उसे विधितः सम्प्रभु कहते हैं और एक देश के अन्तर्गत व्यवहार में अथवा वास्तव में, जिस व्यक्ति या समुदाय द्वारा शासन किया जाता है, दूसरे शब्दों में, जनता से जो व्यक्ति समुदाय वास्तव में अपनी आज्ञाओं का पालन कराता है, उसे यथार्थ सम्प्रभु कहते हैं। ब्राइस के शब्दों में, **"यथार्थ सम्प्रभु वह है जिसकी आज्ञाओं व आदेशों का वास्तव में पालन होता हो, चाहे उसकी प्रभुता के आधार कानूनी हों या न हों।"** सामान्यतः विधितः और यथार्थ प्रभु अलग-अलग नहीं होते, क्योंकि कानून द्वारा जिस इकाई को शासन करने का अधिकार प्रदान किया जाता है, व्यवहार में भी उसी के द्वारा शासन किया जाता है।

किन्तु कुछ विशेष परिस्थितियों में विधितः और यथार्थ सम्प्रभु अलग-अलग हो जाते हैं। जब कोई व्यक्ति एक श्रेणी या बहुसंख्यक जनसमूह राज्य के विद्यमान संविधान और कानून की उपेक्षा कर क्रान्ति, विद्रोह या शक्ति के प्रयोग द्वारा शासन शक्ति अपने हाथ में लेकर अपनी सरकार स्थापित कर लेता है, तो ऐसी स्थिति में विधितः सम्प्रभु तो पुरानी सरकार ही रहती है, लेकिन नवीन स्थापित सरकार उस राज्य की वास्तविक सम्प्रभु हो जाती है क्योंकि पुरानी सरकार उस क्षेत्र में अपनी आज्ञाओं का पालन नहीं करा सकती। हिटलर ने बेल्जियम, फ्रांस, आदि राज्यों पर कब्जा स्थापित कर 1939-40 में, क्रामवैल ने 1649 में इंगलैण्ड में और लेनिन ने प्रारम्भ में 1917 में रूस में जो सरकार स्थापित की थी, वह यथार्थ सम्प्रभु ही थी। 1958 में मार्शल अय्यूब ने क्रान्ति के आधार पर पाकिस्तान की शासन शक्ति अपने हाथ में ले ली। लगभग 10 वर्षों तक वे पाकिस्तान के सर्वेसर्वा बने रहे, किन्तु 1968 में सेना की सहायता से याह्याखाँ ने मार्शल अय्यूब को पदच्युत कर शासन की शक्ति पर अधिकार कर लिया।

1973 की दो घटनाओं के आधार पर विधितः और यथार्थ सम्प्रभुता का भेद किया जा सकता है। 27 जुलाई, 1973 को सरदार मोहम्मद दाऊद ने क्रान्ति के आधार पर अफ़गानिस्तान के शाह जहीरशाह को अपदस्थ कर सत्ता प्राप्त कर ली। इस प्रकार सरदार मोहम्मद दाऊद की सरकार यथार्थतः सम्प्रभु हो गयी। इसी प्रकार 11 सितम्बर को चिली में राष्ट्रपति साल्वेदोर आयेंद्रे की सरकार के विरुद्ध सफल विद्रोह करके जनरल पोनीचेत की सैनिक सरकार ने चिली के यथार्थ सम्प्रभु की स्थिति प्राप्त कर ली। ये यथार्थ सम्प्रभु अच्छे भी हो सकते हैं और आततायी भी। जब विधितः सम्प्रभु आततायी होता है तो जनता परिवर्तन का स्वागत करती है और नवीन शासक को अपना समर्थन प्रदान कर देती है।

लेकिन विधितः सम्प्रभु और यथार्थतः सम्प्रभु अधिक समय तक एक-दूसरे से अलग नहीं रह सकते हैं। या तो विधितः सम्प्रभु थोड़े समय के बाद इस प्रकार के विद्रोह द्वारा स्थापित शक्ति का अन्त करके पुनः यथार्थ सम्प्रभु बन जाता है या विद्रोह द्वारा स्थापित नयी सरकार संविधान में परिवर्तन करके या किसी और प्रकार से जनता की स्वीकृति प्राप्त कर अथवा अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त करके विधितः सम्प्रभु भी बन जाती है। उदाहरणार्थ, लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविक पार्टी द्वारा किये गये परिवर्तनों को जब रूसी जनता ने स्वीकार कर लिया तो क्रान्ति द्वारा स्थापित नवीन सरकार यथार्थ सम्प्रभु होने के साथ-साथ विधितः सम्प्रभु भी बन गयी। जुलाई, 1973 में सरदार मुहम्मद दाऊद की सरकार ने पहले यथार्थ सम्प्रभुता प्राप्त की और थोड़े ही समय में व्यापक जन-समर्थन के आधार पर विधितः सम्प्रभुता भी प्राप्त कर ली।

सम्प्रभुता का अधिवास

सम्प्रभुता के अधिवास की खोज राजनीति विज्ञान का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण और जटिल प्रश्न है। सम्प्रभुता के अधिवास का तात्पर्य यह है कि सम्प्रभुता राज्य में कहाँ रहती है अर्थात् कौन व्यक्ति या व्यक्ति समूह राज्य की इच्छा को व्यक्त करते हैं। इस सम्बन्ध में प्रमुख रूप से निम्नलिखित विचारों का प्रतिपादन किया गया है :

(1) **सम्प्रभुता का अधिवास राजा में है**—19वीं सदी तक राजतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्थाओं में यह विचार प्रचलित था कि सम्प्रभुता राज्य में निहित होती है। फ्रांस का शासक लुई चौदहवाँ कहा करता था कि "मैं ही राज्य हूँ, मैं ही शासक हूँ" (I am the state, I am the monarch)। परन्तु लोकतन्त्र की स्थापना के फलस्वरूप वर्तमान समय में इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया जाता है।

(2) **सम्प्रभुता जनता में निहित है**—सर्वप्रथम रोमन विद्वान सिसरो (Cicero) द्वारा इस विचार का प्रतिपादन किया गया था कि सम्प्रभुता जनता में निहित है; किन्तु उपर्युक्त विचार उस समय की प्रवृत्तियों के विरुद्ध होने के कारण स्वीकार्य न हुआ। 16वीं और 17वीं सदी में यूरोप में जन-आन्दोलन प्रारम्भ हो गया और इस समय लॉक तथा रूसो जैसे संविदावादियों द्वारा इस बात का प्रतिपादन किया गया कि शासन जनस्वीकृति पर आधारित होता है और सम्प्रभुता जनता में निहित होती है। फ्रांस एवं अमरीका की क्रान्ति और जैफरसन जैसे विद्वानों द्वारा इस विचार को पुष्टि प्रदान की गयी और वर्तमान समय में यह विचार अत्यन्त लोकप्रिय भी है, किन्तु व्यवहार में इस सिद्धान्त को स्वीकार करने में अनेक कठिनाइयाँ आती हैं, जिनमें कुछ अग्र प्रकार हैं :

प्रथमतः, जन-समुदाय को सम्प्रभु नहीं माना जा सकता, क्योंकि जन-समुदाय असंगठित होता है, लेकिन सम्प्रभुता आवश्यक रूप से संगठित होती है और एकता उसका अनिवार्य लक्षण है।

द्वितीयतः, निर्वाचकों को भी सम्प्रभु नहीं माना जा सकता, क्योंकि उनकी संख्या सम्पूर्ण जनता का एक बहुत ही छोटा भाग होती है। इसके अतिरिक्त जनता के मत या जनमत को राजनीतिक सम्प्रभु माना जा सकता है, वैधानिक सम्प्रभु नहीं।

(3) सम्प्रभुता संविधान निर्मात्री सभा में है—16वीं सदी के कुछ प्रतिभाशाली न्याय-विशारदों ने इस बात का प्रतिपादन किया कि सम्प्रभुता संविधान-निर्मात्री सभा में निहित होती है। इस विचार के अनुसार देश के सर्वोच्च कानून का निर्माण करने वाली सभा को ही सम्प्रभु कहा जा सकता है, परन्तु इस विचार के विरुद्ध भी निम्नलिखित बातें कही जाती हैं :

प्रथमतः, सम्प्रभुता का एक प्रमुख लक्षण उसका स्थायित्व है, परन्तु लगभग सभी राज्यों में संविधान-निर्मात्री सभा स्थायी नहीं होती है।

द्वितीयतः, संविधान-निर्मात्री सभा को वैधानिक सम्प्रभु कहा जा सकता है, राजनीतिक सम्प्रभु नहीं। यद्यपि वैधानिक सम्प्रभु का भी अपना महत्व है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से अन्तिम रूप में तो राजनीतिक सम्प्रभु ही सर्वोच्च होता है।

(4) सम्प्रभुता का अधिवास विधानमण्डल में है—आधुनिक युग के कुछ विद्वानों का मत है कि सम्प्रभुता का अधिवास राज्य के विधानमण्डल में है क्योंकि कार्यपालिका और न्यायपालिका तो विधानमण्डल की इच्छा का ही पालन करती हैं, परन्तु इस विचार के विरुद्ध भी निम्न तर्क दिये जाते हैं :

प्रथमतः, यह बात असत्य है कि विधानमण्डल ही कानूनों का एकमात्र निर्माता होता है और उसकी शक्तियाँ असीमित हैं। व्यवहार में विधानमण्डल की शक्तियाँ जनमत, निर्वाचन, रीति-रिवाज, धार्मिक नियम, संविधान, आदि अनेक बातों से सीमित हैं।

द्वितीयतः, संघात्मक राज्यों में जहाँ पर कि संविधान आवश्यक रूप से लिखित और कठोर होता है, यह बात लागू नहीं होती है। संघात्मक राज्य में शक्ति-विभाजन के कारण विधानमण्डल की शक्तियाँ सरकार के अन्य अंगों के अधिकारों से सीमित हो जाती हैं।

(5) सम्प्रभुता का निवास राज्य में विधि निर्माण करने वाली समस्त संस्थाओं के योग में है—गैटिल जैसे कुछ विद्वानों ने इस बात का प्रतिपादन किया है कि सम्प्रभुता उन समस्त संस्थाओं के योग में निवास करती है जो विधि निर्माण के कार्य में भाग लेती हैं। गैटिल ने इन संस्थाओं का विभाजन निम्न प्रकार से किया है :

(क) प्रतिनिध्यात्मक व्यवस्थाएँ—राष्ट्रीय, राजकीय तथा स्थानीय।

(ख) न्यायालय—जब वे कानून का निर्माण करते हैं।

(ग) कार्यपालिका—जब वह अध्यादेश जारी करते हैं।

(घ) निर्वाचक मण्डल—जब वे लोक निर्णय और आरम्भक द्वारा अपनी शक्ति का प्रयोग करते हों।

(ङ) सम्मेलन व सभाएँ—जब वे संविधान परिवर्तन या नवीन संविधान के निर्माण का कार्य करते हैं।

गैटिल का विचार उपर्युक्त चारों ही सिद्धान्तों का समन्वय है। इसके अन्तर्गत एक प्रकार से स्वयं राज्य को सम्प्रभु माना गया है और सरकार के विभिन्न अंग व्यवहार में इस सम्प्रभु शक्ति का प्रयोग करने वाले हैं। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत लोक प्रभुता, वैधानिक प्रभुता और राजनीतिक सम्प्रभुता सभी को उनका उचित स्थान प्रदान कर दिया गया है, अतः यह विचार ही स्वीकार्य है।

ऑस्टिन का सम्प्रभुता सिद्धान्त
(AUSTIN'S THEORY OF SOVEREIGNTY)

जॉन ऑस्टिन (1790-1859) इंगलैण्ड का विधानशास्त्री था, जिसने 1832 में प्रकाशित अपनी पुस्तक **'विधानशास्त्र पर व्याख्यान'** (Lectures on Jurisprudence) में सम्प्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। ऑस्टिन हॉब्स और वेन्थम के विचारों से प्रभावित था और बेन्थम के समान ही ऑस्टिन का उद्देश्य भी कानून और परम्परा के बीच भेद करना और परम्परा पर कानून की श्रेष्ठता स्थापित करना था। कानून के सम्बन्ध में ऑस्टिन का विचार था कि **'उच्चतर द्वारा निम्नतर को दिया गया आदेश ही कानून होता है'** और अपने इसी विचार के आधार पर ऑस्टिन ने सम्प्रभुता की धारणा का प्रतिपादन किया जो इस प्रकार है, **''यदि कोई**

निश्चित उच्च सत्ताधारी व्यक्ति, जो स्वयं किसी उच्च सत्ताधारी की आज्ञापालन का अभ्यस्त नहीं है, किसी समाज के अधिकांश भाग से अपने आदेशों का पालन कराता है, तो उस समाज में वह उच्च सत्ताधारी व्यक्ति प्रभुत्व शक्तिसम्पन्न होता है तथा वह समाज उस उच्च सत्ताधारी सहित एक राजनीतिक और स्वतन्त्र समाज होता है।"[1]

ऑस्टिन के सम्प्रभुता सम्बन्धी इस कथन के विश्लेषण से सम्प्रभुता की निम्न विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं :

(1) प्रत्येक स्वतन्त्र राजनीतिक समाज अर्थात् राज्य में आवश्यक रूप से कोई व्यक्ति या व्यक्ति समूह सम्प्रभु होता है। प्रत्येक राजनीतिक समाज में प्रभुत्व शक्ति उसी प्रकार अनिवार्य है जिस प्रकार पदार्थ के किसी पिण्ड में आकर्षण केन्द्र का होना अनिवार्य होता है।

(2) सम्प्रभु किसी मानव या मानव समूह के रूप में हो सकता है, किन्तु यह आवश्यक रूप से निश्चित होना चाहिए। सम्प्रभुता 'सामान्य इच्छा', 'प्राकृतिक कानून', 'दैवी इच्छा', 'जनमत' या 'मतदान' जैसे भावात्मक प्रतीकों में निहित नहीं हो सकती है। यह तो एक ऐसा निश्चित मनुष्य या एक ऐसी निश्चित सत्ता होनी चाहिए जिस पर स्वयं कोई कानूनी प्रभुत्व न हो।

(3) इन निश्चयात्मक मानव श्रेष्ठ की शक्ति असीमित और अपरिमित (absolute and unlimited) होती है। कोई उच्चतर अधिकारी उससे अपनी आज्ञाओं का पालन नहीं करा सकता।

(4) निश्चयात्मक मानव श्रेष्ठ के प्रति आज्ञाकारिता आदत का विषय होती है, यदा-कदा की बात नहीं। ऑस्टिन का विचार है कि निश्चित प्रभु के प्रति आज्ञाकारिता स्थिर, निरन्तर और अप्रतिहत होनी चाहिए।

(5) प्रभुत्व शक्ति का आदेश कानून है और इस आदेश की अवहेलना करने वाला दण्ड का भागी होता है।

(6) सर्वोच्च प्रभुता की शक्ति अखण्डित होती है। यह एक ही इकाई हैं और व्यक्तियों अथवा संघों में इसका विभाजन नहीं हो सकता।

ऑस्टिन के सिद्धान्त की आलोचना

ऑस्टिन एक वकील था और उसने सम्प्रभुता के सिद्धान्त की व्याख्या केवल वैधानिक दृष्टिकोण के आधार पर ही की है। ऑस्टिन द्वारा व्यावहारिक पक्ष पर ध्यान न दिये जाने के कारण **सर हेनरी मेन, ब्राइस, ए. आर. लॉर्ड, ब्लंटशली, जेम्स स्टीफेन,** आदि विद्वानों ने इस सिद्धान्त की कटु आलोचना की है। ऑस्टिन के सिद्धान्त की ये आलोचनाएँ प्रमुख रूप से निम्नलिखित आधारों पर हुई हैं :

(1) समाज में ऑस्टिन के जनश्रेष्ठ को खोज पाना कठिन है—ऑस्टिन के द्वारा जिस प्रकार के निश्चित सम्प्रभु की व्याख्या की गयी है, व्यवहार में उसे खोज पाना अत्यन्त कठिन है। **सर हेनरी मेन** (Sir Henry Maine) ने अपनी पुस्तक '*Early Institutions*' में लिखा है कि **"इतिहास में इस प्रकार के निश्चित जनश्रेष्ठ के उदाहरण नहीं मिलते हैं।"** उनके अनुसार, पूर्व में अनेक साम्राज्यों में ऐसी कोई चीज नहीं रही जिसे निश्चित उच्चतर सत्ता कहा जा सके। मध्य युग में भी यह निश्चय करना कठिन था कि सम्प्रभु समाज है या राज्य। सामन्ती युग में भी सामन्तों की शक्ति बढ़ी हुई होने के कारण वास्तविक सम्प्रभु का पता लगाना कठिन था और वर्तमान समय में अमरीका, आदि देशों के संविधानों में सम्प्रभु को निश्चित करना कठिन है। मेन ने उदाहरण देते हुए लिखा है, "महाराजा रणजीतसिंह के आदेश की सूक्ष्म अवज्ञा का परिणाम मृत्युदण्ड या अंगभंग हो सकता था, किन्तु ऐसे शासक ने भी कभी कोई आदेश नहीं दिया जिसे ऑस्टिन के शब्दों में कानून कहा जा सके।...प्रजा पर नियन्त्रण रखने वाले उनके नियमों का जन्म उनकी प्राचीन प्रथाओं के द्वारा ही हुआ था और उनका पालन भी घरेलू समितियों द्वारा ही होता था।" **लीकॉक** ने भी इस कथन की पुष्टि करते हुए कहा है कि **"प्रभुत्व, राज्य तथा कानून का विचार जिस प्रकार से ऑस्टिन ने किया है, यह पूर्वी जनजातियों पर लागू नहीं होता।"** ऐसी स्थिति में जॉन चिपमैन ग्रे के शब्दों में कहा जा सकता है कि **"समाज के वास्तविक शासकों को खोजा नहीं जा सकता है।"**[2]

1 "If a determinate human superior, not in the habit of obedience to a like superior, receives habitual obedience from the bulk of a given society, that determinate superior is the sovereign in the society and the society including the sovereign, is a society political and independent."
—Austin in 'Lectures on Jurisprudence' Quoted by Garner in *Political Science and Government*, p. 179

2 "The real rulers of society are undiscoverable." —*John Chipman Gray.*

(2) यह लोक प्रभुता की अवहेलना करता है—इस सिद्धान्त का यह प्रतिपादन कि सम्प्रभु कोई निश्चित शक्ति होती है, लोक प्रभुता की इस मान्यता के विपरीत है कि प्रभुत्व शक्ति जनता में निहित होती है तथा 'लोकमत या जनता की इच्छा ही राज्य में सर्वोपरि है।' वस्तुतः ऑस्टिन की कल्पना के वैधानिक प्रभु को मानने का परिणाम यह होगा कि हमें लोक प्रभुता तथा राजनीतिक प्रभुता—दोनों ही प्रकार की प्रभुताओं की सत्ता अस्वीकृत करनी होगी। वर्तमान समय की प्रजातन्त्रीय व्यवस्था में ऐसा कर सकना सम्भव नहीं है। मैकाइवर ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक राज्य' (The Modern State) में लिखा है कि **''ऑस्टिन की विचारधारा उपनिवेशों के राजनीतिक जीवन पर ही लागू होती है, क्योंकि उस विचारधारा की विषय-वस्तु स्वामी और दास के सम्बन्धों की व्याख्या मात्र है।''**

(3) कानून प्रभुसत्ताधारी का आदेश मात्र नहीं है—ऑस्टिन के सिद्धान्त का यह प्रतिपादन कि सम्प्रभु के आदेश ही कानून होते हैं, त्रुटिपूर्ण है। वस्तुतः सम्प्रभुता ही कानून का एकमात्र स्रोत नहीं होती है, वरन् इसके साथ-साथ परम्परागत प्रथाओं, न्याय सम्बन्धी निर्णयों, वैधानिक टीकाओं और औचित्य पर आधारित राजकीय व्यवस्थापन भी कानून के स्रोत के रूप में कार्य करता है। इस सम्बन्ध में भारतीय विद्वान **कौटिल्य** अपने '**अर्थशास्त्र**' में लिखते हैं कि **''धर्म, औचित्य, न्याय, पारस्परिक व्यवहार की शर्तें, परम्परागत नियम और प्रथाएँ तथा राजा के आदेश कानून के स्रोत होते हैं।''**

आधुनिक विचारधाराओं के अनुसार तो कानून निर्माण के स्रोत के रूप में राज्य के आदेशों की अपनी कोई पृथक् सत्ता हो ही नहीं सकती, अपितु राज्य के द्वारा वे ही कानून निर्मित हो सकते हैं तथा जनता को वे ही कानून साधारणतया मान्य हो सकते हैं जिनका आधार परम्पराएँ, न्याय और औचित्य हो। मैकाइवर (MacIver) का कथन है, **''राज्य को किसी रीति-रिवाज का विनाश करने या बदलने की तनिक भी शक्ति नहीं होती। हाँ, इतना अवश्य है कि परिस्थितियों में थोड़ा-सा परिवर्तन लाकर वह अप्रत्यक्ष रूप से उनको प्रभावित करता है।''**[1] **क्लार्क, सिजविक, लावेल, विल्सन, टी. एच. ग्रीन. लाइटवुड, मेरियम और विलोबी** ने भी ऑस्टिन के सिद्धान्त की कड़ी आलोचना की है। उन्होंने कहा है कि ऑस्टिन ने कानून के वारे में केवल एक तत्व (सत्ताधारी के आदेश) पर अनावश्यक बल दिया है और अन्य तत्वों की उपेक्षा की है। इस सम्बन्ध में **डिग्विट** ने तो यहाँ तक कहा है कि **''राज्य कानून का निर्माण नहीं करता वरन् कानून ही राज्य की स्थापना करते हैं। कानून केवल सामाजिक आवश्यकता का प्रकाशन होता है।''**[2]

(4) ऑस्टिन का यह कथन असत्य है कि सम्प्रभुता अविभाज्य है—ऑस्टिन सम्प्रभुता की अविभाज्यता का प्रतिपादन करता है, लेकिन व्यावहारिक दृष्टिकोण से सम्प्रभुता की अविभाज्यता के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रत्येक राजनीतिक समाज में कर्तव्यों का वँटवारा होता है और कर्तव्यों के बँटवारे से स्पष्ट है कि सम्प्रभुता विभाजित की जा सकती है। इसके अतिरिक्त वर्तमान समय के संघात्मक राज्यों के अन्तर्गत तो सम्प्रभुता आवश्यक रूप से विभाजित होती है। कुछ विद्वान संघात्मक राज्यों में भी सम्प्रभुता के अविभाजनत्व का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि संघ राज्यों में सम्प्रभुता संविधान-निर्मात्री सभा में निहित रहती है, लेकिन इस बात को स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि संविधान सभा शाश्वत नहीं होती है जबकि आवश्यकता सम्प्रभुता का मूल लक्षण है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सम्प्रभुता विभाजित होती है।

(5) शक्ति को अत्यधिक महत्व—इस सिद्धान्त के प्रतिपादन में शक्ति को अत्यधिक महत्व प्रदान किया गया है। ऑस्टिन की धारणा से प्रतीत होता है कि उच्च सत्ता अपने सिद्धान्तों का पालन शक्ति के आधार पर ही करवाती है, परन्तु वास्तविकता यह नहीं है। अधिकांश जनता कानूनों का पालन दण्ड के भय के कारण नहीं वरन् इस कारण करती है कि कानून जनता की इच्छा को अभिव्यक्त करता है और उनके पालन में जनता का ही कल्याण निहित होता है। ऑस्टिन के सिद्धान्त में शक्ति को जो अत्यधिक महत्व प्रदान किया गया है, उसी के कारण हर्नशॉ (Hearn shaw) ने कहा है, **''ऑस्टिन के दर्शन में हवलदारी की गन्ध आती है।''**

---

1 **"The state has little power to make custom and perhaps less to destroy it, although indirectly it influence customs by changing the conditions out of which they spring."**

—MacIver, *Modern State*, p. 161.

2 **"It is not the state which creates law, but it is the law, which creates the state, laws are merely the expressions of social necessity."**

—*Dugvit*

(6) सम्प्रभुता असीमित नहीं है—ऑस्टिन द्वारा सम्प्रभुता के जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है उसके अनुसार सम्प्रभुता का सर्वप्रथम लक्षण उसकी असीमितता तथा निरंकुशता है, किन्तु आलोचक सम्प्रभुता की असीमितता को स्वीकार नहीं करते हैं। ब्लंटशली लिखता है कि **"राज्य अपने समस्त स्वरूप में सर्वशक्तिमान नहीं हो सकता, क्योंकि बाहरी मामलों में वह अन्य राज्यों के अधिकारों से और आन्तरिक क्षेत्र में स्वयं की प्रकृति तथा अपने सदस्यों के व्यक्तिगत अधिकारों से सीमित है।"**[1]

आलोचकों के अनुसार व्यवहार में सम्प्रभुता की असीमितता पर निम्नलिखित प्रतिबन्ध होते हैं :

(क) नैतिक प्रतिबन्ध—सम्प्रभुता व्यक्तिगत तथा सामाजिक क्षेत्र के नैतिक नियमों से असीमित होती है और कोई भी सम्प्रभु अपने आदेश या कार्य द्वारा चोरी या वेश्यावृत्ति जैसे अनैतिक कार्य को नैतिक नहीं बना सकता है।

(ख) रीति-रिवाज तथा परम्पराएँ—रीति-रिवाज तथा परम्पराओं का भी सम्प्रभु की कानूनी शक्ति पर बहुत बड़ा प्रतिबन्ध होता है। परम्पराओं का राष्ट्रीय जीवन में बहुत अधिक महत्व होता है और कोई भी सम्प्रभु अपने अस्तित्व को खतरे में डाले विना सहसा ही इन परम्पराओं को तोड़ने का साहस नहीं कर सकता। सर हेनरी मेन ने अपनी पुस्तक '*Early History of Institutions*' में लिखा है कि **"पंजाब का निरंकुश शासक रणजीतसिंह भी ऐसे कानून लागू नहीं करता था जो कि समाज के प्रचलित नियमों के विरुद्ध हों।"**

(ग) धर्म—भूतकाल में लगभग सभी राज्यों और वर्तमान समय में भी कुछ राज्यों में धर्म सम्प्रभु की शक्ति पर एक प्रतिबन्ध है। बहुत समय तक यूरोप के अनेक राज्यों में राज्याभिषेक उस समय तक अवैध माने जाते थे जब तक कि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से रोम के पोप की स्वीकृति न प्राप्त कर ली गयी हो। वर्तमान समय में भी पाकिस्तान जैसे अनेक राज्यों में संविधान का मूल आधार धर्म ही है।

(घ) अन्तर्राष्ट्रीय कानून—वैज्ञानिक प्रगति तथा यातायात और संवादवाहन के साधनों के विकास ने वेश्व के विभिन्न देशों को एक-दूसरे के बहुत अधिक समीप ला दिया है और वर्तमान समय में एक राज्य की सम्प्रभुता अन्तर्राष्ट्रीय कानून और विश्व जनमत से बहुत अधिक सीमित होती है। यद्यपि कानूनी दृष्टि से सम्प्रभुता पर अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का कोई प्रतिबन्ध नहीं होता है, लेकिन किसी भी सम्प्रभु द्वारा विश्व जनमत का विरोध किया जा सकना सम्भव नहीं है। लास्की सम्पूर्ण मानवता के हित में राज्य की सम्प्रभुता को सीमित करने के पक्ष में है और उसके विचार में **"सम्प्रभु की मनमानी आज्ञा देने की शक्ति मानवता के हित से मेल नहीं खाती है।"**[2]

(ङ) अन्य समुदाय—वर्तमान समय में मानवीय आवश्यकताओं की विविधता के कारण व्यक्तियों द्वारा आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में अनेक समुदायों की स्थापना की जाती है और इन समुदायों द्वारा व्यक्ति एवं राज्यों के जीवन के सम्बन्ध में अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये जाते हैं। राज्य भी इन समुदायों के अस्तित्व का ध्यान रखते हुए ही अपनी शक्ति का प्रयोग करता है। बहुलवादियों के अनुसार मानव-निर्मित ये ऐच्छिक समुदाय भी राज्य की शक्ति पर वड़े प्रतिबन्ध हैं।

(7) प्रभुत्व की धारणा घातक है—आन्तरिक क्षेत्र में यदि इस सर्वोच्च सत्ता की धारणा को स्वीकार भी कर लें, तो भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसे किसी भी रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। वस्तुतः वर्तमान समय में, जबकि अणु वम और हाइड्रोजन बम जैसे शक्तिशाली अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण हो चुका है तो सम्पूर्ण मानवता से सम्बन्धित प्रश्नों को किसी एक राज्य की इच्छा पर नहीं छोड़ा जा सकता। इसलिए नार्मन ऐंजल (Norman Angel) ने अपनी पुस्तक '*Unseen Assassins*' में राज्य प्रभुत्व को प्रमुख हत्यारों में माना है। लास्की ने ठीक ही लिखा है कि **"अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से एक स्वतन्त्र और प्रभुत्वसम्पन्न राज्य का विचार मानवीय सुख-समृद्धि के लिए घातक है।"**

महत्व—यद्यपि ऑस्टिन के सम्प्रभु सिद्धान्त की अनेक आलोचनाएँ की गयी हैं, लेकिन इनमें से अधिकांश आलोचनाएँ ऑस्टिन के दृष्टिकोण को ठीक प्रकार से न समझने और भ्रान्ति के कारण की गयी हैं। ऑस्टिन

1 "The state as a whole is not almighty, for it is limited externally by the rights of other states and internally by its own nature and by the rights of its individual members." —*Bluntschli*

2 "Externally, surely the concept of an absolute and independent sovereign state, which demands an unqualified allegiance to government from its members and enforces the allegiance by power at its command, is incompatible with the interests of humanity." —*Laski*

ने उस सिद्धान्त का प्रतिपादन वैधानिक दृष्टिकोण के आधार पर किया और निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि वैधानिक दृष्टिकोण से ऑस्टिन का सिद्धान्त सही है। यह सिद्धान्त नितान्त स्पष्ट और तर्कसंगत है और उसके द्वारा किये गये सिद्धान्त के इस विवेचन से प्रभुता के लौकिक व राजनीतिक रूपों की अनिश्चितता निश्चितता में ढल जाती है।

बहुलवाद
(PLURALISM)

सम्प्रभुता की विवेचना करते हुए बोदां, हॉब्स, हीगल, ऑस्टिन, आदि विद्वानों द्वारा सम्प्रभुता की अद्वैतवादिता का प्रतिपादन किया गया है जिसका तात्पर्य है कि प्रत्येक राज्य में एक ही सम्प्रभुता होती है, सभी व्यक्ति और समुदाय उसके अधीन होते हैं और यह सर्वोच्च सत्ता राज्य की सत्ता होती है। इस धारणा के अनुसार राज्य की यह शक्ति मौलिक, स्थायी, सर्वव्यापी तथा अविभाजनीय होती है और मानव-जीवन के सभी पहलुओं का नियमन और नियन्त्रण राज्य के द्वारा ही किया जा सकता है। सम्प्रभुता की अद्वैतवादिता की इस धारणा के विरुद्ध जिस विचारधारा का उदय हुआ, उसे हम राजनीतिक वहुलवाद या बहुसमुदायवाद कहते हैं। **इस प्रकार बहुलवाद को सम्प्रभुता की अद्वैतवादी धारणा के विरुद्ध एक ऐसी प्रतिक्रिया कहा जा सकता है जो यद्यपि राज्य के अस्तित्व को बनाये रखना चाहती है, किन्तु राज्य की सम्प्रभुता का अन्त करना श्रेयष्कर मानती है।**

बहुलवादी विचारधारा के अनुसार राजसत्ता सम्प्रभु और निरंकुश नहीं है। समाज में विद्यमान अन्य अनेक समुदायों का अस्तित्व राजसत्ता को सीमित कर देता है। व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए केवल राज्य की ही सदस्यता स्वीकार नहीं करता, वरन् राज्य के साथ-साथ दूसरे अनेक समुदायों और संघों की सदस्यता भी स्वीकार करता है। ऐसी स्थिति में एकमात्र राज्य को सम्पूर्ण सत्ता प्रदान नहीं की जा सकती है। **विद्वान हेसियो (Hasio) ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "बहुलवादी राज्य एक ऐसा राज्य है, जिसमें सत्ता का केवल एक ही स्रोत नहीं है, यह विभिन्न क्षेत्रों में विभाजनीय है और इसे विभाजित किया जाना चाहिए।"**[1]

बहुलवाद को समझने के लिए कुछ बहुलवादी विचारकों के कथनों का उल्लेख किया जा सकता है, जो निम्न प्रकार हैं :

लिण्डसे ने लिखा है कि "यदि हम तथ्यों का अवलोकन करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्प्रभुता के सिद्धान्त का अन्त हो चुका है।"[2]

बार्कर का मत है कि "कोई भी राजनीतिक सिद्धान्त इतना निष्फल नहीं हुआ है जितना कि प्रभुत्वसम्पन्न राज्य का सिद्धान्त निष्फल हो चुका है।"

लास्की के शब्दों में, "समाज के ढाँचे को पूर्ण होने के लिए उसे संघात्मक होना चाहिए।"[3]

गैटिल ने वहुलवाद की विस्तार से व्याख्या की है। उसके अनुसार, वहुलवादी इस वात को मान्यता नहीं देते कि राज्य एक सर्वोच्च समुदाय है। वे अन्य समुदायों को भी उसी आधार पर आवश्यक एवं प्राकृतिक मानते हैं। उनका विचार है कि वे सभी समुदाय वैसे ही महत्वपूर्ण हैं जैसे कि राज्य। इन समुदायों का प्रादुर्भाव स्वतः एवं स्वभावतः होता है; वे राज्य द्वारा निर्मित नहीं होते और न वे अपने अस्तित्व के लिए उसकी इच्छा पर ही अवलम्बित होते हैं। राज्य की तरह वे भी अपने क्षेत्रों में सर्वोपरि हैं। वे इस बात को भी नहीं मानते कि राज्य अपनी शक्ति के कारण कुछ सर्वोच्च अधिकार रख सकता है। वे उन सभी समुदायों के समान अधिकारों में विश्वास करते हैं जो अपने सदस्यों को एक सूत्र में पिरोकर उनके लिए महान् कार्य करते हैं। अतः प्रभुता न केवल राज्य की धरोहर है अपितु सभी समुदाय उसका उपभोग करते हैं। राज्य अविभाज्य, सर्वोच्च और असीम शक्तिसम्पन्न नहीं है। उसका सर्वोच्च सत्ता का दावा आज भी जटिल दुनिया की वास्तविक बातों के अनुरूप नहीं है।[4]

---

1 "The pluralistic state is simply a state in which there exists no single source of authority—it is divisible into parts and should be divided." —Hasio, *Political Pluralism*, p. 1.

2 "If we look at the facts, it is clear enough that theory of sovereign state has broken down." —Lindsay, *The Personality of Association*, Harward Law.

3 "The structure of social organization, if it wants to be adequate, must be federal in character." —*Laski*

4 Gettell, *Political Science.*

बहुलवाद के विकास में सहायक तत्व

17वीं, 18वीं और 19वीं सदी में विश्व के अधिकांश राज्यों द्वारा प्रभुसत्ता के अनियन्त्रित रूप को स्वीकार कर लिया गया था, लेकिन प्रभुसत्ता सम्बन्धी उनकी यह मान्यता बीसवीं सदी की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों के अनुकूल न थी। अतः अनियन्त्रित प्रभुसत्ता का सिद्धान्त एक अव्यावहारिक तथा मृत सिद्धान्त बन गया और उसके स्थान पर जीवन की बहुमुखी आवश्यकताओं पर आधारित बहुलवादी विचारधारा का जन्म हुआ। बहुलवादी विचारधारा के विकास में सहायक तत्व निम्नलिखित रहे हैं :

(1) **हीगलवादी राज्य के विरुद्ध प्रतिक्रिया**—आदर्शवादी विचारधारा को चरमोत्कर्ष पर पहुँचाते हुए हीगल ने राज्य को पृथ्वी पर परमेश्वर की अवधारणा के नाम से सम्बोधित किया। हीगल एकमात्र राज्य को ही नैतिक और आदर्शात्मक संस्था मानता है और राज्य की निरंकुश एवं असीमित प्रभुसत्ता का उपासक होने के कारण अन्य समुदायों के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता। हीगल की इस चरमतावादी धारणा की प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था और इस प्रतिक्रिया का उदय बहुलवाद के रूप में हुआ। बहुलवाद प्रभुसत्ता को असीमित न मानकर सीमित मानता है और राज्य के साथ अन्य समुदायों के अस्तित्व को भी स्वीकार करता है। अतः यह सरलता से कहा जा सकता है कि बहुलवाद के विकास में आदर्शवाद के विरोध का बहुत बड़ा हाथ है।

(2) **राज्य की अयोग्यता**—आधुनिक राज्य की अयोग्यता भी बहुलवाद के विकास का एक कारण है। वर्तमान समय में राज्य का कार्यक्षेत्र बढ़ता जा रहा है और केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति अधिकाधिक बल प्राप्त करती जा रही है, लेकिन व्यवहार में अनेक बार राज्य को सर्वशक्तिमान बनाने का यह प्रयत्न राज्य की अयोग्यता में परिणत हो जाता है। **प्रो. वार्ड (Ward)** के सुन्दर शब्दों में, "**इससे केन्द्र में पक्षाघात या लकवा (Apoplexy) तथा दूरवर्ती सिरों (Extremities) पर रक्तहीनता या पाण्डुरोग (Anaemia) हो जाता है।**"[1] बहुलवादी विकेन्द्रित राज्य के अपने सिद्धान्त के आधार पर वर्तमान राज्य की इस त्रुटि को दूर करना चाहते हैं।

(3) **मध्यकालीन संघवादी विचारकों का प्रभाव**—बहुलवाद के विकास में जर्मन लेखक **गियर्क** तथा ब्रिटिश लेखक **मैटलैण्ड और फिगिस**, आदि विद्वानों के विचारों ने भी एक महत्वपूर्ण तत्व के रूप में कार्य किया है। गियर्स और मैटलैण्ड ने लोगों का ध्यान उस मध्यकालीन सामाजिक व्यवस्था की ओर आकृष्ट किया जिसमें राजशक्ति एक स्थान पर केन्द्रित न थी और समाज में आर्थिक संघों को प्रमुख स्थान प्राप्त था। इन विचारकों ने सामाजिक हित में फिर से इस व्यवस्था को ग्रहण करने पर बल दिया। इसी प्रकार फिगिस ने मध्यकालीन चर्च के स्वतन्त्र अस्तित्व की बात कहकर इस बात का प्रतिपादन किया कि शक्ति के उपभोक्ता एक नहीं वरन् अनेक हो सकते हैं। फिगिस के अनुसार, जिस प्रकार मध्यकाल में समुदायों की सत्ता उपयोगी व राज्य के हस्तक्षेप से परे रही है, उसी प्रकार वर्तमान समय में सांस्कृतिक, आर्थिक, आदि समुदायों की स्थिति है। अतः इन समुदायों को राज्य के समकक्ष स्वीकार करते हुए सामाजिक सत्ता का स्वरूप संघात्मक होना चाहिए। इस प्रकार मध्यकालीन संघीय समाज व्यवस्था से प्रेरित विचारकों ने बहुलवाद के उदय में महत्वपूर्ण योग दिया।

(4) **लोकतन्त्र में प्रादेशिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था से असन्तोष**—19वीं सदी के उत्तरार्द्ध और 20वीं सदी के प्रारम्भ में प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र के अन्तर्गत प्रादेशिक प्रतिनिधित्व की व्याख्या को अपनाया गया था, लेकिन शीघ्र ही प्रादेशिक प्रतिनिधित्व की व्याख्या से असन्तोष उत्पन्न हुआ और श्रेणी समाजवादी तथा संघवादी विचारकों द्वारा इसके स्थान पर '**व्यावसायिक या कार्यात्मक प्रतिनिधित्व**' (functional representation) की माँग की गयी। व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के ये सभी प्रतिपादक, जिनमें जी. डी. एच. कोल का नाम सबसे प्रमुख रूप में लिया जा सकता है, राज्य का उग्र विरोध करने वाले तथा समुदायों की तुलना में राज्य को गौण महत्व प्रदान करने वाले थे। अतः इन विचारकों ने भी बहुलवादी विचारधारा के पोषण में सहायता प्रदान की।

(5) **अन्तर्राष्ट्रीय विचारों का क्रमिक विकास**—यदि पिछली सदियों में राष्ट्रीयता का विचार प्रमुख रहा है तो वर्तमान समय को अन्तर्राष्ट्रीयता का युग कहा जा सकता है। राष्ट्रीय राज्यों व राष्ट्रीयता की भावना के उदय ने जिस प्रकार राज्य की असीमित सम्प्रभुता का विकास किया, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रवादी भावना के विकास ने प्रभुता के बहुलवादी विचार को प्रोत्साहित किया। अन्तर्राष्ट्रवाद की भावना के विकास के कारण ही यह विचार बल ग्रहण करता गया कि सम्पूर्ण मानवता के हित को दृष्टि में रखकर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में

1 "There is apoplexy at the centre and anaemia at the extremities." —*Prof. Ward*

राज्य की प्रभुसत्ता को सीमित कर दिया जाना चाहिए। अतः अन्तर्राष्ट्रवादियों के इस प्रतिपादन से राज्य सम्प्रभुता की महत्ता कम हुई और बहुलवादी विचार को प्रोत्साहन मिला।

(6) विधिशास्त्रीय तत्वों का विकास—आधुनिक काल में अनेक क्षेत्रों में इस बात का प्रतिपादन किया गया है कि विधि राज्य का आदेश मात्र नहीं, वरन् उससे ऊपर की एक वस्तु है। ये विधिशास्त्रवादी इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि राज्य विधि का एकमात्र स्रोत नहीं है और विधि निर्माण के सम्बन्ध में राज्य की प्रभुता की अनन्यता अथवा सर्वोच्चता की बात निर्विवाद रूप से स्वीकार नहीं की जा सकती है। इन विचारकों में डिग्विट व क्रैब के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कानून राज्य के ऊपर की वस्तु है, विधिशास्त्रियों के इस प्रतिपादन से निश्चय ही प्रभुता की एकत्ववादी धारणा को धक्का लगा और बहुलवादी विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ।

(7) श्रमिक वर्गों का विकास—वर्तमान समय में पूँजीवादी व्यवस्था पतनोन्मुख है और उसके स्थान पर समाजवाद व साम्यवादी व्यवस्था लोकप्रिय होती जा रही है। इन समाजवादी विचारधाराओं के आधार पर ऐसे श्रमिक वर्गों का गठन हो रहा है जो न केवल पूँजीपतियों वरन् आर्थिक क्षेत्र में राज्य की सत्ता का भी विरोध करते हैं। इन श्रमिक वर्गों का अन्तिम लक्ष्य तो आर्थिक क्षेत्र की समस्त शक्ति स्वयं अपने हाथों में ले लेना है। श्रमिक वर्गों के इस बढ़ते हुए महत्व के कारण भी सम्प्रभुता के एकत्ववादी विचार का पतन और बहुलवादी विचारधारा को प्रोत्साहन मिला है।

प्रमुख बहुलवादी विचारक—उपर्युक्त तत्वों से प्रभावित होकर अनेक लेखकों और विचारकों द्वारा बहुलवादी विचारधारा का प्रतिपादन किया गया जिसमें **गियर्क, मैटलैण्ड, फिगिस, डिग्विट, क्रेब, पाल बंकर, ए. डी. लिण्डले, डरखैम, मिस फॉलेट, अर्नेस्ट बार्कर, जी. डी. एच. कोल** और **हैराल्ड लास्की** के नाम प्रमुख रूप से लिये जा सकते हैं।

राज्य की प्रभुसत्ता पर बहुलवादी आक्षेप

बहुलवादी विचारक अनेक आधारों पर सम्प्रभुता के परम्परागत सिद्धान्त की आलोचना करते हुए अपने पक्ष का समर्थन करते हैं। उनके द्वारा सम्प्रभुता के परम्परागत सिद्धान्त पर प्रमुख रूप से निम्नलिखित आक्षेप किये गये हैं :

(1) समाज की वर्तमान स्थिति और रचना के आधार पर—बहुलवादियों के अनुसार वर्तमान समय में समाज की स्थिति इस प्रकार की है कि अकेला राज्य मानवीय जीवन की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति में असमर्थ है। व्यक्ति अपनी विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सामाजिक, वैज्ञानिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं आर्थिक अनेक प्रकार के समुदाय बनाता है और मनुष्य के बहुमुखी विकास के लिए यह आवश्यक है कि मानव जीवन के विविध पक्षों से सम्बन्धित समुदायों को राज्य एवं अन्य समुदायों के हस्तक्षेप से स्वतन्त्र रहकर कार्य करने का अवसर मिले। लास्की के शब्दों में, **"आवश्यकताओं की दृष्टि से पूर्ण होने के लिए सामाजिक संगठन के ढाँचे का स्वरूप संघीय होना चाहिए।"**

आज की स्थिति में अन्य समुदाय भी राज्य के समान ही और कुछ अंशों में तो उससे भी अधिक महत्वपूर्ण और शक्तिशाली हैं। राज्य द्वारा राजनीतिक क्षेत्र में कार्य किया जाता है और अन्य समुदायों द्वारा सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और मनोविनोद सम्बन्धी जीवन के विविध पक्षों के सम्बन्ध में कार्य किया जाता है तथा वर्तमान समय में सामूहिक रूप से ये सभी समुदाय राज्य की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हो गये हैं। कोल के शब्दों में, **"सामूहिक रूप से इन सभी समुदायों के कार्य राज्य की अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ जाते हैं।"**[1] अन्य समुदाय इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं कि इनमें से अधिकांश की उत्पत्ति राज्य से भी पूर्व हुई है।

व्यवहार में अन्य समुदाय राज्य की अपेक्षा अधिक शक्ति रखते हैं और इन समुदायों ने अनेक बार राज्य को झुकने के लिए बाध्य किया है। प्रथम महायुद्ध में वेल्स की खानों के श्रमिकों ने ब्रिटिश सरकार को इस बात के लिए विवश कर दिया कि वह अपने **'शस्त्रास्त्र अधिनियम'** (Munitions Act) वापस ले ले। अमरीका के रेलवे श्रमिक संघों ने अमरीकन सरकार को विवश कर ऐसा कानून बनाया कि उनसे 8 घण्टे से अधिक काम न लिया जा सके।

1 **"The organised corporate action of these associations greatly exceeds that of the State."**
—*G. D. H. Cole*

उपर्युक्त बातों के आधार पर बहुलवादी यह निष्कर्ष निकालते हैं कि आज के समाज का संगठन एकात्मक न होकर बहुलवादी है और ऑस्टिन आदि विद्वानों द्वारा प्रतिपादित सम्प्रभुता का परम्परागत सिद्धान्त आज की परिस्थितियों में कोई औचित्य नहीं रखता।

(2) ऐतिहासिक दृष्टिकोण के आधार पर—बहुलवादियों के अनुसार इतिहास इस बात का साक्षी है कि ऑस्टिन के पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न राज्य की सत्ता कभी नहीं रही। प्राचीन काल में भारत अथवा यूनान में इस प्रकार का कोई राज्य नहीं था। अरस्तू ने यद्यपि राज्य को सब सामाजिक संगठनों में सर्वोच्च बताया था, तथापि उसे कानून से उच्च नहीं समझा जाता था और तत्कालीन राज्य परम्परागत नियमों और रूढ़ियों की अवहेलना भी नहीं करता था। प्राचीन भारत में धर्म का स्थान राजा की आज्ञा से ऊपर था। मध्यकालीन राज्यों पर अनेक प्रकार के धार्मिक और सामाजिक बन्धन थे। प्रभुसत्ता के विचार का प्रादुर्भाव राष्ट्रीय राज्यों के विकास के साथ हुआ है। यह राजाओं के 'दैवी अधिकार सिद्धान्त' (Divine Right of Kings) से उत्पन्न होने वाले निरंकुश शासन का ही परिणाम है। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से कहा जा सकता है कि प्रभुसत्ता का सिद्धान्त राज्य के लिए आवश्यक नहीं है और इस सिद्धान्त का अन्त करके वर्तमान काल के राज्यों को प्राचीन एवं मध्यकालीन राज्यों की भाँति प्रभुसत्ता से शून्य ही बना देना उचित है।

(3) व्यक्ति के विकास के आधार पर—बहुलवादियों के अनुसार सम्प्रभुता का विचार व्यक्ति के विकास में बाधक है क्योंकि यह राज्य को चरमसाध्य और व्यक्ति को साधन मात्र बना देता है जो वास्तविक स्थिति के नितान्त विपरीत है। राज्य व्यक्ति की प्रगति तथा आत्मसन्तुष्टि का साधन मात्र है और व्यक्ति की यह विकास तथा सन्तुष्टि बहुमुखी होती है। ऐसी स्थिति में राज्य और किन्हीं अन्य समुदायों के बीच विरोध उत्पन्न होने पर व्यक्ति को अपने विवेक के अनुसार अपनी भक्ति निर्धारित करने का अधिकार होना चाहिए जो केवल बहुलवादी व्यवस्था में ही सम्भव है। लास्की के शब्दों में, **"मैं केवल उसी राज्य के प्रति राजभक्ति और निष्ठा रखता हूं, उसी के आदेशों का पालन करता हूं, जिस राज्य में मेरा नैतिक विकास पर्याप्त रूप से होता है। हमारा प्रथम कर्तव्य अपने अन्तःकरण के प्रति सच्चा रहना है।"**[1]

इस प्रकार बहुलवादियों के अनुसार सम्प्रभुता की धारणा व्यक्ति के विकास में बाधक है और एकमात्र राज्य ही व्यक्ति की सम्पूर्ण भक्ति का अधिकारी नहीं हो सकता है।

(4) लोकतन्त्र के आधार पर—सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य में नहीं वरन् बहुलवादी व्यवस्था में ही सम्भव है। वर्तमान लोकतन्त्र में शासन पर जनता का कोई नियन्त्रण नहीं है। वास्तविक शासन नौकरशाही द्वारा किया जाता है जो व्यक्ति के विकास में बाधक है और लोकतन्त्र का उपहास है। सच्चा लोकतन्त्र तो व्यक्ति के विकास में सहायक होता है तथा इसका अभिप्राय व्यक्ति द्वारा शासन के सभी कार्यों में सक्रिय रूप से भाग लेना है। यह केवल बहुलवादी व्यवस्था में ही सम्भव है जो विकेन्द्रीकरण और मानवीय जीवन के विविध पक्षों के उचित महत्व पर आधारित है।

(5) कानून के स्वरूप के आधार पर—ऑस्टिन ने कानून का एकमात्र स्रोत राज्य को माना था और यह कहा था कि कानून प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य का आदेश मात्र होता है, किन्तु सर हेनरी मेन, डिग्विट और क्रैब, आदि ने कानून के स्वरूप की गम्भीर मीमांसा करते हुए निष्कर्ष निकाला है कि राज्य न तो कानून का निर्माता है और न ही उससे उच्च है। इन विचारकों के अनुसार राज्य कानून का निर्माता नहीं, अपितु उनका अन्वेषक या घोषणा करने वाला ही है। डच विद्वान क्रैब के मतानुसार कोई नियम कानून के रूप में इस कारण मान्य नहीं होता है कि वह आदेश है या राज्य ने उसे बनाया है। उदाहरणार्थ, चोरी या मानव हत्या इसलिए अपराध नहीं है कि राज्य ने अपने आदेश द्वारा ऐसा निश्चित किया है, अपितु इसलिए अपराध है कि समाज की नैतिक बुद्धि उसे अनुचित समझती है। अतः राज्य को कानून का निर्माता और कानून से उच्च समझना सर्वथा भ्रान्त कल्पना है और इसके आधार पर राज्य को प्रभुसत्ता सम्पन्न मानना यथार्थ एवं सत्य नहीं है।

(6) अन्तर्राष्ट्रीयता के आधार पर—अन्तर्राष्ट्रीयता के आधार पर सम्प्रभुता के सिद्धान्त की आलोचना दो प्रकार से की जा सकती है। कुछ लेखकों का विचार है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास के परिणामस्वरूप बाहरी मामलों में राज्य की सम्प्रभुता नष्ट हो गयी है। इसके अतिरिक्त बहुलवादी यह भी कहते हैं कि सम्प्रभुता का सिद्धान्त ही संघर्षों एवं युद्धों का जनक है और विश्वशान्ति बनाये रखने के लिए सम्प्रभुता के सिद्धान्त का त्याग एक अनिवार्य आवश्यकता है। लास्की सम्प्रभुता की धारणा को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए बहुत

1 Laski, *Authority in the Modern State*, p. 56.

अधिक भयावह मानता है। उसके शब्दों में, **"असीमित एवं अनुत्तरदायी सम्प्रभुता का सिद्धान्त मानवता के हितों से मेल नहीं खाता और जिस प्रकार राजाओं के दैवी अधिकार समाप्त हो गये वैसे ही राज्य की सम्प्रभुता भी समाप्त हो जायेगी। यदि सम्प्रभुता का सारा विचार ही सदैव के लिए समाप्त कर दिया जाय तो राजनीति विज्ञान के प्रति यह एक बहुत बड़ी सेवा होगी।"**[1]

बहुलवाद के प्रमुख सिद्धान्त

साधारण भाषा में एक स्थान पर अनेक की प्रतिष्ठा ही बहुलवाद है। इस प्रकार **राजनीतिक बहुलवाद वह मत और सिद्धान्त है जिसके अनुसार समाज में एक सम्प्रभुतासम्पन्न सर्वोच्च सत्ताधारी राज्य के स्थान पर अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र व राज्य के समकक्ष अनेक समुदायों के अस्तित्व का प्रतिपादन किया जाता है।** ये समुदाय राज्य के अधीन न होकर उसके समकक्ष होने चाहिए और इस प्रकार समाज का संगठन प्रभुता की दृष्टि से एकात्मक न होकर संघात्मक होना चाहिए। अन्य विचारधाराओं की भाँति बहुलवाद के भी कुछ मौलिक सिद्धान्त हैं, जिनका उल्लेख निम्न प्रकार से किया जाता है :

(1) **राज्य केवल एक समुदाय है**—आदर्शवादियों की भाँति बहुलवादी राज्य को सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान तथा नैतिक संस्था के रूप में स्वीकार नहीं करते उनके अनुमान से तो समाज की वर्तमान स्थिति और रचना के आधार पर राज्य अन्य समुदायों की भाँति ही एक समुदाय के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मानवीय जीवन की आवश्यकताएँ बहुमुखी होती हैं और राज्य मनुष्य की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता। इसी के कारण राज्य के अतिरिक्त अन्य समुदायों का भी उपयोगी अस्तित्व है। राज्य का कार्य मुख्यतया जीवन के राजनीतिक पहलू से सम्बन्धित है और बहुलवादियों के अनुसार उसे अपने ही क्षेत्र तक सीमित रहना चाहिए, जिससे अन्य समुदाय स्वतन्त्र रूप से व्यक्ति के जीवन के सभी पहलुओं का यथेष्ट विकास कर सकें। इस प्रकार बहुलवाद इस बात का प्रतिपादन करता है कि अन्य समुदाय राज्य के ही समकक्ष हैं और राज्य के समान ही ये समुदाय भी अपने क्षेत्रों में पूर्ण शक्तिशाली होने चाहिए। लास्की के शब्दों में, **"समुदायों के अनेक प्रकारों में से राज्य भी एक है और अन्य समुदायों की तुलना में वह व्यक्ति की भक्ति का उच्चतर अधिकारी नहीं है।"** मैटलैण्ड के अनुसार, **"राज्य भी इन्हीं समुदायों में से एक है।"**[2]

(2) **बहुलवादी राज्य और समाज में अन्तर करते हैं**—आदर्शवादियों की भाँति बहुलवादी राज्य और समाज को एक नहीं मानते हैं। वे उन्हें विभिन्न इकाइयों के रूप में स्वीकार करते हैं। बहुलवादियों के अनुसार फासीवादी विचारकों का यह कथन गलत है कि "सभी कुछ राज्य के अन्तर्गत है और राज्य के बाहर तथा राज्य के विरुद्ध कुछ नहीं है।" बहुलवाद राज्य को अन्य समुदायों के समान ही एक समुदाय मानता है और समाज को राज्य की तुलना में बहुत अधिक व्यापक संगठन बताता है। राज्य समाज का एक ऐसा अंगमात्र है जो उद्देश्य और कार्यक्षेत्र की दृष्टि से समाज का सहगामी नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में मैकाइवर ने लिखा है कि **"राज्य एक ऐसा संगठन है जिसे समाज का समकालीन या सम विस्तार वाला नहीं कहा जा सकता है। राज्य का निर्माण तो समाज के अन्तर्गत एक निश्चित व्यवस्था के रूप में कुछ विशेष उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु किया गया है।"**[3]

(3) **बहुलवादी नियन्त्रित राजसत्ता में विश्वास करते हैं**—बहुलवाद ऑस्टिन आदि के असीमित सम्प्रभुता के सिद्धान्त के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया है। यह असीमित सम्प्रभुता का खण्डन करता है और आन्तरिक व बाह्य दोनों ही क्षेत्रों में सम्प्रभुता को सीमित मानता है। आन्तरिक क्षेत्र में राज्य की शक्ति स्वयं अपनी प्रकृति तथा नागरिकों एवं समुदायों के अधिकारों से सीमित होती है तथा बाहरी क्षेत्र में राज्य की शक्ति अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा अन्य राष्ट्रों के अधिकारों से सीमित है। ब्लंटशली ने उचित ही कहा है, **"राज्य सर्वसत्तावान नहीं है क्योंकि वह बाहरी क्षेत्र में अन्य राज्यों के अधिकारों से सीमित है और आन्तरिक क्षेत्र में वह स्वयं अपनी प्रकृति तथा अपने नागरिकों के अधिकारों से सीमित है।"**[4] इस प्रकार बहुलवाद आन्तरिक और बाहरी—दोनों ही क्षेत्रों में राज्य की निरंकुश शक्ति का विरोधी है।

---

1 **"Unlimited and irresponsible sovereignty is incompatible with the interests of the humanity. The sovereignty of the state will pass as the divine rights of kings has its days. It will be of lasting benefit to political science, if the whole concept of sovereignty is abandond."**
—Laski, *Grammar of Politics.*

2 **"State is the species of same genus."** —*Maitland*

3 **"State is a structure neither co-eval nor co-extensive with society but built within it is a determinate order for the attainment of specific ends."** —*MacIver*

4 **"The state as a whole is not almighty for it is limited externally by the rights of other states and internally by its own nature and by the rights of its individual members."** —*Bluntschli*

(4) बहुलवाद के अनुसार कानून राज्य से स्वतन्त्र और उच्च है—बहुलवादी सम्प्रभुता के परम्परागत प्रतिपादकों के विपरीत कानून को राज्य से स्वतन्त्र और उच्च मानते हैं। इस सम्बन्ध में फ्रांसीसी विचारक डिग्विट और डच विचारक क्रैब के विचार उल्लेखनीय हैं। **डिग्विट (Dugvit)** के अनुसार, विधि राजनीतिक संगठन से स्वतन्त्र, उससे श्रेष्ठ और पूर्वकालिक होती है। विधि के बिना सामाजिक एकता या संगठन या मनुष्यों का एक-दूसरे पर निर्भर करना सम्भव नहीं है। राज्य का व्यक्तित्व एक निरी कल्पना मात्र है। विधि राज्य को सीमित करती है, राज्य विधि को सीमित नहीं करता। क्रैब ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं। क्रैब एकमात्र विधि की ही सम्प्रभुता स्वीकार करता है जो राज्य से स्वतन्त्र और उच्च है। यह विधि ही राज्य को संगठित करती है न कि राज्य विधि को। क्रैब के शब्दों में, **"राज्य विधि का नहीं वरन् विधि राज्य का निर्माण करती है।"**[1] इस प्रकार डिग्विट और क्रैब जैसे बहुलवादी राजसत्ता से ऊपर विधि की सत्ता का प्रतिपादन करते हैं।

(5) बहुलवाद विकेन्द्रीकरण में विश्वास करता है—बहुलवाद आदर्शवादी दर्शन की भाँति केन्द्रित राज्य में विश्वास नहीं करता है वरन् यह विकेन्द्रीकरण को ही राज्य की वास्तविक उपयोगिता का आधार मानता है। बहुलवाद के अनुसार, स्थानीय समस्याएँ भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं और इन स्थानीय समस्याओं का समाधान शक्ति के केन्द्रीकरण की पद्धति से नहीं किया जा सकता है। बहुलवादियों के विचार से राज्य को चाहिए कि अपनी केन्द्रित सत्ता को व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली के आधार पर विकेन्द्रित करके अन्य समुदायों में विभाजित कर दे और इस प्रकार एक संघात्मक सामाजिक संगठन की स्थापना की जाय। इस प्रकार का संघात्मक सामाजिक संगठन ही मानवीय जीवन की बहिर्मुखी आवश्यकताओं को पूरा कर सकता है।

(6) बहुलवाद राज्य के अस्तित्व का विरोधी नहीं है—बहुलवादी राज्य की निरंकुश सत्ता का तो खण्डन करते हैं, किन्तु अराजकतावाद या साम्यवाद की भाँति वे उसको समूल नष्ट करने के पक्ष में नहीं हैं। राज्य का अन्त करने के स्थान पर वे राज्य की शक्तियों को सीमित करना चाहते हैं। बहुलवादियों के अनुसार सम्प्रभुता का अद्वैतवादी सिद्धान्त 'कोरी मूर्खता' के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। एक बहुलवादी समाज में राज्य का स्वरूप तथा महत्व वैसा ही होगा, जैसा कि अन्य संघों तथा संस्थाओं का। बहुलवादी अन्य संघों की अपेक्षा राज्य को प्राथमिकता देने के लिए तो तैयार हैं, क्योंकि राज्य के द्वारा संघों के पारस्परिक विवादों को सुलझाने के लिए मध्यस्थ के रूप में कार्य किया जायगा, किन्तु वे राज्य को उस उग्र तथा निरंकुश रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं जिसका प्रतिपादन 'एकत्ववादी विचारकों' (monistic thinkers) के द्वारा किया गया है। राज्य के सम्बन्ध में इस बहुलवादी दृष्टिकोण के कारण ही कहा जाता है कि **"बहुलवादी एक ओर अराजकता तथा दूसरी ओर अद्वैतवाद—इन दोनों के बीच मध्य मार्ग अपनाने का प्रयत्न करता है।"**[2]

(7) बहुलवाद एक जनतन्त्रात्मक विचारधारा है—बहुलवाद राज्य के वर्तमान रूप का विरोधी होने पर भी जनतन्त्रात्मक प्रणाली का विरोधी नहीं है। बहुलवाद अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कभी भी हिंसात्मक प्रणाली का प्रयोग स्वीकार नहीं करता है। आरम्भ से लेकर अन्त तक उसका विश्वास व्यावसायिक प्रतिनिधित्व तथा गुप्त मतदान में है। वास्तव में, बहुलवाद का उद्देश्य तो सर्वाधिकारवादी राज्य के स्थान पर एक ऐसे जनतन्त्रात्मक राज्य की स्थापना करना है, जिसमें शासन-व्यवस्था का संगठन नीचे से ऊपर की ओर हो। प्रभुसत्ता के अन्य संघों में समान वितरण को वे जनतन्त्रात्मक प्रणाली का प्रतीक मानते हैं।

(8) बहुलवाद व्यावसायिक प्रतिनिधित्व में विश्वास करता है—बहुलवादी विचारक जी. डी. एच. कोल प्रजातन्त्र में व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त का विशेष समर्थक है। बहुलवादी प्रादेशिक प्रतिनिधित्वि की पद्धति को अनुचित और दोषपूर्ण मानते हैं, क्योंकि क्षेत्र के आधार पर चुने गये व्यक्ति वास्तविक रूप में प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में प्रतिनिधित्व की वही पद्धति उचित कही जा सकती है, जिसका आधार व्यवसाय हो। एक कृषक के हित का प्रतिनिधित्व उसके पास रहने वाला वकील अच्छे प्रकार से नहीं कर सकता जितना कि दूर स्थित क्षेत्र का निवासी एक कृषक, जो उसकी कठिनाइयों को समझता है। इसी कारण बहुलवादियों के अनुसार चुनाव क्षेत्र व्यवसाय के आधार पर ही निश्चित किये जाने चाहिए। कोल तो

1 **"It is not the state, which creates the law but on the other hand, it is the law, which creates the state."** —*Krabbe*

2 **"Pluralism attempts the impossible task of holding middle position between the monism on one side and anarchism and syndicalism on the other."**

व्यावसायिक प्रतिनिधित्व का इस सीमा तक समर्थक है कि वह सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था को उपभोक्ता तथा उत्पादक संघों में विभाजित करने का विचार व्यक्त करता है।

इन सबके अतिरिक्त बहुलवादी व्यक्तिवाद विचारधारा से प्रभावित है और यह सामान्य इच्छा के सिद्धान्त में विश्वास नहीं करता है।

बहुलवाद की आलोचना

आलोचकों द्वारा बहुलवाद की कई दृष्टिकोणों से आलोचना की गयी है, जिन्हें संक्षेप में निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है :

(1) बहुलवाद का तार्किक निष्कर्ष अराजकता है—बहुलवाद के विरुद्ध आलोचना का सबसे प्रमुख आधार यह है कि बहुलवादी विचारधारा को स्वीकार करने का स्वाभाविक परिणाम अराजकता की स्थिति होगा। यदि प्रत्येक समुदाय को राज्य के समान मान लिया जाय और उन्हें सम्प्रभुता का आनुपातिक अधिकार भी समर्पित कर दिया जाय तो समाज में कानूनविहीन स्थिति उत्पन्न हो जायगी। बहुलवादी विचारक भी इस तथ्य से परिचित हैं। इसी कारण सम्प्रभुता समुदायों में विभाजन करने के बाद भी बहुलवाद राज्य को समाज के विभिन्न समुदायों में समन्वय और सामंजस्य स्थापित करने की शक्ति प्रदान करता है, किन्तु राज्य के द्वारा उस समय तक इस प्रकार का कार्य नहीं किया जा सकता जब तक कि उसे वैधानिक दृष्टि से सर्वोच्च स्थिति प्राप्त न हो। बहुलवादी इस तथ्य को भुला देते हैं कि सम्प्रभुता का अनेक समुदायों में विभाजन उसे नष्ट कर देगा।

विभिन्न समुदायों में समन्वय और सन्तुलन स्थापित करने का कार्य राज्य कुछ विशेष परिस्थितियों के अन्तर्गत ही कर सकता है जिन्हें स्वीकार करने के लिए बहुलवादी तैयार नहीं हैं। यदि राज्य को विभिन्न समुदायों में सन्तुलन और सामंजस्य स्थापित करना हो, तो उसे सम्प्रभुता प्रदान करना आवश्यक हो जाता है और यदि बहुलवादी विचारधारा के अनुसार सम्प्रभुता का विभाजन कर दिया जाय, तो उसका परिणाम अराजकता की स्थिति होगा। गिलक्राइस्ट का कथन है कि **"यदि बहुलवाद को तार्किक निष्कर्ष तक ले जाया जाय, तो इसका अर्थ होगा समाज का विघटन और शान्ति एवं व्यवस्था के स्थान पर विविध समुदायों द्वारा अपनी-अपनी सर्वोच्चता स्थापित करने के लिए संघर्ष।"**[1]

(2) बहुलवाद कतिपय भ्रामक धारणाओं पर आधारित है—बहुलवाद कुछ मिथ्या धारणाओं पर आधारित है। यह समझना गलत है कि प्रत्येक समुदाय का कार्यक्षेत्र एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् होता है और मानवीय कार्यों को ऐसे विभागों में विभक्त किया जा सकता है जिसका कि एक-दूसरे के साथ कोई सम्बन्ध न हो। समाज के वर्तमान संगठन में विभिन्न हितों और आस्थाओं का पारस्परिक संघर्ष नितान्त स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में, यदि समाज में कोई अन्तिम वैधानिक सत्ता न हो तो विभिन्न समुदायों के पारस्परिक संघर्ष के कारण एक अस्वस्थ वातावरण उत्पन्न हो जायगा, जिसमें मानवीय प्रगति लगभग असम्भव ही हो जाये" आलोचकों के अनुसार यदि हम बहुलवादियों के द्वारा प्रतिपादित राजनीतिक संसद और आर्थिक संर की सहप्रभुत्व की धारणा को भी स्वीकार कर लें, तो स्थिति में सुधार नहीं होगा, क्योंकि स्वाभाविक रूप से अन्तर्निहित संघर्ष को हम दूर नहीं कर सकेंगे। अतः बहुलवादियों का यह समझना असत्य है कि प्रत्येक समुदाय बिना किसी संघर्ष के साधुवत् रूप में अपने कर्तव्यों को निभाता रहेगा।

(3) सभी समुदाय समान स्तर के नहीं हैं—बहुलवादी विचारधारा के विरुद्ध एक महत्वपूर्ण तर्क यह है कि इस विचारधारा में समाज के सभी समुदायों को समान स्तर का मान लिया गया है। प्रत्येक समुदाय को राज्य के समान मान लेना बहुलवादियों की एक भारी भूल है। वास्तव में, राज्य संस्था के अपने विशेष कार्यों के कारण उसकी स्थिति अन्य सभी समुदायों से भिन्न और विशेष होती है। प्रो. गार्नर के शब्दों में **"विभिन्न श्रेणियों व वर्गों को और एक-दूसरे से प्रतियोगिता करने वाले समुदायों को उचित मर्यादा में रखने का कार्य करके राज्य एक महत्वपूर्ण सेवा करता है। उसके परस्पर विरोधी हितों का निपटारा करने और उसमें सामंजस्य स्थापित करने के लिए राज्य एक निर्णायक कार्य करता है।"**[2]

---

1 Gilchrist, *Principles of Political Science*, p. 89.

2 **"State renders important service of keeping within proper limits classes and struggles between competing groups and performing the role of a referee or umpire and adjusting or reconciling their conflicting interests."**
—Dr. Garner, *Political Science and Government*.

(4) बहुलवाद प्रभुत्व के काल्पनिक अद्वैतवादी शत्रु पर आक्रमण करता है—बहुलवाद की आलोचना का एक आधार यह भी है कि बहुलवाद जिस निरंकुश प्रभुसत्ता पर आक्रमण करता है, उसका प्रतिपादन हीगल को छोड़कर राज्य सत्ता के अन्य किसी भी समर्थक द्वारा नहीं किया गया है। बोदां, हॉब्स, रूसो, ऑस्टिन, आदि सभी विचारक राज्य की सम्प्रभुता पर प्राकृतिक, नैतिक या व्यावहारिक कुछ-न-कुछ नियन्त्रण अवश्य ही स्वीकार करते हैं। कोकर (Coker) के अनुसार, **"इनमें से किसी भी लेखक का यह दावा नहीं था कि प्रभुसत्ता की अवज्ञा करना, उसको चुनौती देना, उसकी आलोचना करना अथवा विरोध करना अवश्यमेव अनैतिक, तर्कहीन, असामाजिक तथा अव्यावहारिक है।"**[1] उनके कथन का सारांश केवल यही है कि सम्प्रभुता अपने सदृश अन्य किसी शक्ति का अस्तित्व सहन नहीं कर सकती और यह एक अकाट्य सत्य है। इस प्रसंग में डॉ. आशीर्वादम ने लिखा है कि **"बहुलवादी जिस अद्वैतवादी शत्रु पर प्रहार करते हैं, बहुत कुछ सीमा तक यह एक कल्पनात्मक जीव ही है।"**[2]

(5) बहुलवाद अन्तर्विरोधों से भरा है—बहुलवाद के विरुद्ध एक गम्भीर बात यह है कि बहुलवादी विचारधारा अन्तर्विरोधों से भरी पड़ी है। बहुलवादी सैद्धान्तिक रूप से तो राज्य की शक्तियों को कम करके उसे अन्य समुदायों के साथ समता प्रदान करते हैं, किन्तु जब वे व्यवहार पर आते हैं तो यह स्वीकार करते हैं कि किसी एक संस्था को सम्प्रभु बनाये बिना राजनीतिक समाज की कल्पना नहीं की जा सकती है। इस प्रकार वे परोक्ष रूप में राजकीय सम्प्रभुता को स्वीकार कर लेते हैं, यह बात सभी बहुलवादी विचारकों में देखी जा सकती है।

गियर्क ने राज्य की विशेष स्थिति स्वीकार करते हुए कहा है कि उसकी इच्छा सम्पूर्ण जनहित का प्रतिनिधित्व करती है और राज्य अन्य सामाजिक संस्थाओं से अपनी स्थिति की उच्चता के कारण भिन्न है। बार्कर तथा लास्की यह भी मानते हैं कि समूहों का संगठन राज्य द्वारा ही निर्धारित होगा। बार्कर ने कहा है कि **"राज्य को जीवन की एक सामान्य तथा सर्वांगपूर्ण योजना के रूप में आवश्यक रूप से समुदायों के साथ अपने दूसरे समुदायों के तथा समुदायों के अपने सदस्यों के सम्बन्धों में सामंजस्य स्थापित करना चाहिए।"**[3] लास्की ने कहा है, "कानूनी दृष्टि से कोई इसे अस्वीकार नहीं कर सकता कि प्रत्येक राज्य में कोई ऐसा अंग होता है जिसकी सत्ता असीम होती है और विभिन्न संस्थाओं में सरकार सबसे महत्वपूर्ण है।"[4] मिस फॉलेट राज्य को एकत्व का क्रेन्द्र मानती हैं। पॉल बांकोर (Paul Boncoor) ने राज्य को राष्ट्रीय एकता तथा सामान्य हितों का एकमात्र प्रतिनिधि माना है।[5] फिगिस का भी कथन है कि राज्य 'समाजों का समाज' (Society of Societies) है और उसे समन्वय तथा एकीकरण की एजेन्सी के रूप में विशिष्ट कार्य तथा उच्च सत्ता प्राप्त है।[6] राज्य की दमनकारी सत्ता अन्य समुदायों का नियमन करने और यह देखने के लिए आवश्यक है कि कोई समुदाय न्याय की सीमा से बाहर नहीं जाता। इस प्रकार बहुलवादी विचारधारा अन्तर्विरोधों से पूर्ण है और बहुलवादियों की यह कहकर आलोचना की जाती है कि **"वे सम्प्रभुता को सामने के द्वार से बाहर निकालकर पीछे के द्वार से वापस ले आते हैं।"** इस सम्बन्ध में कोकर लिखते हैं, **"यह बड़ा मनोरंजक अन्तर्विरोध है। अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए वे बड़े जोश के साथ प्रभुसत्ता का विरोध करते हैं और उसे राजनीति की शब्दावली तक से निकाल देना चाहते हैं, दूसरी ओर जब वे राज्य के वास्तविक संगठन का वर्णन करते हैं, तो उन्हें विवश होकर राज्य की सर्वोपरि स्थिति और प्रभुसत्ता को स्वीकार करना पड़ता है।"**[7]

(6) बहुलवादी व्यवस्था में व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं होगा—बहुलवादियों की यह भ्रान्ति है कि अन्य समुदायों पर से राज्य का नियन्त्रण हटा लेने पर व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास हेतु स्वतन्त्रतापूर्वक वातावरण उपलब्ध होगा, वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। जो लोग समुदायों की स्वतन्त्रता के नाम पर राज्य के नियन्त्रण का विरोध करते हैं, वे अपने हाथ में सत्ता आने पर व्यक्ति के अधिकारों का हनन करने में राज्य से भी आगे

1 "None of these writers claimed that to criticise or challenge, to disobey or resist the state authority is necessarily immoral, irrational, anti-social or even impractical." —*Coker*

2 "The monistic theory whom the pluralist attack is to a large extent an imaginary figure." —*Dr. Ashirvatham*

3 Barker, *Political Thought and England*, p. 156.

4 Laski, *Foundation of Sovereignty*, p. 236.

5 Coker, *Recent Political Thought*, p. 512.

6 *Ibid.*

7 *Ibid.*

बढ़ सकते हैं। मध्य युग में चर्च ने अपने से भिन्न मत रखने वाले व्यक्तियों का भीषण दमन किया था और ब्रेनो तथा गैलीलियो को अपने ही देशवासियों के हाथों भीषण यातनाएँ सहन करनी पड़ी थीं। कई परिस्थितियों में इन समुदायों का अपने सदस्यों पर नियन्त्रण वर्तमान राज्य की अपेक्षा अधिक कठोर तथा अत्याचारपूर्ण हो सकता है। इस सम्बन्ध में जिमर्न हमें चेतावनी देते हुए कहते हैं कि **''आज जो व्यक्ति राज्य की निरंकुश सत्ता के विरुद्ध आवाज उठा रहे हैं वे साधारणतः यह भूल जाते हैं कि पड़ोसियों के अत्याचार से अधिक भीषण अत्याचार कोई नहीं हो सकते। समुदाय जितना छोटा होगा आपके जीवन और कार्यों पर उतना ही कठोर नियन्त्रण होगा।''**[1] इस सम्बन्ध में डब्लू. वाई. ईलियट (W.Y. Elliott) द्वारा **'राजनीति में व्यावहारिक विप्लव'** (Pragmatic Revolt in Politics) में व्यक्त किया गया दृष्टिकोण विचारणीय है। उन्होंने कहा है कि बहुलवादी समाज में राज्य रूपी दानव का स्थान समुदाय-रूपी दानव ले लेंगे। समुदायगत जीवन में कार्यकुशलता तथा समृद्धि की उत्तरोत्तर वृद्धि भले ही हो, परन्तु इस वात का क्या प्रमाण है कि इस प्रकार की व्यवस्था से व्यक्तित्व की भी रक्षा सम्भव हो सकेगी।

(7) राज्य संघों का संघ नहीं हो सकता—आलोचकों द्वारा लिण्डसे, बार्कर और अन्य बहुलवादियों के इस कथन की कटु आलोचना की गयी है कि राज्य समुदायों का एक समुदाय है। लिण्डसे का विचार है कि राज्य ही एकमात्र ऐसा समुदाय है जिसकी सदस्यता अनिवार्य है और जिसके पास दण्ड प्रदान करने की शक्ति है। इस प्रकार लिण्डसे राज्य में उन गुणों को तो मानता है जो सम्प्रभुता के लक्षण हैं, किन्तु राज्य को सम्प्रभु शक्ति का प्रतीक नहीं मानता। वास्तव में, यह दृष्टिकोण विवेकपूर्ण नहीं है। राज्य और अन्य समुदायों की स्थिति में आधारभूत अन्तर है। जबकि अन्य समुदायों का सम्बन्ध मनुष्य के किसी विशेष हित के साथ होता है, राज्य का सम्बन्ध उनके सर्वमान्य या व्यापक हितों के साथ होता है। इसी कारण राज्य के अतिरिक्त अन्य कोई समुदाय मनुष्य के पूर्ण व्यक्तित्व का प्रतीक होने का दावा नहीं कर सकता। इस सम्बन्ध में बहुलवादी विचारक मिस फॉलेट (Miss Follett) ने भी लिखा है कि **''राज्य का निर्माण समुदायों से नहीं हो सकता, क्योंकि एक या अनेक समुदाय मनुष्य की पूर्णता को अपने में नहीं सम्मिलित कर सकता और एक आदर्श राज्य व्यक्ति की पूर्णता की माँग करता है। मेरी नागरिकता एक व्यावसायिक संघ की सदस्यता से कहीं बड़ी वस्तु है। राजनीति में एक पूर्ण मनुष्य की आवश्यकता होती है...मेरी आत्मा का निवास राज्य में ही है।''**[2]

(8) बहुलवाद देशभक्ति विरोधी है—प्रभुसत्ता तथा राज्य के महत्व को कम करने तथा अपनी विचारधारा में अन्तर्राष्ट्रीय होने के कारण बहुलवाद नागरिकों की देशभक्ति की भावना का विरोध करता है जिसे उचित और व्यावहारिक नहीं कहा जा सकता। राज्यसत्ता के विरुद्ध चाहे कुछ भी क्यों न कहा जाय और चाहे अन्तर्राष्ट्रीय विचारकों का कितना ही महत्व माना जाय, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि वर्तमान समय के राज्यों में देशभक्ति का अपना स्थान और महत्व है। इस सदी के दो विश्वयुद्धों ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि देशभक्ति की भावना इस समय तक भी अजेय है—ऐसी स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय प्रेम के इन्द्रजाल में फँसकर देशभक्ति का विरोध करना बहुलवाद की एक बड़ी भूल है।

(9) बहुलवाद का कानून सम्बन्धी विचार गलत है—बहुलवाद की आलोचना इस दृष्टि से भी की जाती है कि डिग्विट और क्रैब जैसे बहुलवादी दार्शनिकों का कानून सम्बन्धी विचार असत्य है। ये दार्शनिक कानून को राजकीय सत्ता से स्वतन्त्र, उच्चतर तथा अधिक प्राचीन मानते हैं, किन्तु कानून को राज्य के व्यक्तित्व से उच्च मानना सही नहीं है। यद्यपि यह सत्य है कि राज्य का आदेश मात्र होने से कोई नियम कानून के रूप में मान्य नहीं होता, किन्तु इसके साथ यह भी सत्य है कि कोई भी नियम समाज में चाहे कितना भी मान्य क्यों न हो, राजकीय स्वीकृति के अभाव में उसे कानूनी मान्यता प्राप्त नहीं होती है। इस प्रकार कानून को सम्प्रभु सत्ता की आज्ञा कहा जा सकता है।

(10) अन्तर्राष्ट्रीयता के आधार पर सम्प्रभुता का विरोध उचित नहीं—अन्तर्राष्ट्रीयता के आधार पर बहुलवादियों द्वारा सम्प्रभुता के सिद्धान्त का विरोध भी उचित नहीं कहा जा सकता। यह सही है कि राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय

1 "Those who talk of state absolutism are ignoring the simple truth that there is no tyranny like the tyranny of near neighbours. The smaller the group the tighter the strangle hold over your life and activities." —A.E. Zimmern (Quoted from Coker's, *Recent Political Thought*, p. 517)

2 "The state cannot be composed of groups, because no group, nor any number of groups contain the whole of me, my citizenship is something bigger than my membership of any vocational group, we want the whole man in politics. The home of my soul is in the State." —*Miss Follett*

आचार-व्यवहार और कानून का आदर करना चाहिए, लेकिन वैधानिक दृष्टि से राज्य इन सीमाओं का पालन करने के लिए वाध्य नहीं है। यदि जनमत अथवा नैतिकता के दवाव से राज्य उनका पालन करता है, तो इससे उसकी सम्प्रभुता समाप्त नहीं हो जाती। वास्तविकता यही है कि सैद्धान्तिक दृष्टि से राज्य की वाहरी सम्प्रभुता पूर्ण है, यद्यपि व्यवहार में उस पर कुछ प्रतिवन्ध हैं।

बहुलवाद का महत्व

राजसत्ता के खण्डित स्वरूप तथा संघों के महत्व का एक अतिरंजित चित्र प्रस्तुत करने पर भी वहुलवादी दर्शन में सत्य का वहुत कुछ अंश है। गैटिल के शब्दों में, "**वहुलवाद कठोर और सैद्धान्तिक विधानवादिता तथा ऑस्टिन के सम्प्रभुता के सिद्धान्त के विरुद्ध एक सामयिक और स्वागत योग्य प्रतिक्रिया है।**"[1]

बहुलवाद अराजनीतिक संघों के बढ़ते हुए महत्व पर जोर देता है, इन समुदायों के उचित कार्यक्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप के प्रति सचेत करता है और इस बात का प्रतिपादन करता है कि राज्य के द्वारा न केवल इन समुदायों को मान्यता प्रदान की जानी चाहिए वरन् इन समुदायों को अपने कार्यक्षेत्र में वहुत अधिक सीमा तक स्वायत्तता प्रदान की जानी चाहिए। वर्तमान समय में मानव जीवन की वहिर्मुखी आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुए बहुलवाद के इस विचार को प्रशंसनीय कहा जा सकता है।

उचित रूप में बहुलवाद के इस विचार को स्वीकार कर लेने से न केवल व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में सहायता मिलेगी वरन् राज्य की कार्यक्षमता में भी आवश्यक रूप से वृद्धि होगी। मिस फॉलेट ने बहुलवाद के गुणों के सम्बन्ध में लिखा है कि "**बहुलवादी वर्तमान राज्य की सर्वोच्चता के अधिकार को नष्ट करते हैं। वे संघों के महत्व को स्वीकार करते हैं और उन्हें मान्यता प्रदान करते व अपने कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में स्वायत्तता देने की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हैं। वे स्थानीय जीवन को पुनर्स्थापित करने के पक्ष में हैं।**"[2]

निष्कर्ष—सम्प्रभु राज्य के विरुद्ध एक सामयिक प्रतिक्रिया होते हुए भी बहुलवादी विचारधारा को स्वीकार नहीं किया जा सकता। मैरियम और बार्न्स (Merriam and Barnes) ने अपनी पुस्तक '*History of Political Thought in Recent Times*' में लिखा है कि "**बहुलवादियों के विरोध के बावजूद न तो राज्य के सम्प्रभुता के सिद्धान्त का त्याग किया गया है और न ही इसका त्याग किया जा सकता है।**" इस सम्बन्ध में डॉ. आशीर्वादम ने वहुत ही सन्तुलित दृष्टिकोण को अपनाते हुए लिखा है कि "एक ऐसे सिद्धान्त के रूप में जो सम्प्रभुता के परम्परागत विचारों की ज्यादतियों को ठीक करता है और जिसकी कमियों को पूरा करता है, बहुलवाद एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। पर जब वह सम्प्रभुता के सिद्धान्त को उखाड़ फेंकने का प्रयत्न करता है तब यदि व्यर्थ नहीं तो खतरनाक अवश्य हो जाता है।"

वास्तव में, बहुलवादी आलोचना राज्य के समन्वयकारी रूप की आलोचना होने की अपेक्षा, राज्य के वर्तमान सामाजिक ढाँचे की आलोचना अधिक है। ऐसी स्थिति में जॉर्ज सेबाइन के इन शब्दों का प्रयोग ही उचित है कि "**मैं यथासम्भव एकत्ववादी होने का अधिकार सुरक्षित रखता हूं, किन्तु जहाँ आवश्यक हो, बहुलवादी बनने को तैयार हूं।**"[3]

निबन्धात्मक प्रश्न

1. सम्प्रभुता की परिभाषा कीजिए और इसके मुख्य लक्षणों पर प्रकाश डालिए।
2. राज्य की सम्प्रभुता सम्बन्धी ऑस्टिन के सिद्धान्त की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।
3. "वकीलों द्वारा माने गये सम्प्रभु के पीछे एक दूसरा सम्प्रभु है जिसके सम्मुख कानूनी सम्प्रभु को नतमस्तक होना पड़ता है।" (डायसी) इस कथन की व्याख्या तथा विवेचना कीजिए।
4. वहुलवाद के सिद्धान्त की व्याख्या तथा विवेचना कीजिए।
5. "यदि सर्वप्रभुत्व सम्पन्नता की समस्त धारणा का परित्याग कर दिया जाय तो वह राजनीति विज्ञान के लिए चिरस्थायी लाभकारी सिद्ध होगा।" (हैराल्ड लास्की) उपर्युक्त कथन को दृष्टि में रखते हुए सम्प्रभुता के सिद्धान्त पर वहुलवादियों के आरोपों की समीक्षा कीजिए।
6. अग्रलिखित में भेद कीजिए : (अ) वैधानिक तथा राजनीतिक सम्प्रभुता, (व) विधितः और यथार्थ सम्प्रभुता।

---

1 "A welcome and timely protest against the rigid and dogmatic legalism and the Austinian theory of Sovereignty." —*Gettell*

2 "The pluralists prick the bubble of the present state's right to supremacy. They recognize the value of the groups and point out the necessity of recognizing them and giving them autonomy in their work. They stand for the restoration of local life." —Miss Follett, *The New State.*

3 "I reserve the right to be a monist when I can and a pluralist when I must." —*George Sabine*

8

शक्ति, सत्ता (प्राधिकार) और प्रभाव
(POWER, AUTHORITY AND INFLUENCE)

"समस्त सांसारिक जीवन का मूल आधार दण्ड-शक्ति ही है।"[1] —कौटिल्य

"सत्ता शक्ति के प्रयोग का संस्थात्मक अधिकार है, वह स्वयं शक्ति नहीं है।"[2] —बायर्सटेड

राजनीति विज्ञान में शक्ति की धारणा

राजनीति विज्ञान के अध्ययन के अन्तर्गत यह आवश्यक हो जाता है कि हमारे द्वारा मानव के सार्वजनिक व्यवहार को निर्धारित करने वाले और राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित करने वाले तत्वों का अध्ययन किया जाय और यदि यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया जाय तो इस सम्बन्ध में जो तत्व सबसे प्रमुख रूप में उभर कर हमारे सामने आता है, वह निश्चित रूप से 'शक्ति' ही है। प्रारम्भिक काल से लेकर अब तक राजनीति विज्ञान विषय के विद्वानों द्वारा शक्ति के महत्व को स्वीकार किया जाता रहा है। भारत में राजनीति विज्ञान के जनक **कौटिल्य** ने 'दण्ड शक्ति' जो कि शक्ति का ही पर्याय है, को राजनीति का मूल आधार माना है। एक स्थान पर वे लिखते हैं कि **"समस्त सांसारिक जीवन का मूल आधार दण्ड-शक्ति ही है।"** वस्तुतः समस्त भारतीय साहित्य दण्ड-शक्ति के महत्व से भरा पड़ा है।[3] पाश्चात्य राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत भी यही बात देखी जा सकती है। **बैकर** (Becker) के अनुसार, **"राजनीति शक्ति से अपृथकनीय है"** और **कैटलिन** ने राजनीति को **'शक्ति का विज्ञान'** माना है। **बर्ट्रेण्ड रसल** ने तो शक्ति को समाज विज्ञान की मूलभूत अवधारणा के रूप में माना है और **एल.एस. अलमर** के कथनानुसार, **"सभी सामाजिक विज्ञानों में शक्ति की धारणा से इतना सम्बन्धित कोई भी नहीं है जितना कि राजनीति विज्ञान है। अरस्तू से लेकर आज तक के राजनीतिक लेखकों की विषय-वस्तु का विश्लेषण करने पर यह निस्सन्देह स्पष्ट हो जाता है कि शक्ति इसमें एक केन्द्रीय धारणा रही, जिसके सहारे राजनीति विज्ञान को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया।"[4]** **आर.एम. मैकाइवर, बायर्सटेड, ह्वाटकिन्स** और **विलियम ए. रोबसन**, आदि के द्वारा भी ऐसे ही विचार व्यक्त किये गये हैं।

राजनीति विज्ञान में शक्ति की धारणा को समझना इसलिए भी आवश्यक हो जाता है कि इस सम्बन्ध में जो मिथ्या विचार प्रचलित हैं, उन्हें दूर किया जा सके। **लॉर्ड एक्टन** का प्रसिद्ध कथन कि **'शक्ति भ्रष्ट करती है और पूर्णतया भ्रष्ट कर देती है'**, हमारे मन और मस्तिष्क में शक्ति के प्रति एक दुर्भावना को जन्म देती है। वस्तु-स्थिति यह है कि शक्ति तो सामाजिक व्यवस्था के लिए नितान्त आवश्यक है और शक्ति के बिना किसी प्रकार की सामाजिक व्यवस्था की कल्पना नहीं की जा सकती, केवल शक्ति की अति या शक्ति के दुरुपयोग के साथ ही भ्रष्टाचार को जोड़ा जा सकता है। इसी प्रकार एक नैतिक धारणा के रूप में **'सत्यमेव जयते'** नितान्त औचित्यपूर्ण विचार है और मानवीय जीवन में हमारा आदर्श यही होना चाहिए, लेकिन वस्तु-स्थिति यह है कि सत्य के पीछे शक्ति का बल होने पर ही उसके विजय की आशा की जा सकती है। यथार्थवादी दृष्टिकोण

---

1 'दण्ड मूलास्तिस्रो विधाः तस्मामता लोकयात्रा'। —अर्थशास्त्र 1/3, 1/4

2 Robert Bierstedt on *'Power in Human Relations in Administration'*, edited by Robert Dublin, 1960, p. 173.

3 Kashi Prasad Jayaswal, *Hindu Polity*, Chap. III & IV.

4 "Of all the Social Sciences, none has been more concerned with the concept of power than Political Science. A content analysis of the political writings from Aristotle to the present would no doubt reveal power as the central concept around which attempts to explain politics have revolved." —S.S. Ulmer, *Introductory Readings in Political Behaviour* (1962), p. 332.

से सत्य और शक्ति एक-दूसरे के विरोधी नहीं, वरन् पूरक हैं और पास्कल (Pascal) ने इस आधार पर ही न्याय और शक्ति के संयोजन की आवश्यकता के विषय में अपने विचार व्यक्त किये हैं।

रॉबर्ट ए. डहल (Robert A. Dahl) के मतानुसार शक्ति के अध्ययन की प्रमुख कठिनाई यह है कि इसके अनेक अर्थ होते हैं। वस्तु-स्थिति यही है और शक्ति को विभिन्न विचारकों ने अलग-अलग रूप से परिभाषित किया है। शक्ति की कुछ परिभाषाएँ इस प्रकार हैं :

रॉबर्ट बायर्सटेड के अनुसार, **"शक्ति बल प्रयोग की योग्यता है, न कि उसका वास्तविक प्रयोग।"**[1] **मैकाइवर** ने कहा है कि **"शक्ति होने से हमारा अर्थ व्यक्तियों या व्यक्तियों के व्यवहार को नियन्त्रित करने, विनियमित करने या निर्देशित करने की क्षमता से है।"** मॉर्गेन्थो ने **"शक्ति में उस प्रत्येक वस्तु को शामिल किया है, जिसके द्वारा मनुष्य के ऊपर नियन्त्रण स्थापित किया जाता एवं बनाये रखा जाता है।"** गोल्डहैमर तथा शिल्स (Goldhamer and Shills) के कथनानुसार, **"एक व्यक्ति को इतना ही शक्तिशाली कहा जाता है जितना कि वह अपने लक्ष्यों के अनुरूप दूसरों के व्यवहार को प्रभावित कर सकता है।"**[2]

लासवेल, केपलन और हर्बर्ट साइमन ने शक्ति को **'प्रभाव प्रक्रिया'** (Influence Process) के रूप में परिभाषित किया है। उनके मतानुसार शक्ति का उपयोग करते समय स्वयं की अपेक्षा दूसरों की नीतियों को प्रभावित किया जाता है और इस प्रक्रिया में प्रभाव डालने वाले तथा प्रभावित होने वाले के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। **रॉबर्ट ए. डहल** के अनुसार, शक्ति लोगों के पारस्परिक सम्बन्धों की एक ऐसी विशेष स्थिति का नाम है, जिसके अन्तर्गत एक पक्ष द्वारा दूसरे पक्ष को प्रभावित कर उससे कुछ ऐसे कार्य कराये जा सकते हैं जो उसके द्वारा अन्यथा न किये जाते।

लासवेल और केपलन की उपर्युक्त धारणाओं के अन्तर्गत शक्ति को प्रभाव का पर्यायवाची माना गया है। कुछ परिस्थितियों में यह सत्य होता है, लेकिन सभी परिस्थितियों में नहीं। शक्ति और प्रभाव एक ही व्यक्ति में पाये जा सकते हैं और इनमें मतभेद भी हो सकता है। हिटलर और चंगेज खाँ केवल शक्ति के प्रतीक थे, किन्तु नैपोलियन और लिंकन, आदि में शक्ति और प्रभाव दोनों के दर्शन किये जा सकते हैं। शक्ति और प्रभाव दोनों प्रभावित व्यक्ति के व्यवहार को परिवर्तित करते हैं, किन्तु वह व्यक्ति शक्ति के कारण परिवर्तित हुआ या प्रभाव के कारण इसका निर्णय स्वयं वही कर सकता है। ये दोनों एक-दूसरे के लिए वर्द्धनकारी भी हो सकते हैं।

वास्तव में शक्ति मानव जीवन का एक सरल तत्व होने के स्थान पर बहुत अधिक जटिल और **मैकाइवर** के अनुसार एक **बहुपक्षीय तत्व** है। उदाहरण के लिए, जब यह कहा जाता है कि प्रधानमन्त्री की मन्त्रिमण्डल पर कुछ शक्तियाँ हैं तो यह कथन पूर्णतया निरर्थक न होते हुए भी बहुत अधिक उपयोगी नहीं है। शक्ति का सही रूप जानने के लिए, अनेक बातों का उल्लेख करना होगा। उदाहरण के लिए, प्रधानमन्त्री की शक्ति का स्रोत, क्षेत्र एवं आधार क्या है, मन्त्रिमण्डल पर अपनी शक्ति का प्रयोग करने के लिए प्रधानमन्त्री द्वारा कौन-कौन से साधन अपनाये जाते हैं, मन्त्रिमण्डल पर उसकी शक्ति की मात्रा कितनी है तथा यह शक्ति कितनी व्यापक है।

शक्ति का बल, प्रभाव और सत्ता से भेद
(DISTINCTION OF POWER WITH FORCE, INFLUENCE AND AUTHORITY)

शक्ति और बल (Power and Force)

सामान्यतया शक्ति और बल को एक ही समझ लिया जाता है, किन्तु वास्तव में इन दोनों में अन्तर है। शक्ति बल का पर्याय नहीं है, क्योंकि शक्ति प्रच्छन्न बल है और बल प्रकट शक्ति। शक्ति की पृष्ठभूमि में बल रह सकता है, किन्तु वह बिल्कुल अलग है। शक्ति अप्रकट तत्व है, बल प्रकट तत्व है। बल का अर्थ है शास्तियों (Sanctions) की प्रयुक्ति या प्रतिबन्धों की व्यवस्था, जिसमें साधारण जुर्माने से लेकर प्राणदण्ड तक शामिल है। इस दृष्टि से शक्ति एक मनोभाव अथवा पूर्ण क्षमता है जो कि बल को सम्भव बनाती है।

1 Bierstedt on *Power in Human Relation in Administration*, 1960, edited by Robert Dublin, p. 172.

2 "A person may be said to have power to the extent, that he influences the behaviour of others, in accordance with his own intentions." —Hebert Goldhamer and Edward A. Shills, *Types of Human Relations in Administration*, p. 334.

रॉबर्ट बायर्सटेड के अनुसार, "**शक्ति बल प्रयोग की योग्यता है न कि उसका वास्तविक प्रयोग।**" वास्तव में, बल शक्ति का एक रूप है, किन्तु बल ही शक्ति नहीं है। बायर्सटेड ने शक्ति के तीन रूप बताये हैं : बल, प्रभाव तथा प्रभुत्व। बल शक्ति के दामन में उसी प्रकार रहता है, जैसे बादल में बिजली रहती है। जब बल अमर्यादित तथा लक्ष्यहीन होता है, तब उसे दमन कहा जाता है। स्वीकृत, सीमित तथा नियन्त्रित बल को शास्तियाँ कहा जाता है, इस प्रकार शक्ति बल की तुलना में निश्चित रूप से एक व्यापक तत्व है।

राजनीतिक शक्ति एवं सैनिक शक्ति में अन्तर (Distinction between Political Power and Military Power)—यद्यपि राजनीतिक शक्ति और सैनिक शक्ति दोनों व्यापक दृष्टिकोण से शक्ति के ही प्रकार हैं, किन्तु इन्हें एक ही नहीं समझ लिया जाना चाहिए। राजनीतिक शक्ति एक जटिल शब्द है जिसमें सदैव ही शक्ति के अन्य रूप भी सम्मिलित होते हैं; जैसे, धन, शस्त्र-सामग्री, नागरिक सत्ता, मत पर प्रभाव, आदि। सैनिक शक्ति एक स्पष्ट तत्व है जो सैन्य बल पर आधारित होता है। राजनीति में सैनिक शक्ति का स्थान अत्यन्त गौण रहता है; क्योंकि शक्ति वास्तविक बल प्रयोग नहीं, वरन् बल की क्षमता है। **मॉर्गेन्थो** ने राजनीतिक शक्ति को मनोवैज्ञानिक शक्ति माना है जिसके अनुसार मनुष्य दूसरे मनुष्यों की क्रियाओं तथा मस्तिष्कों पर नियन्त्रण रखता है। सैनिक शक्ति दमन का वास्तविक प्रयोग है। जब हिंसा या दमन का वास्तविक प्रयोग किया जाता है तो उसका अर्थ है कि सैनिक या अर्ध-सैनिक शक्ति के पक्ष में राजनीतिक शक्ति ने अधित्याग (abdiction) कर दिया है, किन्तु **डायक** सैनिक शक्ति को भी राजनीतिक शक्ति के अन्तर्गत रखने के पक्ष में है। उसके अनुसार संघर्ष राजनीति का मूल सार है चाहे वह शब्दों द्वारा या हिंसा द्वारा किया जाय। इस दृष्टि से सैनिक शक्ति को राजनीतिक शक्ति का एक उप-विभाग समझा जाना चाहिए। फिर भी सैनिक शक्ति राजनीतिक शक्ति की पृष्ठभूमि में ही रहती है। शस्त्रों, हिंसा या दमन द्वारा स्थापित सुव्यवस्था आदिमकालीन समाज की प्रतीक है जो किसी भी सभ्य राजनीतिक समाज के लिए प्रतिष्ठा की वस्तु नहीं हो सकती है। राजनीतिक शक्ति मनोवैज्ञानिक प्रभाव, नेतृत्व तथा स्वेच्छा जैसे तत्वों पर आधारित हो सकती है।

शक्ति एवं प्रभाव (Power and Influence)

समानताएँ—शक्ति और प्रभाव, यदि कुछ आधारों पर एक-दूसरे के समान हैं तो दूसरी ओर इनमें महत्वपूर्ण असमानताएँ भी हैं। **ब्रचाश और बारात** (Brachach and Barat) ने अपनी पुस्तक '*Political Power*' में इन दोनों में अनेक असमानताएँ बतायी हैं। इन लेखकों के अनुसार शक्ति एवं प्रभाव, दोनों ही बौद्धिक एवं सम्बन्धात्मक हैं तथा एक-दूसरे को सबलता प्रदान करते हैं। दोनों औचित्यपूर्ण हो जाने के पश्चात् ही प्रभावशाली होते हैं। प्रभाव शक्ति उत्पन्न करता है तथा शक्ति प्रभाव को। दोनों को एक-दूसरे की आवश्यकता पड़ती है। शक्ति और प्रभाव अलग-अलग व्यक्ति में हो सकते हैं और शक्ति तथा प्रभाव दोनों के दर्शन एक ही व्यक्ति में किये जा सकते हैं। शक्ति एवं प्रभाव दोनों प्रभावित व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करते हैं, किन्तु वह व्यक्ति शक्ति के कारण परिवर्तित हुआ या प्रभाव के कारण, यह मालूम करना कठिन होता है। इसका निर्णय तो वास्तव में स्वयं वही कर सकता है। ये दोनों एक-दूसरे के लिए वर्द्धनकारी भी हो सकते हैं।

असमानताएँ—शक्ति और प्रभाव एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हुए भी इनमें महत्वपूर्ण भेद हैं :

(1) शक्ति दमनात्मक होती है और उसके पीछे कठोर भौतिक बल एवं प्रतिबन्धों का प्रयोग होता है। जब शक्ति का प्रयोग किया जाता है तो शक्ति से प्रभावित होने वाले व्यक्ति या समूह के पास उसे स्वीकार करने के अलावा और कोई विकल्प नहीं होता। प्रभाव अनुनयात्मक, स्वेच्छापूर्ण तथा मनोवैज्ञानिक होता है। प्रभावित होने वाले व्यक्ति या समूह के पास सदैव उसके अनुपालन के विषय में अनेक विकल्प मौजूद रहते हैं।

(2) शक्ति प्रायः शक्तिधारक के पास एक स्वतन्त्र तत्व के रूप में रहती है। उसका प्रयोग शक्तिधारक दूसरों की इच्छा के विरुद्ध एवं प्रतिरोध के रहते हुए कर सकता है। प्रभाव सम्बन्धात्मक होता है और उसकी सफलता का आधार प्रभावित व्यक्ति की सहमति या स्वीकृति होती है अर्थात् प्रभाव प्रभावित व्यक्ति की स्वेच्छा पर निर्भर होता है।

(3) शक्ति को अप्रजातन्त्रात्मक माना जाता है। वह प्रति शक्ति (counter power) को आमन्त्रित करती है तथा भय पर आधारित होती है। इसके विरुद्ध प्रभाव पूर्णतया प्रजातन्त्रात्मक माना जाता है। उसका

अनुपालन स्वेच्छा से किया जाता है। 'प्रभाव' का प्रभाव विचारवादी समानताओं और मूल्यों की समरूपता के कारण होता है।

(4) शक्ति और शक्ति के प्रयोग पर अनेक सीमाएँ लगी होती हैं। शक्ति कितनी भी अधिक क्यों न हो, उसे किसी-न-किसी तरह के प्रभाव के सहारे की आवश्यकता पड़ती है अन्यथा शक्ति के दुर्बल होते ही या प्रतिबन्धों के अभाव में उसका अनुपालन नहीं किया जायगा। प्रभाव की शक्ति असीम होती है और प्रभाव प्राप्त कर लेने पर उसका खुलकर लाभ उठाया जा सकता है क्योंकि प्रभावक और प्रभावित के बीच एक सद्भावनापूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। सच्चे रूप में प्रभाव प्राप्त हो जाने पर शक्ति आवश्यक हो जाती है।

(5) शक्ति को सभ्यता एवं संस्कृति के वाहरी तत्व के रूप में समझा जाना चाहिए। उसका प्रयोग निश्चित, सीमित और विशिष्ट रूप से ही किया जा सकता है। उसके प्रयोगकर्ता का स्वरूप प्रायः सुनिश्चित होता है जबकि प्रभाव प्रायः व्यक्तिगत, अमूर्त तथा अस्पष्ट होता है।

कुछ ऐसे उदाहरण हैं जिनमें शक्ति और प्रभाव एक-दूसरे से पूर्णतया पृथक् रहते हैं। एक व्यक्ति शक्ति रखते हुए भी प्रभावहीन हो सकता है। उदाहरण के लिए, 25 मार्च, 1971 से 16 दिसम्बर, 1971 तक याह्या खाँ की पूर्वी बंगाल के सम्बन्ध में यही स्थिति थी। उन्हें पूर्वी बंगाल के सम्बन्ध में केवल शक्ति प्राप्त थी, प्रभाव नहीं। दूसरी ओर शेख मुजीबुर्रहमान को दिसम्बर 1971 के पूर्व पूर्वी बंगाल के सम्बन्ध में प्रभाव ही प्राप्त था, शक्ति या सत्ता नहीं। इस प्रकार प्रभाव को शक्ति की आवश्यकता नहीं पड़ती और शक्ति भी बिना प्रभाव के रह सकती है।

शक्ति और सत्ता (Power and Authority)

राजनीतिक संगठन उन संरचनाओं द्वारा निर्मित होते हैं जो कि बल के प्रयोग का नियमन करती हैं तथा सामाजिक सहयोग और नेतृत्व से सम्बन्धित होती हैं। इनमें शक्ति और सत्ता का महत्वपूर्ण स्थान होता है। शक्ति व्यक्तियों, समूहों तथा भौतिक परिस्थितियों के प्रतिरोध के होते हुए भी स्वतन्त्र कार्य करने की क्षमता का नाम है। यह आदेश देने की क्षमता है। उसे अपनी इच्छा को प्रभावशाली ढंग से पूर्ण करने की योग्यता के रूप में देखा जा सकता है और यदि आवश्यकता पड़े तो दूसरों पर थोपा जा सकता है। इतिहास में अनेक ऐसे उदाहरण हैं जिनमें दूसरे राज्यों पर अनधिकृत रूप से अधिकार किया गया अथवा उन पर विजय प्राप्त की गयी, किन्तु बाद में धीरे-धीरे उन्हें जनस्वीकृति प्राप्त हो गयी और वे सत्ता बन गये। सत्ता के बिना शक्ति असंस्थायीकृत, असाधनात्मक, परिस्थितिजन्य एवं अनिश्चित होती है। सत्ता संस्थायीकृत होने के कारण अपने विषय-क्षेत्र और प्रकृति से निश्चित होती है, उसके निर्देशों को बाध्यकारी मानकर पालन किया जाता है। सत्ता निश्चित, स्पष्ट तथा प्रकट होती है इसलिए उसका विभिन्न स्तरों पर व्यक्तियों, संस्थाओं अथवा समूहों में प्रत्यायोजन किया जा सकता है। शक्ति में इस प्रकार की स्पष्टता एवं निश्चितता का अभाव होता है।

चार्ल्स ई. मेरियम ने '*Political Power*' में शक्ति और सत्ता में कोई भेद नहीं किया है, लेकिन वास्तव में इस प्रकार का दृष्टिकोण उचित नहीं है। शक्ति दमन का एक यन्त्र है और इसका प्रभाव भौतिक होता है। सत्ता सहमति पर आधारित हो सकती है और इसके साथ ही अधिक प्रभावदायक हो सकती है। अनेक राजनीतिक और सामाजिक संस्थाएँ ऐसी हैं जोकि बहुत अधिक सत्ता का प्रयोग करती हैं, किन्तु केवल सहमति पर आधारित हैं। शिक्षक, पत्रकार और जनसेवक की सत्ता सहमति पर आधारित नहीं होती, फिर भी उसका बहुत अधिक सम्मान किया जाता है।

राजनीतिक व्यवस्थाओं और संगठनों में अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि वरिष्ठ व्यक्ति के पास केवल सत्ता है और अधीनस्थ या कनिष्ठ व्यक्तियों के पास शक्ति, लेकिन यह अवांछित स्थिति ही है। इन दोनों का उचित सन्तुलन राजनीति की एक शाश्वत समस्या है, जिसे सफल नेतृत्व के द्वारा ही सुलझाया जा सकता है। राजनीतिक व्यवस्था और संगठनों में सत्ता और शक्ति को सामान्य रूप से संयुक्त किया जाता है और ऐसा किया जाना आवश्यक है क्योंकि अत्यन्त लोकप्रिय शासक को भी शासन सत्ता के संचालन के लिए सत्ता और शक्ति दोनों की आवश्यकता होती है।

शक्ति के स्रोत

शक्ति का अर्थ स्पष्टता के साथ समझने के लिए शक्ति के स्रोतों का अध्ययन किया जा सकता है। वस्तुतः शक्ति अनेक स्रोतों से उत्पन्न होकर विभिन्न रूपों में अपने आपको प्रकट करती है। **नैपोलियन, हिटलर,**

लेनिन और गांधी ये सभी शक्तिशाली थे, लेकिन इनकी शक्ति के स्रोतों में भेद था। शक्ति के स्रोतों की कोई पूर्ण सूची तो देना सम्भव नहीं है, क्योंकि विचारकों में इस सम्बन्ध में बहुत अधिक मतभेद हैं; फिर भी शक्ति के कुछ प्रमुख स्रोतों का उल्लेख निम्न रूपों में किया जा सकता है :

(1) ज्ञान (Knowledge)—शक्ति का प्रथम स्रोत ज्ञान है। ज्ञान अपने साधारण अर्थ में व्यक्ति को अपने लक्ष्यों को पुनः प्रबन्धित करने और मिलाने की योग्यता प्रदान करता है। ज्ञान द्वारा व्यक्ति की अन्य विशेषताओं को इस प्रकार संचालित किया जाता है कि वे शक्ति का साधन बन सकें। व्यक्ति के नेतृत्व का गुण, उसकी इच्छा-शक्ति, उसकी सहन-शक्ति, अपने आप को अभिव्यक्त करने की शक्ति, आदि विभिन्न तत्व शक्ति के महत्वपूर्ण पहलू हैं। इन तत्वों में से किसी भी एक की कमी शक्ति के समस्त रूप को अकार्यकुशल बना सकती है और उसे पूरी तरह नष्ट कर सकती है।

(2) प्राप्तियाँ (Possessions)—ज्ञान शक्ति का आन्तरिक स्रोत है। इसके अतिरिक्त शक्ति का निर्धारण करने वाले बाहरी तत्व भी होते हैं, जिनमें प्राप्तियाँ सर्वाधिक प्रमुख हैं। साधारण बोलचाल के अन्तर्गत इसे ही आर्थिक शक्ति का नाम दिया जा सकता है। प्राप्तियों के अन्तर्गत भौतिक सामग्री, स्वामित्व एवं सामाजिक सामग्री की शक्ति, एक व्यक्ति को समाज में प्राप्त स्थिति और स्तर, आदि को सम्मिलित किया जा सकता है। प्राप्तियाँ या सम्पत्ति शक्ति का एक स्रोत अवश्य है, लेकिन न तो यह एकमात्र स्रोत है और न ही निश्चित रूप से प्रभाव डालने वाला स्रोत। बिना सम्पत्ति के भी एक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के कार्यों को प्रभावित कर सकता है और सम्पत्ति के होने पर भी आवश्यक नहीं है कि वह दूसरों के कार्यों को प्रभावित कर सकेगा।

(3) संगठन—संगठन अपने आप में शक्ति का एक महत्वपूर्ण स्रोत है। कहावत भी है कि **'संगठन ही शक्ति है'** (Unity is strength)। विभिन्न प्रतिद्वन्द्वितापूर्ण इकाइयाँ आपस में मिलकर संघ बना लेती हैं, तो उनकी शक्ति कई गुना बढ़ जाती है। आधुनिक युग के मजदूर संघ तथा व्यापारिक संघ इसके उदाहरण हैं। शक्ति की दृष्टि से सबसे बड़ा संघ स्पष्टतया राज्य ही है और इसका एक प्रमुख कारण राज्य का सर्वाधिक संगठित स्वरूप ही है।

(4) आकार—अनेक बार आकार को शक्ति का परिचायक मान लिया जाता है और यह सोचा जाता है कि एक संगठन का जितना बड़ा आकार होगा, उसके द्वारा उतनी ही अधिक शक्ति का परिचय दिया जा सकेगा। आकार के साथ यदि संगठन का मेल हो, तो ऐसा होता भी है, लेकिन सभी परिस्थितियों में ऐसा नहीं होता। अनेक बार ऐसा भी होता है कि उसका बड़ा आकार उसे उलझा दे, उसे असन्तुलित बना दे और उसे परिस्थितियों के अनुकूल न रहने दे। इसी कारण अनेक बार कुछ राजनीतिक दलों द्वारा अपने आकार को घटाने के लिए **'शुद्धि आन्दोलनों (Purges)** का आश्रय लिया जाता है।

शक्ति के स्रोत एवं आधार के रूप में विश्वास का भी पर्याप्त महत्व है। तलवार की शक्ति भी अन्तिम रूप से विश्वास पर ही आधारित होती है। शक्ति का एक अन्य स्रोत सत्ता होती है। शक्ति की महानता इस बात से निर्धारित की जाती है कि वह मानव मस्तिष्क पर प्रभाव डालने में कितनी सक्षम है। **प्रो. मैकाइवर** ने शक्ति के इन विभिन्न तत्वों का वर्णन करने के बाद कहा है कि **"शक्ति की कार्य-कुशलता उन विभिन्न परिस्थितियों के द्वारा बढ़ती या कम होती रहती है, जिनके अधीन उसे कार्य करना है।"**[1]

शक्ति के प्रकार

शक्ति नानारूपिणी होती है तथा इसके विभिन्न प्रकार होते हैं। शक्ति के प्रकार के सम्बन्ध में विद्वानों द्वारा भी अलग-अलग विचार व्यक्त किये गये हैं। **गोल्डहेमर एवं एडवर्ड शिल्स** के अनुसार, **"एक व्यक्ति की शक्ति उतनी कही जा सकती है, जितनी मात्रा में वह अपनी इच्छा के अनुसार दूसरे के व्यवहार को परिवर्तित कर सके।"** व्यवहार में परिवर्तन की इस धारणा के अनुसार शक्ति तीन प्रकार की होती है : **बल, प्रभुत्व और चातुर्य** (Manipulation)। एक शक्तिवान व्यक्ति बल का प्रयोग करता हुआ उस समय कहा जाता है, जिस समय वह अधीनस्थ व्यक्तियों के व्यवहार को भौतिक शक्ति के माध्यम से प्रभावित करता है। जब शक्तिवान व्यक्ति अपनी इच्छा को प्रकट कर दूसरों के व्यवहार को प्रभावित करता है, तो वह प्रभुत्व कहलायेगा। **'प्रभुत्व'** आदेश या आग्रह के रूप में हो सकता है। चातुर्य दूसरों के व्यवहार को प्रभावित करने का तरीका

1 "The efficacy of a power complex is in term increased or diminished by the various conditions under which it must operate."
—R.M. MacIver, *Power Transformed*, p. 81.

है जिसमें प्रभावित होने वाले व्यक्तियों को स्पष्ट रूप से यह नहीं वताया जाता कि शक्तिवान व्यक्ति आखिर उनसे क्या चाहता है। इस अन्तिम प्रक्रिया में प्रतीकों (symbols) का प्रयोग करते हुए प्रचार की प्रणाली को अपनाया जाता है।

मैक्स वेबर केवल औचित्यपूर्ण शक्ति का अध्ययन करता है और उसे वह सत्ता कहता है। जिसे व्यक्तियों या अधीनस्थों द्वारा स्वीकार किया जाता है या अधिकारपूर्वक माना जाता है, उसे औचित्यपूर्ण सत्ता कहते हैं। ज़ो शक्ति औचित्यपूर्ण नहीं है उसे वेवर दमन (coercion) कहता है। वेवर ने औचित्यपूर्ण शक्ति के तीन प्रमुख रूप वताये हैं : (i) **कानूनी या वैधानिक**, (ii) **परम्परागत**, (iii) **करिश्मावादी** (charismatic)। जव अधीनस्थ लोग शक्तिवान व्यक्तियों द्वारा निर्मित कानूनों, निर्देशों एवं डिक्रियों (Decrees) की वैधानिकता में विश्वास करते हैं, तो यह औचित्यपूर्ण शक्ति वैधानिक कहलाती है। जब शक्तिवान द्वारा प्रसारित आदेशों को परम्परा के आधार पर पवित्र माना जाये अथवा परम्परा के कारण ही वह शक्ति का प्रयोग करे, तो इसे औचित्यपूर्ण शक्ति का परम्परागत रूप कहा जायेगा। तीसरे, जब औचित्य की मान्यता का आधार शक्तिवान् के व्यक्तिगत गुणों के प्रति भक्ति होती है, तो वह करिश्मावादी औचित्यपूर्ण शक्ति कही जाती है। करिश्मावादी औचित्यपूर्ण शक्ति के अन्तर्गत अनुयायियों को अपने नेता की विशेषताएँ प्रायः अद्वितीय प्रतीत होती हैं और उसके सम्मुख वे पूर्ण समर्पण कर देते हैं। 1971-72 **के वर्षों में श्रीमती गांधी को भारतीय जनता पर करिश्मावादी शक्ति ही प्राप्त थी।**

बायर्स्टेड ने भी शक्ति के अनेक आधारों पर कई प्रकार बताये हैं : (i) दृश्यता के आधार पर शक्ति अदृश्य या प्रकट हो सकती है। शक्ति के अदृश्य रूप को प्रच्छन्न (latent) शक्ति कहा जायेगा तथा उसका प्रकट रूप अभिव्यक्त होने पर उसे सत्ता, वल, आदि कहा जायेगा। (ii) दमन की दृष्टि से शक्ति **दमनात्मक या अदमनात्मक** हो सकती है; (iii) औपचारिकता की दृष्टि से वह औपचारिक तथा अनौपचारिक हो सकती है; (iv) शक्ति प्रयोग की दृष्टि से यदि शक्ति का प्रयोग स्वयं धारक द्वारा किया जाय तो उसे प्रत्यक्ष और यदि अधीनस्थों द्वारा प्रयुक्त हो, तो उसे अप्रत्यक्ष कहा जायेगा।

(1) शक्ति प्रवाह या दिशा की दृष्टि से वह एकपक्षीय, द्विपक्षीय या वहुपक्षीय हो सकती है।

(2) केन्द्रीकरण के दृष्टिकोण से वह केन्द्रित, विकेन्द्रित अथवा विस्तृत हो सकती है। केन्द्रित में केन्द्रीय सत्ता का नियन्त्रण होता है, विकेन्द्रित होने पर शक्तियाँ अनेक अधीनस्थ निकायों को स्वायत्त या अर्ध-स्वायत्त आधारों पर प्रदान की जाती हैं। विस्तृत शक्ति का स्वरूप बिखरा हुआ, अस्पष्ट एवं प्रसुप्त होता है, जैसे, जनशक्ति।

(3) क्षेत्रीयता के आधार पर वह अन्तर्राष्ट्रीय या भूखण्ड विशेष से सम्बन्धित होती है।

(4) शक्ति की मात्रा एवं प्रभाव की दृष्टि से विभिन्न राज्यों को महान्, मध्यम तथा निम्न शक्तियाँ कहा जाता है।

इस प्रकार शक्ति के अनेक स्वरूप हो सकते हैं।

शक्ति का प्रयोग एवं सीमाएँ

शक्ति का प्रयोग विभिन्न प्रकार की शास्तियों (sanctions) या साधनों के आधार पर किया जाता है; जैसे, पुरस्कार, दण्ड, आर्थिक लाभ देना या रोकना, आदि। इन साधनों की मात्रा एवं प्रकार देश, काल तथा संस्कृति विशेष के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। एक व्यक्ति विशेष पर शक्ति का प्रयोग करते हुए पिटाई, जेल, जुर्माना, अपदस्थीकरण या अपमान इनमें से किसी भी साधन को अपनाया जा सकता है। इसी प्रकार संस्था पर शक्ति का प्रयोग करते हुए धमकी या प्रलोभन में से किसी को भी आवश्यकतानुसार चुना जा सकता है। उदाहरण के लिए, अमरीका का राष्ट्रपति वहाँ की कांग्रेस पर अपना प्रभाव जमाने के लिए या तो कांग्रेस सदस्यों एवं उनके अनुयायियों को पदों का प्रलोभन देता है अथवा विशेष सम्मेलन बुलाने या मतदाताओं से सीधे अपील करने की बात कहता है अथवा विधेयक विशेष पर निषेधाधिकार के प्रयोग की धमकी देता है। इनमें से एक साधन के असफल रहने पर दूसरे साधन को अपनाया जा सकता है। सामान्यतया शक्ति प्रयोग में सफलता प्राप्त होती है, लेकिन कभी-कभी इसमें असफल भी रहना होता है।

किन्तु शक्ति प्रयोग स्वच्छन्द नहीं होता और उसके ऊपर अनेक प्रतिबन्ध तथा सीमाएँ, आदि होती हैं। ये सीमाएँ अनेक बातों से सम्बन्ध रखती हैं; जैसे, **इतिहास और परम्पराएँ, सहमति या स्वीकृति प्राप्त करने की**

आवश्यकता के तरीके, राजनीतिक विकास का प्रभाव, धर्म, नैतिकता एवं समूहों का दबाव, आदि। शक्ति की सीमाएँ प्रयोगकर्ता के लक्ष्य एवं उद्देश्यों, उसकी क्षमता, पारस्परिक सम्बन्धों, प्रतियोगिता, कार्य-पद्धतियों और वातावरण सम्बन्धी कारणों, आदि से भी उत्पन्न होती हैं।

राजनीति विज्ञान में शक्ति का दृष्टिकोण

राजनीति विज्ञान के अध्ययन का एक प्रमुख उद्देश्य यह जानना होता है कि शक्ति किसके हाथ में है और उसका प्रयोग किस प्रकार किया जा रहा है। इसी कारण वर्तमान समय के राजनीतिक विचारक राज्य के विचार को अभिव्यक्त करने की अपेक्षा शक्ति की धारणा व्यक्त करने में अधिक रुचि ले रहे हैं। वस्तुतः शक्ति राजनीतिक अनुसन्धान का हृदय है और इसका स्पष्ट लाभ यह है कि इसके द्वारा दूसरों को प्रभावित करने वाली क्रिया को समझा जा सकता है, लेकिन कुछ समय पूर्व तक शक्ति के विचार को राजनीतिक अध्ययन में उचित स्थान प्राप्त न था। प्राचीन काल में शक्ति की धारणा को असीमित या निरंकुश शक्ति से सम्बद्ध समझा जाता था और इसी कारण इसके प्रति सन्देह उत्पन्न होना नितान्त स्वाभाविक था।

वर्तमान समय में शक्ति की धारणा ने पर्याप्त महत्व और लोकप्रियता प्राप्त कर ली है और **जॉर्ज कैटलिन** तथा **हैरल्ड डी. लासवेल** ने इस धारणा पर विस्तार से विचार व्यक्त किये हैं। **लासवेल वर्तमान युग का सबसे अधिक प्रसिद्ध एवं प्रभावशाली शक्ति शोधकर्ता है।**

जॉर्ज कैटलिन के विचार—जॉर्ज कैटलिन ने शक्ति को राजनीतिक जीवन का प्राथमिक तत्व माना है। कैटलिन के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में अपनी कामनाओं को पूरा करने की इच्छा होती है और यही इच्छा उसके समस्त कार्यों का आधार है। अपनी इच्छा लागू करने के लिए अन्य लोगों की इच्छाओं को नियन्त्रित करना आवश्यक हो जाता है और व्यक्ति जब इस दिशा में चेष्टा करता है, तभी शक्ति या संघर्ष के तत्व का उदय हो जाता है।

शक्ति का अध्ययन पूर्ण रूप से यह स्पष्ट नहीं करता कि सरकार समाज को किस प्रकार नियन्त्रित करती है अथवा व्यवस्था की स्थापना कैसे करती है; वरन् इसके द्वारा इस व्यापक समस्या पर विचार किया जाता है कि एक व्यक्ति या समूह दूसरों की इच्छाओं को किस प्रकार प्रभावित करता है। कैटलिन का विचार है कि **"इच्छाओं के संघर्ष को राजनीति विज्ञान का आधार बनाया जाय, तो राजनीति विज्ञान की शेष विषय-वस्तु स्वयं ही स्पष्ट हो जायेगी।"**

लासवेल के विचार—यद्यपि कैटलिन और लासवेल दोनों ही विचारक शक्ति पर जोर देने के सम्बन्ध में एकमत हैं, लेकिन लासवेल ने राजनीति के अध्ययन को कैटलिन की अपेक्षा कुछ व्यापक दृष्टि से देखा है और इसलिए उनके निष्कर्ष भी भिन्न प्रकार के हैं।

लासवेल का विचार है कि राजनीति विज्ञान मूल रूप से एक शक्ति प्रक्रिया नहीं है, वरन् यह समाज के मूल्यों की स्थिति एवं बनावट में परिवर्तन का अध्ययन है। अतः राजनीति विज्ञान में शक्ति एवं मूल्य दोनों का ही अध्ययन किया जाना चाहिए और इन दोनों की परस्पर निर्भरता को भी स्पष्ट किया जाना चाहिए। उन्होंने अपनी पुस्तक **'कौन, कब, क्या, कैसे प्राप्त करता है'** (*Who gets, What, When and How*) में स्पष्ट किया है कि उच्च राजनीतिक वर्ग के पास जो शक्ति होती है, उसका स्रोत क्या होता है ? यह पुस्तक मुख्य रूप से उन साधनों का वर्णन करती है, जिनके माध्यम से उच्च वर्ग के लोग शक्ति के पद पर पहुँचते हैं और कायम रहते हैं तथा अपनी सुरक्षा, आय और आदर को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। यदि हम राजनीति विज्ञान को बदलते हुए मूल्यों के रूप का अध्ययन मानें तो लासवेल की यह पुस्तक सम्पूर्ण प्रक्रिया के केवल एक छोटे भाग मात्र को अभिव्यक्त करने वाली समझी जायगी। अनेक विचारकों ने लासवेल की धारणा को एक संकीर्ण विचारधारा माना है, क्योंकि इसके आधार पर लासवेल ने राजनीति विज्ञान की सम्पूर्ण विषय-वस्तु को शक्ति के लिए संघर्ष मान लिया है। इसके बाद लासवेल की एक अन्य पुस्तक **'शक्ति और समाज'** (*Power and Society*) प्रकाशित हुई और इस पुस्तक में उन्होंने मूल्यों के वितरण को भी राजनीति विज्ञान के अध्ययन में सम्मिलित कर लिया।

राजनीति में सत्ता की भूमिका

सत्ता को राजव्यवस्था रूपी 'शरीर की आत्मा' कहा जा सकता है। यह शक्ति, प्रभाव और नेतृत्व का मूल उपकरण है और नीति निर्माण, समन्वय, अनुशासन और प्रत्यायोजन (delegation) आदि राजनीतिक

प्रक्रियाएँ सत्ता के आधार पर ही सम्भव होती हैं। औपचारिक एवं अनौपचारिक दोनों ही प्रकार के संगठनों में सत्ता को महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त होती है और राजनीतिक जीवन में सत्ता की अवहेलना नहीं की जा सकती। कोई व्यक्ति या व्यक्ति समूह बिना औपचारिक सत्ता के होते हुए भी एक विशेष परिस्थिति में सत्ता धारण किये रह सकता है। लोकतन्त्र में सत्ता का अधीनस्थों अर्थात् जनता के द्वारा स्वीकृत किया जाना महत्वपूर्ण होता है। राजव्यवस्थाओं एवं राजनीति में सत्ता की मात्रा को बढ़ाना आवश्यक तथा महत्वपूर्ण होता है, राजनीतिक लक्ष्यों की सिद्धि इसी से सम्बन्धित होती है।

सत्ता की अवधारणा : अर्थ एवं व्याख्या

समाज विज्ञानों के अन्तर्राष्ट्रीय ज्ञान कोष के अनुसार सत्ता को कई प्रकार से परिभाषित किया जा सकता है। सत्ता की अनेक व्याख्याएँ की गयी हैं, किन्तु अपने सभी रूपों में सत्ता शक्ति, प्रभाव एवं नेतृत्व से जुड़ी हुई है। **बायर्सटेड** के अनुसार, "सत्ता शक्ति के प्रयोग का संस्थात्मक अधिकार है, वह स्वयं शक्ति नहीं है।" **बीच (Beach)** दूसरों के कार्य निष्पादन को प्रभावित या निर्देशित करने के औचित्यपूर्ण अधिकार को सत्ता कहता है। **रोबे** ने बताया है कि वह व्यक्तियों एवं व्यक्ति समूहों को हमारे राजनीतिक निश्चयों के निर्धारण तथा राजनीतिक व्यवहार को प्रभावित करने का अधिकार है। सत्ता को इसलिए स्वीकार नहीं किया जाता कि वह 'प्राधिकारियों' द्वारा दी जाती है। इसका वास्तविक आधार अधीनस्थ अथवा जिन्हें निर्देश दिये जाते हैं, उनकी सहमति होती है। अधीनस्थ ही जब इस बात को स्वीकार करते हैं कि आदेशों का स्रोत सही या उचित है, तब ही आदेश देने वाले अधिकारी को 'प्राधिकारी' कहा जा सकता है। सत्ता सामान्य स्वीकृति के साथ शक्ति के प्रयोग को कहा जाता है। वह शक्ति के समान, शास्तियों (Sanctions) के आधार पर नहीं, अपितु उचित होने के कारण, दूसरों के व्यवहार को अपने अनुकूल बनाकर प्रभावित करने का साधन है। **यूनेस्को** की एक रिपोर्ट के अनुसार, **सत्ता वह शक्ति है जो कि स्वीकृत, सम्मानित, ज्ञात एवं औचित्यपूर्ण हो।**

सत्ता की व्याख्या के विषय में हर्बर्ट साइमन ने भी मौलिक एवं महत्वपूर्ण विचारों का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार सत्ता के अन्तर्गत वरिष्ठ एवं अधीनस्थ के व्यवहार आते हैं। सत्ता का अस्तित्व, तब और केवल तब ही माना जाता है, जबकि ऐसा सम्बन्ध उन दोनों के बीच में स्थित हो। यदि अधीनस्थ के व्यवहार में परिवर्तन नहीं दिखायी देता है, तो कोई सत्ता नहीं मानी जाती, चाहे संगठन के 'कागजी' सिद्धान्त कुछ भी क्यों न हों। वास्तव में सत्ता स्थिति के अन्तर्गत दो प्रकार के व्यवहार होते हैं : (1) आदेशों के अनुपालन की प्रत्याशा तथा (2) आदेशों के अनुपालन की इच्छा।

सत्ता की प्रकृति

सत्ता की प्रकृति के सम्बन्ध में विचार भेद है और इस सम्बन्ध में प्रमुख रूप से दो सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। ये दोनों ही सिद्धान्त **प्रो. बीच (Beach)** द्वारा प्रतिपादित किये गये हैं और निम्न प्रकार हैं :

(1) **औपचारिक सत्ता सिद्धान्त (Formal Theory)**—इस सिद्धान्त के अनुसार सत्ता को आदेश देने का अधिकार माना जाता है और सत्ता का प्रवाह ऊपर से नीचे की ओर चलता है। यह अधिकार व्यवस्थाओं एवं संगठनों में विशिष्ट एवं वरिष्ठ अधिकारियों को दिया जाता है और इससे आदेश या सत्ता का एक पदक्रम बन जाता है।

सत्ता के पीछे व्यवस्था या संगठन की औचित्यपूर्ण शक्ति होती है। इस शक्ति के कारण उसे स्वीकार किया जाता है। सत्ता आवश्यक रूप से सत्ताधारी की व्यक्तिगत श्रेष्ठता को नहीं बतलाती। सत्ताधारी तो व्यवस्था या संगठन में अन्तर्निहित शक्ति का कार्यशील प्रतीक मात्र है। **मैकाइवर** ने इसे **'शासन का जादू'** कहा है कि एक व्यक्ति जो आदेश देता है, वह भले ही अपने अधीनस्थों से अधिक बुद्धिमान न हो, अधिक योग्य न हो और किसी भी दृष्टि से अपने सामान्य साथियों से श्रेष्ठ न हो, कभी-कभी तो उसका स्तर इन सबसे हीन भी हो सकता है; लेकिन वह सत्ता की स्थिति में होने के कारण आदेश-निर्देश देता है और उसके आदेशों का पालन किया जाता है।

(2) **स्वीकृति सिद्धान्त (Acceptance Theory)**—व्यवहारवादी या मानव सम्बन्धवादी औपचारिक सत्ता सिद्धान्त में विश्वास न रखते हुए 'स्वीकृति सिद्धान्त' का प्रतिपादन करते हैं। इन यथार्थवादी अध्ययनकर्ताओं के अनुसार, सत्ता कानूनी रूप से तो केवल औपचारिक होती है, किन्तु वास्तव में सत्ता या आदेश के अधिकार की सफलता अधीनस्थों की स्वीकृति पर निर्भर करती है। जब अधीनस्थ अपनी समझ और योग्यता के दायरे

में आदेशों को स्वीकार कर लेते हैं तो यह स्थिति 'सत्ता स्थिति' बन जाती है। बर्नार्ड अपनी रचना *'The Functions of the Executive'* में लिखते हैं कि अधीनस्थ आदेशों को स्वीकार करें, इसके लिए चार शर्तें पूरी होनी आवश्यक हैं : (i) अधीनस्थ अधिकारी आदेश अथवा सूचना को समझता या समझ सकता हो; (ii) अपने निश्चय करने के समय उसका यह विश्वास हो कि आदेश संगठन के उद्देश्यों के साथ असंगत नहीं है; (iii) निर्णय लेने के समय में वह यह सोचता हो कि एक समग्रता के रूप में सम्बन्धित आदेश उसके व्यक्तिगत हितों के अनुकूल है; तथा (iv) वह मानसिक और शारीरिक दृष्टि से उस आदेश के अनुपालन की क्षमता रखता हो।

वस्तुतः सत्ता की प्रकृति के सम्बन्ध में प्रतिपादित इन दोनों ही सिद्धान्तों की अपनी दुर्बलताएँ हैं और इन्हें अतिवादी कहा जा सकता है। इन दोनों सिद्धान्तों की सत्यताओं को ग्रहण करते हुए एक सन्तुलित दृष्टिकोण का विकास हुआ है, जिसके अन्तर्गत सत्ता की अवधारणा में संस्थाकृत औचित्यपूर्ण शक्ति और अधीनस्थों की स्वीकृति दोनों को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। यही उचित दृष्टिकोण है और राजनीति विज्ञान में सामान्यतया इसी को अपनाया गया है।

सत्ता के स्रोत या सत्ता के प्रकार

सत्ता की अवधारणा की विवेचना सुकरात, प्लेटो, ऑगस्टाइन, आदि के समय से होती रही है, किन्तु इसकी विस्तृत विवेचना बीसवीं सदी के राजनीतिक और समाजशास्त्रीय विश्लेषक **मैक्स वेबर** द्वारा प्रस्तुत की गयी है। सत्ता एवं औचित्यपूर्णता का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है और मैक्स वेबर ने इस सम्बन्ध को दृष्टि में रखते हुए औचित्यपूर्णता के आधार पर सत्ता के स्रोतों एवं प्रकारों का वर्णन किया है। उसके अनुसार अपने स्रोत के आधार पर सत्ता तीन प्रकार की होती है :

(1) परम्परागत (Traditional)—जब प्रजा या अधीनस्थ वरिष्ठ अधिकारियों के आदेशों को इस आधार पर स्वीकार करते हैं कि ऐसा सदैव से होता आया है, तो सत्ता का यह प्रकार परम्परागत कहा जायगा। इस प्रकार परम्परागत सत्ता का अभिप्राय शासन के उस अधिकार से है जो राजनीतिक शक्ति के अनवरत प्रयोग से उभरता है। इस प्रकार की सत्ता में 'प्रत्यायोजन' (delegation) मात्र अस्थायी रूप से लिया जाता और स्वेच्छाचारी होता है। अधीनस्थ सेवक समझे जाते हैं और वे आज्ञापालन परम्पराओं के प्रतीक विशेष व्यक्ति के कारण करते हैं, जैसे, राजतन्त्र में राजा।

(2) बौद्धिक-कानूनी या वैधानिक नौकरशाही सत्ता (Rational Legal or Legal Bureaucratic Authority)—जब अधीनस्थ किसी नियम को इस आधार पर स्वीकार करते हैं कि वह नियम उन उच्चस्तरीय अमूर्त नियमों के साथ सम्मत है जिसे वे औचित्यपूर्ण समझते हैं, तब इस स्थिति में सत्ता को बौद्धिक-कानूनी माना जाता है। यह सत्ता संवैधानिक नियमों के अन्तर्गत धारण किये गये पद से प्राप्त होती है। अमरीका में जब राष्ट्रपति पद का कोई उम्मीदवार निर्वाचक मण्डल का बहुमत प्राप्त कर लेता है अथवा जब भारत में लोकसभा के बहुमत सदस्य किसी को अपना नेता निर्वाचित कर उसे प्रधानमन्त्री पद पर प्रतिष्ठित कर देते हैं, तब यह सत्ता का बौद्धिक-तार्किक आधार ही होता है। इसमें सत्ता का प्रत्यायोजन बौद्धिक आधार पर किया जाता है और कर्मचारीगण वैधानिक रूप से स्थापित निर्वैयक्तिक आदेशों के आधार पर आज्ञापालन करते हैं। सत्ता का यह रूप आधुनिक नौकरशाही को अपने विशुद्ध रूप में प्रकट करता है।

(3) करिश्मात्मक सत्ता (Charismatic Authority)—जब अधीनस्थ वरिष्ठ सत्ताधारी के आदेशों को इस आधार पर न्यायसंगत मानते हैं कि उन पर सत्ताधारी का व्यक्तिगत प्रभाव है, तब इसे करिश्मात्मक सत्ता कहते हैं। इस सत्ता स्थिति में प्रायः कोई प्रत्यायोजन नहीं होता और अधीनस्थ कर्मचारी सत्ताधारी के व्यक्तिगत सेवक के रूप में आचरण करते हैं। अधीनस्थ अनुयायी होते हैं और अपने प्रिय नेता के करिश्माती एवं आदर्शवादी व्यक्तित्व के कारण उसके आदेशों का पालन करते हैं। स्पष्टतया मैक्स वेबर केवल औचित्यपूर्ण सत्ता का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। मैक्स वेबर वतलाता है कि बौद्धिक-कानूनी सत्ता कमजोर एवं भंजनशील होती है। अतः उसे सबलता प्रदान करने के लिए उसमें परम्परागत एवं करिश्माती तत्वों को शामिल किया जाना चाहिए।

संगठनात्मक सत्ता के विभिन्न प्रतिमान
(मैक्स वेबर के आधार पर)

सत्ता का प्रकार	कर्मचारी वर्ग का संगठनात्मक प्रकार	सत्ता प्रयोग की प्रकारात्मक विधि	जिसके प्रति कर्मचारी वर्ग आज्ञापालक है
परम्परागत	सेवक	तदर्थ प्रत्यायोजन	नेता का व्यक्तित्व और परम्परा
बौद्धिक-कानूनी	ब्यूरो/विभाग	बौद्धिक प्रत्यायोजन	कानूनी रूप से स्थापित अव्यक्तिगत व्यवस्था
करिश्मात्मक	व्यक्तिगत कर्मचारी सेवक	प्रत्यक्ष प्रत्यायोजन नहीं	नेता का आदर्शीकृत और चमत्कारिक व्यक्तित्व

संस्थात्मक शक्ति की दृष्टि से सत्ता का विभिन्न प्रकार से प्रयोग किया जाता है और इस सत्ता प्रयोग के आधार पर व्यापक सन्दर्भ में सत्ता के और भी प्रकार हो सकते हैं : (i) क्षेत्रीयता की दृष्टि से राष्ट्रीय, प्रान्तीय और स्थानीय, (ii) अपेक्षाकृत व्यापक सन्दर्भ की दृष्टि से राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय, (iii) संवैधानिक दृष्टि से संविधान से प्राप्त अथवा साधारण कानूनों से प्राप्त, (iv) सरकार के परम्परागत अंगों के आधार पर कार्यपालिका, व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका सम्बन्धी, (v) राजनीतिक दृष्टि से राजनीतिक तथा प्रशासनिक, (vi) संख्यात्मक दृष्टि से एकल, बहुल, निगमनात्मक, आयोगात्मक अथवा मण्डलात्मक तथा (vii) विभिन्न विषयों की दृष्टि से सत्ता आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, तकनीकी, आदि हो सकती है।

सत्ता के ये विभिन्न रूप सत्ता-प्रयोग की दृष्टि से ही बतलाये जा सकते हैं और सत्ता के इन तथाकथित रूपों में परस्पर कोई मूल अन्तर नहीं है।

सत्ता के आधार

सत्ता एक ऐसा स्वतन्त्र परिवर्त्य है जिसका शक्ति, प्रभाव, आदि से घनिष्ठ सम्बन्ध है। सत्ता के अनेक स्रोत एवं आधार होते हैं। सत्ता का मूल आधार तो औचित्यपूर्णता ही है क्योंकि सत्ता के आदेशों का पालन सत्ताधारी और अधीनस्थ के बीच मूल्यों की समानता के आधार पर किया जाता है। इसके अतिरिक्त विश्वास, विचारों की एकरूपता, विभिन्न दण्ड विधान, अधीनस्थों की प्रकृति, पर्यावरणात्मक दबाव, आदि भी सत्ता के आधार रूप में कार्य करते हैं। पर्यावरणात्मक दबाव आन्तरिक और बाहरी दोनों ही रूपों में होते हैं। राजव्यवस्थाओं में आन्तरिक दबाव आन्तरिक राजनीतिक संरचनाओं जैसे, संविधान, प्रशासनिक संगठन, पदानुक्रम में आयोजित विभिन्न पदों तथा इन पदाधिकारियों के अधिकार तथा शक्तियों के रूप में होते हैं। इसके अतिरिक्त सत्ताधारी की कार्यकुशलता और वैयक्तिक गुण भी सत्ता के आधार रूप में कार्य करते हैं। अपने राज्य का भली-भाँति अस्तित्व बनाये रखने की इच्छा, बाहरी दबाव के रूप में सत्ता के आधार का कार्य करती है।

सत्ता को स्वीकार करने के लिए अधीनस्थ के पास एक **'तटस्थता का क्षेत्र'** (Zone of indifference) होता है जिसके अन्तर्गत आने वाले मामलों में वह सत्ता के आदेशों को आँख मींचकर स्वीकार करता है। स्वीकृति का यह क्षेत्र सीमित होता है तथा घटता-बढ़ता रहता है। सामान्यतया अधीनस्थ की यह प्रवृत्ति रहती है कि वह प्रत्येक विषय में प्राधिकारी के आदेशों का पालन करे, क्योंकि ऐसा करने में वह उत्तरदायित्व से बच जाता है। अधीनस्थ की दृष्टि से आवश्यक है कि आदेश समस्त संगठन के लिए हितकारी हों तथा उसके व्यक्तिगत हित में भी हों। वह पुरस्कार, प्रशंसा, लालच या दण्ड के भय से भी आदेशों का पालन कर सकता है। जब सत्ताधारी में कोरी सत्ता के अलावा, नेतृत्व तथा अन्य व्यक्तिगत गुण हों, तब अधीनस्थ के लिए आदेशों का पालन स्वाभाविक हो जाता है। सत्ता की कुशलता उस समय सर्वाधिक हो जाती है जबकि सत्ताधारी और अधीनस्थों के बीच मूल्यों की समानता स्थापित हो जाती है। सत्ता की स्वीकृति का यह क्षेत्र असीमित नहीं होता और न ही अपरिवर्तित रहता है। सत्ताधारी की स्थिति, सत्ताधारी और अधीनस्थ के बीच सम्बन्धों की स्थिति और अन्य तत्वों के आधार पर इसमें कमी और वृद्धि होती रहती है।

सत्ता की सीमाएँ

सत्ता के प्रयोग और परिचालन पर अनेक प्रतिबन्ध होते हैं जिससे उसका मनमाना प्रयोग न किया जा सके। ये प्रतिबन्ध प्राकृतिक, उद्देश्यगत, आन्तरिक, बाहरी और प्रक्रिया सम्बन्धी भी हो सकते हैं। किसी भी राजनीतिक व्यवस्था को यह अधिकार नहीं हो सकता कि वह व्यक्ति को उसके जीवन, सामान्य स्वतन्त्रताओं और सीमित सम्पत्ति से भी वंचित कर दे। यह सत्ता की प्राकृतिक सीमा है। प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था के कुछ निर्धारित और उद्घोषित लक्ष्य होते हैं तथा सत्ता इन लक्ष्यों एवं आदर्शों का उल्लंघन नहीं कर सकती। व्यवस्थाएँ संस्कृति, मूल्यों, परम्पराओं, रूढ़ियों, आदि नैतिक अवधारणाओं से वँधी रहती हैं तथा उन्हें संवैधानिक कानूनों एवं राजनीतिक परिस्थितियों में रहकर कार्य करना होता है। प्रत्येक व्यवस्था कुशल कार्य-संचालन के लिए अनेक नियम एवं उपनियम वना लेती है। साथ ही कार्य की सुगमता के लिए योजनाएँ एवं नीतियाँ निर्धारित की जाती हैं, ये नियम-उपनियम, नीतियाँ एवं योजनाएँ सत्ता की सीमाएँ निर्धारित करते हैं।

इसके अतिरिक्त विभिन्न व्यवस्थाओं में प्रायः उनमें कार्य करने वाले कर्मचारी अपने निजी हितों की वृद्धि के लिए संघ, आदि बनाकर सामूहिक सौदेवाजी करते हैं, यह स्थिति भी सत्ता पर अवरोध लगा देती है। इसके अतिरिक्त वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के अस्तित्व और कानूनों की आंशिक मान्यता ने भी सत्ता पर सीमाएँ लगा दी हैं। इन सबके अतिरिक्त सत्ता का प्रयोग मनुष्यों द्वारा होता है और मानव क्षमताएँ सीमित होने के नाते भी सत्ता की सीमाएँ स्थापित हो जाती हैं।

राजनीतिक चिन्तन की सार्थकता सत्ता को सामर्थ्य प्रदान करने तथा साथ-ही-साथ उस पर सीमाएँ लगाने में ही है, जिससे सत्ता की जनहितकारिणी स्थिति बनी रहे।

प्रभाव
(INFLUENCE)

प्रभाव का महत्व

रॉबर्ट डहल के अनुसार, राजनीतिक विश्लेषण में शक्ति और प्रभाव केन्द्रीय अवधारणाएँ हैं न केवल क्रियात्मक राजनीति वरन् सामान्य सामाजिक जीवन में भी प्रभाव बहुत अधिक महत्वपूर्ण तत्व है। व्यावहारिक जीवन का एक तथ्य यह है कि मानव की सांस्कृतिक प्रगति के साथ-साथ शक्ति की तुलना में प्रभाव का महत्व निरन्तर बढ़ता जा रहा है। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि आज की सर्वाधिक लोकप्रिय शासन-व्यवस्था लोकतन्त्र का रथ तो प्रभाव के घोड़े ही खींचते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में भी प्रभाव की भूमिका निरन्तर वढ़ती जा रही है। प्रत्येक व्यक्ति, समुदाय, समूह या संस्था अपना प्रभाव वढ़ाने में लगी रहती है। सभी अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। सभी यह जानना चाहते हैं कि दूसरों की तुलना में उनका प्रभाव कितना है, कौन सवसे अधिक प्रभावशाली है, वे अपने प्रभाव को कब और कैसे बढ़ा सकते हैं, आदि।

राजनीतिक नेताओं और उम्मीदवारों, आदि के लिए तो प्रभाव जीवन-मरण का प्रश्न है। स्वयं अपने और विपक्षियों के प्रभाव का सही-सही मूल्यांकन न कर पाने पर राजनीतिक नेताओं के राजनीतिक जीवन की इतिश्री हो जाती है। वस्तुतः प्रभाव का आकलन एक समस्या है और राजनीति विज्ञान में प्रभाव का मूल्यांकन करने के लिए अब तक किसी समुचित उपागम, सिद्धान्त या विचारबन्ध का विकास नहीं हो पाया है।

प्रभाव : अर्थ और व्याख्या

प्रभाव के अर्थ के सम्बन्ध में राजवेत्ता एकमत नहीं हैं। विभिन्न व्यक्तियों, गुटों, समुदायों, संस्थाओं तथा राज्यों के बीच विद्यमान अन्तर्सम्बन्ध को प्रभाव की संज्ञा दी जाती है। रॉबर्ट ए. डहल के अनुसार, **"विभिन्न कर्ताओं के मध्य व्याप्त सम्बन्ध ही प्रभाव है जिसमें एक कर्ता दूसरे कर्ताओं को ऐसा कुछ करने के लिए प्रेरित करता है जैसा वह पहले नहीं करते थे।"** **ब्रचाश** की मान्यता है कि कोई व्यक्ति किसी विशिष्ट क्षेत्र में उस सीमा तक दूसरे पर प्रभाव रखता है कि वह व्यक्ति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष ढंग से, बिना किसी उग्र रूप से वंचित करने की धमकी दिये, उसको अपना कार्य या कार्य करने का ढंग बदलने के लिए विवश कर दे। **लासवेल** ने भी प्रभाव की इसी प्रकार से व्याख्या की है। इस विवेचना के आधार पर प्रभाव वह क्षमता है जिसके

माध्यम से बिना बल प्रयोग किये दूसरों के व्यवहार को बदला जा सके। यह सर्वमान्य विचार है कि प्रभाव में बल प्रयोग एवं दमन की प्रवृत्तियाँ नहीं होती हैं।

प्रभाव की प्रकृति

रोवे के अनुसार, राजनीतिक जीवन का एक तथ्य यह है कि प्रभाव सर्वत्र असमान रूप से बँटा हुआ होता है। रोवे ने राजनीतिक प्रभाव की असमानता का विशेष रूप से उल्लेख किया है। व्यवहार के अन्तर्गत सामान्यतया विशाल जनसंख्या का प्रभाव कम हो सकता है, जबकि अल्पसंख्यक अभिजन अधिक प्रभावशाली होते हैं। यह स्थिति विकसित और विकासशील दोनों ही श्रेणी के देशों में देखी जा सकती है, यद्यपि विकासशील देशों में अभिजन की प्रभावशीलता अधिक होती है।

अरस्तू, रूसो, मार्क्स, आदि अनेक राजनीतिक विचारकों ने अपने-अपने ढंग से राजनीतिक प्रभाव के असमान वितरण की विवेचना की है। अरस्तू इस सम्बन्ध में शिक्षा-दीक्षा को अधिक महत्वपूर्ण तत्व मानता है, लेकिन मार्क्स के अनुसार राजनीतिक प्रभाव आर्थिक शक्ति अर्थात् सम्पत्ति का अनुगमन करता है। समाज में जिन व्यक्तियों का उत्पादन के साधनों पर अधिकार होता है, उन्हें अधिक आर्थिक शक्ति प्राप्त होती है और उन्हें ही अधिक राजनीतिक प्रभाव भी प्राप्त हो जाता है।

रोवे के अनुसार, राजनीतिक प्रभाव के स्रोत हैं : सम्पत्ति, शिक्षा, महत्वपूर्ण सूचनाएँ, स्वास्थ्य, व्यक्तिगत आकर्षण और कुशलता, आदि। राजनीतिक प्रभाव की असमानता के प्रमुख कारण निम्न हैं :

(1) राजनीतिक साधनों का भेद—राजनीतिक प्रभाव की प्राप्ति राजनीतिक साधनों पर निर्भर करती है। जीवन में कुछ लोगों को उत्तराधिकार में ही महत्वपूर्ण साधन, सम्पत्ति, ख्यातिप्राप्त कुल, आदि प्राप्त हो जाते हैं, लेकिन कुछ व्यक्ति इनसे वंचित रहते हैं। एक निश्चित आयु के बाद व्यक्ति सामान्य साधन और राजनीतिक साधन जुटाने की प्रक्रिया में लगते हैं। इस प्रक्रिया में कुछ आगे निकल जाते हैं, कुछ सामान्य प्रगति कर पाते हैं जबकि कुछ बहुत पीछे रह जाते हैं। स्वाभाविक रूप से जो व्यक्ति अधिक राजनीतिक साधन जुटा लेते हैं, उन्हें ही अधिक राजनीतिक प्रभाव प्राप्त हो जाता है। राजनीतिक साधनों पर असमान नियन्त्रण राजनीतिक प्रभाव की असमानता का सबसे प्रमुख कारण है।

(2) कार्यों का विशेषीकरण—प्रत्येक समाज में कार्यों का विशेषीकरण होता है और कुछ लोग विशेष कार्यों के सम्बन्ध में अधिक ज्ञान और कुशलता रखते हैं तथा विशेष प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं। दूसरी ओर अन्य कुछ कार्य कम महत्वपूर्ण होते हैं। यदि अन्य बातें समान हों तो जो व्यक्ति अपना सामान्य व्यवसाय करते हुए अधिक संख्या में व्यक्तियों के सम्पर्क में आते हैं और समाज में अधिक महत्वपूर्ण कार्य करते हैं, स्वाभाविक रूप से उन्हें राजनीतिक प्रभाव की प्राप्ति हो जाती है। सभी देशों में वकील और पत्रकार अन्य व्यक्तियों की तुलना में राजनीतिक प्रभाव की दृष्टि से लाभकारी स्थिति में देखे गये हैं।

(3) लक्ष्यों और अभिप्रेरणाओं का भेद—व्यक्तियों के लक्ष्य और अभिप्रेरणाएँ भी अलग-अलग होती हैं। यदि व्यक्तियों को समुचित साधन जुटा दिये जायें, तो भी अनेक कर्ता उसका उपयोग राजनीतिक प्रभाव की प्राप्ति के लिए करते हैं, जबकि अन्य कुछ अपने आपको सम्पत्ति जुटाने तक सीमित कर लेते हैं। राजनीतिक व्यवस्था में कुछ लोग सरकार के द्वारा अपनाई और लागू की जाने वाली नीतियों, नियमों तथा विनियमों पर विशेष प्रभाव रखने का प्रयास करते हैं। दूसरे शब्दों में, वे राजनीतिक प्रभाव प्राप्त करने की चेष्टा में लगे रहते हैं और राजनीतिक प्रभाव के क्षेत्र में उनके आगे बढ़ने की सम्भावना अधिक रहती है। इसके अतिरिक्त, कुछ व्यक्ति प्रत्यक्ष राजनीतिक प्रभाव प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं, लेकिन कुछ व्यक्ति प्रत्यक्ष प्रभाव प्राप्त करने के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों को देखकर या अन्य कारणों से अपने आपको परोक्ष प्रभाव तक सीमित कर लेते हैं।

(4) कार्यकुशलता का भेद—विभिन्न व्यक्ति जो अपने साधनों के आधार पर राजनीतिक प्रभाव प्राप्त करने की चेष्टा में लगे रहते हैं, उनमें राजनीतिक साधनों का प्रयोग करने की कुशलता में भी विभिन्नता होती है। आवश्यक साधन जुटा लेने पर भी, कुछ कर्ता दूसरों की तुलना में उनका प्रयोग अधिक कुशलतापूर्वक तथा प्रभावपूर्ण ढंग से कर लेते हैं। राजनीतिक प्रभाव के क्षेत्र में सहायकों की कुशलता एवं उन्हें प्राप्त साधनों का भी महत्वपूर्ण स्थान होता है। इस सम्बन्ध में एक तथ्य यह है कि अधिक कार्यकुशल व्यक्ति ही अधिक क्षमतावान् और साधन-सम्पन्न सहायक जुटाने में सफल रहते हैं।

वर्तमान और वास्तविक प्रभाव बनाम सम्भावित प्रभाव—वर्तमान अथवा वास्तविक प्रभाव, प्रभाव के क्षेत्र में वस्तुतः विद्यमान वर्तमान स्थिति का नाम है, जबकि सम्भावित प्रभाव के अन्तर्गत भविष्य की सम्भावनाओं का अध्ययन किया जाता है। प्रभावक का वर्तमान प्रभाव उसके सम्भावित प्रभाव से भिन्न हो सकता है। अवसर पाते ही एक साधारण व्यक्ति नेता बन सकता है। ऐसा हो सकता है कि कोई व्यक्ति राष्ट्रीय अथवा राज्य स्तर पर वर्तमान समय में राजनीतिक प्रभाव न रखता हो, लेकिन उसके पास जो साधन हैं और अपने साधनों को वर्तमान समय में वह जो दिशा प्रदान कर रहा है, उनके आधार पर उसके भविष्य में अधिक प्रभावी होने की सम्भावनाएँ दिखाई दे सकती हैं। इसी प्रकार किसी औद्योगिक क्षेत्र में वर्तमान समय में एक विशेष मजदूर संघ अधिक प्रभावी हो सकता है, लेकिन भविष्य में किसी अन्य मजदूर संघ के प्रभावी होने की सम्भावनाएँ हो सकती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में आज अमरीका और रूस महाशक्तियाँ हैं, जबकि चीन और भारत को सम्भावित महाशक्तियाँ समझा जाता है।

वर्तमान प्रभावधारी और सम्भावित प्रभावधारी उस समय विशेष रूप से अलग-अलग हो जाते हैं जबकि वर्तमान प्रभावधारी को निरन्तर सफलताएँ प्राप्त न हो रही हों, सम्भावित प्रभावधारी के पास भी पर्याप्त साधन हों और सम्भावित प्रभावधारी द्वारा वर्तमान प्रभावधारी को गम्भीर चुनौती दी जा रही हो। दिसम्बर, 1982 में आन्ध्र की राजनीति में एन. टी. रामाराव और उनका दल 'तेलगू देशम' सम्भावित प्रभावधारी का ही उदाहरण है। राजनीति में वास्तविक एवं वर्तमान प्रभाव तो महत्वपूर्ण है ही, लेकिन सम्भावित प्रभाव भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। भविष्य की राजनीतिक स्थिति की कल्पना सम्भावित प्रभाव के सन्दर्भ में ही की जा सकती है।

प्रभाव मापन की समस्या

प्रभाव के स्रोत प्रायः गुप्त, जटिल एवं अस्पष्ट होते हैं। अतः प्रभाव का मापन प्रायः एक कठिन समस्या बन जाता है, लेकिन लोकतन्त्र खुली राजनीतिक प्रतियोगिता और प्रभाव पर आधारित शासन-व्यवस्था होने के कारण प्रभाव का मापन आवश्यक हो जाता है। प्रभाव व्यक्तियों, समूहों, संघों, आदि के बीच में एक सम्बन्ध है। इनके बीच में स्थापित प्रभाव के सम्बन्ध को तथा उसकी दिशा एवं अस्तित्व को जाना जा सकता है। लोकतन्त्र में सदैव ही यह जानना आवश्यक होता है कि विशिष्ट राजनेताओं और सामान्य नागरिकों के बीच प्रभाव की स्थिति क्या है। राजनीति विज्ञान के जनक अरस्तू ने भी जब राजनीतिक व्यवस्थाओं का वर्गीकरण संख्यात्मक आधार पर किया, तब इस वर्गीकरण के आधार पर उसका आशय यह जानना था कि उस राजव्यवस्था में एक व्यक्ति का प्रभाव है, अल्पसंख्या का प्रभाव है या बहुमत का प्रभाव। राजनीतिक विश्लेषण में प्रभाव का तुलनात्मक अध्ययन सदैव ही महत्वपूर्ण होता है।

रॉबर्ट डहल ने प्रभाव की एक सामान्य परिभाषा दी है जो तुलना की सम्भावनाओं को बताती है। यदि 'ए' 'बी' को प्रभावित करता है और उसकी मात्रा 'एक्स' है तो हम 'ए' का 'बी' पर 'एक्स—1' प्रभाव कहेंगे। यदि प्रभाव की मात्रा 'एक्स—2' है तो हम कहेंगे कि प्रभाव की मात्रा अधिक बढ़ गयी है। इसी आधार पर सभी प्रभावों की तुलना की जा सकती है।

डहल के अनुसार, प्रभाव मापन और इस प्रसंग में तुलना का कार्य निम्नलिखित आधार पर किया जा सकता है :

(1) प्रभावित व्यक्तियों की स्थिति में परिवर्तन की मात्रा का ज्ञान प्राप्त किया जाना चाहिए। इसके अन्तर्गत यह मालूम किया जाता है कि विभिन्न प्रभावित व्यक्तियों की प्रारम्भिक स्थिति क्या थी तथा बाद में उसमें क्या और कितना अन्तर आया।

(2) प्रभाव की मात्रा को उसके अनुपालन में खर्च की जाने वाली मनोवैज्ञानिक कीमत की दृष्टि से भी ज्ञात किया जा सकता है। जब कोई हड़ताल होती है तब हड़ताल में भाग लेने वाले सभी कर्मचारियों की मानसिक प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न होती है।

(3) यह मालूम किया जा सकता है कि विभिन्न व्यक्तियों में कार्यपालन की सम्भावना की कितनी मात्रा है। व्यवस्थापिकाओं में किसी विधेयक पर प्राप्त होने वाले पक्ष और विपक्ष में मतों का अनुमान इसी प्रकार लगाया जाता है।

(4) अनेक वार अनुक्रियाओं के विस्तार की भिन्नता से प्रभाव का अनुमान लगाया जाता है। जैसे, चुनावों में खड़े होने वाले विभिन्न उम्मीदवार जितनी संख्याओं में मत प्राप्त करते हैं, उनकी संख्याओं को उनके निर्वाचन क्षेत्र में पाये जाने वाले प्रभाव के रूप में देखा जा सकता है।

(5) प्रभावित होने वाले व्यक्तियों की संख्या के आधार पर प्रभाव का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। चुनावों के समय अमरीकी राष्ट्रपति, ब्रिटिश अथवा भारतीय दलों की विजय-पराजय की भविष्यवाणियाँ इन्हीं आधारों पर की जाती हैं।

रॉबर्ट डहल ने प्रभाव मापन के प्रसंग में कुछ सावधानियाँ बरते जाने का निर्देश भी दिया है :

(i) सापेक्ष प्रभाव को निश्चित करने के लिए जितने मापन सम्भव हों, उनके लिए सभी सूचनाएँ एकत्रित की जायें। (ii) उपलब्ध सूचना के अनुसार तुलनात्मक विधि अपनायी जाये। (iii) स्पष्टता और सूक्ष्मता के लिए एक विचार चित्र (Puradigun) सम्मुख रखा जाय। (iv) अधिक प्रामाणिक सूचनाएँ प्राप्त होने पर वर्तमान मापन को छोड़ देने के लिए तैयार रहना चाहिए।

वस्तुतः प्रभाव-सिद्धान्त की दिशा में अनेक कठिनाइयाँ हैं। ये स्वरूप-निर्धारण से लेकर इकाई-परिसीमन, विश्लेषण, सत्यापन, तुलना, परिचालन और मापन तक फैली हुई हैं। इन कठिनाइयों और समस्याओं के कारण प्रभाव सिद्धान्त विकसित करने के लिए बहुत थोड़े राज-वैज्ञानिकों ने प्रयास किया है। ये भी लघुस्तरीय एवं सीमित प्रयास ही माने जा सकते हैं।

प्रभाव और सत्ता

सामान्य वोलचाल और व्यवहार में प्रायः प्रभाव और सत्ता को पर्यायवाची मान लिया जाता है, परन्तु राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत इन दोनों शब्दों में महत्वपूर्ण अन्तर है। प्रभाव को एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया जा सकता है जो अनिवार्यतया सम्बन्धात्मक होती है और जिसमें अनेक तत्व विद्यमान होते हैं। प्रभाव एक ऐसी उपलब्धि है, जिसमें निश्चितता, स्थिरता और स्थायित्व के तत्व का सदैव ही अभाव होता है। प्रभाव औपचारिक या सीमित नहीं होता। प्रभाव का उदय संगत तथा सम्बद्ध सूचनाओं के आधार पर होता है। एक व्यक्ति द्वारा अन्य को प्रभावित करने की चेष्टा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से की जा सकती है। प्रभावित करने की इस चेष्टा के अन्तर्गत वाद-विवाद, अनुनय-विनय, प्रचार और व्यक्तिगत प्रभाव, आदि का सहारा लिया जाता है। कई बार यह समस्त प्रक्रिया ऐसे रूप में सम्पन्न होती है कि प्रभावित को शायद पता ही न पड़े कि वह प्रभावित हो रहा है। प्रभाव एक सम्बन्धात्मक प्रक्रिया है और उसमें प्रभावक तथा प्रभावित के मध्य अनेक तत्व विद्यमान रहते हैं; जैसे, समान मूल्य, वातावरण, शैली, प्रभावक एवं प्रभावित का व्यक्तित्व, आवश्यकताएँ, तात्कालिक लक्षण, आदि। राजनीतिक नेता अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए प्रभाव का विस्तार करने के प्रयत्नों में लगे रहते हैं और इस हेतु उनके द्वारा विभिन्न परिस्थितियों में अलग-अलग शैलियाँ तथा साधन अपनाये जाते हैं। राजनेता जानते हैं कि प्रभाव एक अत्यन्त गतिशील, परिवर्तनशील और अनिश्चित स्थिति है, इसलिए वे अपने प्रभाव को सत्ता में परिणत करने के प्रयासों में लगे रहते हैं। **डहल** इसी स्थिति को लक्ष्य करते हुए लिखते हैं कि **"सत्ता सर्वाधिक कार्यक्षम प्रभाव का रूप है।"**

ब्रेख्त के अनुसार, सत्ता के लिए अधिकारी-अधीनस्थ सम्बन्धों की स्थिति आवश्यक है। सामान्यतया अधीनस्थ बिना किसी आलोचना, सोच-विचार, वाद-विवाद, तर्क या अपनी ओर से बुद्धि का प्रयोग किये बिना अधिकारी के आदेशों को अपने आचरण का आधार बना लेता है। सत्ता संस्थाकृत होने के कारण अधीनस्थों के व्यवहार और आचरण में घुल-मिल जाती है। वह स्वीकृत, निश्चित, औपचारिक, वस्तुपरक तथा शीघ्र प्रभावशील होती है। सत्ता प्रायः पद, प्रस्थिति, संगठन, आदि के साथ विभिन्न स्तरों पर स्थापित रहती है। यही कारण है कि राजनेता अपने प्रभाव को सत्तापूर्ण बनाकर आश्वस्त हो जाते हैं। सत्ता अनेक बार बिना किसी योग्यता, सामर्थ्य और प्रभाव के भी रहती है और रह सकती है। अनेक उदाहरणों में एक साधारण, अप्रतिभाशाली, अप्रभावशील और यहाँ तक कि अयोग्य व्यक्ति भी सत्ता पद पर स्थित होकर सैकड़ों-हजारों व्यक्तियों को आदेश-निर्देश देता है और उनका पालन किया जाता है। इस कारण सत्ता को सामान्यतया एक स्वतन्त्र कारक माना गया है, किन्तु यह स्थिति बहुत लम्बे समय तक नहीं रह पाती। सत्ता तभी तक रहती है जब तक कि अधीनस्थों के द्वारा उसे स्वीकार किया जाय तथा यदि सत्ता के साथ प्रभाव जुड़ा हुआ नहीं है, तो लम्बे समय तक अधीनस्थ उसे स्वीकार नहीं कर सकते। लोकतान्त्रिक व्यवस्था के अन्तर्गत सत्तारूढ़ व्यक्तियों को चुनाव

में पराजित हो जाने पर सत्ता से अलग होना पड़ता है और सैनिक तन्त्र या तानाशाही के अन्य किसी रूप में उन्हें विद्रोह की स्थिति का सामना करना पड़ता है। साधारण परिस्थितियों में भी प्रभाव के विना सत्ता निष्क्रिय बनी रहती है।

वस्तुतः सत्ता दूसरों के व्यवहार को प्रभावित करने के अनेक उपायों में से एक है। जब अन्य उपाय शक्ति, प्रभाव और अनुशास्तियाँ (Sanctions), आदि सत्ताधारी के साथ संयुक्त होते हैं, तब सत्ताधारी के आदेशों की अवहेलना का प्रश्न ही नहीं उठता, लेकिन जब अन्य उपाय सत्ताधारी से अलग हो जाते हैं, तव सत्ताधारी के लिए अपने आदेशों का पालन कराना कठिन और कालान्तर में असम्भव हो जाता है। लोकतन्त्र में तो लम्बे समय की दृष्टि से सत्ता की तुलना में प्रभाव अधिक महत्वपूर्ण होता है। चाहे लोकतान्त्रिक शासन-व्यवस्था हो या शासन-व्यवस्था का अन्य कोई रूप, सत्ताधारी द्वारा सत्ता की सीमाओं को भली-भाँति समझ लिया जाना चाहिए। जब सत्ताधारी इन सीमाओं को नहीं समझ पाता, तब उसे विद्रोह और विनाश की स्थिति का सामना करना पड़ता है।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. शक्ति की धारणा की व्याख्या कीजिए। इसे आप प्रभाव (Influence) और सत्ता (Authority) से किस प्रकार पृथक् कर सकते हैं?
2. शक्ति का वल से क्या सम्बन्ध है? शक्ति की धारणा भौतिक बल से किस प्रकार व्यापक है?
3. किन परिस्थितियों में शक्ति राजनीतिक रूप ग्रहण कर लेती है? राजनीतिक शक्ति का सैनिक शक्ति से भेद स्पष्ट कीजिए।
4. शक्ति और सत्ता की परिभाषा करते हुए इन दोनों में अन्तर तथा सम्बन्ध स्पष्ट कीजिए।
5. शक्ति की धारणा को 'सापेक्षिक' (Relational) क्यों समझा जाता है? सापेक्षिक शक्ति की धारणा परम्परागत धारणा से किस प्रकार भिन्न है?
6. सत्ता की अवधारणा स्पष्ट कीजिए। सत्ता की प्रकृति के विषय में प्रो. बीच द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए।
7. सत्ता के स्रोत या प्रकारों का वर्णन कीजिए। सत्ता के आधार और सीमाएँ वतलाइए।
8. 'प्रभाव' से आप क्या समझते हैं? प्रभाव की प्रकृति का वर्णन कीजिए।
9. वर्तमान और वास्तविक प्रभाव बनाम 'सम्भावित प्रभाव' पर प्रकाश डालिए। 'प्रभाव मापन की समस्या' का वर्णन कीजिए।
10. प्रभाव और सत्ता में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

9

अधिकार और कर्तव्य

(RIGHTS AND DUTIES)

"स्वभावतः सब मनुष्य समान रूप से उन्मुक्त तथा स्वाधीन हैं और उनके कुछ जन्मजात अधिकार हैं जिन्हें मनुष्य स्वयं अपने जीवन अथवा अपनी सन्तानों से पृथक् नहीं कर सकते यथा जीवन और स्वतन्त्रता के अधिकारों का उपभोग, सम्पत्ति के अर्जन और सुखी जीवन के साधन के अधिकार।"[1]

—थॉमस जैफरसन

अधिकार हमारे सामाजिक जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएँ हैं जिनके बिना न तो व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है और न ही समाज के लिए उपयोगी कार्य कर सकता है। वस्तुतः अधिकारों के बिना मानव जीवन के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती है। इस कारण वर्तमान समय में प्रत्येक राज्य के द्वारा अधिकाधिक विस्तृत अधिकार प्रदान किये जाते हैं और लॉस्की के शब्दों में कहा जा सकता है कि "एक राज्य अपने नागरिकों को जिस प्रकार के अधिकार प्रदान करता है उन्हीं के आधार पर राज्य को अच्छा या बुरा कहा जा सकता है।"[2]

अधिकार का अर्थ और परिभाषा

प्रकृति के द्वारा मनुष्य को विभिन्न प्रकार की शक्तियाँ प्रदान की गयी हैं, लेकिन इन शक्तियों का स्वयं अपने और समाज के हित में उचित रूप से प्रयोग करने के लिए कुछ बाहरी सुविधाओं की आवश्यकता होती है। राज्य का सर्वोत्तम लक्ष्य व्यक्ति के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास है, इस प्रकार राज्य के द्वारा व्यक्ति को ये सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं और राज्य के द्वारा व्यक्ति को प्रदान की जाने वाली इन बाहरी सुविधाओं का नाम ही अधिकार है।

अधिकार का अभिप्राय राज्य द्वारा व्यक्ति को दी गयी कुछ कार्य करने की स्वतन्त्रता या सकारात्मक सुविधा प्रदान करना है जिससे व्यक्ति अपनी शारीरिक, मानसिक एवं नैतिक शक्तियों का पूर्ण विकास कर सके। प्रमुख विद्वानों द्वारा अधिकार की निम्नलिखित शब्दों में परिभाषाएँ की गयी हैं :

लॉस्की के अनुसार, "अधिकार सामाजिक जीवन की वे परिस्थितियाँ हैं जिनके अभाव में सामान्यतया कोई भी व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर पाता है।"[3]

वाइल्ड के अनुसार, "अधिकार कुछ विशेष कार्यों को करने की स्वाधीनता की उचित माँग है।"[4]

हालैण्ड के अनुसार, "व्यक्ति द्वारा अन्य व्यक्तियों के कार्यों को, स्वयं अपनी शक्ति से नहीं वरन समाज के बल पर प्रभावित करने की क्षमता को अधिकार कहते हैं।"[5]

बोसांके के अनुसार, "अधिकार वह माँग है जिसे समाज स्वीकार करता और राज्य लागू करता है।"[6]

1 "We hold these truths to be self-evident that men are created equal, that they are endowed by their creator with certain inalienable rights, that among these are life, liberty and pursuit of happiness." —*Thomas Jefferson*

2 "Every state is known by the rights, that is maintains." —*Laski*

3 "Rights are those conditions of social life, without which no man can seek in general to be himself at his best." —*Laski*

4 "A right is a reasonable claim to the exercise of certain activities." —*Wilde*

5 "A right is one man's capacity of influencing the act of other's not by his own strength but by the strength of society." —*Holland*

6 "A right is a claim, recognized by the society and enforced by the state." —*Bosanquet*

भारतीय विद्वान श्रीनिवास शास्त्री के अनुसार, **"अधिकार समुदाय के कानून द्वारा स्वीकृत वह व्यवस्था, नियम या रीति है जो नागरिक के सर्वोच्च नैतिक कल्याण में सहायक हो।"**[1]

अधिकार के आवश्यक लक्षण

लॉस्की, वाइल्ड और श्रीनिवास शास्त्री ने अधिकार की जो परिभाषाएँ दी हैं उन परिभाषाओं और अधिकार की सामान्य धारणा के आधार पर अधिकार के निम्नलिखित आवश्यक लक्षण कहे जा सकते हैं :

(1) सामाजिक स्वरूप—अधिकार का सर्वप्रथम लक्षण यह है कि अधिकार के लिए सामाजिक स्वीकृति आवश्यक है, सामाजिक स्वीकृति के अभाव में व्यक्ति जिन शक्तियों का उपभोग करता है वे उसके अधिकार न होकर प्राकृतिक शक्तियाँ हैं। अधिकार तो राज्य द्वारा नागरिकों को प्रदान की गयी स्वतन्त्रता और सुविधा का नाम है और इस स्वतन्त्रता एवं सुविधा की आवश्यकता तथा उपभोग समाज में ही सम्भव है। शून्य में व्यक्ति के कोई अधिकार नहीं हो सकते, रॉविन्सन, क्रूसो जैसे व्यक्ति को निर्जन टापू में कोई अधिकार प्राप्त नहीं थे। इसके अतिरिक्त, राज्य के द्वारा व्यक्ति को जिस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अधिकार प्रदान किये जाते हैं, उसकी सिद्धि समाज में ही सम्भव है। इस दृष्टि से भी अधिकार समाजगत ही होते हैं।

(2) कल्याणकारी स्वरूप—अधिकारों का सम्बन्ध आवश्यक रूप से व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास से होता है। इस कारण अधिकार के रूप में केवल वे ही स्वतन्त्रताएँ और सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं जो व्यक्तित्व के विकास हेतु आवश्यक या सहायक हों। व्यक्ति को कभी भी वे अधिकार नहीं दिये जा सकते जो व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में बाधक हों। इसी कारण मद्यपान, जुआ खेलना या आत्महत्या अधिकार के अन्तर्गत नहीं आता है।

(3) लोकहित में प्रयोग—व्यक्ति को अधिकार उसके स्वयं के व्यक्तित्व के विकास और सम्पूर्ण समाज के सामूहिक हित के लिए प्रदान किये जाते हैं। अतः यह आवश्यक होता है कि अधिकारों का प्रयोग किस प्रकार किया जाय कि व्यक्ति की स्वयं की उन्नति के साथ-साथ सम्पूर्ण समाज की भी उन्नति हो। यदि कोई व्यक्ति अधिकार का इस प्रकार से उपयोग करता है कि अन्य व्यक्तियों या सम्पूर्ण समाज के हित साधन में वाधा पहुँचती है तो व्यक्ति के अधिकारों को सीमित किया जा सकता है।

(4) राज्य का संरक्षण—अधिकार का एक आवश्यक लक्षण यह भी है कि उसकी रक्षा का दायित्व राज्य अपने ऊपर लेता है और इस सम्बन्ध में राज्य आवश्यक व्यवस्था भी करता है। उदाहरणार्थ, व्यक्ति को रोजगार प्राप्त होना चाहिए, यह बात व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक है और समाज भी इसे स्वीकार करता है, लेकिन राज्य जब तक आवश्यक संरक्षण की व्यवस्था न करे, उस समय तक पारिभाषिक अर्थ में इसे अधिकार नहीं कहा जा सकता है।

(5) सार्वभौमिकता या सर्वव्यापकता—अधिकार का एक अन्य लक्षण यह भी है कि अधिकार समाज के सभी व्यक्तियों को समान रूप से प्रदान किये जाते हैं और इस सम्बन्ध में जाति, धर्म, लिंग और वर्ण के आधार पर कोई भेद नहीं किया जाता है।

अधिकार के उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर सामान्य शब्दों में अधिकार को परिभाषित करते हुए कहा जा सकता है कि **"अधिकार समाज के सभी व्यक्तियों के व्यक्तित्व के उच्चतम विकास हेतु आवश्यक वे सामान्य सामाजिक परिस्थितियाँ हैं जिन्हें समाज स्वीकार करता है और राज्य लागू करने की व्यवस्था करता है।"**

अधिकारों का वर्गीकरण
(CLASSIFICATION OF RIGHTS)

साधारणतया अधिकार दो प्रकार के होते हैं—(1) नैतिक अधिकार, और (2) कानूनी अधिकार।

(1) नैतिक अधिकार (Moral Rights)—**नैतिक अधिकार वे अधिकार होते हैं जिनका सम्बन्ध मानव के नैतिक आचरण से होता है।** अनेक विचारकों के द्वारा इन्हें अधिकार के रूप में ही स्वीकार नहीं किया जाता है, क्योंकि वे अधिकार राज्य द्वारा रक्षित नहीं होते हैं। इन्हें धर्मशास्त्र, जनमत या आत्मिक चेतना द्वारा स्वीकृत किया जाता है और राज्य के कानूनों से इनका कोई सम्बन्ध नहीं होता।

---

1 **In its essence a right is an arrangement, rule or proctice sanctioned by the law of the community and conducive to the highest moral good of the citizen."**
—*Shriniwas Shastri*

(2) कानूनी अधिकार (Legal Rights)—ये वे अधिकार हैं जिनकी व्यवस्था राज्य द्वारा की जाती है और जिनका उल्लंघन कानून से दण्डनीय होता है। कानून का संरक्षण प्राप्त होने के कारण इन अधिकारों को लागू करने के लिए राज्य द्वारा आवश्यक कार्यवाही की जाती है। लीकॉक ने इन अधिकारों की परिभाषा करते हुए कहा है कि **"कानूनी अधिकार वे विशेषाधिकार हैं जो एक नागरिक को अन्य नागरिकों के विरुद्ध प्राप्त होते हैं तथा जो राज्य की सर्वोच्च शक्ति द्वारा प्रदान किये जाते हैं और रक्षित होते हैं।"**

कानूनी अधिकार के दो भेद किये जा सकते हैं—(I) सामाजिक या नागरिक अधिकार, (II) राजनीतिक अधिकार।

(I) सामाजिक या नागरिक अधिकार (Social or Civil Rights)

प्रमुख सामाजिक या नागरिक अधिकार निम्नलिखित हैं :

(1) जीवन का अधिकार—मानव के सभी अधिकारों में जीवन का अधिकार सबसे अधिक मौलिक व आधारभूत अधिकार है, क्योंकि इस अधिकार के बिना अन्य किसी भी अधिकार की कल्पना नहीं की जा सकती है। ज़ीवन के अधिकार का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को जीवित रहने का अधिकार है और राज्य इस बात की व्यवस्था करेगा कि कोई दूसरा व्यक्ति या राज्य व्यक्ति के जीवन का अन्त न कर सके।

जीवन के अधिकार के अन्तर्गत ही आत्मरक्षा का अधिकार भी निहित है, इसका तात्पर्य यह है कि यदि किसी व्यक्ति के जीवन पर आघात किया जाता है तो सम्बन्धित व्यक्ति अपनी आत्मरक्षा के लिए आवश्यक कार्यवाही कर सकता है और आत्मरक्षा के निमित्त की गयी यह कार्यवाही अपराध की श्रेणी में नहीं आती है।

प्रत्येक व्यक्ति समाज का एक आवश्यक अंग होता है और व्यक्ति का जीवन स्वयं अपने-अपने साथ-साथ सम्पूर्ण समाज की सम्पत्ति होती है, इसलिए जीवन के अधिकार में यह बात भी सम्मिलित है कि कोई व्यक्ति स्वयं अपने जीवन का भी अन्त नहीं कर सकता है। अतः आत्महत्या एक दण्डनीय अपराध है। सैण्ट थॉमस एक्वीनास के शब्दों में, **"आत्महत्या स्वयं अपने प्रति, समाज के प्रति और ईश्वर के प्रति एक अपराध है।"**[1]

(2) समानता का अधिकार—समानता का अधिकार एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अधिकार है और इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक क्षेत्र में व्यक्ति को व्यक्ति होने के नाते सम्मान और महत्व प्राप्त होना चाहिए और जाति, धर्म व आर्थिक स्थिति के भेद के बिना सभी व्यक्तियों को अपने जीवन का विकास करने के लिए समान सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिए। समानता का अधिकार प्रजातन्त्र की आत्मा है और इसके निम्न भेद हैं :

(क) राजनीतिक समानता का अधिकार—इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यतानुसार बिना किसी पक्षपात के देश के शासन में भाग लेने का अवसर प्राप्त होना चाहिए। इस राजनीतिक समानता की प्राप्ति प्रजातन्त्रात्मक शासन की स्थापना और वयस्क मताधिकार की व्यवस्था द्वारा ही सम्भव है। इसी में यह बात भी शामिल है कि न्याय और कानून की दृष्टि से भी सभी व्यक्ति समान समझे जाने चाहिए।

(ख) सामाजिक समानता का अधिकार—इसका तात्पर्य यह है कि समाज में धर्म, जाति, भाषा, सम्पत्ति, वर्ण या लिंग के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए और व्यक्ति होने के नाते ही समाज में सम्मान प्राप्त होना चाहिए। डॉ. बेनीप्रसाद के शब्दों में, **"सामाजिक समानता का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक के सुख का समान महत्व है तथा किसी को भी अन्य किसी के सुख का साधनमात्र नहीं समझा जा सकता है।"** सामाजिक समानता की स्थापना हेतु भारतीय संविधान के 17वें अनुच्छेद द्वारा अस्पृश्यता को दण्डनीय अपराध घोषित किया गया है।

(ग) आर्थिक समानता का अधिकार—वर्तमान समय में आर्थिक समानता का तात्पर्य यह लिया जाता है कि मानव के आर्थिक स्तर में गम्भीर विषमताएँ नहीं होनी चाहिए और सम्पत्ति एवं उत्पादन के साधनों का न्यायसंगत वितरण किया जाना चाहिए। टॉनी के शब्दों में, **"आर्थिक समानता का अर्थ एक ऐसी विषमता के अभाव से है जिसका उपयोग आर्थिक दबाव के रूप में किया जा सके।"** लास्की के अनुसार इसका तात्पर्य **'उद्योग में प्रजातन्त्र'** से है।

(3) स्वतन्त्रता का अधिकार—स्वतन्त्रता का अधिकार जीवन के लिए परम आवश्यक है क्योंकि इस अधिकार के बिना व्यक्ति के व्यक्तित्व तथा समाज का विकास सम्भव नहीं है। स्वतन्त्रता का तात्पर्य उच्छृंखलता या नियन्त्रणहीनता न होकर व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए पूर्ण अवसरों की प्राप्ति है। लॉस्की

1 **"Suicide is an offence to oneself, an offence to society and an offence to God himself."** —*Acquinas*

के शब्दों में, **"इसका तात्पर्य उस शक्ति से होता है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी इच्छानुसार अपनी तरीके से बिना किसी बाहरी बन्धन के अपने जीवन का विकास कर सके।"**[1]

स्वतन्त्रता के अधिकार के भेद निम्नलिखित हैं :

(क) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अधिकार—व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति अपना सामान्य जीवन विवेक के अनुसार व्यतीत कर सकें। मिल व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को बहुत अधिक महत्व देते हैं और इसे सर्वोत्तम सदगुण मानते हैं। स्वतन्त्रता के इस रूप का प्रतिपादन करते हुए मिल कहते हैं कि **"स्वयं अपने ऊपर, अपने शरीर, मस्तिष्क और आत्मा पर व्यक्ति सम्प्रभु होता है।"**[2] व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अन्तर्गत ही यह बात भी सम्मिलित है कि कानून का उल्लंघन किए बिना किसी व्यक्ति को गिरफ्तार नहीं किया जा सकता और न्यायालय द्वारा अभियोग की पुष्टि के बिना उसे बन्दी नहीं बनाया जा सकता है।

(ख) विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का अधिकार—विचार स्वातन्त्र्य मानसिक और नैतिक उन्नति की सर्वोच्च शर्त है। मानव एक विवेकशील प्राणी है और व्यक्ति का आत्मविकास एवं समाज की सम्पूर्ण उन्नति विचारों के आदान-प्रदान पर भी निर्भर करती है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार विचार रखने और भाषण, लेख, आदि के माध्यम से इन विचारों को व्यक्त करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। विचार और अभिव्यक्त की स्वतन्त्रता के अन्तर्गत ही सम्मति देने, आलोचना करने, लेखन एवं प्रशासन की स्वतन्त्रता भी सम्मिलित है। सुकरात ने विचार स्वातन्त्र्य त्यागने की अपेक्षा मृत्यु को श्रेयस्कर समझा था और **मिल्टन, मिल, वाल्टेयर, लास्की,** आदि सभी विद्वानों ने विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का महत्व स्वीकार किया है। मिल्टन कहते हैं, **"मुझे अपने अन्तरमन के अनुसार जानने की, बोलने की और तर्क करने की स्वतन्त्रता अन्य स्वतन्त्रताओं से अधिक प्रिय है।"** मिल लिखते हैं, **"यदि एक को छोड़कर समस्त मानव समुदाय एकमत हो, तो मानव समुदाय का उस व्यक्ति को चुप कराना उससे अधिक उचित नहीं है जितना उस व्यक्ति का, यदि उसके पास शक्ति हो, मानव समुदाय को चुप कराना।"**

(ग) अन्तःकरण की स्वतन्त्रता का अधिकार—अन्तःकरण की स्वतन्त्रता या धार्मिक स्वतन्त्रता का अभिप्राय है कि व्यक्ति को अपने विवेक के अनुसार धर्म के मानने, आचरण करने और प्रचार करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए और एक व्यक्ति पर उसकी इच्छा के विरुद्ध किसी प्रकार का धर्म नहीं लादा जा सकता है। धर्म का सम्बन्ध व्यक्ति के अन्तःकरण से होता है और इस कारण इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का बाहरी दबाव नितान्त अनुचित है, किन्तु धार्मिकता की आड़ में अनाचार, अत्याचार या धार्मिक असहिष्णुता की आज्ञा नहीं दी जा सकती है। धार्मिक स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में रूसो ने ठीक ही कहा है कि "सब धर्मों को, जो दूसरे धर्मों को सहन करते हैं, सहन किया जाना चाहिए जब तक उसके मत नागरिकता के कर्तव्यों का विरोध नहीं करते।"

(घ) समुदाय निर्माण की स्वतन्त्रता का अधिकार—**'संगठन ही मानव जीवन की उन्नति का मूल मन्त्र है'** इसलिए व्यक्ति को अपने समान विचार वाले व्यक्तियों के साथ मिलकर संगठन निर्माण करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। व्यक्ति को इस बात का अधिकार होना चाहिए कि वह जीवन के विविध क्षेत्रों में उन्नति करने के लिए राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक समुदायों का निर्माण कर सके, लेकिन इस प्रकार के किसी भी संगठन को समाज-विरोधी या अनैतिक कार्य करने की स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती है।

(ङ) नैतिक स्वतन्त्रता—एक व्यक्ति के पास उपर्युक्त सभी स्वतन्त्रताएँ होने पर भी यदि उसे नैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है तो उसकी स्थिति दयनीय हो जाती है। नैतिक स्वतन्त्रता का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति अपने विवेक और आत्मा के आदेशानुसार बिना किसी अनुचित लोभ-लालच के कार्य कर सके। नैतिक स्वतन्त्रता नींव के उस पत्थर के समान है जिस पर जीवन का सम्पूर्ण भवन आधारित होता है और नैतिक स्वतन्त्रता के बिना राजनीतिक एवं सामाजिक स्वतन्त्रता का कोई विशेष मूल्य नहीं रह जाता।

(4) सम्पत्ति का अधिकार—मानव जीवन के लिए सम्पत्ति आवश्यक है। सम्पत्ति के अधिकार का मानव जीवन में अत्यधिक महत्व है, क्योंकि यह विचार मानव को उन्नति की ओर प्रेरित करता है। सम्पत्ति के

---

1 **"It implies the power to expand the choice by the individual of his own way of life without imposed prohibitions from outside."** **—*Laski***

2 **"Over himself, over his own body, mind and soul. the individual is sovereign."** **—J. S. Mill, *On Liberty*.**

अधिकार का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति अपने द्वारा कमाए गये धन को चाहे तो आज की आवश्यकताओं पर खर्च कर सकता है या अर्जित करके रख सकता है और धन, जमीन या जायदाद के रूप में व्यक्ति द्वारा रक्षित इस सम्पत्ति को बिना मुआवजा दिये उससे छीना नहीं जा सकता है।

वर्तमान समय में सम्पत्ति के अधिकार को अनियन्त्रित रूप में स्वीकार नहीं किया जाता है। इसका कारण यह है कि सम्पत्ति का अधिकार जहाँ एक ओर दया, दान, उदारता, स्नेह, कार्यक्षमता, आदि मानवीय गुणों की ओर प्रेरित करता है, वहाँ यह विषमता, भेदभाव, वैमनस्य और शोषण के दुर्गुणों का भी कारण बन जाता है। अतः जनकल्याण की दृष्टि से सम्पत्ति के अधिकार को सीमित किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में लास्की ने लिखा है कि **"सम्पति का अधिकार तभी तक है जब तक कि मेरी सेवा की दृष्टि से उसका कुछ महत्व है—उस वस्तु पर मेरा स्वामित्व नहीं हो सकता, जिसका उत्पादन प्रत्यक्षतः किसी अन्य के श्रम से हुआ हो। मेरा किसी वस्तु का स्वामित्व न्यायपूर्ण नहीं हो सकता, यदि उसके परिणामस्वरूप मुझे अन्य व्यक्तियों के जीवन पर अधिकार प्राप्त हो जाता है।"** एक अन्य स्थान पर लास्की ही लिखते हैं कि **"धनवान तथा निर्धन में विभाजित समाज रेत की नींव पर टिका होता है।** सम्पत्ति अकर्मण्यता को घोषित करती है। सम्पत्तिवान लोग रचनात्मक कार्यों में अपना समय नहीं लगाते। इसके अतिरिक्त सम्पत्ति राजनीति में अवांछनीय रूप से धन का रौव पैदा करती है, जो कि अन्त में समस्त प्रशासन को दूषित कर देता है।" यह एक तथ्य है कि सम्पत्ति का अधिकार सामाजिक आवश्यकताओं से मर्यादित होता है।

(5) रोजगार का अधिकार—व्यक्ति को स्वयं अपने परिवार के भरण-पोषण, आवास एवं शिक्षा के लिए धन की आवश्यकता होती है और व्यक्ति यह आर्थिक शक्ति किसी न किसी प्रकार का काम किये बिना प्राप्त नहीं कर सकता। अतः वर्तमान समय में यह आवश्यक समझा जाता है कि व्यक्ति को काम प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिए और इस काम के वदले में व्यक्ति को उचित पारिश्रमिक प्राप्त होना चाहिए। लास्की के शब्दों में, **"अपना सर्वोत्तम रूप प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को काम करना चाहिए और काम के अभाव में उस समय तक के लिए प्रवन्ध किया जाना चाहिए, जब तक किसी व्यवस्था में उसे पुनः काम करने का अवसर प्राप्त न हो, एक व्यक्ति को केवल काम का ही अधिकार नहीं, अपितु उसे कार्य के उपयुक्त मजदूरी का अधिकार होना चाहिए।"**

नैतिक रूप में वर्तमान समय के सभी राज्य रोजगार के अधिकार को स्वीकार करते हैं, किन्तु भारत जैसे अनेक राज्यों में आर्थिक साधनों के अभाव के कारण राज्य कानूनी रूप में नागरिकों को अब तक उस प्रकार का अधिकार प्रदान नहीं कर सका है।

(6) शिक्षा का अधिकार—शिक्षा मानव की मानसिक एवं आध्यात्मिक खुराक है और शिक्षा के आधार पर ही व्यक्तित्व का विकास सम्भव है। अतः वर्तमान समाज में यह बात सर्वमान्य है कि नागरिकों को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिए। केवल इतना ही नहीं, शासन को धनवान एवं निर्धन, दोनों ही वर्गों को शिक्षा-सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान करनी चाहिए। वाचनालय, पुस्तकालय और संग्रहालयों की स्थापना की जानी चाहिए। प्रारम्भिक शिक्षा की अनिवार्य तथा निःशुल्क रूप में व्यवस्था की जानी चाहिए।

(7) परिवार का अधिकार—राज्य के समान ही परिवार भी मानव जीवन के लिए अनिवार्य संस्था रही है और मानव जाति के विकास में परिवार का योग किसी भी दूसरी संस्था से कम नहीं है। केवल काम तुष्टि और मानव जाति को बनाये रखने के लिए ही नहीं वरन् नागरिक गुणों के विकास हेतु भी परिवार का अस्तित्व आवश्यक है। अतः व्यक्ति को विवाह कर परिवार का निर्माण करने और सन्तान के पालन-पोषण का अधिकार होना चाहिए तथा राज्य को इस सम्बन्ध में अनावश्यक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए, किन्तु समाज के हित में पागल, कोढ़ी तथा अन्य घातक रोगों से पीड़ित व्यक्तियों को इस अधिकार से वंचित किया जा सकता है।

(II) राजनीतिक अधिकार (Political Rights)—

राजनीतिक अधिकारों का तात्पर्य उन अधिकारों से है जो व्यक्ति के राजनीतिक जीवन के विकास के लिए आवश्यक होते हैं और जिनके माध्यम से व्यक्ति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से शासन प्रवन्ध में भाग लेते हैं। साधारणतया एक प्रजातन्त्रात्मक राज्य के द्वारा अपने नागरिकों को निम्नलिखित राजनीतिक अधिकार प्रदान किये जाते हैं :

(1) मत देने का अधिकार—वर्तमान समय के विशाल राज्यों में प्रत्यक्ष प्रजातन्त्रीय व्यवस्था सम्भव नहीं रही है और इसलिए प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र के रूप में एक ऐसी व्यवस्था की गयी है जिसमें जनता अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन करती है और इन प्रतिनिधियों के द्वारा शासन कार्य किया जाता है। इस प्रकार जनता मताधिकार के माध्यम से ही देश के शासन में भाग लेती है और मतदान को प्रजातन्त्र की आधारशिला कहा जा सकता है। वर्तमान समय की प्रवृत्ति मताधिकार को अधिकाधिक व्यापक बनाने की है और इसलिए अधिकांश देशों में वयस्क मताधिकार को अपना लिया गया है।

(2) निर्वाचित होने का अधिकार—प्रजातन्त्र में शासक और शासित का कोई भेद नहीं होता और योग्यता सम्बन्धी कुछ प्रतिबन्धों के साथ सभी नागरिकों को जनता के प्रतिनिधि के रूप में निर्वाचित होने का अधिकार होता है। इसी अधिकार के माध्यम से व्यक्ति देश की उन्नति में सक्रिय रूप से भाग ले सकता है।

(3) सार्वजनिक पद ग्रहण करने का अधिकार—व्यक्ति को सभी सार्वजनिक पद ग्रहण करने का अधिकार होना चाहिए और इस सम्बन्ध में योग्यता के अतिरिक्त अन्य किसी आधार पर भेद नहीं किया जाना चाहिए।

(4) आवेदन-पत्र और सम्मति देने का अधिकार—लोकतन्त्र का आदर्श यह है कि शासन का संचालन जनहित के लिए किया जाय। अतः नागरिकों को अपनी शिकायतें दूर करने या शासन को आवश्यक सम्मति प्रदान करने के लिए व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से कार्यपालिका या व्यवस्थापिका अधिकारियों को प्रार्थनापत्र देने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। इसके अन्तर्गत ही शासन की आलोचना का अधिकार भी सम्मिलित किया जाता है।

साधारण रूप से इस प्रकार के अधिकार देश के नागरिकों को ही प्राप्त होते हैं और देश में बसे हुए विदेशियों को ये अधिकार प्राप्त नहीं होते हैं? इन राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति लोकतान्त्रिक व्यवस्था के अन्तर्गत ही की जा सकती है।

राज्य के विरुद्ध विद्रोह का अधिकार
(RIGHT TO REVOLT AGAINST THE STATE)

साधारणतया यह प्रश्न किया जाता है कि व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध विद्रोह का अधिकार है अथवा नहीं? यदि व्यक्ति को यह अधिकार प्राप्त हो तो किस सीमा तक और किन परिस्थितियों में इस अधिकार का उपयोग किया जा सकता है।

राज्य के प्रति भक्ति और राज्य की आज्ञाओं का पालन व्यक्ति का कानूनी कर्तव्य होता है और इसलिए व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध विद्रोह का कानूनी अधिकार तो प्राप्त हो ही नहीं सकता, लेकिन व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध विद्रोह का नैतिक अधिकार अवश्य ही प्राप्त होता है। इसका कारण यह है कि शासन के अस्तित्व का उद्देश्य जन-इच्छा को कार्यरूप में परिणत करते हुए सामान्य कल्याण होता है और यदि शासन सामान्य कल्याण की साधना में असफल हो जाता है या शासन जन-इच्छा का प्रतिनिधित्व नहीं करता, तो उस शासन को अस्तित्व में बने रहने का कोई नैतिक अधिकार शेष नहीं रह जाता है। नागरिकों को इस प्रकार की सरकार को पदच्युत करने का अधिकार होता है और यदि संवैधानिक मार्ग से इच्छित परिवर्तन न किया जा सके तो व्यक्ति को अधिकार है कि वह शक्ति के आधार पर वांछित परिवर्तन करने का प्रयत्न करे।

लॉस्की ने कहा है कि, **"नागरिकता व्यक्ति के विवेकपूर्ण निर्णय का जनकल्याण में प्रयोग है।"** ऐसी परिस्थितियों में यदि व्यक्ति को इस बात का विश्वास हो जाय कि विद्यमान शासन व्यवस्था सर्वसामान्य के हित में कार्य नहीं कर सकती तो राज्य के प्रति विद्रोह व्यक्ति का एक नैतिक अधिकार ही नहीं, वरन् एक नैतिक कर्तव्य भी हो जाता है और जैसा कि **महात्मा गांधी** ने कहा है कि **"व्यक्ति का सर्वोच्च कर्तव्य अपनी अन्तरात्मा के प्रति होता है।"** अतः अन्तरात्मा की पुकार पर सरकार का विरोध किया जा सकता है।

इस बात का अवश्य ही ध्यान रखा जाना चाहिए कि विद्रोह का यह अधिकार **'राज्य की अन्तिम औषधि है न कि प्रतिदिन का भोजन।'** इसलिए दूसरे सभी सम्बन्धित पहलुओं पर विचार किये जाने के बाद ही इस अधिकार का प्रयोग किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में **टी. एच. ग्रीन** ने अपनी पुस्तक **'राजनीतिक दायित्व के सिद्धान्त'** (***Principles of Political Obligations***) में जो विचार व्यक्त किये हैं, वे पर्याप्त महत्वपूर्ण हैं। **ग्रीन, महात्मा गांधी**, आदि विद्वानों द्वारा व्यक्त किये गये विचारों के आधार पर कहा जा सकता है कि अग्रलिखित बातों के पूरा होने पर ही विद्रोह के अधिकार का प्रयोग किया जा सकता है :

(1) स्थिति को सुधारने और वांछित परिवर्तन लाने के लिए विद्रोह के पूर्व सभी प्रकार के संवैधानिक साधनों का प्रयोग किया जाना चाहिए और संवैधानिक साधनों की असफलता के वाद ही विद्रोह के सम्बन्ध में सोचा जाना चाहिए।

(2) विद्रोह की भावना वैयक्तिक न होकर सामाजिक होनी चाहिए। सरकार द्वारा किये जाने वाले अन्याय साधारण प्रकृति के न होकर गम्भीर प्रकृति के होने चाहिए और विद्रोह करने वाली जनता विद्रोह के उद्देश्य से पूर्व-परिचित होनी चाहिए।

(3) विद्रोह किसी वर्ग विशेष के हित की प्रेरणा से नहीं वरन् सार्वजनिक हित की प्रेरणा से किया जाना चाहिए।

(4) विद्रोह करने वाले व्यक्ति चरित्रवान, संयमी और विवेकशील होने चाहिए। उनका विवेक पक्ष भावना पक्ष से सबल होना चाहिए और उन्हें विद्रोह के भिन्न-भिन्न रूपों का ज्ञान होना चाहिए।

(5) अनेक बार विद्रोह के परिणाम विद्रोह के पूर्व की स्थिति से भयंकर होते हैं। अतः विद्रोह करने से पूर्व विद्रोह से होने वाली लाभ-हानि पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर लिया जाना चाहिए। यदि विद्रोह का परिणाम तत्कालीन स्थिति से सन्तोषजनक प्रतीत होता हो, तभी विद्रोह किया जाना चाहिए।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि यद्यपि व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध विद्रोह का नैतिक अधिकार प्राप्त होता है, लेकिन इस प्रकार के अधिकार का प्रयोग सभी प्रकार की बातों पर सोचने-विचारने के बाद विशेष परिस्थितियों में ही किया जाना चाहिए।

अधिकार विषयक सिद्धान्त—व्यक्ति के ये अधिकार कैसे अस्तित्व में आये और वर्तमान समय में इन अधिकारों का क्या रूप होना चाहिए, इस सम्बन्ध में समय-समय पर अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है और इन्हें ही 'अधिकार विषयक सिद्धान्त' कहा जाता है। अधिकार विषयक सिद्धान्त में निम्नलिखित प्रमुख हैं :

(1) अधिकारों का प्राकृतिक सिद्धान्त (Natural Theory of Rights)

(2) अधिकारों का वैधानिक सिद्धान्त (Legal Theory of Rights)

(3) अधिकारों का ऐतिहासिक सिद्धान्त (Historical Theory of Rights)

(4) अधिकारों का समाज कल्याण सिद्धान्त (Social Welfare Theory of Rights)

(5) अधिकारों का आदर्शवादी या व्यक्तित्ववादी सिद्धान्त (Idealistic Theory of Rights)

अधिकारों का प्राकृतिक सिद्धान्त

अधिकारों के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त सबसे अधिक प्राचीन है और इसका प्रचलन यूनानियों के समय से है। इस सिद्धान्त के अनुसार मानवीय अधिकार पूर्णतया प्राकृतिक और जन्मसिद्ध है। इस सिद्धान्त के मतानुसार जैसा कि आशीर्वादम ने कहा है, **"अधिकार उसी प्रकार मनुष्य की प्रकृति के अंग होते हैं जिस प्रकार उसकी चमड़ी का रंग। इनकी विस्तृत व्याख्या करने या औचित्य बताने की कोई आवश्यकता नहीं है। वे तो स्वयंसिद्ध हैं।"**[1]

इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकार जन्मजात, निरपेक्ष और स्वयंसिद्ध हैं। वे व्यक्ति को प्रकृति की देन हैं और समाज तथा राज्य द्वारा व्यक्ति के अधिकारों पर किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाना चाहिए।

हॉब्स, लॉक, रूसो, मिल्टन, वाल्टेयर, टॉमस पेन, हर्बर्ट स्पेन्सर, ब्लेकस्टोन, आदि विद्वानों ने इस सिद्धान्त का पोषण किया है। सामाजिक समझौता सिद्धान्त के प्रतिपादक इस सिद्धान्त के सबसे बड़े समर्थक रहे हैं। उनका अनुमान है कि प्रारम्भ से ही व्यक्ति के कुछ प्राकृतिक अधिकार थे और संविदा करते समय वह अपने इन अधिकारों में से कुछ को अपने से उच्च सत्ता को केवल इसलिए सौंप देता है कि उसके शेष अधिकारों की रक्षा हो सके। स्पेन्सर का विचार है कि समान स्वाधीनता का अधिकार सभी व्यक्तियों का मौलिक अधिकार है। लॉक के शब्दों में, **"सभी मनुष्य स्वतन्त्र और विवेकी पैदा होते हैं और समाज में आने के पूर्व ही व्यक्ति को ये अधिकार प्राप्त होते हैं।"**

1 **"They are as much a part of man's nature, as say the colour of his skin. They do not require an elaborate explanation or justificatioin. They are self-evidence."**
—**Ashirvadam, *Political Theory*, p. 113.**

सिद्धान्त का प्रभाव—इस सिद्धान्त ने फ्रांस और अमरीका की क्रान्ति के प्रेरक सिद्धान्त के रूप में कार्य किया था और इसके आधार पर ही स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व की घोषणा की गयी थी। इस सिद्धान्त के आधार पर ही वर्तमान समय में भोजन, वस्त्र, निवास और आजीविका को व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार कहा जाता है।

आलोचना—अधिकारों के इस प्राकृतिक सिद्धान्त ने उस समय व्यक्ति के जीवन का मूल्य और महत्व स्थापित किया, जबकि मानव का महत्व पशुओं से अधिक नहीं समझा जाता था, लेकिन वर्तमान परिस्थितियों में इस सिद्धान्त का अधिक महत्व नहीं है और निम्नलिखित आधारों पर इस सिद्धान्त की आलोचना की जा सकती है।

(1) प्राकृतिक शब्द अस्पष्ट और भ्रामक—प्राकृतिक सिद्धान्त में जिस प्राकृतिक शब्द का प्रयोग किया गया है, वह पूर्णतया अनिश्चित और अनेकार्थक है। प्रो. रिची (Ritchie) के अनुसार, "**प्राकृतिक शब्द के कई अर्थ हैं जैसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड, सृष्टि का वह भाग जहाँ मनुष्य नहीं है, आदर्श या पूर्ण लक्ष्य, अपूर्व, साधारण या औसत।**"

उपर्युक्त सिद्धान्त में प्राकृतिक शब्द का प्रयोग किस अर्थ में किया गया है, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः इस सिद्धान्त के किसी भी प्रतिपादन ने प्राकृतिक शब्द को स्पष्ट नहीं किया है। प्राकृतिक शब्द का अर्थ अनिश्चित होने के कारण यह सिद्धान्त भी नितान्त अनिश्चित एवं भ्रमपूर्ण हो जाता है।

(2) प्रतिपादक प्राकृतिक अधिकारों की सूची पर एकमत नहीं—प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति को कौन-कौन से अधिकार प्राप्त थे अथवा वर्तमान समय में इस धारणा के अनुसार नागरिकों को कौन-से अधिकार प्राप्त होने चाहिए, इस सम्बन्ध में विद्वान एकमत नहीं हैं और इस एकमतता के अभाव में प्राकृतिक अधिकारों की कोई सूची नहीं बनाई जा सकती। इस सिद्धान्त के कुछ समर्थक व्यक्तिगत सम्पत्ति को प्राकृतिक मानते हैं तो अन्य पूर्ण आर्थिक समानता को प्राकृतिक समझते हैं। कुछ विद्वान स्त्री-पुरुष की समानता का समर्थन करते हैं तो कुछ इसका विरोध। लॉस्की ने इसी बात को लक्ष्य करते हुए लिखा है कि "**अधिकारों की कोई स्थायी या अपरिवर्तित सूची निर्मित नहीं की जा सकती।**"

(3) अधिकारों की निरपेक्षता स्वीकार नहीं—इस सिद्धान्त के अनुसार, अधिकार व्यक्ति को प्रकृति की देन होने के कारण निरपेक्ष हैं और अधिकारों पर किसी भी प्रकार का नियन्त्रण नहीं लगाया जा सकता लेकिन व्यवहार में स्वतन्त्रता और समानता के अधिकारों का प्रयोग प्रतिबन्धों की विद्यमानता में ही किया जा सकता है। प्रतिबन्ध के अभाव में स्वतन्त्रता उच्छृंखलता में परिणत हो जाती है और समानता एक कल्पन मात्र बनकर रह जाती है। इस प्रकार के निरपेक्ष अधिकार आवश्यक रूप से सम्पूर्ण समाज के हित के विरुद्ध होंगे।

(4) प्राकृतिक अधिकारों में पारस्परिक विरोध—प्राकृतिक अधिकारों में विरोधाभास का दोष भी पाया जाता है। अधिकारों की निरपेक्षता को स्वीकार कर लेने पर स्वतन्त्रता और समानता के अधिकार परस्पर विरोधी हो जाते हैं और इनमें से किसी का भी उपयोग नहीं किया जा सकता है।

(5) राज्य कृत्रिम संस्था नहीं—इस सिद्धान्त के अनुसार, राज्य एक कृत्रिम संस्था है, जिसने शक्ति के आधार पर नागरिकों को अधिकारों से वंचित कर दिया है, किन्तु वास्तविकता इसके नितान्त विपरीत है। राज्य एक शाश्वत संस्था है जिसने अपने कानूनों द्वारा मानवीय अधिकारों का अपहरण नहीं, वरन् रक्षा की है। वास्तव में, राज्य एक प्राकृतिक समुदाय है और कानूनों के विना अधिकारों का अस्तित्व सम्भव नहीं है।

(6) सामाजिक मान्यता के अभाव में अधिकार की कल्पना सम्भव नहीं—इस सिद्धान्त में समाज से अलग रहकर अधिकारों की कल्पना की गयी है, लेकिन ऐसा सम्भव नहीं है। समाज से अलग रहकर हमारे पास शक्तियाँ हो सकती हैं, अधिकार नहीं, क्योंकि बिना सामाजिक मान्यता के अधिकार का अस्तित्व सम्भव नहीं हो सकता। जैसा कि **गिलक्राइस्ट** (Gilchrist) ने कहा है कि "**अधिकारों की उत्पत्ति इसी तथ्य से हुई है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।**"[1] वस्तुतः अधिकार तो व्यक्ति के द्वारा किया जाने वाला वह दावा है, जिसे समाज स्वीकार करता है और राज्य लागू करता है।

1 **"Rights arise from the fact that man is social being."** —*Gilchrist*

महत्व—इस प्रकार अधिकारों के प्राकृतिक सिद्धान्त का जिस रूप में प्रतिपादन किया गया है, उस रूप में वह सर्वथा अमान्य है। फिर भी इस रूप में प्राकृतिक सिद्धान्त को स्वीकार किया जा सकता है कि प्राकृतिक अधिकारों का तात्पर्य उन अधिकारों के उपयोग से है जो व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं और जिनसे मनुष्यों को वंचित नहीं किया जा सकता है। वर्तमान समय के अमरीका, भारत, आदि देशों के संविधानों में मौलिक अधिकारों की जो व्यवस्था की गयी है, वह अधिकारों की इसी धारणा पर आधारित है। प्राकृतिक सिद्धान्त और मौलिक अधिकारों की धारणा में अन्तर केवल यही है कि मौलिक अधिकारों की धारणा में स्पष्ट रूप से यह समझ लिया गया है कि राज्य मानव अधिकारों का हनन नहीं, वरन् रक्षा करता है। अतः लॉर्ड के शब्दों में कहा जा सकता है कि **"यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि प्राकृतिक अधिकार वे शर्तें हैं जो मानवीय संस्था द्वारा प्रदान की गयी हों अथवा नहीं, परन्तु जो व्यक्तित्व के विकास हेतु अत्यावश्यक हैं।"**[1] गिलक्राइस्ट इसी प्रकार की पुष्टि इन शब्दों में करता है : **"प्राकृतिक अधिकारों को जिस उचित अर्थ में लिया जा सकता है, वह केवल यही है कि मनुष्य को नीतिशास्त्र के अनुसार सच्चा मनुष्य बनने के लिए जो कुछ भी आवश्यक है, वह सब उसे अवश्य ही प्राप्त होना चाहिए।"**

अधिकारों का वैधानिक सिद्धान्त

यह सिद्धान्त प्राकृतिक सिद्धान्त के नितान्त विपरीत है और इसके अनुसार अधिकार प्राकृतिक या स्वाभाविक नहीं वरन् कृत्रिम हैं। अधिकार राज्य की इच्छा और कानून के परिणाम होते हैं और एक व्यक्ति के केवल वे ही अधिकार हो सकते हैं, जिन्हें राज्य मान्यता प्रदान करता है। हमारे अधिकारों का अस्तित्व राज्य की इच्छा और कार्यों पर निर्भर करता है। राज्य पुराने अधिकारों को छीन सकता और नये अधिकारों को जन्म भी दे सकता है। जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकार राज्य द्वारा ही दिये गये हैं और राज्य ही इस बात का निर्णय करता है कि हमारे द्वारा इन अधिकारों का उपयोग किन परिस्थितियों में और किन सीमाओं के साथ किया जायेगा। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य अधिकारों के सम्बन्ध में तीन प्रकार के कार्य करता है—(1) अधिकारों की परिभाषा करना, (2) उनकी सीमाएँ निर्धारित करना, और (3) उनके उपभोग के आश्वासन की व्यवस्था करना।

वैधानिक सिद्धान्त अधिकारों की निरपेक्षता को भी स्वीकार नहीं करता और इस बात का प्रतिपादन करता है कि सामाजिक हित में व्यक्ति के अधिकारों को प्रतिबन्धित किया जा सकता है और किया भी जाना चाहिए।

वैधानिक सिद्धान्त का समर्थन बेन्थम, ऑस्टिन, हॉब्स, हालैण्ड, आदि विद्वानों द्वारा किया गया है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों के अनुसार अधिकारों का मापदण्ड नैतिक आधार न होकर वास्तविकता होने के कारण, इस सिद्धान्त को वास्तविक कहा जा सकता है।

आलोचना—अधिकारों के वैधानिक सिद्धान्त की भी निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की जाती है :

(1) राज्य के आदेश कानूनों का निर्माण नहीं करते—राज्य अथवा शासन के आदेश से ही कानूनों का निर्माण नहीं हो जाता है, वस्तुतः राज्य अधिकारों को जन्म नहीं देता, उन्हें मान्यता प्रदान करता है और रक्षा करता है। उदाहरण के लिए, राज्य का कोई भी कानून चोरी, घूसखोरी और कालाबाजारी को व्यक्ति का अधिकार नहीं बना सकता है। इस सम्बन्ध में नॉर्मन वाइल्ड ने उचित ही कहा है **"कानून हमारे अधिकारों को मान्यता देता है और उनकी रक्षा करता है, परन्तु वह उन्हें जन्म नहीं दे सकता। अधिकारों को कानून का स्वरूप दिया जाय या न दिया जाय, उनका अपना अलग अस्तित्व है।"**[2] कोई भी अधिकार केवल इसलिए अधिकार नहीं होता है कि उसे कानूनी मान्यता प्राप्त है वरन् कानूनी मान्यता इसलिए प्रदान की जाती है कि नैतिक दृष्टि से यह व्यक्ति का अधिकार होता है। लास्की ने कहा है कि **"अधिकारों का वैधानिक सिद्धान्त केवल यह बता सकता है कि वास्तव में राज्य का स्वरूप कैसा है, लेकिन उससे यह पता नहीं चलता कि राज्य ने जिन अधिकारों की मान्यता दी है, वे वास्तव में मान्यता योग्य हैं भी या नहीं।"**

1 "Natural rights are those conditions, whether afforded by human agency or not which are required for the development of individuality." —*Lord*

2 "The law does not create our rights, but only recognises them and protects them, they are enforced because they are rights and are not rights, because they are enforced." —*Norman Wilde*

(2) राज्य निरंकुश व स्वेच्छाचारी हो जायगा—यदि हम यह मान लें कि राज्य ही अधिकारों का एकमात्र जन्मदाता है तो इसके परिणामस्वरूप राज्य निरंकुश व स्वेच्छाचारी हो जायगा और शासन अपनी सत्ता बनाये रखने के लिए व्यक्ति के अधिकारों का अन्त कर देंगे। आशीर्वादम ने इस बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि **"यह कहना कि एकमात्र राज्य ही अधिकारों की सृष्टि करता है राज्य को निरंकुश बना देता है।"** राज्य को हम ऊँचा स्थान देने को तैयार हैं, लेकिन उसे इतना ऊँचा स्थान नहीं दिया जा सकता। यदि सभी अधिकार राज्य द्वारा प्रदान किये जाने लगे, तो राज्य एक 'विशालकाय दैत्य' (Leviathan) के रूप में प्रकट होने लगेगा। ऐसी स्थिति में व्यक्ति राज्य के हाथ कठपुतली मात्र बनकर रह जायगा। वह हर बार हर प्रकार की सुविधा के लिए राज्य का मुँह ताकेगा और उसकी अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं रह जायेगी। वस्तुतः राज्य की शक्ति और कार्यों की भी कुछ निश्चित सीमाएं हैं; जैसे· राज्य इतिहास, परम्परा, रीति-रिवाज व नैतिकता की मर्यादाओं के अन्तर्गत रहते हुए ही कार्य करता है और इन्हीं मर्यादाओं में रहते हुए अधिकारों से सम्बन्धित कानूनों का निर्माण करता है। राज्य न तो निरंकुश होता है और न ही होना चाहिए। लास्की के शब्दों में, **"अधिकारों की प्रतिष्ठा लिखित विधान की अपेक्षा अभ्यास और परम्परा पर अधिक निर्भर करती है।"**

(3) कानून अधिकारों का उचित आधार नहीं—कानून अधिकारों का उचित आधार हो ही नहीं सकते, क्योंकि कानून में नित्य प्रति संशोधन (परिवर्तन) होते रहते हैं। अधिकारों को उनका यथोचित महत्व और सम्मान प्रदान करने की दृष्टि से औचित्य की भावना को ही अधिकार के आधार रूप में स्वीकार किया जा सकता है। लॉर्ड ने ठीक ही कहा है कि **"किसी भी प्रकार की नैतिक व्यवस्था अधिकारों की आवश्यकता की पूर्व-कल्पना है। इसके अभाव में प्रभाव, प्रयत्न, दावे या शक्तियां हो सकती हैं, परन्तु इनको अधिकार नहीं कहा जा सकता। अधिकार का आधार तो औचित्य की भावना ही होती है।"**

(4) वैधानिक अधिकारों के सम्बन्ध में भी स्वीकार नहीं—उपर्युक्त आलोचनाओं से बचने के लिए वैधानिक सिद्धान्त के कुछ प्रतिपादक यह कहते हैं कि राज्य केवल वैधानिक अधिकारों का निर्माण करता है, परन्तु इस बात को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है। व्यवहार में देखा जाता है कि समाज द्वारा मान्यता प्राप्त अधिकारों को ही राज्य द्वारा स्वीकृत किया जाता है। इसके अतिरिक्त जैसा कि प्रो. हॉकिंग्स (Hockings) ने कहा है, **"विधि का किसी समय जो स्वरूप है और जो होना चाहिए उन दोनों के बीच सदैव ही अन्तर रहता है।"** ऐसी स्थिति में वैधानिक सिद्धान्त यह तो बता सकता है कि एक विशेष परिस्थिति में नागरिकों को कौन-कौनसे अधिकार प्राप्त हैं, लेकिन यह नहीं बतला सकता कि नागरिकों को कौन-से अधिकार प्राप्त होने चाहिए।

महत्व—यद्यपि इस सिद्धान्त की इस प्रकार से आलोचनाएँ की जाती हैं, लेकिन इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि इस सिद्धान्त में सत्य का अंश है। समाज की ओर से जिन स्वतन्त्रताओं और सुविधाओं को मान्यता प्रदान कर दी गयी है या व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए जो स्वत्व या दावे अनिवार्य हैं, उन्हें उस समय तक अधिकार नहीं कहा जा सकता, जब तक कि उन्हें राज्य के द्वारा मान्यता न प्रदान कर दी जाय। वस्तुतः अधिकारों के वैधानिक और नैतिक दो पक्ष होते हैं और अधिकारों के वैधानिक पक्ष पर बल देकर इसके द्वारा आंशिक सत्य का प्रतिपादन किया गया है।

अधिकारों का ऐतिहासिक सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकार इतिहास के परिणाम होते हैं। वर्षों से जिन रीति-रिवाजों का हम पालन कर रहे होते हैं वे ही रीति-रिवाज अधिकार के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकार का निर्माण न तो राज्य द्वारा किया जाता है और न ही ये प्राकृतिक होते हैं, बल्कि धीरे-धीरे जिन रीति-रिवाजों के हम अभ्यस्त हो जाते हैं और समाज जिन्हें स्वीकार कर लेता है, वे ही अधिकार बन जाते हैं। इस सिद्धान्त के समर्थक प्रो. रिची ने लिखा है कि **"जिन अधिकारों के सम्बन्ध में लोग सोचते हैं कि वे उन्हें मिलने ही चाहिए, वे ही अधिकार होते हैं, जिनके वे अभ्यस्त होते हैं या जिनके सम्बन्ध में सही या गलत उनकी यह धारणा होती है कि वे उन्हें कभी प्राप्त थे।"**[1] अप्रत्यक्ष रूप से अधिकारों के ऐतिहासिक सिद्धान्त का समर्थन करते हुए ही बर्क कहते हैं कि **"इंगलैण्ड की गौरवपूर्ण क्रान्ति का आधार अंग्रेजों के रीति-रिवाजों पर आधारित अधिकार ही थे।"**

1 "Those right that people think, they ought to have are just those rights which they have been accustomed to have or which they by tradition, whether true or false, of having once possessed." —*Prof. Ritchie*

आलोचना—वर्तमान समय में इस विचार को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता कि अधिकार ऐतिहासिक रीति-रिवाजों के परिणाम हैं। निम्नलिखित आधारों पर इस सिद्धान्त की आलोचना की जाती है :

(1) सभी अधिकार रीति-रिवाज के परिणाम नहीं—हमारे कुछ अधिकार रीति-रिवाज पर आधारित हो सकते हैं, किन्तु सभी अधिकारों को रीति-रिवाजों का परिणाम नहीं कहा जा सकता। सती प्रथा या वहुपत्नीत्व का निषेध, शारदा कानून और हरिजनों का मन्दिर प्रवेश भारत के रीति-रिवाजों के विपरीत हैं, फिर भी समझदार लोकमत ने बिना किसी हिचकिचाहट के इन कानूनों का समर्थन किया है।

(2) सभी रीति-रिवाज समाज हित में नहीं होते—अधिकार आवश्यक रूप से मानव कल्याण और समाज हित में होते हैं, किन्तु मानव जाति के इतिहास में विभिन्न समयों पर प्रचलित सभी रीति-रिवाज समाज हित में नहीं होते थे। उदाहरणार्थ, भूतकाल में दास प्रथा, बाल-हत्या, सती-प्रथा, बहुपत्नीत्व एवं बाल-विवाह की प्रथाएँ विद्यमान रही हैं, किन्तु ये प्रथाएँ समाज हित के विरुद्ध होने के कारण इन्हें अधिकार रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। प्रो. हॉकिंग्स ठीक ही कहते हैं कि **"यह कहना कि रीति-रिवाज हमेशा ठीक ही होते हैं उतना ही मूर्खतापूर्ण है जितना यह कहना कि विधि किसी भी चीज को उचित बना सकती है।"**

(3) सुधार की सम्भावना का अन्त—यदि इस सिद्धान्त के आधार पर प्रथाओं के विकसित रूप को ही अधिकार मान लिया जाय तो सुधारों की सम्भावना का अन्त हो जाता है। प्रो. हॉकिंग्स के विचार में, **"ऐतिहासिक सिद्धान्त या तो कतई पथप्रदर्शन नहीं करता, यदि करता है तो गलत करता है। यह असहाय सिद्धान्त है, यदि व्याख्या के विभिन्न स्वतन्त्र स्रोतों से उसे आलोकित न किया जाय। इतिहास की निस्सन्देह अवहेलना नहीं की जा सकती, किन्तु केवल इतिहास पर निर्भर भी नहीं रहा जा सकता है।"**[1] यदि भूतकाल में शिक्षा या विदेशी यात्रा का रिवाज नहीं था तो इसका मतलब यह नहीं है कि हम स्पूतनिक युग में भी कूपमण्डूक ही बने रहें।

महत्व—इन आलोचनाओं के होते हुए भी इस सिद्धान्त में यह सत्य निहित है कि व्यक्ति के अनेक अधिकार रीति-रिवाज और परम्पराओं पर आधारित हैं।

अधिकारों का समाज कल्याण सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकार समाज की देन हैं। अधिकारों का अस्तित्व समाज कल्याण पर आधारित होता है और व्यक्ति केवल उन्हीं अधिकारों का उपयोग कर सकता है जो समाज हित में हों। इस सिद्धान्त के अनुसार कानून, रीति-रिवाज और अधिकार सभी को समाज कल्याण के सामने झुकना चाहिए और इन सबका उद्देश्य समाज कल्याण ही होना चाहिए।

बैंथम और मिल जैसे उपयोगितावादियों और रास्को पाउण्ड (Roscoe Pound) एवं प्रो. चेफर (Chafer), आदि विद्वानों द्वारा इस सिद्धान्त का समर्थन किया गया है और लास्की ने भी उपयोगिता को ही अधिकार की कसौटी माना है। बैंथम के अनुसार, **"अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख"** का सिद्धान्त ही निर्धारित करता है कि व्यक्ति को कौन-से अधिकार प्राप्त होने चाहिए। प्रो. लास्की कहते हैं कि **"लोक कल्याण के विरुद्ध मेरे कोई अधिकार नहीं हो सकते, क्योंकि ऐसा करना मुझे उस कल्याण के विरुद्ध अधिकार देना है जिनमें मेरा कल्याण घनिष्ठ व अविच्छिन्न रूप में जुड़ा हुआ है।"**[2]

आलोचना—यद्यपि अधिकारों की विवेचना के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त अन्य सिद्धान्तों की अपेक्षा औचित्यपूर्ण व सन्तोषजनक प्रतीत होता है, किन्तु यह भी दोषमुक्त नहीं है और निम्नलिखित आधारों पर इस सिद्धान्त की आलोचना की जाती है :

(1) लोक-कल्याण की अस्पष्टता—लोकहित अधिकारों की अच्छी कसौटी कही जा सकती है, लेकिन लोकहित या लोक कल्याण की व्याख्या नितान्त कठिन है। लोक कल्याण का अर्थ सामान्यतया अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख, बहुमत का स्वार्थ, लोकसम्मति या शासन की दृष्टि में जो सार्वजनिक हित हो, आदि बातों से लिया जाता है। यदि इनमें से किसी एक को लोकहित या लोक कल्याण मान भी लें, तो भी

1 "Historical Theory either give no guidance at all, or else false guidance. It is a helpless method unless lighted up by independent sources of interpretation. History, of course, cannot be ignored, but history cannot be rellied on alone." —W.E. Hockkings, *Law and Rights*, p. 7.

2 "I cannot have rights against the public welfare, for that ultimately is to give me rights against a welfare, which is intimately and inseparately associated with my own." —*Laski*

अधिक कार्य सिद्ध नहीं होता, क्योंकि ये शब्द नितान्त अस्पष्ट और अनिश्चित हैं। अधिक से अधिक सुख का कोई माप नहीं हो सकता और सम्पूर्ण समाज की कोई चेतना हो ही नहीं सकती है।

(2) व्यक्तिगत कल्याण और लोक कल्याण में संघर्ष—इसके अतिरिक्त सामाजिक कल्याण और व्यक्तिगत कल्याण में भी संघर्ष हो सकता है और ऐसी स्थिति में क्या किया जाय, यह एक समस्या हो जाती है। समाज कल्याण सिद्धान्त का विचार यह है कि समाज कल्याण के लिए व्यक्तिगत हित का बलिदान कर दिया जाना चाहिए, लेकिन इसे वर्तमान समय में स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि इसका तात्पर्य व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में बाधा है। प्रश्न यह है कि क्या एक निर्दोष व्यक्ति का समाज के बड़े अंश की प्रसन्नता के लिए बलिदान किया जा सकता है ? इस सिद्धान्त को अपनाने से अल्पसंख्यकों के हितों को हानि पहुँचने की भी आशंका रहती है। व्यक्ति को जनमत की दया पर नहीं छोड़ा जा सकता। केवल लोक आवश्यकता ही किसी बात को नैतिक अथवा अनैतिक नहीं बना सकती। नार्मन वाइल्ड के अनुसार, **"इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने पर व्यक्ति के पास उपचार का कोई साधन नहीं होगा और वह निराशाजनक रूप से समाज की निरंकुश इच्छा के अधीन रहेगा।"**

महत्व—उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद इस दृष्टि से यह सिद्धान्त सत्य है कि अधिकार का अस्तित्व समाज के हित के लिए होता है और उसका उपयोग समाज हित में ही किया जाना चाहिए।

आदर्शवादी या व्यक्तित्ववादी सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के अनुसार समाज के अन्तर्गत रहते हुए व्यक्ति के जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करना होता है और अधिकार वे बाहरी परिस्थितियाँ हैं जो व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक होती हैं। व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए ये परिस्थितियाँ अनिवार्य होने के कारण स्वाभाविक रूप से उसे इन परिस्थितियों की प्राप्ति का अधिकार हो जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार, अधिकारों के अस्तित्व का उद्देश्य एक आदर्श व्यक्तित्व के विकास की प्राप्ति माना गया है, अतः इसे आदर्शवादी सिद्धान्त कहा जाता है और क्योंकि इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकारों का अस्तित्व व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास पर आश्रित कर दिया गया है, इसलिए इसे व्यक्तित्ववादी सिद्धान्त भी कहा जाता है।

क्रास, (Krause), **हेनरीची** (Henrichi), **ग्रीन**, **लॉस्की**, आदि विद्वानों द्वारा अधिकारों की जो परिभाषाएँ की गयी हैं, वे अधिकारों के आदर्शवादी सिद्धान्त पर ही आश्रित हैं। क्रास के अनुसार, **"अधिकार विवेकपूर्ण जीवन के विकास के लिए आवश्यक बाहरी परिस्थितियाँ हैं"** और हेनरीची कहते हैं कि, **"मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए जो भौतिक परिस्थितियाँ आवश्यक हैं, उनकी रक्षा के लिए जो कुछ जरूरी है वही अधिकार है।"** ग्रीन के अनुसार, **"अधिकार वह शक्ति है जो कि किसी मनुष्य के लिए नैतिक जीवन के रूप में उनके व्यवसाय और कर्तव्य को पूरा करने के लिए आवश्यक है।"**

यह सिद्धान्त प्राकृतिक धारणा की इस मान्यता के सर्वथा प्रतिकूल है कि व्यक्ति कुछ प्राकृतिक अधिकारों के साथ जन्म लेता है। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति कुछ अधिकार नहीं वरन् प्राकृतिक शक्तियाँ लेकर जन्म लेता है। प्राकृतिक शक्तियों के इस विकास का ही दूसरा नाम व्यक्तित्व का विकास है और व्यक्तित्व के विकास हेतु उचित वातावरण प्रदान करने का कार्य समाज एवं राज्य द्वारा किया जाता है। व्यक्तित्व के विकास हेतु व्यक्ति का जीवित रहना आवश्यक है, अतः व्यक्ति का अधिकार है कि वह जीवित रहे। व्यक्तित्व के विकास हेतु शारीरिक उन्नति आवश्यक होने के कारण उत्तम व स्वास्थ्यकर भोजन की प्राप्ति उसका अधिकार हो जाता है और व्यक्तित्व के विकास में सहायक होने के कारण ही विवाह द्वारा परिवार का निर्माण, योग्यतानुसार कार्य व पारिश्रमिक की प्राप्ति और शिक्षा व्यक्ति के अधिकार हो जाते हैं। इस प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति के अन्य अधिकार इस मुख्य अधिकार के सहायक मात्र हैं।

आदर्शवादी या व्यक्तित्ववादी सिद्धान्त अनेक कारणों से अधिकारों की विवेचना के सम्बन्ध में सर्वाधिक सन्तोषप्रद सिद्धान्त कहा जा सकता है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत **सर्वप्रथम तो इस तथ्य को स्वीकृति प्रदान की गयी है कि व्यक्ति स्वयं में साध्य है और अन्य किसी के उत्कर्ष का साधन मात्र नहीं है। इसके अतिरिक्त यह सिद्धान्त व्यक्तित्व को आदर्श रूप में स्वीकार करता है और इस तरह प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व को समान स्तर प्राप्त होता है।**

यह सिद्धान्त इस तर्कपूर्ण बात का प्रतिपादन करता है कि व्यक्ति को वे ही अधिकार प्राप्त होने चाहिए जो उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक हों। यह सिद्धान्त न तो व्यक्ति के गलत अधिकारों का समर्थन करता है और न ही उसे उचित अधिकारों से वंचित करता है।

इस सिद्धान्त का एक अन्य गुण यह है कि यह सिद्धान्त न तो प्राकृतिक सिद्धान्त की तरह अधिकारों की निरपेक्षता या असीमितता का प्रतिपादन करता है और न ही वैधानिक सिद्धान्त या समाज कल्याण सिद्धान्त की तरह अधिकारों की सापेक्षता का प्रतिपादन करते हुए यह कहता है कि समाज या राज्य अधिकारों पर मनचाहे प्रतिबन्ध लगा सकता है। **यह सिद्धान्त मध्यम मार्ग ग्रहण करते हुए इस तथ्य का प्रतिपादन करता है कि एक व्यक्ति के अधिकारों पर केवल वे ही प्रतिबन्ध लगाये जाने चाहिए, जो अन्य व्यक्तियों के विकास हेतु आवश्यक हों।**

आलोचना और प्रत्युत्तर—इन गुणों के होते हुए भी आदर्शवादी सिद्धान्त की इस आधार पर आलोचना की जाती है कि यह सिद्धान्त अव्यावहारिक है। आलोचक यह कहते हैं कि व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास एक आन्तरिक एवं व्यक्तिगत चीज है और समाज एवं राज्य न तो ठीक प्रकार से यह जान सकते हैं कि व्यक्ति के विकास हेतु कौन-सी परिस्थितियाँ आवश्यक हैं और न ही बाहरी सुविधाओं के द्वारा व्यक्तित्व का विकास सम्भव बनाया जा सकता है।

किन्तु यह आलोचना इन त्रुटिपूर्ण विचारों पर आधारित है कि व्यक्ति का व्यक्तित्व बाहरी परिस्थितियों से अप्रभावित रहते हुए विकसित हो सकता है। वस्तुतः व्यक्ति का व्यक्तित्व बाहरी परिस्थितियों का परिणाम होता है और एक बड़ी सीमा तक इसका विकास बाहरी वातावरण पर निर्भर करता है। कोई भी विवेकशील व्यक्ति इस बात से इन्कार नहीं कर सकता कि राज्य शिक्षा, स्वास्थ्य की देखभाल और रोजगार की उचित व्यवस्था करके व्यक्तित्व के विकास में बहुत अधिक सहायक सिद्ध हो सकता है। ग्रीन के शब्दों में कहा जा सकता है कि **"समाज एवं राज्य नैतिक जीवन के मार्ग की बाधाओं को बाधित करके व्यक्ति के जीवन को नैतिक बना सकते हैं।"** अतः इस सिद्धान्त का यह प्रतिपादन कि व्यक्तित्व के विकास-रूपी आदर्श की प्राप्ति के लिए जो कुछ आवश्यक है, वह व्यक्ति का अधिकार है, उचित ही प्रतीत होता है। व्यक्ति को कौन-से अधिकार प्राप्त होने चाहिए, इस सम्बन्ध में आदर्शवादी सिद्धान्त एक ऐसा मापदण्ड प्रस्तुत करता है जो अन्य सिद्धान्त नहीं बता पाते और इसलिए यह सिद्धान्त सर्वोत्तम है।

कर्तव्य

परिभाषा—कर्तव्य की परिभाषा करते हुए कहा जाता है कि **किसी विशेष कार्य को करने या न करने के सम्बन्ध में व्यक्ति के उत्तरदायित्व को कर्तव्य कहा जा सकता है।** दूसरे शब्दों में, जिन कार्यों के सम्बन्ध में समाज एवं राज्य सामान्य रूप से व्यक्ति से यह आशा करते हैं कि उसे वे कार्य करने चाहिए, वे ही व्यक्ति के कर्तव्य कहे जा सकते हैं। कर्तव्य दो प्रकार के होते हैं—**नैतिक और कानूनी।**

(1) नैतिक कर्तव्य—नैतिक कर्तव्यों का सम्बन्ध मनुष्य के अन्तःकरण, नैतिकता तथा उचित-अनुचित की प्रवृत्ति से होता है और इनका पालन करने के लिए दण्ड की शक्ति का प्रयोग नहीं किया जा सकता। नैतिक कर्तव्यों के उदाहरण हैं—सत्य बोलना और प्राणी मात्र के हित की कामना, आदि। यद्यपि नैतिक दृष्टि से व्यक्ति को सदैव ही इस प्रकार व्यवहार करना चाहिए, लेकिन यह व्यक्ति इनके विरुद्ध भी आचरण करें तो उन्हें दण्डित नहीं किया जा सकता है।

(2) कानूनी कर्तव्य—कानूनी कर्तव्य अपनी प्रकृति से ही नैतिक कर्तव्य से भिन्न होते हैं। इन्हें करना या न करना व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर नहीं होता अपितु ये व्यक्ति के वे कर्तव्य होते हैं जिनका पालन करना अनिवार्य होता है और जिनका पालन न करने पर व्यक्ति राज्य द्वारा प्रदत्त दण्ड के भागी होते हैं। राजनीति शास्त्र के अन्तर्गत प्रमुख रूप से इन कानूनी कर्तव्यों का ही अध्ययन किया जाता है। प्रमुख कानूनी कर्तव्य निम्नलिखित हैं :

1. राज्य के प्रति भक्ति—प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य होता है कि वह उस राज्य के प्रति भक्ति रखे, जिसका वह नागरिक है। व्यक्ति के विकास हेतु राज्य सभी प्रकार के कार्य करता है और इन कार्यों के बदले में व्यक्ति का कर्तव्य हो जाता है कि वह राज्य को अपना समझे, संकट के समय राज्य की रक्षा हेतु प्रत्येक प्रकार का त्याग करने को तत्पर हो और किसी भी परिस्थिति में राज्य के क्षेत्र या स्वाधीनता का किसी बाहरी

सत्ता से सौदा न करे। आवश्यकता के समय सेना में भर्ती होना व शान्ति और सुव्यवस्था वनाये रखना भी इसी के अन्तर्गत सम्मिलित हैं।

2. कानूनों का पालन—कानूनों का पालन राज्य में शान्ति और व्यवस्था स्थापित रखने और राज्य में रहने वाले नागरिकों के हित के लिए किया जाता है। अतः व्यक्ति का कर्तव्य हो जाता है कि वह राज्य द्वारा निर्मित सभी कानूनों का पालन करे। कानूनों का न मानना राज्य का विरोध करना है जो व्यक्ति और राज्य दोनों के लिए अहितकर है। यदि राज्य का कोई कानून अनुचित है तो उसमें परिवर्तन के लिए संवैधानिक साधनों का आश्रय लिया जाना चाहिए, लेकिन जब तक वह कानून है उसका पालन किया जाना चाहिए।

3. कर देना—राज्य को शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने और नागरिकों के हित में विविध प्रकार के दूसरे कार्य करने के लिए आर्थिक शक्ति की आवश्यकता होती है और इस आर्थिक शक्ति को प्राप्त करने के लिए राज्य विविध प्रकार के कर लगाता है। नागरिकों का कर्तव्य है कि वे सहर्ष इस प्रकार के करों को स्वीकार करें और पूर्ण ईमानदारी के साथ इस प्रकार के सभी करों का भुगतान करें। कर देने के सम्बन्ध में बेईमानी, आनाकानी या छल अपराध की श्रेणी में आता है।

उपर्युक्त कर्तव्यों के अतिरिक्त **ईमानदारी के साथ मताधिकार का प्रयोग करना, सेवाभाव के साथ सार्वजनिक पदों को ग्रहण करना, सार्वजनिक सम्पत्ति की रक्षा करना और राज्य कर्मचारियों को उनके कर्तव्यपालन में सहायता देना,** आदि को भी व्यक्ति के राजनीतिक कर्तव्यों में सम्मिलित किया जाता है; किन्तु इस प्रकार के कार्यों को विशुद्ध कानूनी कर्तव्य नहीं कहा जा सकता है। इसका कारण यह है कि इस प्रकार के कार्य न करने पर अर्थात् मताधिकार का प्रयोग न करने या सार्वजनिक पद को स्वीकार न करने पर किसी प्रकार के दण्ड की व्यवस्था नहीं की गयी है। साधारण रूप से यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति को प्रत्येक रूप में राज्य के साथ सहयोग करना चाहिए और व्यक्ति द्वारा स्वयं अपने हित के साथ-साथ समाज एवं राज्य के हित का भी ध्यान रखा जाना चाहिए।

अधिकार और कर्तव्य का सम्बन्ध
(RELATION BETWEEN RIGHTS AND DUTIES)

सामान्य दृष्टि से देखा जाय तो अधिकार और कर्तव्य परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। साधारणतया अधिकार का आशय यह लिया जाता है कि कोई विशेष व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को कोई कार्य करने के लिए बाध्य कर सकता है। इस प्रकार अधिकार प्राप्त करने से अभिप्राय लाभ उठाने से है। कर्तव्य का अभिप्राय है दूसरों के लिए कोई कार्य करना। यह एक प्रकार से व्यक्तिगत हानि कही जा सकती है। इस दृष्टि से देखा जाए तो अधिकार लाभ और कर्तव्य हानि प्रतीत होते हैं और इन दोनों में एक प्रकार का विरोधाभास दिखायी देता है, किन्तु इस प्रकार का दृष्टिकोण मिथ्या एवं भ्रमात्मक है। वस्तुतः अधिकार और कर्तव्य एक-दूसरे के पूरक हैं और एक के अभाव में दूसरे की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। उदाहरण के लिए, जब तक व्यक्तियों को आजीविका प्राप्त करने, व्यापार या व्यवसाय का अधिकार नहीं होगा, उस समय तक वे कर अदा करने के लिए आवश्यक धनराशि नहीं जुटा पाएंगे और जब तक व्यक्ति अपने कर्तव्यों का पालन नहीं करेंगे, उस समय तक राज्य अपने नागरिकों के अधिकार की रक्षा करने की स्थिति में नहीं होगा। इसी बात को दृष्टि में रखते हुए **ग्रे (Gray) ने अधिकार को कर्तव्य का पूरक बताया है। डॉ. बेनीप्रसाद** ने ठीक ही कहा है कि, "अधिकार और कर्तव्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। यदि व्यक्ति उन्हें अपने दृष्टिकोण से देखता है तो अधिकार है और इसी को दूसरों के दृष्टिकोण से देखा जाता है तो वे कर्तव्य हो जाते हैं। दोनों ही सामाजिक हैं और दोनों ही, वास्तव में, समाज के सभी सदस्यों के लिए सही जीवन-यापन की परिस्थितियां हैं। यह सोचना व्यर्थ है कि अधिकार कर्तव्य के पूर्व हैं या कर्तव्य अधिकार के। वे एक-दूसरे के पार्श्व भाग हैं। यदि प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने अधिकारों पर ही जोर देता है, लेकिन दूसरे व्यक्तियों के प्रति कर्तव्यों का पालन नहीं करता तो किसी के लिए भी कोई अधिकार शेष नहीं रहेगा।"

अधिकार और कर्तव्य का पारस्परिक सम्बन्ध निम्नलिखित रूपों में स्पष्ट किया जा सकता है :

(1) एक व्यक्ति का अधिकार दूसरे व्यक्ति का कर्तव्य है—अधिकार एक व्यक्तिगत प्रश्न नहीं वरन् आवश्यक रूप से एक सामाजिक प्रश्न है। सहयोग के द्वारा ही अधिकार अस्तित्व में आते हैं और सहयोग के द्वारा ही उनका उपयोग किया जा सकता है। वस्तुतः एक व्यक्ति का अधिकार समाज के दूसरे व्यक्तियों का कर्तव्य होता

है और व्यक्ति के अधिकार इस बात पर निर्भर करते हैं कि समाज के दूसरे व्यक्ति उसके प्रति अपने कर्तव्य का किस सीमा तक पालन करते हैं। उदाहरण के लिए, मैं अपने विचार और भाषण की स्वतन्त्रता के अधिकार का उसी समय उपयोग कर सकता हूँ जबकि समाज के दूसरे लोग मेरे विचारों के प्रति सहिष्णु हों। वाइल्ड के शब्दों में कहा जा सकता है कि **"अधिकारों का महत्व केवल मात्र कर्तव्यों के संसार में ही है।"**[1]

(2) व्यक्ति का अधिकार उसका यह कर्तव्य निश्चित करता है कि वह दूसरों के समान अधिकार को स्वीकार करे—अधिकारों का लक्षण यह है कि वे समाज के सभी व्यक्तियों को समान रूप से प्राप्त होते हैं और ऐसी परिस्थितियों में व्यक्ति का अधिकार उसका यह कर्तव्य निश्चित करता है कि वह दूसरे व्यक्तियों के इसी प्रकार के समान अधिकार को स्वीकार करे। यदि मुझे सम्पत्ति का अधिकार है तो इस अधिकार के साथ ही मेरा यह कर्तव्य हो जाता है कि मैं दूसरे व्यक्तियों की सम्पत्ति को नष्ट करने का प्रयत्न न करूँ। डॉ. बेनीप्रसाद ने ठीक ही कहा है कि **"यदि प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने अधिकार का ही ध्यान रखे तथा दूसरों के प्रति कर्तव्यों का पालन न करे तो शीघ्र ही किसी के लिए भी अधिकार नहीं रहेंगे।"**

(3) नागरिक का अधिकार राज्य का कर्तव्य—अधिकार व्यक्ति का वह विवेकपूर्ण दावा है कि जिसे समाज स्वीकार करता और राज्य लागू करता है। अतः व्यक्ति के अधिकारों का महत्व उसी समय तक है जब तक कि राज्य इन अधिकारों को लागू करने की व्यवस्था करे। यदि व्यक्ति के किसी अधिकार में कोई दूसरा व्यक्ति बाधक सिद्ध होता है तो राज्य का कर्तव्य है कि वह उसे दण्ड दे। वस्तुतः व्यक्ति के अधिकार राज्य का कर्तव्य पालन की क्षमता पर निर्भर करते हैं।

(4) व्यक्ति का अधिकार समाज के प्रति उसका कर्तव्य है—अधिकार प्रदान करने का उद्देश्य व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास और सामूहिक रूप से सम्पूर्ण समाज की उन्नति होती है। अतः व्यक्ति का अधिकार उसका यह कर्तव्य निश्चित करता है कि वह अपने अधिकार का प्रयोग स्वयं अपने हित के साथ-साथ सामाजिक हित में करे। मुझे प्राप्त सम्पत्ति के अधिकार का तात्पर्य यह है कि मैं सम्पत्ति प्राप्त करने का प्रयत्न इस प्रकार करूं कि सम्पूर्ण समाज या दूसरे व्यक्तियों की उन्नति में भी कोई बाधा न पहुंचे, अर्थात् मुझे सम्पत्ति केआधार पर दूसरे व्यक्तियों का शोषण नहीं करना चाहिए।

(5) व्यक्ति के अधिकार राज्य के प्रति उसके कर्तव्य निर्धारित करते हैं—राज्य के द्वारा व्यक्ति को जीवन, स्वतन्त्रता, शिक्षा और सम्पत्ति का अधिकार प्रदान किया जाता है और राज्य इस बात की व्यवस्था करता है कि व्यक्ति व्यवहार में इन अधिकारों का उपयोग कर सके। इस प्रकार राज्य व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा और व्यवस्था के कार्य करता है, उन कार्यों के बदले में व्यक्ति का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह राज्य का समर्थन और सहयोग करे, राज्य के प्रति भक्ति और निष्ठा रखे और संकट की स्थिति में राज्य के लिए प्रत्येक प्रकार का त्याग करने को तत्पर रहे।

वस्तुतः अधिकार और कर्तव्य परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। अधिकार कर्तव्य का तथा कर्तव्य अधिकार का प्रतिविम्ब मात्र होता है। एक के अन्त से दोनों का ही अस्तित्व समाप्त हो जाता है। विश्व में बढ़ती हुई ईर्ष्या, द्वेष, कलह, घृणा और असन्तोष का एकमात्र कारण यह है कि व्यक्ति अपने अधिकारों का तो उपभोग करना चाहते हैं, लेकिन कर्तव्यपालन के प्रति उदासीन हैं। सामाजिक जीवन को सुव्यवस्थित रूप प्रदान करने का एकमात्र उपाय यह है कि व्यक्ति पूर्ण निष्ठा के साथ कर्तव्यपालन करें। महात्मा गांधी के शब्दों में कहा जा सकता है कि **"कर्तव्य का पालन कीजिए और अधिकार स्वतः ही आपको मिल जायेंगे।"**[2]

निबन्धात्मक प्रश्न

1. अधिकार की परिभाषा कीजिए और इस कथन की व्याख्या कीजिए कि प्रत्येक राज्य की पहचान उसके द्वारा प्रदत्त अधिकारों से होती है।'
2. अधिकारों के प्राकृतिक सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए। क्या इस सिद्धान्त में सत्य का कुछ अंश है?
3. अधिकारों के सम्बन्ध में प्रतिपादित विभिन्न सिद्धान्तों की आलोचनात्मक दृष्टि से विवेचना कीजिए। इसमें कोन-सा सिद्धान्त सन्तोषप्रद है?
4. अधिकार की परिभाषा कीजिए और अधिकारों के आदर्शवादी सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।
5. कर्तव्य की परिभाषा कीजिए और इस कथन की विस्तृत व्याख्या कीजिए कि,'अधिकार और कर्तव्य एक ही पदार्थ के दो पहलू हैं।'

1 "It is only in a world of duties, that rights have significance." —Norman Wilde
2 "Perform your duties and rights will come automatically to you." —Mahatma Gandhi

10

राजनीतिक दायित्व
(POLITICAL OBLIGATION)

"(ग्रीन के अनुसार) राज्य के विरुद्ध व्यक्ति के विरोध का अधिकार एक बड़ी शल्य क्रिया के समान है, जिसका प्रयोग अत्यन्त विशेष परिस्थितियों में तथा बहुत अधिक सावधानीपूर्वक ही किया जा सकता है।"
—अर्नेस्ट बार्कर

लोग राज्य की आज्ञा का पालन क्यों करते हैं? लोग प्राधिकार का आज्ञा पालन क्यों करते हैं? कब और किन परिस्थितियों में उन्हें अवज्ञा करनी चाहिए? ये कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न हैं जो वैध राजनीतिक व्यवस्था और प्रबुद्ध नागरिकता के बीच सम्बन्धों के मामलों से जुड़े हुए हैं।

राजनीतिक दायित्व : अभिप्राय
(POLITICAL OBLIGATION : MEANING)

दायित्व के अंग्रेजी पर्याय '*Obligation*' शब्द का मूल लैटिन शब्द '*Obligate*' से निकला है जो मनुष्यों को अभीष्ट कार्य करने की व्यस्तता से बांधता है। इस दृष्टि से इसके कई लक्ष्यार्थ हैं—उदाहरण के लिए, आचारशास्त्र में, यह मनुष्य से कहता है कि वह उसे सौंपे गए और उसके विवेक संगत वोधगम्यता द्वारा स्वीकृत कर्तव्य को निभाए या पूरा करे। विधिशास्त्र के क्षेत्र में, यह मनुष्य से कानून के पालन करने की अपेक्षा करता है जिसके द्वारा वह किसी कार्यनिष्पादन से बंधा हुआ है। राजनीति के क्षेत्र में, यह नागरिक के रूप में एक व्यक्ति और उस एक प्राधिकारी के बीच बन्धन का रूप धारण कर लेता है जिसके अधीन 'वह कोई कार्य करने य शासक प्राधिकारी के अधीन कार्य करने के लिए कहता है।' दूसरे शव्दों में, उसका यह निहितार्थ है कि जब मनुष्य राजनीतिक प्राणी है, तो वह किसी प्राधिकारी के अधीन रहेगा, यह उसका दायित्व वन जाता है कि वह इसके आदेशों का पालन करे।

हमारी स्पष्ट मान्यता है कि यदि व्यवस्था न हो तो किसी प्रकार का कोई जीवन नहीं हो सकता और क्योंकि व्यवस्था का निहितार्थ आज्ञापालन है अतः यह भी कहा जा सकता है कि यदि व्यवस्था को स्वीकार नहीं किया जाता तो किसी किस्म की व्यवस्था नहीं हो सकती। क्योंकि निर्णायक की व्यवस्थाओं को माने विना क्रिकेट का खेल नहीं खेला जा सकता, उसी तरह हम उस व्यक्ति के आदेशों का पालन किए बिना नहीं रह सकते जिसे समाज में कानून और व्यवस्था बनाए रखने का कार्य सौंपा गया है। जैसा वैन व पीटर्स ने कहा है : "इसमें कोई सन्देह नहीं कि सामान्य प्राधिकरण को स्वीकार करने के कई अच्छे कारण हैं.........हम प्रायः ऐसी स्थितियों में होते हैं जिनमें निर्णायक के निर्णय को स्वीकार करना हमारे अपने निर्णय पर आग्रह करने की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होता है.........सेना खराब सेनापतियों के साथ अच्छा कार्य करेगी वजाए इसके कि कोई सेनापति ही न हो। हम प्राधिकार को स्वीकार करते हैं क्योंकि अधिकांश सामाजिक उद्यम इसके विना वेकार हो जाएंगे।

किन्तु कई बार यह देखा गया है कि लोग न केवल राज्य के कानूनी या प्रभुसत्ताधारी आदेशों का पालन करते हैं, वे उन आदेशों की संवीक्षा भी करते हैं और यह देखते हैं कि उनसे जीवन का सन्तोष प्राप्त होता है अथवा नहीं और समय-समय पर वे उन्हें उस आधार पर अस्वीकार कर देते हैं कि यह उन सन्तोषों का नकार है। कहने का अभिप्राय है कि आज्ञापालन, मानव मात्र की सामान्य आदत है, लेकिन सीमान्त

मामले लगातार घटित होते रहते हैं जिनमें अवज्ञा करने का दुखद निर्णय लिया जाता है और उनकी भावनात्मक रूप से रक्षा की जाती है। ऐसी स्थिति में राजनीतिक दायित्व की तीन मुख्य विशेषताएं हैं :

1. प्रशासन एक कठिन कला है और किसी भी गलत कार्य के गम्भीर परिणाम हो सकते हैं। इसलिए, हर सजग व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह समस्त सार्वजनिक या प्रशासनिक मामलों के प्रवन्ध अर्थात् राजनीतिक प्रश्नों में गम्भीर रूप से रुचि ले।

2. राजनीतिक दायित्व की संकल्पना में राजनीतिक वैधता और प्रभावशीलता स्वतः शामिल है।

3. राजनीतिक दायित्व का विचार न केवल लोगों को इस बात के लिए अनुप्रेरित करता है कि वे सत्तारूढ़ लोगों के प्राधिकार का पालन करें, बल्कि वह यह भी अपेक्षा करता है कि वे प्राधिकार के उपयोग के तरीके के बारे में आलोचनात्मक वनें। उन्हें अपने शासकों के कार्यों की संवीक्षा करनी चाहिएं और उनकी स्वतन्त्रताओं पर प्रहार किए जाने की स्थिति में इसका विरोध करना चाहिए। अतः राजनीतिक दायित्व की संकल्पना में प्राधिकरण के प्रति प्रतिरोध का विचार भी शामिल है।

लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था और राजनीतिक दायित्व
(DEMOCRACY AND POLITICAL OBLIGATION)

लोकतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था में राजनीतिक दायित्व की समस्या अत्यन्त महत्वपूर्ण चर्चा का विषय है। लोकतन्त्र से तीन अर्थ लिए जाते हैं :

(1) यह निर्णय करने की विधि है।

(2) यह निर्णय लेने के सिद्धान्तों का समूह है।

(3) यह आदर्शात्मक मूल्यों का एक मॉडल है।

यहां यह प्रश्न उठता है कि किस प्रकार और किसके द्वारा लिए गए निर्णयों को ही लोकतान्त्रिक विधि से लिए गए निर्णय माना जाए? इन्हीं प्रश्नों का उत्तर आज से करीव दो हजार वर्ष पूर्व अरस्तू ने भी दिया था जो वहुत कुछ आज भी वैध कहा जा सकता है। अरस्तू ने कहा था कि "निर्णय लेने के लोकतान्त्रिक ढंग में पदाधिकारियों का चुनाव सव में से सवके द्वारा तथा सबका हर एक पर और प्रत्येक का सव पर शासन होता है।" अर्थात् लोकतान्त्रिक ढंग से किया गया निर्णय सम्पूर्ण समाज के द्वारा लिया गया निर्णय ही कहा जा सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि लोकतान्त्रिक प्रकृति के राजनीतिक समाज में निर्णय लेने का एक विशेष ढंग और उसकी विशेष पूर्व शर्तें होती हैं। वहीं निर्णय लोकतान्त्रिक ढंग से लिए हुए कहे जाते हैं जिनमें खुला विचार-विनिमय होता है, निर्णय प्रक्रिया में सारे जनसमाज की सहभागिता होती है, बहुमत के आधार पर निर्णय लिए जाते हैं। लोकतान्त्रिक ढंग से लिया गया निर्णय संविधान द्वारा व्यवस्थित साधनों की परिधि में ही लिया जाता है।

लोकतान्त्रिक प्रणाली उस राजनीतिक व्यवस्था में विद्यमान रह सकती है जहां समाज के सम्बन्ध में निर्णय लेने के आधार कुछ सिद्धान्त होते हैं। लोकतान्त्रिक व्यवस्था उस राजनीतिक पद्धति में विद्यमान रह सकती है जहां सिद्धान्तों के आधार पर ही निर्णय लिए जाते हैं। लोकतन्त्र के स्वीकृत सिद्धान्त हैं— (1) प्रतिनिधि सरकार का सिद्धान्त, (2) उत्तरदायी सरकार का सिद्धान्त, (3) संवैधानिक सरकार का सिद्धान्त, (4) प्रतियोगी राजनीति का सिद्धान्त, (5) लोकप्रिय सम्प्रभुता का सिद्धान्त।

लोकतान्त्रिक व्यवस्था में सरकार का गठन प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त पर आधारित होना चाहिएं। सरकार निश्चित अवधि के लिए जनता द्वारा निर्वाचित होनी चाहिए। सरकार जनता के प्रति अपने समस्त क्रिया-कलापों के लिए उत्तरदायी होनी चाहिए। लोकतान्त्रिक शासन में नियतकालीन निर्वाचनों के माध्यमों से जनता को सरकार के कार्यों का मूल्यांकन करने का अवसर मिलना चाहिए। लोकतन्त्रात्मक शासन में राज्य का न केवल संविधान हो, अपितु संवैधानिक सरकार भी होनी चाहिए। संवैधानिक सरकार वह सरकार होती है जो संवैधानिक उपवन्धों के अनुसार संगठित, सीमित और नियन्त्रित होती है तथा व्यक्ति विशेष की इच्छाओं के स्थान पर केवल कानून के अनुसार ही संचालित होती है। लोकतान्त्रिक व्यवस्था में प्रतियोगी राजनीति के लिए यह आवश्यक है कि अनेक संगठन, राजनीतिक दल व समूह प्रतियोगी रूप में उस व्यवस्था में सक्रिय रहें। लोकतन्त्र में अन्तिम सत्ता जनता में निहित होती है। राज्य में जनता सर्वोपरि एवं सम्प्रभु होती है।

लोकतान्त्रिक शासन प्रणाली की आधारभूत कसौटी इसकी मूल्य व्यवस्था में निहित है। इन्हीं मूल्यों के आधार पर किसी व्यवस्था को लोकतन्त्रात्मक या अलोकतान्त्रिक कहा जा सकता है। कोरी तथा अब्राहम ने लोकतान्त्रिक समाज के निम्नलिखित मूल्यों को आधारभूत बताया है—(1) व्यक्तिगत व्यक्तित्व का सम्मान (respect for individual personality), (2) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता (individual freedom), (3) विवेक में विश्वास (belief in rationality), (4) समानता (equality), (5) न्याय (justice), और (6) विधि का शासन या संविधानवाद (rule of law or constitutionalism)।

यदि लोकतान्त्रिक व्यवस्था में विचार विनिमय और जनसहभागिता के आधार पर निर्णय न लिए जाएं, बहुमत की उपेक्षा हो, असंवैधानिक साधनों जैसे हड़ताल, हिंसात्मक तोड़-फोड़ व दलों के द्वारा शासकों को विशेष निर्णय लेने के लिए बाध्य किया जाए, अल्पसंख्यकों के हितों की उपेक्षा हो तो राजनीतिक दायित्व की गम्भीर समस्या उत्पन्न होती है। यदि किसी देश में शासन का ढांचा लोकतन्त्रात्मक हो, किन्तु नियतकालीन चुनाव न हो, सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी न हो, जनता के सामने प्रतियोगी दल व्यवस्था न हो, तो भी राजनीतिक दायित्व की समस्या उठ खड़ी होती है।

अधिनायकवादी व्यवस्था और राजनीतिक दायित्व
(DICTATORIAL SYSTEM AND POLITICAL OBLIGATION)

अनेक देशों में अधिनायकवादी व्यवस्था प्रचलित है। अधिनायकवादी व्यवस्था दो प्रकार की हैं—प्राचीन अधिनायक तन्त्र और अर्वाचीन अधिनायक तन्त्र। प्राचीन समय में ऐसी व्यवस्था या तो विशेष संकटों का सफलता से मुकाबला करने के लिए या लोक-कल्याण के लक्ष्यों को शीघ्रता से प्राप्त करने के लिए अपनाई जाती थी। प्राचीन अधिनायक पर कानूनी नियन्त्रण रहता था उसका लक्ष्य लोककल्याण था। उसे वैधता प्राप्त रहती थी। प्रश्न यह है कि यदि वह लोककल्याण के लक्ष्य से विचलित हो जाए, यदि वह वैधता खो दे, तो क्या राजनीतिक दायित्व की समस्या उत्पन्न नहीं हो जाती है।

आधुनिक अधिनायकवाद जैसे साम्यवादी देशों में दल और विचारधारा पर आधारित हैं। यदि सत्तारूढ़ व्यक्ति दल की विचारधारा से दूर हट जाए तो साम्यवादी देशों में भी राजनीतिक दायित्व की समस्या उत्पन्न हो जाती है।

राजनीतिक दायित्व पर ग्रीन के विचार
(T. H. GREEN'S VIEWS OF POLITICAL OBLIGATION)

टी. एच. ग्रीन ने राजनीतिक दायित्व की समस्या पर विचार किया है। ग्रीन के अनुसार राज्य का कार्य व्यक्ति द्वारा श्रेष्ठ और नैतिक जीवन व्यतीत करने के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करना है और इसलिए साधारणतः उसके कार्यों का विरोध नहीं किया जाना चाहिए। लेकिन कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि राज्य इस लक्ष्य की पूर्ति को ध्यान में रखकर अपने कार्यों का संयोजन नहीं करता। अतः ऐसी स्थिति में व्यक्ति के लिए राज्य के हित में उसके कार्यों का विरोध करना आवश्यक हो जाता है। दूसरे शब्दों में वह कहता है कि जव राज्य के वास्तविक कानूनों में और आदर्श कानूनों में कोई भिन्नता हो तो ऐसी स्थिति में आदर्श कानूनों के अनुकूल सुधार आवश्यक हो जाता है। अगर समाज की सामान्य चेतना ऐसा अनुभव करे तो ग्रीन की मान्यता है कि व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध आवाज उठाने का और उसका विरोध करने का अधिकार है।

व्यक्ति को सामान्य हित की सिद्धि के लिए राज्य का विरोध करने का अधिकार प्रदान करके भी ग्रीन यह कहता है कि राज्य के विरोध का अधिकार व्यक्ति द्वारा काफी सोच-विचार के बाद ही प्रयोग में लाया जाना चाहिए। किन्हीं कल्पित अधिकारों या परिणामों से प्रभावित होकर इस अधिकार का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने पर अराजकता का प्रसार हो सकता है और सामान्य हित को हानि पहुंच सकती है। ग्रीन के अनुसार व्यक्ति को किन स्थितियों में अपने इस अधिकार का प्रयोग करना चाहिए इसको स्पष्ट करते हुए कोकर का कथन है कि,

"जिन अवस्थाओं में नागरिक की ओर से प्रतिवाद या विरोध नैतिक दृष्टि से उचित कहा जा सकता है, वे ग्रीन के अनुसार ये हैं—उसे यह विश्वास हो जाना चाहिए कि सफल विरोध द्वारा एक निश्चित हित की प्राप्ति सम्भव है और उसे यह भी विश्वास हो जाना चाहिए कि समाज में एक काफी बड़े भाग का भी

वैसा ही विचार है। दूसरे शब्दों में शासन सत्ता के प्रतिरोध का व्यक्ति का अधिकार नहीं है, जहां सामान्यतया स्वीकार किया जाता है कि इस प्रकार के प्रतिरोध से सार्वजनिक हित की वृद्धि होगी। इसके साथ ही सफल प्रतिरोध के जो सामान्य परिणाम होंगे, उन पर व्यावहारिक दृष्टि से भी विचार करना चाहिए। यदि लक्ष्य ऐसे हों कि कानून की अवज्ञा अथवा शासन के विरुद्ध विद्रोह का परिणाम सामान्य अव्यवस्था है तो प्रतिरोध उचित नहीं हो सकता, क्योंकि कानून के राज्य के स्थान पर अराजकता की स्थापना से अनुचित कानूनों को मानने की अपेक्षा अधिक अन्याय होंगे।"

इस प्रकार ग्रीन बहुत सी चेतावनियों और सामान्य हित की सिद्धि के आधार पर ही व्यक्ति को यह अधिकार प्रदान करता है और चाहता है कि राज्य का विरोध करने के पूर्व वह उसके सम्भावित परिणामों के बारे में सोच-विचार कर ही उसका प्रयोग करें, क्योंकि अगर उससे अराजकता की स्थिति उत्पन्न होती है तो वह एक भयंकर बात होगी जो सामान्य हित का विनाश करने वाली होगी।

कोकर के शब्दों में, "ग्रीन राज्य के प्रतिरोध को कोई मामूली बात नहीं समझता। वह यह अपेक्षा करता है कि नागरिक किसी कानून का प्रतिवाद नैतिक आधारों पर करने की इच्छा करते समय अनेक प्रश्नों पर विचार करें—क्या कानून के विरुद्ध उसकी जो आपत्ति है वह जन कल्याण की चिन्ता पर आधारित है या स्वयं अपनी ही सुख-सुविधाओं की चिन्ता पर? क्या कानून में परिवर्तन शान्तिमय या वैधानिक उपाय से किया जा सकता है? यदि नहीं तो इस बात की कितनी सम्भावना है कि बलपूर्वक विरोध से कानून में उचित परिवर्तन हो सकेगा? क्या समाज की सामाजिक विवेक-बुद्धि उस स्थिति को उसी रूप में देखती है जिसमें वह स्वयं उसे देखता है? यदि मामला इतना महत्वपूर्ण हो कि वर्तमान शासन को उलटना ही उचित ज्ञात होता है तो यह देखना चाहिए कि क्या जनता की मनोवृत्ति एवं योग्यता ऐसी है जिससे यह विश्वास हो सके कि अराजकता नहीं होगी? अथवा क्या बुराई इतनी बड़ी है कि अराजकता का खतरा उठाना ही चाहिए? स्वयं के हित को ही छोड़ किसी अन्य हित के लिए ही राज्य की अवज्ञा का अधिकार नहीं हो सकता अर्थात् राज्य को उसके वास्तविक कानूनों के सम्बन्ध में स्वयं उसकी प्रवृत्ति या कल्पना के अनुरूप बनाने अर्थात् मनुष्यों के सामाजिक सम्बन्धों से जो अधिकार उत्पन्न होते हैं उनमें सामंजस्य स्थापित करने वाला तथा उसका पोषक बनाने के लिए ही यह अधिकार हो सकता है।"

कोकर के इस कथन से यह सिद्ध होता है कि ग्रीन राज्य के विरोध को व्यक्ति का आवश्यक कर्तव्य नहीं समझता, वरन् इसे केवल कुछ विशेष दशाओं में ही उचित मानता है। बार्कर ने भी इसका समर्थन करते हुए लिखा है कि "जब विरोध के लिए आवश्यक प्रत्येक शर्त पूरी हो जाती है, तभी विरोध करना सम्भवतः न्यायोचित होता है, यह अनिवार्य रूप से आवश्यक नहीं है।"

इस प्रकार ग्रीन व्यक्ति को राज्य का विरोध करने का अधिकार प्रदान करता है। लेकिन उसका यह ऐसा अधिकार है जो साधारण अधिकार नहीं है और जिसे उसे काफ़ी सावधानी से स्वयं विचार कर और विशेष परिस्थितियों में सामान्य हित की सिद्धि के लिए ही प्रयोग में लाना चाहिए।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. राजनीतिक दायित्व की अवधारणा की विवेचना कीजिए।
2. राजनीतिक दायित्व की धारणा पर ग्रीन के विचारों की विवेचना कीजिए।

11

स्वतन्त्रता
(LIBERTY)

"स्वतन्त्रता किसी अन्य साध्य की प्राप्ति का साधन नहीं, वरन् यह सर्वोच्च साध्य है।"
—डॉ. राधाकृष्णन्

स्वतन्त्रता का महत्व—मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए अधिकारों का अस्तित्व नितान्त आवश्यक होता है और व्यक्ति के विविध अधिकारों में स्वतन्त्रता का स्थान बहुत अधिक महत्वपूर्ण है। बर्ट्रेण्ड रसैल कहते हैं कि **स्वतन्त्रता की इच्छा व्यक्ति की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है और इसी के आधार पर सामाजिक जीवन का निर्माण सम्भव है।** मनुष्य का सम्पूर्ण भौतिक, मानसिक एवं नैतिक विकास स्वतन्त्रता के वातावरण में ही सम्भव है। इटली के प्रसिद्ध देशभक्त मैजिनी (Mazzini) का कथन है कि **"स्वतन्त्रता के अभाव में आप अपना कोई कर्तव्य पूरा नहीं कर सकते हैं। अतएव आपको स्वतन्त्रता का अधिकार दिया जाता है और जो भी शक्ति आपको इस अधिकार से वंचित रखना चाहती हो, उससे जैसे भी बने, अपनी स्वतन्त्रता छीन लेना आपका कर्तव्य है।"**

स्वतन्त्रता का अर्थ—आधुनिक युग में स्वतन्त्रता शब्द सबसे अधिक लोकप्रिय है और इस शब्द की लोकप्रियता का परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार स्वतन्त्रता के अलग-अलग अर्थ लेता है। अधिकांश मनुष्य स्वतन्त्रता का अर्थ मनमानी करने से या बिना किसी दूसरे व्यक्ति के हस्तक्षेप के अपनी इच्छानुसार कार्य करने से लेते हैं। स्वतन्त्र विचारक स्वतन्त्रता का अर्थ प्राचीन परम्पराओं एवं बन्धनों से मुक्त होने से लेते हैं, आध्यात्मिक सन्त स्वतन्त्रता का अभिप्राय सांसारिक मोह-माया से मुक्ति होने से लेते हैं और परतन्त्र देश के निवासी स्वतन्त्रता को स्वराज्य का पर्यायवाची समझते हैं, किन्तु व्यवहार में प्रचलित स्वतन्त्रता के इन विविध अर्थों में कोई भी अर्थ पूर्ण नहीं है।

स्वतन्त्रता का अंग्रेजी रूपान्तर 'लिबर्टी (Liberty) लैटिन भाषा के 'लिबर' (Liber) शब्द से निकला है जिसका अर्थ होता है **'बन्धनों का अभाव'**, किन्तु 'स्वतन्त्रता' शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर प्रचलित इस अर्थ को स्वीकार नहीं किया जा सकता। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और समाज में रहते हुए मनुष्य असीमित स्वतन्त्रता का उपभोग कर ही नहीं सकता। उसे सामाजिक नियमों की मर्यादा के अन्तर्गत रहना होता है। अतः राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत स्वतन्त्रता की जिस रूप में कल्पना की जाती है, उस रूप में **स्वतन्त्रता मानवीय प्रकृति और सामाजिक जीवन के इन दो विरोधी तत्वों (बन्धनों का अभाव और नियमों के पालन) में सामंजस्य का नाम है** और इनकी परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि **"स्वतन्त्रता व्यक्ति की अपनी इच्छानुसार कार्य करने की शक्ति का नाम है बशर्ते कि इनसे दूसरे व्यक्ति की इसी प्रकार की स्वतन्त्रता में कोई बाधा न पहुंचे।"** 1789 की **'मानवीय अधिकार घोषणा'** में यही कहा गया है कि **"स्वतन्त्रता वह सब कुछ करने की शक्ति का नाम है, जिससे दूसरे व्यक्तियों को आघात न पहुंचे।"** सीले, लास्की, मैकेंजी, आदि विद्वानों ने भी स्वतन्त्रता की परिभाषा लगभग इसी प्रकार से की है।

सीले के अनुसार, **"स्वतन्त्रता अति शासन की विरोधी है।"**[1]

प्रो. लास्की के शब्दों में, "स्वतन्त्रता से मेरा अभिप्राय यह है कि उन सामाजिक परिस्थितियों के अस्तित्व पर प्रतिबन्ध न हो, जो आधुनिक सभ्यता में मनुष्य के सुख के लिए नितान्त आवश्यक हैं।"[2]

1 "Liberty is the opposite of over-government." —*Seeley*

2 "Liberty is the absence of restraints upon the existence of those social conditions, which in modern civilization are the necessary guarantees of individual happiness." —*Laski*

मैकेंजी के अनुसार, "स्वतन्त्रता सभी प्रकार के प्रतिबन्धों का अभाव नहीं, अपितु अनुचित प्रतिबन्धों के स्थान पर उचित प्रतिबन्धों की व्यवस्था है।"[1]

सीले, फ्रीमैन और मैकेंजी, आदि विद्वानों द्वारा स्वतन्त्रता की जो परिभाषाएं की गयी हैं, उनमें स्वतन्त्रता का चित्रण अनुचित प्रतिबन्धों का अभाव या उचित प्रतिबन्धों की व्यवस्था के रूप में दिया गया है और इस प्रकार ये परिभाषाएं स्वतन्त्रता के नकारात्मक स्वरूप को प्रकट करती हैं, किन्तु जैसा कि गैटल ने कहा है, **'स्वतन्त्रता का समाज में केवल नकारात्मक स्वरूप ही नहीं है, वरन् सकारात्मक स्वरूप भी है।'** स्वतन्त्रता के सकारात्मक या वास्तविक स्वरूप की नकारात्मक स्वरूप से भिन्नता बताते हुए टी. एच. ग्रीन ने लिखा है कि **"जिस प्रकार सौन्दर्य कुरूपता के अभाव का नाम ही नहीं होता, उसी प्रकार स्वतन्त्रता प्रतिबन्धों के अभाव का ही नाम नहीं है।"**[2] आगे चलकर ग्रीन ही स्वतन्त्रता के सकारात्मक रूप को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि **"स्वतन्त्रता ऐसे कार्य करने और उपयोग करने की शक्ति का नाम है जो करने योग्य या उपभोग के योग्य हो।"** स्वतन्त्रता के इस रूप की व्याख्या करते हुए लास्की ने कहा है कि **"स्वतन्त्रता उस वातावरण को बनाये रखना है जिसनें व्यक्ति को अपने जीवन का सर्वोत्तम विकास करने की सुविधा प्राप्त हो।"**

इस प्रकार सकारात्मक रूप में स्वतन्त्रता का तात्पर्य ऐसे वातावरण और परिस्थितियों की विद्यमानता से है जिससे व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सकें।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर स्वतन्त्रता के दो तत्व कहे जा सकते हैं :

(1) **न्यूनतम प्रतिबन्ध**—स्वतन्त्रता का प्रथम तत्व यह है कि व्यक्ति के जीवन पर शासन और समाज के दूसरे सदस्यों की ओर से न्यूनतम प्रतिबन्ध होने चाहिए जिससे व्यक्ति अपने विचार और कार्य व्यवहार में अधिकाधिक स्वतन्त्रता का उपभोग कर सके।

(2) **व्यक्तित्व के विकास हेतु सुविधाएं**—स्वतन्त्रता का दूसरा तत्व यह है कि समाज और राज्य द्वारा व्यक्ति को उसके व्यक्तित्व के विकास हेतु अधिकाधिक सुविधाएं प्रदान की जानी चाहिए।

अतः स्वतन्त्रता की परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि **"स्वतन्त्रता जीवन की ऐसी अवस्था का नाम है जिसमें व्यक्ति के जीवन पर न्यूनतम प्रतिबन्ध हों और व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास हेतु अधिकतम सुविधाएं प्राप्त हों।"**

स्वतन्त्रता का नकारात्मक दृष्टिकोण : जे. एस. मिल
(NEGATIVE VIEW OF LIBERTY : J. S. MILL)

स्वतन्त्रता के नकारात्मक दृष्टिकोण का सबसे अधिक प्रमुख रूप में प्रतिपादन जे. एस. मिल के द्वारा 1859 ई. में प्रकाशित अपने निबन्ध **'स्वतन्त्रता'** (*On Liberty*) में किया गया है। मिल का कथन है कि व्यक्ति का उद्देश्य अपने व्यक्तित्व का उच्चतम एवं अधिकतम विकास है और यह विकास केवल स्वतन्त्रता के वातावरण में ही सम्भव है। यदि व्यक्ति को यह स्वाधीनता न दी जाए तो मानव जीवन का मूल लक्ष्य ही विफल हो जाएगा। समाज की उन्नति और विकास के लिए भी व्यक्ति को अधिकतम स्वाधीनता देना आवश्यक है। इस प्रकार मिल के अनुसार, 'व्यक्ति के जीवन में राज्य का न्यूनतम हस्तक्षेप और अधिकतम सम्भव सीमा तक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार जीवन व्यतीत करने की छूट' ही स्वतन्त्रता है और वह इसे अपनाने पर बल देता है। मिल व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की इस स्थिति का प्रबलतम समर्थक है और उसने व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के दो पहलुओं पर बल दिया है : **विचार स्वातन्त्र्य और कार्य स्वातन्त्र्य।**

मिल के अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति को विचार और अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए तथा राज्य के द्वारा किसी भी प्रकार की विचारधारा या भावाभिव्यक्ति पर कोई बन्धन नहीं लगाया जाना चाहिए। मिल न केवल सभी सामान्य व्यक्तियों वरन् सनकी व्यक्तियों को भी विचार की स्वतन्त्रता देने के पक्ष में है।

कार्य स्वातन्त्र्य के प्रसंग में, मिल मानव कार्यों को दो भागों में विभाजित करता है :

(1) **स्व-विषयक (Self-regarding)** अर्थात् व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित (2) **पर-विषयक (Others Regarding)** अर्थात् ऐसे कार्य, जिनका प्रभाव समाज के अन्य व्यक्तियों के जीवन पर पड़ता है।

1. "Freedom is not the absence of all restraints but rather the substitution of rational ones for the irrational." —*Mackenzie*
2. "The positive power of doing or enjoying something worth doing or enjoying." —*Green*

मिल का कथन है कि स्व-विषयक कार्यों में व्यक्ति को पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त होनी चाहिए, लेकिन पर-विषयक कार्यों में व्यक्ति की स्वतन्त्रता सीमित होती है, विशेषकर जबकि उसके कार्यों से समाज के अन्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता में बाधा पहुंचती हो।

मिल व्यक्ति स्वातन्त्र्य की रक्षा न केवल राज्य के हस्तक्षेप से वरन् असहिष्णु समाज, बहुमत और परम्पराओं के दबाव से करने के लिए भी प्रयत्नशील है।

मिल व्यक्ति के जीवन पर 'न्यूनतम प्रतिबन्धों की स्थिति' को स्वतन्त्रता का नाम देते हुए स्वतन्त्रता के नकारात्मक दृष्टिकोण का प्रतिपादन करता है। आज की परिस्थितियों में मिल की इस स्वतन्त्रता को वास्तविक स्वतन्त्रता नहीं कहा जा सकता है। इसी कारण **अर्नेस्ट बार्कर** टिप्पणी करते हैं :

"मिल हमें खोखली स्वतन्त्रता और काल्पनिक व्यक्ति का ही पैगम्बर लगता है। व्यक्ति के अधिकारों के सम्बन्ध में, उसके पास कोई स्पष्ट दर्शन नहीं था, जिसके आधार पर स्वतन्त्रता की धारणा को कोई सार्थक रूप प्राप्त हो पाता।"[1]

हैराल्ड लास्की के स्वतन्त्रता विषयक विचार

लास्की ने अपनी विविध रचनाओं में स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में अलग-अलग विचार व्यक्त किए हैं। अपनी प्रारम्भिक रचनाओं, यथा '*Authority in the Modern State*' (1918) में वह 'नकारात्मक स्वतन्त्रता' के समर्थक के रूप में सामने आता है, लेकिन उत्तरकाल की रचनाओं यथा '*A Grammar of Politics*' (1929) और '*Liberty in the Modern State*' (1930) में उसने ऐसे विचार व्यक्त किए हैं, जो उसे 'सकारात्मक स्वतन्त्रता' का प्रबल समर्थक बना देते हैं।

लास्की अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में इस बात पर बल देता है कि 'व्यक्ति के जीवन पर अनुचित प्रतिबन्धों का अभाव होना चाहिए', लेकिन अपनी उत्तरवर्ती रचनाओं में उसने स्वतन्त्रता के तीन रूपों की ओर संकेत किया है। ये हैं : व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, राजनीतिक स्वतन्त्रता और आर्थिक स्वतन्त्रता। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, व्यक्तिगत जीवन अपनी इच्छानुसार व्यतीत करने की स्थिति है और राजनीतिक स्वतन्त्रता का अर्थ है, 'राज्य के मामलों में सक्रिय हो पाने की शक्ति।'

व्यक्तिगत और राजनीतिक स्वतन्त्रता की तुलना में लास्की आर्थिक स्वतन्त्रता को अधिक महत्व देता है। आर्थिक स्वतन्त्रता का आशय है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यतानुसार रोजी कमाने का अवसर मिले और वह बेकारी से मुक्त रहे। वह आर्थिक स्वतन्त्रता के अन्तर्गत व्यक्ति की आर्थिक सुरक्षा और 'उद्योग में लोकतन्त्र के समावेश' को भी स्थान देता है।

1930 ई. के बाद लास्की ने इस बात पर बहुत अधिक बल दिया कि स्वतन्त्रता का विचार समानता के साथ जुड़ा हुआ है और समानता के बिना स्वतन्त्रता एकांगी तथा अपूर्ण है।

इस प्रकार लास्की 'नकारात्मक स्वतन्त्रता' और 'सकारात्मक स्वतन्त्रता' दोनों के ही प्रबल समर्थक के रूप में हमारे सामने आता है। अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में तो लास्की ने 'सकारात्मक स्वतन्त्रता' का प्रबल रूप से पक्ष ग्रहण किया है। इस दृष्टि से लास्की के नाम को 'नकारात्मक स्वतन्त्रता' के साथ नहीं जोड़ा जाना चाहिए।

स्वतन्त्रता का सकारात्मक दृष्टिकोण : ग्रीन और बोसांके
(POSITIVE VIEW OF LIBERTY : GREEN AND BOSANQUET)

वर्तमान समय में यह विचार बलवती हो रहा है कि 'व्यक्ति के जीवन पर प्रतिबन्धों के अभाव मात्र' से व्यक्ति का विकास सम्भव नहीं है। अतः स्वतन्त्रता के नकारात्मक दृष्टिकोण के स्थान पर 'सकारात्मक दृष्टिकोण' का प्रतिपादन किया जा रहा है। स्वतन्त्रता के इस सकारात्मक दृष्टिकोण के साथ सबसे अधिक प्रबल रूप में थॉमस हिल ग्रीन का नाम जुड़ा हुआ है। बोसांके ने ग्रीन के इन विचारों को ही अपनाया है।

ग्रीन स्वतन्त्रता विषयक विचारों के सम्बन्ध में काण्ट की 'स्वतन्त्र नैतिक इच्छा' और हीगल की 'सकारात्मक स्वतन्त्रता' की धारणा से प्रभावित है। ग्रीन के अनुसार, स्वतन्त्रता न तो केवल हस्तक्षेप का

1 **"Mill was the prophet of an empty liberty and an abstract individual. He had no clear philosophy of the right through which the conception of liberty attain a concrete meaning."**
—E. Barker, *Political Thought in England from* 1489 to 1914, p. 101.

अभाव मात्र है और न ही मनमानी करने की छूट क्योंकि इसके अन्तर्गत कार्य करने की उस प्रवृत्ति पर ध्यान नहीं दिया गया, जिसमें व्यक्ति की इच्छा सन्तुष्टि प्राप्त करती है। एक ऐसे व्यक्ति को स्वतन्त्र कैसे कहा जा सकता है जो मृत्यु की सीमा तक मद्यपान करता है या जुए द्वारा स्वयं अपने परिवार का विनाश करता है।

ग्रीन के मतानुसार स्वतन्त्रता न तो केवल हस्तक्षेप का अभावमात्र है और न ही मनमानी करने की छूट। हस्तक्षेप का अभावमात्र केवल नकारात्मक स्वतन्त्रता होगी और यदि स्वतन्त्रता का अर्थ मनमानी करने की छूट ले लिया जाए, तो उसमें तथा उच्छृंखलता में कोई अन्तर न रह जाएगा। अतः स्वतन्त्रता के दो लक्षण हैं—(1) स्वतन्त्रता एक निश्चित प्रकार के कार्यों को ही करने की सुविधा है, अर्थात् उचित या विधि-विहित कार्यों को करने की, जो हमारी आत्मोन्नति में सहायक हों। (2) यह सकारात्मक होती है, अर्थात् वह हस्तक्षेप का अभावमात्र ही नहीं, वरन् ऐसी परिस्थितियों और वातावरण की उपलब्धि है, जिसमें व्यक्तित्व का विकास सम्पन्न हो सके।

ग्रीन की स्वतन्त्रता के इन दो लक्षणों को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है :

(1) ग्रीन के अनुसार स्वतन्त्रता का अर्थ नियन्त्रण या अनुशासन से मुक्ति प्राप्त करना नहीं है और हम उसे भी स्वतन्त्रता नहीं कह सकते, जब एक व्यक्ति या कोई वर्ग दूसरे की स्वतन्त्रता की बलि देकर स्वतन्त्रता का उपयोग करे। हमारे कार्य समाज के अन्य व्यक्तियों के कार्यों से सम्बन्धित होते हैं, इसलिए सामाजिक सन्दर्भ में स्वतन्त्रता का अर्थ यह है कि हमें निश्चित प्रकार के उन कार्यों को करने की स्वतन्त्रता मिले, जिनके द्वारा व्यक्ति उस सुख या वस्तु को प्राप्त कर सके, जो सामाजिक और नैतिक दृष्टिकोण से प्राप्त करने के योग्य हो और जिसकी प्राप्ति हम समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ मिलकर करते हैं। इस प्रकार ग्रीन की स्वतन्त्रता की धारणा स्वतन्त्रता के प्रचलित सामान्य अर्थ से भिन्न है। उदाहरणार्थ, विद्यार्थी अपने आपको तब स्वतन्त्र समझते हैं जबकि विद्यार्थियों को विद्यालय और परीक्षा भवन में मनमाना आचरण करने की छूट हो, किन्तु ग्रीन इसे स्वतन्त्रता नहीं, वरन् उच्छृंखलता या अनुशासनहीनता मानता है। ग्रीन के मतानुसार विद्यार्थियों की स्वतन्त्रता इसी में निहित है कि वे बड़े मनोयोग से पाठ्य-पुस्तकों का अध्ययन करें, विभिन्न प्रकार के खेलों और व्यायामों से अपने शरीर को सुदृढ़ बनावें तथा चारित्रिक गुणों का विकास करें। इसी प्रकार श्रमिक वर्ग की स्वतन्त्रता अपनी मांगें मनवाने के लिए तोड़-फोड़, हड़ताल या विध्वंसात्मक कार्यवाही करने में नहीं, वरन् उत्पादन बढ़ाकर, अपने देश को समृद्ध बनाने में ही है।

ग्रीन मानता है कि मनुष्य एक नैतिक प्राणी है, जिसका चरम लक्ष्य अन्य प्राणियों एवं समाज का हित सम्पादन करना है। जो कार्य व्यक्ति के इस उद्देश्य को पूरा करें तथा व्यक्ति के नैतिक और सामाजिक विकास में सहायक हों, उन्हें करना ही स्वतन्त्रता है। व्यक्तियों को कुछ बुरे कार्य करने में भी क्षणिक सुख की प्राप्ति हो सकती है, परन्तु वे कार्य आत्मा के विकास में बाधक होते हैं। अतः इन कार्यों को उसे न करने देना ही स्वतन्त्रता है। वस्तुतः इन कार्यों को करने की छूट प्राप्त होने से व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं, वरन् परतन्त्र हो जाता है। ग्रीन के उपर्युक्त मत को स्पष्ट करते हुए बार्कर ने लिखा है कि **"अच्छे कार्य करने की प्रेरणा देने वाली, सद्इच्छा के आदेशों का पालन करने की स्वतन्त्रता ही सच्ची स्वाधीनता हो सकती है।"**

(2) **स्वतन्त्रता का सकारात्मक या भावात्मक रूप**—ग्रीन के पूर्ववर्ती उपयोगितावादी तथा व्यक्तिवादी विचारक राज्य के कानून तथा व्यक्ति की स्वतन्त्रता को परस्पर विरोधी मानते थे और उनका विचार था कि राज्य के द्वारा ऐसे सभी कानून रद्द कर दिए जाने चाहिए जिससे व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगता हो। आडम स्मिथ का मत था कि राज्य के द्वारा आर्थिक क्षेत्र में कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाना चाहिए और जॉन स्टुअर्ट मिल जैसे विचारकों का मत था कि व्यक्ति के नैतिक विकास तथा उसके व्यक्तित्व के विकास के हित में राज्य के द्वारा व्यक्ति के जीवन में कम-से-कम ही हस्तक्षेप किया जाना चाहिए। इन विचारकों के द्वारा प्रतिबन्धों या कानूनों के अभाव पर या इनके हटाये जाने पर बल दिया गया था। अतः इनकी स्वतन्त्रता के विचार को **'नकारात्मक स्वतन्त्रता'** (Negative Freedom) की धारणा कहा जाता है।

किन्तु ग्रीन ने उपयोगितावादियों या व्यक्तिवादियों की नकारात्मक स्वतन्त्रता के स्थान पर सकारात्मक स्वतन्त्रता का प्रतिपादन किया। इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति द्वारा अपनी योग्यता और गुणों के विकास के लिए राज्य की शक्ति का प्रयोग किया जा सकता है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा राज्य के कार्यों में परस्पर कोई विरोध नहीं होता। अतः राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता का शोषक नहीं वरन् पोषक है।

ग्रीन की विचारधारा के अनुसार स्वतन्त्रता केवल एक साधन है और साध्य है सामाजिक कल्याण में समान योगदान के लिए सबकी शक्तियों को मुक्त करना। इसलिए कोई मनुष्य किसी की सम्पत्ति नहीं हो सकता और न कोई मनुष्य दूसरे का साधन बन सकता है। चूंकि श्रम व्यक्ति के व्यक्तित्व से सम्बन्धित है, इसलिए यदि पूंजीपति और मजदूरों के सम्बन्धों से सामाजिक भलाई में स्वतन्त्र योगदान देने से व्यक्ति को बाधा पड़ती है, तो श्रम के बेचने पर नियन्त्रण किया जाना आवश्यक है। रोशनी और स्वच्छ वायु की कमी वाले कारखाने और अधिक काम के घण्टे व्यक्ति के इस योगदान को सीमित करते हैं, इसलिए कारखानों के अस्वस्थ वातावरण को हटाने वाली, श्रम के घण्टे निर्धारित करने वाली तथा अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करने वाली विधियां व्यक्ति की स्वतन्त्रता सीमित नहीं करतीं, वरन् व्यक्ति को अपनी शक्ति के प्रयोग की सुविधा देकर उसे स्वतन्त्र करती हैं। ग्रीन के ही शब्दों में, **"हमारा आधुनिक नियमन, जो श्रम, शिक्षा और स्वास्थ्य से सम्बन्ध रखता है और जो हमारे समझौते की स्वतन्त्रता में अधिकाधिक हस्तक्षेप मालूम होता है, इस आधार पर न्यायोचित है कि राज्य का कार्य यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से नैतिक अच्छाई बढ़ाना नहीं है, फिर भी उन परिस्थितियों को बनाता है जिनके बिना मानवीय शक्तियों का स्वतन्त्र रूप से कार्य करना असम्भव है।"**[1]

इस प्रकार ग्रीन व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए समाज और राज्य के नियमों को आवश्यक मानता है। यही ग्रीन का सकारात्मक स्वतन्त्रता (Positive Freedom) का विचार है।

बोसांके का स्वतन्त्रता का सिद्धान्त
(BOSANQUET'S CONCEPTION OF LIBERTY)

बोसांके की स्वतन्त्रता विषयक धारणा पर रूसो, काण्ट, हीगल और ग्रीन का प्रभाव है। वह ग्रीन के ही समान 'सकारात्मक स्वतन्त्रता' का प्रतिपादन करता है।

बोसांके 'प्राकृतिक स्वतन्त्रता' की किसी धारणा में विश्वास नहीं करता। उसके अनुसार, स्वतन्त्रता व्यक्ति की वह अवस्था है जिसमें वह अनेक यातनाओं, दबावों, नियन्त्रणों, दमन और पराधीनताओं के होते हुए भी कुल मिलाकर अपने आपको केवल अपने वश में होना मानता है। एक व्यक्ति जो दास नहीं है, वह एक स्वतन्त्र नागरिक हो, यह आवश्यक नहीं है। उसकी उक्ति है, 'एक व्यक्ति दास से अधिक होकर भी स्वतन्त्र नागरिक से कम हो सकता है।'[2] बोसांके का यह कथन रूसो के इस विचार के अनुसार है, जिसमें उन्होंने कहा था, 'एक व्यक्ति (सदिच्छापूर्ण) राज्य का नागरिक बनकर स्वतन्त्र हो जाता है।'

बोसांके के अनुसार, स्वतन्त्रता ऐसी व्यवस्था और परिस्थितियों का निर्माण है जो व्यक्ति को उसका सही सार्वभौमिक व्यक्तित्व प्रदान करती है। बोसांके इसे 'उच्च प्रकार की स्वतन्त्रता' या 'नैतिक स्वतन्त्रता' का नाम देता है। उसकी इस नैतिक स्वतन्त्रता में स्वतन्त्रता के दोनों ही पक्ष (निषेधात्मक और सकारात्मक) विद्यमान हैं अर्थात् नियन्त्रण से कुछ मुक्ति भी है और कुछ कर सकने की छूट भी है। यह मुक्ति भी दूसरों से नहीं, वरन् अपने आपकी निम्नताओं से मुक्ति है।

बोसांके लिखते हैं, "स्वतन्त्रता का तात्पर्य स्वयं की उपलब्धि है और स्वतन्त्रता की पूर्ण स्थिति वह है जिसमें हम पूर्णरूपेण स्वयं की उपलब्धि कर लेते हैं।"[3] एक स्वतन्त्र इच्छा शक्ति वह है जो अपने आप इच्छा करती है। तात्पर्य यह है कि यह आत्मिक शक्ति है जो इन्द्रियजन्य सुखों की इच्छा न करके 'सार्वभौमिक आत्मा' की ही इच्छा करती है। इस प्रकार बोसांके ने ग्रीन के ही तर्क को अपनाया है। वोसांके ने 'यथार्थ और आदर्श' (Actual and Real) इच्छा की शब्दावली भी ज्यों की त्यों अपना ली है और यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि व्यक्ति जो कुछ भी अपनी स्वार्थपरक व इन्द्रियजन्य इच्छा के द्वारा प्राप्त करना चाहता है, वह यथार्थ होते हुए भी वास्तविक (आदर्श) इच्छा इन्द्रिय सुख व विलासी इच्छाओं से परे है। यह वह इच्छा या आत्मिक शक्ति होती है जिसमें अपने कल्याण के साथ सभी का कल्याण निहित होता है।

इस प्रकार बोसांके 'सकारात्मक स्वतन्त्रता' की धारणा को 'भावात्मक ऊंचाइयां' प्रदान कर देता है।

1 "Our modern legislation, then with reference to labour, education and health, involving, as it does, manifold interference with freedom of contract is justified on the ground that it is the business of the state, one indeed directly to promote goodness, but to maintain the conditions without which the free exercise of human faculties is impossible."

—Green, *Principles of Political Obligation*.

2 Bernard Bosanquet : *'The Philosophical Theory of the State*, p. 127.

3 "Liberty is the being, ourselves and the fullest condition of liberty is that in which we are ourselves completely."

—Bosanquet, *Ibid.*, p. 136.

स्वतन्त्रता के विविध रूप

फ्रांसीसी विद्वान मॉण्टेस्क्यू ने एक स्थान पर कहा है कि **स्वतन्त्रता के अतिरिक्त शायद ही कोई ऐसा शब्द हो जिसके इतने अधिक अर्थ होते हों और जिसने नागरिकों के मस्तिष्क पर इतना अधिक प्रभाव डाला हो।"** मॉण्टेस्क्यू के इस कथन का कारण यह है कि राजनीति विज्ञान में स्वतन्त्रता के विविध रूप प्रचलित हैं, जिसमें अग्रलिखित प्रमुख हैं :

(1) **प्राकृतिक स्वतन्त्रता**—इस धारणा के अनुसार स्वतन्त्रता प्रकृति की देन है और मनुष्य जन्म से ही स्वतन्त्र होता है। इसी विचार को व्यक्त करते हुए रूसो ने लिखा है कि **"मनुष्य स्वतन्त्र उत्पन्न होता है, किन्तु सर्वत्र यह बन्धनों में बंधा हुआ है।"**[1]

प्राकृतिक स्वतन्त्रता का आशय मनुष्यों की अपनी इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता से है। संविदावादी विचारकों का मत है कि राज्य की उत्पत्ति के पूर्व व्यक्तियों को इसी प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त थी। संयुक्त राज्य अमरीका की **'स्वाधीनता घोषणा'** और **'फ्रांस की राज्यक्रान्ति'** में इसी प्रकार की स्वतन्त्रता का प्रतिपादन किया गया था। प्राकृतिक स्वतन्त्रता की इस धारणा के अनुसार स्वतन्त्रता प्रकृति प्रदत्त और निरपेक्ष होती है अर्थात् समाज या राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता को किसी भी प्रकार से सीमित या प्रतिबन्धित नहीं कर सकता है।

परन्तु प्राकृतिक स्वतन्त्रता की यह धारणा पूर्णतया भ्रमात्मक है। प्राकृतिक स्वतन्त्रता की स्थिति में तो **'मत्स्य न्याय'** का व्यवहार प्रचलित होगा और परिणामतः समाज में केवल कुछ ही व्यक्ति अस्थायी रूप से स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकेंगे। व्यवहार में प्राकृतिक स्वतन्त्रता का अर्थ है केवल शक्तिशाली व्यक्तियों की स्वतन्त्रता। जिस समाज के अन्तर्गत स्वतन्त्रता का अस्तित्व शक्ति पर आधारित हो, वहां निर्बलों का कोई जीवन नहीं होगा। इसके अतिरिक्त समाज में रहकर निरपेक्ष स्वतन्त्रता का उपभोग नहीं किया जा सकता। सामूहिक हित में स्वतन्त्रता को सीमित करना नितान्त आवश्यक है।

इस धारणा की आलोचना की जाने पर भी इसका पर्याप्त महत्व है। यह सिद्धान्त इस बात पर प्रकाश डालता है कि प्रत्येक व्यक्ति की कुछ स्वाभाविक शक्तियां होती हैं तथा व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास इन शक्तियों के विकास पर ही निर्भर करता है। राज्य का कर्तव्य है कि वह नागरिकों को इन शक्तियों के विकास हेतु पूर्ण अवसर प्रदान करे। वर्तमान समय में प्राकृतिक स्वतन्त्रता का विचार इस रूप में मान्य है कि व्यक्ति समान हैं और उन्हें व्यक्तित्व के विकास हेतु समान सुविधाएं प्राप्त होनी चाहिए।

(2) **व्यक्तिगत स्वतन्त्रता**—इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति के उन कार्यों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए, जिनका सम्बन्ध केवल उसके ही अस्तित्व से हो। इस प्रकार के व्यक्तिगत कार्यों में भोजन, वस्त्र, धर्म और पारिवारिक जीवन को सम्मिलित किया जा सकता है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के समर्थकों के अनुसार इनसे सम्बन्धित कार्यों में व्यक्तियों को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए। व्यक्तिवादी और कुछ सीमा तक बहुलवादी विचारकों ने इस स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थन किया है। मिल व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का समर्थन करते हुए ही कहते हैं कि **"मानव समाज को केवल आत्मरक्षा के उद्देश्य से ही, किसी व्यक्ति की स्वतन्त्रता में व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से हस्तक्षेप करने का अधिकार हो सकता है। अपने ऊपर, अपने शरीर, मस्तिष्क और आत्मा पर व्यक्ति सम्प्रभु है।"**[2]

इसमें सन्देह नहीं कि व्यक्ति के व्यक्तित्व का आदर किया जाना चाहिए, लेकिन वर्तमान समय में सामाजिक जीवन इतना जटिल हो गया है कि व्यक्ति के कौन से कार्य स्वयं उससे ही सम्बन्धित हैं, इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता है और अनेक बार ऐसे भी अवसर उपस्थित हो सकते हैं जबकि सार्वजनिक स्वास्थ्य, शालीनता और व्यवस्था के हित में व्यक्ति की भोजन सम्बन्धी, वस्त्र सम्बन्धी और धार्मिक स्वतन्त्रता को प्रतिबन्धित करना पड़े। समाजवादी विचारधारा का तो आधार ही यह है कि व्यक्ति के सभी कार्य प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से समाज पर प्रभाव डालते हैं। अतः समाज के पास इन कार्यों को नियमित करने की शक्ति होनी चाहिए। इस प्रकार यद्यपि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के इस विचार को अब मान्यता प्राप्त नहीं रह

1 "Man is born free, but every where he is in chains." —Rousseau, *Social Contact*.

2 "The sole end for which mankind are warranted individually or collectively in interfering with the liberty of action of any of their member is self protection. Over himself, over his own body, mind and soul, the individual is sovereign." —J. S. Mill, *On Liberty*.

गयी है, तथापि इस विचार में इतनी सत्यता अवश्य ही है कि जिन कार्यों का सम्बन्ध किसी एक व्यक्ति से हो, उनके विषय में उसे पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए।

(3) नागरिक स्वतन्त्रता—नागरिक स्वतन्त्रता का अभिप्राय व्यक्ति की उन स्वतन्त्रताओं से है जो व्यक्ति समाज या राज्य का सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है। नागरिक स्वतन्त्रता का उद्देश्य प्रत्येक व्यक्ति को समान अवसर और अधिकार प्रदान करना होता है। अतः स्वभाव से ही यह स्वतन्त्रता असीमित या निरंकुश नहीं हो सकती है।

नागरिक स्वतन्त्रता दो प्रकार की होती है—(1) शासन के विरुद्ध व्यक्ति की स्वतन्त्रता, (2) व्यक्ति को व्यक्ति और व्यक्तियों के समुदाय से स्वतन्त्रता। शासन के विरुद्ध व्यक्ति की स्वतन्त्रता लिखित या अलिखित संविधान द्वारा मौलिक अधिकारों के माध्यम से या अन्य किसी प्रकार से स्वीकृत की जाती है। नागरिक स्वतन्त्रता का दूसरा रूप मनुष्य के वे अधिकार हैं जिन्हें वह राज्य के अन्य समुदायों और मनुष्यों के विरुद्ध प्राप्त करता है।

साधारणतया नागरिक स्वतन्त्रता का स्तर सभी राज्यों में एक-सा नहीं होता है। रूस के संविधान द्वारा अपने नागरिकों को कुछ विशेष आर्थिक स्वतन्त्रताएं प्रदान की गयी हैं तो पश्चिमी प्रजातन्त्रों के द्वारा अपने नागरिकों को कुछ विशेष नागरिक स्वतन्त्रताएं प्रदान की गयीं। वस्तुतः **जिस राज्य में नागरिक स्वतन्त्रता का स्तर जितना ऊंचा होता है, उसे उतना ही अधिक लोकतन्त्रात्मक एवं लोककल्याणकारी राज्य कहा जा सकता है।**

(4) राजनीतिक स्वतन्त्रता—अपने राज्य के कार्यों में स्वतन्त्रतापूर्वक सक्रिय भाग लेने की स्वतंन्त्रता को राजनीतिक स्वतन्त्रता कहा जाता है। **लास्की** के अनुसार, **"राज्य के कार्यों में सक्रिय भाग लेने की शक्ति ही राजनीतिक स्वतन्त्रता है।"**[1]

लीकॉक राजनीतिक स्वतन्त्रता का अर्थ संवैधानिक स्वतन्त्रता से लेते हैं जिसका विस्तार से अर्थ है कि जनता अपने शासक को अपनी इच्छानुसार चुन सके और चुने जाने के बाद भी ये शासक उनके प्रति उत्तरदायी हों।

राजनीतिक स्वतन्त्रता के अन्तर्गत व्यक्ति को ये अधिकार प्राप्त होते हैं—(1) मतदान देने का अधिकार, (2) निर्वाचित होने का अधिकार, (3) उचित योग्यता होने पर सार्वजनिक पद प्राप्त करने का अधिकार और (4) सरकार के कार्यों की आलोचना का अधिकार। इन अधिकारों से यह स्पष्ट है कि राजनीतिक स्वतन्त्रता केवल एक प्रजातन्त्रात्मक देश में ही प्राप्त की जा सकती है। राजनीतिक स्वतन्त्रता के अभाव में नागरिक स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नहीं रह जाता क्योंकि राजनीतिक स्वतन्त्रताओं के उपयोग से ही समाज का निर्माण सम्भव होता है जिसमें नागरिक स्वतन्त्रताओं की रक्षा सम्भव हो सके।

(5) आर्थिक स्वतन्त्रता—वर्तमान समय में आर्थिक स्वतन्त्रता का तात्पर्य व्यक्ति की ऐसी स्थिति से है जिसमें व्यक्ति अपने आर्थिक प्रयत्नों का लाभ स्वयं प्राप्त करने की स्थिति में हो तथा किसी प्रकार उसके श्रम का दूसरे के द्वारा शोषण न किया जा सके। **लास्की** के अनुसार, **"आर्थिक स्वतन्त्रता का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जीविका कमाने की समुचित सुरक्षा तथा सुविधा प्राप्त हो। व्यक्ति को बेरोजगारी और अपर्याप्तता के निरन्तर भय से मुक्त रखा जाना चाहिए जो कि अन्य किसी भी अपर्याप्तता की अपेक्षा व्यक्तित्व की समस्त शक्ति को बहुत अधिक आघात पहुंचाती है। व्यक्ति को कल को आवश्यकताओं से मुक्त रखा जाना चाहिए।"**[2] कुछ विचारक आर्थिक स्वतन्त्रता का अर्थ **'उद्योग में प्रजातन्त्र'** की स्थापना से भी लगाते हैं। 'उद्योग में प्रजातन्त्र' की स्थापना का अर्थ यह है कि एक श्रमिक केवल अपने श्रम को वेचने वाला ही नहीं, वह उत्पादन व्यवस्था का निर्णायक भी है। कुछ भी हो, उद्योग में प्रजातन्त्र की स्थापना श्रमिक वर्ग के हित का एक साधन ही है और मूल रूप में आर्थिक स्वतन्त्रता का तात्पर्य सभी व्यक्तियों की अनिवार्य आवश्यकताओं की सन्तुष्टि और गम्भीर आर्थिक विषमताओं के अन्त से ही है।

---

1 **"The power to be active in the affairs of the State."** —*Laski*

2 **By economic liberty, Laski means "Security and the opportunity to find reasonable significance in the earning of daily bread. I must, that is be free from the constant fear of unemployment and insufficiency, which perhaps be safeguarded against the wants of tomorrow."**

—H. Laski, *Grammar of Politics*, p. 148.

(6) राष्ट्रीय स्वतन्त्रता—प्रत्येक व्यक्ति के स्वतन्त्रता के अधिकार के समान ही प्रत्येक राष्ट्र को भी स्वतन्त्र होने का अधिकार होना चाहिए और राष्ट्रों की स्वतन्त्रता सम्बन्धी इस व्यवस्था को राष्ट्रीय स्वतन्त्रता कहा जाता है। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के विचार के अनुसार भाषा, धर्म, संस्कृति, नस्ल, ऐतिहासिक परम्परा, आदि की एकता पर आधारित राष्ट्र का यह अधिकार है कि वह स्वतन्त्र राज्य का निर्माण करे तथा अन्य किसी राज्य के अधीन न हो।

किन्तु जिस प्रकार व्यक्ति की स्वतन्त्रता दूसरे व्यक्तियों की समान स्वतन्त्रता से सीमित होती है, उसी प्रकार एक राष्ट्र की स्वतन्त्रता भी दूसरे राष्ट्रों की समान स्वतन्त्रता से सीमित होती है। सम्पूर्ण मानवता के हित में ऐसा होना भी चाहिए।

(7) नैतिक स्वतन्त्रता—व्यक्ति को अन्य सभी प्रकार की स्वतन्त्रताएं प्राप्त होने पर भी यदि वह नैतिक दृष्टि से परतन्त्र हो, तो उसे स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता। नैतिक स्वतन्त्रता ही वास्तविक एवं महान् स्वतन्त्रता है। **नैतिक स्वतन्त्रता का तात्पर्य व्यक्ति की उस मानसिक स्थिति से है जिसमें वह अनुचित लोभ-लालच के बिना अपना सामाजिक जीवन व्यतीत करने की योग्यता रखता हो। काण्टे के विचार में व्यक्ति की विवेकपूर्ण इच्छा शक्ति ही उसकी वास्तविक स्वतन्त्रता है।** प्लेटो, अरस्तू, ग्रीन, बोसांके तथा काण्ट ने इस बात पर बल दिया है कि नैतिक स्वतन्त्रता में ही मनुष्य का विकास सम्भव है।

वैसे तो सभी प्रकार के जीवन और शासन व्यवस्थाओं के लिए नैतिक स्वतन्त्रता की आवश्यकता होती है, किन्तु लोकतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था के लिए तो नैतिक स्वतन्त्रता नितान्त आवश्यक ही है।

आर्थिक समानता के अभाव में राजनीतिक स्वतन्त्रता निरर्थक है—राजनीतिक स्वतन्त्रता और आर्थिक समानता का सम्बन्ध स्पष्ट करने के पूर्व, इन दोनों का तात्पर्य समझ लेना उपयोगी होगा।

राजनीतिक स्वतन्त्रता—राजनीतिक स्वतन्त्रता का तात्पर्य राज्य के कार्यों में सक्रिय रूप से भाग लेना है अर्थात् राजनीतिक स्वतन्त्रता एक ऐसी स्थिति का नाम है जिसमें नागरिकता के अधिकारों का उपयोग किया जा सके या दूसरे शब्दों में व्यक्ति अपने विवेकपूर्ण निर्णय का राजनीतिक क्षेत्र में उपयोग कर सके। उसे अपने प्रतिनिधियों को चुनने और स्वयं प्रतिनिधि रूप में निर्वाचित होने का अधिकार होना चाहिए। इस प्रकार राजनीतिक स्वतन्त्रता शासन कार्यों में भाग लेने और शासन व्यवस्था को प्रभावित करने की शक्ति का नाम है।

आर्थिक समानता—आर्थिक समानता के दो अर्थ बताये जा सकते हैं। इसका प्रथम तात्पर्य यह है कि सम्पत्ति की अधिकाधिक समानता होनी चाहिए। सभी व्यक्तियों की भोजन, वस्त्र, निवास, स्वास्थ्य और शिक्षा की अनिवार्य आवश्यकताएं आवश्यक रूप से पूरी होनी चाहिए और जब तक सभी व्यक्तियों की अनिवार्य आवश्यकताएं सन्तुष्ट न हो जाएं, तब तक समाज के किन्हीं भी व्यक्तियों को आराम और विलासिता के साधनों के उपभोग का अधिकार प्राप्त नहीं होना चाहिए। लास्की के शब्दों में, **"मुझे स्वादिष्ट भोजन करने का अधिकार नहीं है, यदि मेरे पड़ोसी को मेरे इस अधिकार के कारण सूखी रोटी से वंचित रहना पड़े।"**[1] आर्थिक समानता का दूसरा तात्पर्य 'उद्योग में प्रजातन्त्र' की स्थापना से है। एक श्रमिक केवल अपने श्रम को बेचने वाला ही नहीं वरन् इसके साथ-साथ उत्पादन व्यवस्था का निर्णायक भी होना चाहिए।

राजनीतिक स्वतन्त्रता आर्थिक समानता पर आधारित—यह ठीक ही कहा गया है कि राजनीतिक स्वतन्त्रता का आधार आर्थिक समानता है। राजनीतिक स्वतन्त्रता मूल रूप से निम्न तीन अनिवार्य परिस्थितियों पर निर्भर करती है :

(1) जनता में सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति रुचि होनी चाहिए ताकि वह राजनीतिक क्षेत्र में सक्रिय रूप से भाग लेने और शासन-व्यवस्था को प्रभावित करने के लिए उत्सुक हो।

(2) व्यक्ति शिक्षित होने चाहिए ताकि वे स्वस्थ जनमत का निर्माण कर सकें और शासन की रचनात्मक आलोचना कर सकें। शिक्षा की आवश्यकता इस कारण और भी अधिक हो जाती है। केवल शिक्षा ही नागरिकों को उनके अधिकार और कर्तव्यों के प्रति जागरूकता प्रदान करती है।

1 "I have no right to cake, if my neighbour because of that is compelled to go without bread." —*Laski*

(3) राजनीतिक स्वतन्त्रता के आदर्श को प्राप्त करने के लिए यह जरूरी है कि व्यक्ति को सही सूचनाएं और विचारों की जानकारी प्राप्त हो। इस कार्य को ठीक प्रकार से करने के लिए स्वस्थ और सबल प्रेस नितान्त आवश्यक है।

उपर्युक्त तीनों ही परिस्थितियों की विद्यमानता के लिए आर्थिक समानता नितान्त आवश्यक है। एक साधारण व्यक्ति सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति उसी समय रुचि ले सकता है जबकि उसके पास अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं को पूरा करने के पर्याप्त साधन हों। एक निर्धन व्यक्ति का धर्म, ईमान और राजनीति सभी कुछ रोटी तक सीमित हो जाता है और पण्डित नेहरू के शब्दों में कहा जा सकता है कि **'भूखे व्यक्ति के लिए मत का कोई मूल्य नहीं होता।'** इसके अतिरिक्त व्यक्तियों को साधारण कार्य व्यापार से इतना अवकाश प्राप्त होना चाहिए कि वे सार्वजनिक क्षेत्र के सम्बन्ध में विचार कर सकें और यह भी आर्थिक समानता की स्थापना से ही सम्भव है। वर्तमान समय में जिन राज्यों के अन्तर्गत धनी और निर्धन का भेद गम्भीर रूप से विद्यमान है, वहां पर निर्धन व्यक्तियों के लिए न तो मताधिकार का कोई महत्व है और न ही प्रतिनिधि के रूप में निर्वाचित होने के अधिकार का। इन दोनों ही बातों के सम्बन्ध में धनी व्यक्ति निर्धन को अपनी इच्छानुसार दबा लेता है और आर्थिक समानता के अभाव के कारण राजनीतिक स्वतन्त्रता का कोई महत्व नहीं रह जाता।

यदि साधारण व्यक्ति के पास अपना सामान्य जीवन बिताने के साधन ही नहीं हैं तो वह शिक्षित होने का विचार कैसे कर सकता है? ऐसा व्यक्ति राजनीतिक स्वतन्त्रता का उपभोग करने में नितान्त असमर्थ होगा।

इसी प्रकार आर्थिक समानता के अभाव में प्रेस और विचार एवं अभिव्यक्ति के सभी साधनों पर धनिक वर्ग का अधिकार हो जाता है और यह धनिक वर्ग इन साधनों का प्रयोग जनता को सही-सही जानकारी एवं ज्ञान प्रदान करने के लिए नहीं वरन् एक प्रकार से अपने विचार दूसरों पर थोपने के लिए करता है। इस प्रकार आर्थिक समानता के अभाव में धनिक वर्ग निर्धन वर्ग के जीवन पर आधिपत्य स्थापित कर लेता है और निर्धन वर्ग का मनमाने तरीके से शोषण करता है।

आर्थिक समानता के बिना राजनीतिक स्वतन्त्रता कभी वास्तविक नहीं हो सकती है। लास्की ने ठीक ही कहा है कि **"यदि राज्य सम्पत्ति को अधीन नहीं रखता, तो सम्पत्ति राज्य को वशीभूत कर लेगी।"**[1]

उपर्युक्त विवेचन से कोल के इस कथन की सत्यता नितान्त स्पष्ट है कि **"आर्थिक समानता के अभाव में राजनीतिक स्वतन्त्रता केवल एक भ्रम है।"**[2] लास्की ने भी कहा है कि **"आर्थिक समानता के बिना राजनीतिक स्वतन्त्रता कभी भी वास्तविक नहीं हो सकती।"**[3]

स्वतन्त्रता और कानून का सम्बन्ध

स्वतन्त्रता और कानून के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय पर राजनीतिक विचारकों में बहुत अधिक मतभेद है। एक ओर तो कुछ विद्वानों और विचारधाराओं के अनुसार स्वतन्त्रता और कानून को परस्पर विरोधी बताते हुए कहा गया है कि जितने अधिक कानून होंगे, व्यक्तियों की स्वतन्त्रता उतनी ही सीमित हो जाएगी। दूसरी ओर अनेक विचारकों द्वारा इस मत का प्रतिपादन किया गया है कि स्वतन्त्रता के अस्तित्व के लिए कानून की विद्यमानता नितान्त आवश्यक है और कानून व्यक्तियों की स्वतन्त्रता में वृद्धि करते हैं, कमी नहीं।

प्रथम विचार का प्रतिपादन अराजकतावादी, व्यक्तिवादी और कुछ सीमा तक साम्यवादी विचारधारा द्वारा किया गया है। अराजकतावादियों के अनुसार स्वतन्त्रता का तात्पर्य व्यक्तियों की अपनी इच्छानुसार कार्य करने की शक्ति का नाम है और राज्य के कानून शक्ति पर आधारित होने के कारण व्यक्तियों के इच्छानुसार कार्य करने में बाधक होते हैं। अतः स्वतन्त्रता और कानून परस्पर विरोधी हैं। इससे आगे चलकर वे यह भी कहते हैं कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के हित में राज्य जैसी कानून-निर्मात्री संस्था का अन्त हो जाना चाहिए। विलियम गाडविन के शब्दों में, **"कानून सबसे अधिक घातक प्रकृति की संस्था है।"**[4]

1 "Either the state must control or property will control the state." —*Laski*
2 "Political liberty in the absence of economic equality is a mere myth." —*G. D. H. Cole*
3 "Political liberty, therefore, is never real unless it is accompanied by virtual economic equality." —*Laski*
4 "Law is an institution of the most pernicious type." —*William*

व्यक्तिवादी राज्य को एक आवश्यक बुराई समझते हैं। उनका विचार है कि स्वतन्त्रता और कानून परस्पर विरोधी हैं। इसी विचारधारा के आधार पर डायसी ने कहा है कि **"एक की मात्रा जितनी अधिक होगी, दूसरे की उतनी ही कम हो जाएगी।"**[1] साम्यवादी विचारधारा के अन्तर्गत भी कानून को उच्च वर्ग के हितों का लाभ पहुंचाने का एक साधन कहा गया है और इसी कारण वर्गविहीन समाज की आदर्श अवस्था में राज्य के विलुप्त हो जाने की कल्पना की गयी है।

किन्तु वर्तमान समय में स्वतन्त्रता और कानून के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय पर अराजकतावाद, व्यक्तिवाद और साम्यवाद की धारणा को स्वीकार नहीं किया जाता। वर्तमान समय में तो उपर्युक्त धारणा के नितान्त विपरीत इस विचार को मान्यता प्राप्त है कि कानून स्वतन्त्रता को सीमित नहीं करते, वरन् स्वतन्त्रता की रक्षा करते और उसमें वृद्धि करते हैं। लॉक के शब्दों में, **"जहां कानून नहीं होता, वहां स्वतन्त्रता भी नहीं हो सकती है।"**[2] विलोबी के अनुसार, **"जहां नियन्त्रण होते हैं, वहीं स्वतन्त्रता का अस्तित्व होता है।"**[3] उपर्युक्त मत को स्पष्ट करते हुए प्रो. रिची ने कहा है कि **"व्यक्तित्व के विकास के यथार्थ अवसर के रूप में स्वतन्त्रता कानून की उत्पत्ति अथवा परिणाम ही है। वह कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसका अस्तित्व राज्य के कार्य-क्षेत्र के बाहर हो।"** लॉक और प्रो. रिची से आगे बढ़कर हॉकिंग ने तो यहां तक कहा है कि **"व्यक्ति जितनी अधिक स्वतन्त्रता चाहता है, उतनी अधिक सीमा तक उसे शासन की अधीनता स्वीकार कर लेनी चाहिए।"**

लॉक, विलोबी, रिची, हॉकिंग, आदि विद्वानों द्वारा व्यक्त विचार बहुत कुछ सीमा तक सही हैं और कानून निम्नलिखित तीन प्रकार से व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा करते और उसमें वृद्धि करते हैं :

(1) राज्य के कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता की अन्य व्यक्तियों के हस्तक्षेप से रक्षा करते हैं—यदि समाज के अन्तर्गत किसी भी प्रकार के कानून न हों तो समाज के शक्तिशाली व्यक्ति निर्बल व्यक्तियों पर अत्याचार करेंगे और संघर्ष की इस अनवरत प्रक्रिया में किसी भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता सुरक्षित नहीं रहेगी।

(2) कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता की राज्य के हस्तक्षेप से रक्षा करते हैं—साधारणतया वर्तमान समय के राज्यों में दो प्रकार के कानून होते हैं—**साधारण कानून और संवैधानिक कानून।** इन दोनों प्रकार के कानूनों में से संवैधानिक कानूनों द्वारा राज्य के हस्तक्षेप से व्यक्ति की स्वतन्त्रता को रक्षित करने का कार्य किया जाता है। भारत और अमरीका, आदि देशों के संविधानों में मौलिक अधिकारों की जो व्यवस्था है, वह इस सम्बन्ध में श्रेष्ठ उदाहरण है। यदि राज्य इन मौलिक अधिकारों (संवैधानिक कानूनों) के विरुद्ध कोई कार्य करता है तो व्यक्ति न्यायालय की शरण ले, राज्य के हस्तक्षेप से अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा कर सकता है।

(3) स्वतन्त्रता के नकारात्मक स्वरूप के अतिरिक्त इसका एक सकारात्मक स्वरूप भी होता है। इसका तात्पर्य है व्यक्ति को व्यक्तित्व के विकास हेतु आवश्यक सुविधाएं प्रदान करना। **कानून व्यक्तियों को व्यक्तित्व के विकास की सुविधाएं प्रदान करते हुए उनकी स्वतन्त्रता में वृद्धि करते या दूसरे शब्दों में उन्हें सकारात्मक स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं।** वर्तमान समय में लगभग सभी राज्यों द्वारा जनकल्याणकारी राज्य के विचार को अपना लिया गया है और राज्य कानूनों के माध्यम से ऐसे वातावरण के निर्माण में संलग्न है जिसके अन्तर्गत व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सकें। राज्य द्वारा की गयी **शिक्षा की व्यवस्था, अधिकतम श्रम और न्यूनतम वेतनों के सम्बन्ध में कानूनी व्यवस्था, कारखानों में स्वस्थ जीवन की सुविधाओं की व्यवस्था और जनस्वास्थ्य का प्रबन्ध,** आदि कार्यों द्वारा नागरिकों को व्यक्तित्व के विकास की सुविधाएं प्राप्त हो रही हैं और इस प्रकार राज्य नागरिकों को वह सकारात्मक स्वतन्त्रता प्रदान कर रहा है जिसे ग्रीन ने **'करने योग्य कार्यों को करने की स्वतन्त्रता'** के नाम से पुकारा है।

यदि राज्य सड़क पर चलने के सम्बन्ध में किसी प्रकार के नियमों का निर्माण करता है, मद्यपान पर रोक लगाता या अनिवार्य शिक्षा और टीके की व्यवस्था करता है, तो राज्य के इन कार्यों से व्यक्ति की स्वतन्त्रता सीमित नहीं होती, वरन् उसमें वृद्धि ही होती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि **साधारण रूप से राज्य के कानून व्यक्तियों की स्वतन्त्रता की रक्षा करते और उसमें वृद्धि करते हैं।**

सभी कानून स्वतन्त्रता के साधक नहीं—लेकिन राज्य द्वारा निर्मित सभी कानूनों के सम्बन्ध में इस प्रकार की बात नहीं कही जा सकती है कि वे मानवीय स्वतन्त्रता में वृद्धि करते हैं। यदि शासक वर्ग अपने ही

1 "The more there is of the one, the less there is of the other." —Dicey
2 "Where there is no law, there is no freedom." —Locke
3 "Freedom exists only where there is restraint." —Willoughby

स्वार्थों को दृष्टि में रखकर कानूनों का निर्माण करता है, जनसाधारण के हितों की अवहेलना करता है और बिना किसी विशेष कारण के व्यक्तियों की नागरिक स्वतन्त्रता सीमित करता है तो राज्य के इन कानूनों से व्यक्तियों की स्वतन्त्रताएं सीमित ही होती हैं। उदाहरणार्थ, हिटलर और मुसोलिनी के द्वारा जिन कानूनों का निर्माण किया गया था, उनमें से अधिकांश व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के विरोधी थे। इस प्रकार वर्तमान समय में साम्यवादी देशों की सरकारों द्वारा साम्यवादी दल के अतिरिक्त अन्य दलों को संगठित न होने देने और नागरिकों द्वारा सरकार की आलोचना न कर सकने की जो व्यवस्था की गयी है, उससे इन साम्यवादी देशों के नागरिकों की स्वतन्त्रता बहुत अधिक सीमित हो गयी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी कानून नागरिकों की स्वतन्त्रता में वृद्धि नहीं करते, वरन् ऐसा केवल उन्हीं कानूनों के सम्बन्ध में कहा जा सकता है जिनके सम्बन्ध में लास्की के शब्दों में, **"व्यक्ति यह अनुभव करते हैं कि मैं उन्हें स्वीकार कर सकता और उनका पालन कर सकता हूं"**[1]

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट होता है कि यदि राज्य का कानून जनता की इच्छा पर आधारित है तो स्वतन्त्रता का पोषण होगा और यदि वह निरंकुश शासन की इच्छा का परिणाम है तो स्वतन्त्रता का विरोधी हो सकता है।

स्वतन्त्रता के संरक्षण
(SAFEGUARDS OF LIBERTY)

स्वतन्त्रता प्राप्त करने से अधिक कठिन कार्य स्वतन्त्रता को बनाये रखना है। यह बात व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता दोनों के सम्बन्ध में पूर्णतया सत्य है। जो व्यक्ति अथवा राष्ट्र अपनी स्वतन्त्रता का ठीक से उपभोग नहीं कर पाते और उसकी सुरक्षा के लिए आवश्यक प्रयत्न नहीं करते, उनकी स्वतन्त्रता को सदैव ही संकट बना रहता है। विभिन्न लेखकों के अनुसार, स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए कुछ दशाओं का होना आवश्यक और वांछनीय है, जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं :

(1) आदर्श कानून—व्यक्ति अपनी विविध स्वतन्त्रताओं का उपयोग राज्य में रहकर ही कर सकता है और राज्य कानूनों के माध्यम से ही इस प्रकार की स्वतन्त्रताओं की रक्षा करता है। इस प्रकार साधारणतया कानून व्यक्तियों की स्वतन्त्रता की रक्षा करते हैं, किन्तु राज्य द्वारा निर्मित सभी प्रकार के कानूनों के सम्बन्ध में इस प्रकार की बात नहीं कही जा सकती है। अतः स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए राज्य द्वारा ऐसे आदर्श कानूनों का निर्माण किया जाना चाहिए, जो व्यक्तियों की स्वतन्त्रता की रक्षा कर सकें और उन्हें व्यक्तित्व के विकास हेतु आवश्यक सुविधाएं भी प्रदान कर सकें। स्वतन्त्रता की रक्षा हेतु आदर्श कानूनों के निर्माण की आवश्यकता बताते हुए मॉण्टेस्क्यू ने कहा है कि **"मुख्यतया स्वतन्त्रता की रक्षा और हनन कानून के स्वभाव और इसके द्वारा दिए गये दण्ड की मात्रा पर निर्भर करती है।"**

(2) विशेषाधिकार का अन्त—जिस समाज में कुछ व्यक्तियों, धर्म, जाति या सम्पत्ति के आधार पर कुछ विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं, वहां पर सभी नागरिकों की स्वतन्त्रता की पूर्ण रक्षा नहीं हो पाती है। जिन लोगों को विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं, वे अहं भाव के कारण उनका दुरुपयोग करते हैं और दूसरे लोग हीनता की भावना के कारण इन स्वतन्त्रताओं का उचित उपयोग नहीं कर पाते हैं। इसलिए स्वतन्त्रता की रक्षा हेतु विशेषाधिकारों का अन्त नितान्त आवश्यक है। लास्की के शब्दों में, **"यदि समाज के किसी भाग को विशेषाधिकार दिए गये हों तो उस दशा में जनसाधारण स्वतन्त्रता का उपयोग नहीं कर सकता।"**

(3) लोकतन्त्रीय शासन—व्यक्तियों को अपनी स्वतन्त्रता के हनन का सबसे अधिक भय शासन से होता है, किन्तु यदि लोकतन्त्रीय शासन हो तो जनता का यह भय कुछ सीमा तक समाप्त हो जाता है। लोकतन्त्र में जनता शासित होने के साथ-साथ शासक भी होती है और शासन की अन्तिम सत्ता जनता में निहित होने के कारण स्वतन्त्रता का हनन हो ही नहीं सकता। यही कारण है कि नागरिकों की स्वतन्त्रता की रक्षा और व्यक्तित्व के विकास हेतु लोकतन्त्रात्मक शासन ही सर्वोच्च समझा जाता है, परन्तु इस लोकतन्त्रात्मक शासन के साथ-साथ यह आवश्यक है कि जनता में भी लोकतन्त्रीय भावना हो अर्थात् बहुमत में न्यायप्रियता और अल्पमतों में सहनशीलता का भाव होना चाहिए।

1 **"Laws of the state should be those, which should embody an experience that I can follow and I can generally accept."** —*Laski*

(4) **मौलिक अधिकार**—मौलिक अधिकार संविधान द्वारा नागरिकों को प्रदत्त ऐसे अधिकार होते हैं जिनका उपयोग राज्य के विरुद्ध किया जा सकता है। ये मौलिक अधिकार दूसरे व्यक्तियों के हस्तक्षेप से नहीं, वरन् राज्य के हस्तक्षेप से भी व्यक्तियों की स्वतन्त्रता की रक्षा करते हैं। इसी कारण वर्तमान समय में स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए मौलिक अधिकारों को आवश्यक समझा जाता है। इसी दृष्टि से भारत, अमरीका, रूस, आयरलैण्ड, फ्रांस, आदि राज्यों के संविधानों में मौलिक अधिकारों की व्यवस्था की गयी है।

(5) **स्वतन्त्र न्यायालय**—नागरिकों की स्वतन्त्रता के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि न्यायालय स्वतन्त्र हों और न्यायालयों के कार्यों में किसी प्रकार का सरकारी हस्तक्षेप न हो। इस प्रकार की निष्पक्षता और स्वतन्त्रता की स्थिति में ही न्यायालय नागरिकों के अधिकारों की रक्षा कर सकते हैं। न्यायालयों के व्यवस्थापिका या कार्यपालिका के अधीन होने पर वे शासन सत्ता के हस्तक्षेप से नागरिक स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं कर सकेंगे। इसके अतिरिक्त न्याय सर्वजन सुलभ और शीघ्र होना चाहिए और निर्धन व्यक्ति निःशुल्क कानूनी सहायता प्राप्त कर सकें, ऐसी व्यवस्था भी होनी चाहिए। न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के अभाव में स्वतन्त्रता एक ढकोसला मात्र बनकर रह जाती है।

(6) **सतत जागरूकता**—स्वतन्त्रता की रक्षा का सबसे अधिक महत्वपूर्ण उपाय नागरिकों की सतत जागरूकता ही है। इसके लिए नागरिकों में स्वतन्त्रता की इच्छा मात्र ही नहीं वरन् इसकी रक्षा हेतु प्रत्येक प्रकार के त्याग करने की भावना भी होनी चाहिए। स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि व्यक्ति अपने अधिकारों के प्रति जागरूक रहें और स्वतन्त्रता का अतिक्रमण होने पर उसका विरोध करें। इंगलैण्ड के नागरिकों द्वारा तो सतत जागरूकता के कारण ही इतनी अधिक स्वतन्त्रता का उपयोग किया जाता है। कहावत भी है कि **''सतत जागरूकता ही स्वतन्त्रता का मूल्य है।''**[1] लास्की के शब्दों में, **''नागरिकों की महान् भावना, न कि कानून की शब्दावली, स्वतन्त्रता की वास्तविक सुरक्षा है।''** इस सम्बन्ध में थामस जेफरसन के शब्द महत्वपूर्ण हैं कि **''कोई भी देश तब तक अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं कर सकता जब तक कि समय-समय पर वहां की जनता अपनी विरोधी भावना का प्रदर्शन करके अपने शासकों को सजग न करती रहे।''**[2]

(7) **शक्तियों का पृथक्करण तथा अवरोध और सन्तुलन**—स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए कुछ सीमा तक शक्ति पृथक्करण तथा कुछ सीमा तक अवरोध एवं सन्तुलन के सिद्धान्त को अपनाना आवश्यक है। शक्ति पृथक्करण को अपनाते हुए एक ही हाथों में शक्तियों के एकीकरण को रोका जाना चाहिए तथा न्यायपालिका की स्वतन्त्रता की व्यवस्था की जानी चाहिए। इसके साथ ही जहां तक व्यवस्थापिका और कार्यपालिका का सम्बन्ध है, अवरोध और सन्तुलन के सिद्धान्त को अपनाते हुए इन दोनों के बीच गहरे सम्बन्ध की व्यवस्था की जानी चाहिए जिससे स्वतन्त्रता की रक्षा के हित में उचित प्रकार के कानूनों का निर्माण हो सके और ठीक प्रकार से उन्हें क्रियान्वित किया जा सके।

(8) **आर्थिक न्याय**—यदि हमें स्वतन्त्रता की रक्षा करनी है तो हमारे द्वारा जीवन की वास्तविकताओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती है और यह वास्तविकता है कि बहुत अधिक सीमा तक आर्थिक समानता की स्थापना के बिना स्वतन्त्रता का उपभोग सम्भव नहीं। जब तक व्यक्तियों के लिए भोजन, वस्त्र और आवास की व्यवस्था नहीं हो पाती, तब तक यह कैसे सोचा जा सकता है कि वे स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकेंगे। अतः आर्थिक न्याय स्वतन्त्रता की सबसे महत्वपूर्ण और प्रभावशाली गारण्टी है। इसके बिना स्वतन्त्रता एक ही वर्ग का हित बनकर रह जाती है।

(9) **स्वतन्त्र प्रेस**—स्वतन्त्रता की रक्षा का प्रश्न बहुत अधिक सीमा तक स्वतन्त्र प्रेस के साथ जुड़ा हुआ है। यदि समाचार-पत्र स्वतन्त्र हैं तो उनके द्वारा शासन को मर्यादित रखने का कार्य किया जा सकता है, जनता में स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए आवश्यक वातावरण स्थापित करने का कार्य किया जा सकता है। स्वतन्त्रता का सार मानवीय चेतना है और मानवीय चेतना के विकास का सर्वप्रमुख साधन स्वतन्त्र प्रेस ही है।

(10) **स्थानीय स्वशासन**—नागरिकों में स्वतन्त्रता के प्रति प्रेम उत्पन्न करने और उन्हें स्वतन्त्रता के प्रति जागरूक बनाने की दिशा में स्थानीय स्वशासन द्वारा भी अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया जाता है। लास्की के

1 "Eternal vigilance is the price of liberty."

2 What country can preserve its liberty, if its rulers are not warned from time to time that this people perserve the spirit of resistance."
—Thomas Jefferson, *On Democracy*, ed. by S. K. Padover, p. 861.

विचार में, "राज्य में सत्ता का जितना अधिक विस्तृत वितरण होगा, जितना अधिक विकेन्द्रीकृत उसकी प्रकृति होगी, मनुष्य में अपनी स्वतन्त्रता के प्रति उतना ही अधिक उत्साह होगा।"

निबन्धात्मक प्रश्न

1. स्वतन्त्रता की धारणा की पूर्ण स्पष्टता के साथ व्याख्या कीजिए।
2. नकारात्मक स्वतन्त्रता से आप क्या समझते हैं? इस प्रसंग में जे. एस. मिल के विचारों की विवेचना कीजिए।
3. 'सकारात्मक स्वतन्त्रता' का आशय क्या है? इस सम्बन्ध में थामस हिल ग्रीन के विचारों की विवेचना कीजिए।
4. स्वतन्त्रता के विविध रूपों की व्याख्या कीजिए।
5. "आर्थिक समानता के अभाव में राजनीतिक स्वतन्त्रता केवल एक भ्रम है।" (कोल) इस कथन की व्याख्या कीजिए।
6. स्वतन्त्रता और कानून का पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट कीजिए। यह कहना कहां तक सत्य है कि 'कानून स्वतन्त्रता का रक्षक है।'
7. स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक शर्तों अथवा परिस्थितियों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

12

समानता
(EQUALITY)

"समानता मूल रूप में समानीकरण की एक प्रक्रिया है। इसलिए प्रथमतः समानता का आशय विशेषाधिकारों के अभाव से है। द्वितीय रूप में इसका आशय यह है कि सभी व्यक्तियों को विकास हेतु पर्याप्त अवसर प्राप्त होने चाहिए।"[1]

—हैराल्ड लास्की

समानता का आशय
(MEANING OF EQUALITY)

साधारणतया समानता का यह अर्थ लगाया जाता है कि मनुष्य जन्म से ही समान होते हैं और इसी कारण सभी व्यक्तियों को व्यवहार और आय का समान अधिकार प्राप्त होना चाहिए, किन्तु स्वतन्त्रता का **अभिप्राय उतना ही भ्रमपूर्ण है जितना यह कहना कि पृथ्वी समतल है।** प्रकृति के द्वारा भी सभी व्यक्तियों को समान शक्तियां प्रदान नहीं की गयी हैं। मानवीय समाज में मोटे, पतले, लम्बे, नाटे, कुशाग्र और मन्द बुद्धि के जो विभिन्न प्रकार के व्यक्ति मिलते हैं, वे प्राकृतिक असमानता के उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त, इस प्रकार की असमानता की धारणा को समाज द्वारा अपनाया जाना अनुचित नहीं वरन् असम्भव भी है।

वर्तमान समय में हम समाज में जिस प्रकार की असमानता देखते हैं, उस असमानता के कारण दो प्रकार के हैं और इन दो प्रकार के कारणों के आधार पर असमानता भी दो प्रकार की है। एक प्रकार की असमानता वह है जिसका मूल व्यक्तियों में प्राकृतिक भेद है। प्रकृति के द्वारा विभिन्न व्यक्तियों में बुद्धि, वल और प्रतिभा की दृष्टि से जो भेद किया जाता है और इस भेद के कारण जो असमानता उत्पन्न होती है, उसे प्राकृतिक असमानता कहते हैं। इस प्राकृतिक असमानता का निराकरण सम्भव और उचित नहीं है।

समाज में विद्यमान दूसरे प्रकार की असमानता वह हैं जिसका मूल समाज द्वारा उत्पन्न की गयी विषमताएं हैं। अनेक वार बुद्धि, वल और प्रतिभा की दृष्टि से श्रेष्ठ होने पर भी निर्धन व्यक्तियों के बच्चे अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर पाते, जैसा कि विकास उससे निम्नतर बुद्धिबल के धनिक बच्चे कर लेते हैं। इस सामाजिक असमानता का मूल कारण समाज द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों का वह वैषम्य होता है जिसके कारण सभी व्यक्तियों को व्यक्तित्व के विकास के समान अवसर प्राप्त नहीं हो पाते हैं। राजनीति विज्ञान की एक धारणा के रूप में समानता का तात्पर्य सामाजिक वैषम्य द्वारा उत्पन्न इस असमानता के अन्त से है। इसका तात्पर्य यह है कि **राज्य के सभी व्यक्तियों को व्यक्तित्व के विकास के समान अवसर दिए जाने** चाहिए, ताकि किसी भी व्यक्ति को यह कहने का अवसर न मिले कि यदि उसे यथेष्ठ सुविधाएं प्राप्त होतीं, तो वह भी अपने जीवन का विकास कर सकता था। अतः समानता की विधिवत परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि **"समानता का तात्पर्य ऐसी परिस्थितियों के अस्तित्व से होता है जिनके कारण सब व्यक्तियों को व्यक्तित्व के विकास हेतु समान अवसर प्राप्त हो सकें और इस प्रकार उस असमानता का अन्त हो सके, जिसका मूल कारण सामाजिक वैषम्य है।"** लास्की ने इसी प्रकार का विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि "समानता मूल रूप में समानीकरण की एक प्रक्रिया है। इसलिए प्रथमतः समानता का आशय विशेषाधिकारों के अभाव से है। **द्वितीय रूप से** इसका आशय यह है कि सभी व्यक्तियों को विकास हेतु पर्याप्त अवसर प्राप्त होने चाहिए।

1 "Equality implies fundamentally a certain levelling process. Equality, therefore means, first of all the absence of special privilege. Equality means in the second place, that adequate opportunities are laid open to all." —H. J. Laski : *Grammar of Politics*, pp. 153-54.

औपचारिक और वास्तविक समानता में भेद

औपचारिक समानता उस स्थिति का नाम है जिसमें एक देश के संविधान द्वारा सभी नागरिकों के लिए समानता की घोषणा कर दी जाए, लेकिन उस समानता की स्थिति को वास्तविक रूप में प्राप्त करने के लिए आवश्यक सार्थक प्रयत्न न किए जाएं। ऐसी स्थिति में नागरिकों की समानता संविधान के पृष्ठों पर ही रह जाती है, जीवन की वास्तविकता नहीं बन पाती। यदि एक देश में जाति और धर्म के आधार पर बहुत अधिक भेदभाव की स्थिति हो, आर्थिक क्षेत्र में इतनी अधिक विषमताएं हों कि धनी व्यक्ति अपने धन के बलबूते पर निर्धन व्यक्तियों पर मनचाहा दबाव डाल सकें तो समानता एक थोथी घोषणा बनकर रह जाती है—वास्तविकता का रूप नहीं ले पाती।

वास्तविकता समानता उस स्थिति का नाम है जिसमें देश के संविधान और कानूनों द्वारा न केवल समानता की घोषणा की जाए, वरन् व्यवहार में उन परिस्थितियों की भी व्यवस्था की जाए जिनके आधार पर नागरिकों के द्वारा वास्तव में समानता का उपभोग किया जा सके।

वास्तविक समानता की प्राप्ति के लिए आवश्यक परिस्थितियां

समानता मात्र औपचारिकता ही न रहे, वरन् एक वास्तविकता की स्थिति को प्राप्त कर सके, इसके लिए निम्न परिस्थितियों को अपनाना नितान्त आवश्यक है :

(1) स्वतन्त्रता और समानता की सन्तुलित धारणा को अपनाना—कुछ व्यक्ति स्वतन्त्रता का आशय सभी बातों के सम्बन्ध में अपनी इच्छानुसार कार्य करने की शक्ति से लेते हैं और समानता का तात्पर्य 'सभी व्यक्तियों की पूर्ण समानता' विशेषतया 'सभी व्यक्तियों के लिए एक समान वेतन' से लेते हैं; वस्तुतः स्वतन्त्रता और समानता के ये अर्थ भ्रामक हैं। यदि हम वास्तविक समानता चाहते हैं तो हमें स्वतन्त्रता और समानता को संन्तुलित अर्थों में ग्रहण करना होगा। स्वतन्त्रता और समानता दोनों का ही उद्देश्य मानवीय व्यक्तित्व का उच्चतम विकास है। स्वतन्त्रता की उचित परिभाषा देते हुए कहा जा सकता है कि "स्वतन्त्रता, जीवन की ऐसी व्यवस्था का नाम है जिसमें व्यक्ति के जीवन पर न्यूनतम प्रतिबन्ध हों, विशेषाधिकार का नितान्त अभाव हो और व्यक्तियों को अपने व्यक्तित्व के विकास हेतु अधिकतम सुविधाएं प्राप्त हों।" इसी प्रकार समानता की सही रूप में परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि "समानता का तात्पर्य ऐसी परिस्थितियों के अस्तित्व से होता है जिसके अन्तर्गत सभी व्यक्तियों को व्यक्तित्व के विकास हेतु समान अवसर प्राप्त हों और इस प्रकार उस असमानता का अन्त हो सके, जिसका मूल सामाजिक विषमताएं हैं।"

(2) विशेषाधिकारों का अभाव—जिस समाज में धर्म, जाति या जन्म के आधार पर किन्हीं व्यक्तियों को विशेषाधिकार प्राप्त हों, उस समाज में वास्तविक समानता को प्राप्त कर पाना सम्भव नहीं होता। वास्तविक समानता की प्राप्ति के लिए विशेषाधिकारों के अभाव की स्थिति नितान्त आवश्यक है।

(3) व्यक्तित्व के विकास हेतु समान अवसर—आज हम जो असमानताएं देखते हैं, मूल रूप में उसके दो कारण हैं। एक प्रकार की असमानता वह है जिसका मूल कारण व्यक्तियों में बुद्धि, बल और प्रतिभा का प्राकृतिक भेद है, लेकिन अधिकांश उदाहरणों में उस दूसरे प्रकार की असमानता को देखा जाता है जिसका मूल समाज द्वारा उत्पन्न की गयी विषमताएं हैं। अनेक बार बुद्धि, बल और विद्या की दृष्टि से श्रेष्ठ होने पर भी निर्धन परिवारों के बच्चे अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर पाते, जैसा विकास उनसे निम्नतर बुद्धि बल के धनिक परिवारों के बच्चे कर लेते हैं। वास्तविक समानता की स्थापना के लिए सामाजिक वैषम्य द्वारा उत्पन्न इस असमानता का अन्त आवश्यक है। राज्य के द्वारा सभी व्यक्तियों को व्यक्तित्व के विकास के समान अवसर दिये जाने चाहिए, ताकि किसी भी व्यक्ति को यह कहने का अवसर न मिले कि यदि उसे यथेष्ठ सुविधाएं प्राप्त होतीं, तो वह भी अपने जीवन का विकास कर सकता था।

जब हम व्यक्तित्व के विकास के लिए समान अवसर की बात करते हैं तो उसमें यह बात निहित है कि राज्य के द्वारा निर्धन परिवारों के बच्चों को सम्पन्न परिवारों के बच्चों की तुलना में विकास के लिए अधिक सुविधाएं दी जानी चाहिए, तभी निर्धन परिवारों के बच्चे कुलीन परिवारों में पालित-पोषित बच्चों के साथ प्रतियोगिता कर पाएंगे और 'समान अवसरों की स्थिति उत्पन्न हो सकेगी। भारतीय संविधान में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए **'स्थानों के आरक्षण'** (Reservation of Seats) की जो व्यवस्था की गयी है वह समानता का उल्लंघन नहीं, वरन् वास्तविक समानता की प्राप्ति का ही एक प्रयत्न है।

(4) पर्याप्त सीमा तक जाति और धर्मनिरपेक्ष समाज—वास्तविक समानता की प्राप्ति तभी सम्भव है जबकि सामाजिक जीवन में जन्म, धर्म, जाति और लिंग पर आधारित भेदों को अधिक महत्व नहीं दिया जाए। इसके लिए धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना ही पर्याप्त नहीं होती, इससे आगे वढ़कर 'धर्म और जाति निरपेक्ष समाज' की स्थापना के लिए प्रयत्न किए जाने चाहिए। इसी बात को दृष्टि में रखते हुए भारतीय संविधान के अनुच्छेद 17 द्वारा 'अस्पृश्यता के अन्त' की व्यवस्था की गयी है।

(5) अधिकतम सम्भव सीमा तक आर्थिक समानता की स्थापना—वास्तविक समानता की स्थापना के लिए उपर्युक्त बातों का महत्व है, लेकिन सर्वाधिक आवश्यक बात निश्चित रूप से यह है कि अधिकाधिक सम्भव सीमा तक आर्थिक समानता की स्थापना की जाए। अर्थ और आर्थिक स्थिति सामाजिक जीवन का बहुत अधिक महत्वपूर्ण तत्व है और जब तक आर्थिक क्षेत्र में समानता की स्थापना नहीं होगी, राजनीतिक और नागरिक समानताएं मात्र 'थोथी घोषणाएं' वनकर रह जाएंगी। धनी व्यक्ति अपने धन के बलबूते पर समाज के निर्धन व्यक्तियों के जीवन पर अधिकार कर लेंगे और निर्धन व्यक्तियों के लिए समानता मात्र एक 'चुनावी नारा' वनकर रह जाएगी। वास्तविक समानता की स्थापना के लिए अधिक से अधिक सम्भव सीमा तक आर्थिक समानता की स्थापना नितान्त आवश्यक है।

आर्थिक समानता का तात्पर्य यह है कि व्यक्तियों की आय में बहुत अधिक असमानता नहीं होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में, उसकी आय में इतना अधिक अन्तर नहीं होना चाहिए कि एक व्यक्ति अपने धन के बल पर दूसरे व्यक्तियों के जीवन पर अधिकार कर ले। जब तक सभी व्यक्तियों की अनिवार्य आवश्यकताएं सन्तुष्ट नहीं हो जाती हैं, उस समय तक समाज के किन्हीं भी व्यक्तियों को आरामदायक एवं विलासिता के साधनों के उपभोग का अधिकार प्राप्त नहीं होना चाहिए। वस्तुतः धन का उचित वितरण होने पर ही वास्तविक समानता को प्राप्त किया जा सकेगा।

समानता के विविध रूप

स्वतन्त्रता के समान ही समानता के भी अनेक प्रकार हैं, जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं :

(1) प्राकृतिक समानता—प्राकृतिक समानता के प्रतिपादक इस बात पर बल देते हैं कि प्रकृति ने मनुष्यों को समान बनाया है और सभी मनुष्य आधारभूत रूप में वरावर हैं। सामाजिक समझौता सिद्धान्त के प्रतिपादकों ने प्राकृतिक अवस्था में मनुष्यों की समानता का विशेष रूप से उल्लेख किया है। वर्तमान समय में प्राकृतिक समानता की इस धारणा को अमान्य किया जा चुका है और इसे **'कोरी कल्पना' योग्यता, सृजनात्मक शक्ति, समाज-सेवा की भावना और सम्भवतः सबसे अधिक कल्पना-शक्ति में एक-दूसरे से मूलतः भिन्न है।**

(2) सामाजिक समानता—सामाजिक समानता का तात्पर्य यह है कि समाज के विशेषाधिकारों का अन्त हो जाना चाहिए और समाज में सभी व्यक्तियों को व्यक्ति होने के नाते ही महत्व दिया जाना चाहिए। समाज में जाति, धर्म, लिंग और व्यापार के आधार पर विभिन्न व्यक्तियों में किसी प्रकार का भेद नहीं किया जाना चाहिए। सामाजिक दृष्टिकोण से सभी व्यक्ति समान होने चाहिए और उन्हें सामाजिक उत्थान के समान अवसर प्राप्त होने चाहिए। भारत की जाति-व्यवस्था और दक्षिण अफ्रीका में प्रचलित रंगभेद सामाजिक समानता के घोर विरुद्ध हैं।

(3) नागरिक समानता—नागरिक समानता के सामान्यतः दो अभिप्राय लिए जाते हैं। प्रथम, राज्य के कानूनों की दृष्टि में सभी व्यक्ति समान होने चाहिए और राज्य के कानूनों द्वारा दण्ड या सुविधा प्रदान करने में व्यक्ति-व्यक्ति में कोई भेद नहीं किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त सभी व्यक्तियों को नागरिकता के अवसर अर्थात् नागरिक अधिकार एवं स्वतन्त्रताएं समान रूप से प्राप्त होनी चाहिए। सारांशतः सभी व्यक्तियों को कानून का समान संरक्षण प्राप्त होना चाहिए।

(4) राजनीतिक समानता—वर्तमान समय में राजनीतिक समानता पर भी बहुत अधिक बल दिया जाता है। राजनीतिक समानता का अभिप्राय सभी व्यक्तियों को समान राजनीतिक अधिकार एवं अवसर प्राप्त होने से है, परन्तु इस सम्बन्ध में पागल, नाबालिग और घोर अपराधी व्यक्ति अपवाद कहे जा सकते हैं, क्योंकि इनके द्वारा अपने मत का उचित प्रयोग नहीं किया जा सकता। राजनीतिक समानता का आशय यह है कि राजनीतिक अधिकार प्रदान करने के सम्बन्ध में रंग, जाति, धर्म और लिंग के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए और सभी व्यक्तियों को समान राजनीतिक अवसर प्रदान किए जाने चाहिए।

(5) आर्थिक समानता—वर्तमान समय में इस तथ्यपूर्ण विचार को लगभग सभी पक्षों द्वारा स्वीकार कर लिया गया है कि मानव जीवन में आर्थिक समानता का महत्व सबसे अधिक है और आर्थिक समानता के अभाव में राजनीतिक एवं नागरिक समानता का कोई मूल्य नहीं है। आर्थिक समानता का तात्पर्य केवल यह है कि मनुष्यों की आय में बहुत अधिक असमानता नहीं होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में, उनकी आय में इतना अधिक अन्तर नहीं होना चाहिए कि एक व्यक्ति अपने धन के बल पर दूसरे व्यक्तियों के जीवन पर अधिकार कर ले। जब तक सभी व्यक्तियों की अनिवार्य आवश्यकताएं सन्तुष्ट नहीं हो जाती हैं, उस समय तक समाज के किन्हीं भी व्यक्तियों को आरामदायक एवं विलासिता के साधनों के उपभोग का अधिकार नहीं प्राप्त होना चाहिए। इस प्रकार आर्थिक समानता धन के उचित वितरण पर बल देती है।

स्वतन्त्रता और समानता का सम्बन्ध

स्वतन्त्रता और समानता के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय पर राजनीतिशास्त्रियों में पर्याप्त मतभेद है। कुछ व्यक्तियों द्वारा स्वतन्त्रता और समानता के लोक प्रचलित अर्थों के आधार पर इन्हें परस्पर विरोधी बताया गया है। उनके अनुसार स्वतन्त्रता अपनी इच्छानुसार कार्य करने की शक्ति का नाम है जबकि समानता का तात्पर्य प्रत्येक प्रकार के सभी व्यक्तियों को समान समझने से है। इन व्यक्तियों का विचार है कि यदि सभी व्यक्तियों को स्वतन्त्रता प्रदान कर दी जाती है तो जीवन के परिणाम नितान्त असमान होंगे और शक्ति के आधार पर सभी व्यक्तियों को समान कर दिया जाए तो यह समानता व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को नष्ट कर देगी। केवल सामान्य व्यक्ति ही नहीं वरन् डी. टाकविले और लॉर्ड एक्टन जैसे राजनीति विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वानों का भी यह विचार है कि स्वतन्त्रता और समानता परस्पर विरोधी हैं। लॉर्ड एक्टन एक स्थान पर कहते हैं कि **"समानता की उत्कृष्ट अभिलाषा के कारण स्वतन्त्रता की आशा ही व्यर्थ हो गयी है।"**[1]

किन्तु टाकविले और लॉर्ड एक्टन, आदि विद्वानों का यह विचार सत्य नहीं है। वस्तुतः लॉर्ड एक्टन, आदि विद्वानों द्वारा स्वतन्त्रता और समानता के जिस रूप की कल्पना की गयी है, स्वतन्त्रता और समानता का वह रूप न तो समाज में कहीं प्राप्त है और न ही राजनीति विज्ञान में स्वतन्त्रता और समानता को उस रूप में स्वीकार किया गया है। इस सम्बन्ध में लास्की ने लिखा है कि **"डी. टाकविले और लॉर्ड एक्टन के मस्तिष्क में स्वतन्त्रता के प्रति उत्कृष्ट अभिलाषा होने के कारण ही उनके द्वारा स्वतन्त्रता और समानता को परस्पर विरोधी समझा गया, किन्तु यह एक गलत निष्कर्ष है और उनके द्वारा समानता का तात्पर्य गलत रूप से लेने के कारण ही ऐसा किया गया।"**[2] सभी व्यक्तियों को अपनी इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता तो हॉब्स के बर्बर समाज में ही प्राप्त थी, जिसमें वास्तविक अर्थ में कोई भी स्वतन्त्र नहीं था। इसी प्रकार सभी व्यक्तियों की प्राकृतिक समानता या आय की समानता तो स्वप्नलोक की वस्तु है जिसे समानता पर आधारित साम्यवादी शासन की व्यवस्था के प्रमुख स्टालिन ने भी **'मूर्खतापूर्ण बकवास'** कहा है।

राजनीति विज्ञान में स्वतन्त्रता और समानता का जो तात्पर्य लिया जाता है, उस अर्थ में स्वतन्त्रता और समानता परस्पर विरोधी नहीं वरन् पूरक हैं। स्वतन्त्रता की ठीक परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि "स्वतन्त्रता जीवन की ऐसी व्यवस्था का नाम है जिसमें व्यक्ति के जीवन पर न्यूनतम प्रतिबन्ध हों, विशेषाधिकार का नितान्त अभाव हो और व्यक्तियों को अपने व्यक्तित्व के विकास हेतु अधिकतम सुविधाएं प्राप्त हों।" इसी प्रकार समानता की सही रूप में परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि "समानता का तात्पर्य ऐसी परिस्थितियों के अस्तित्व से होता है जिनके अन्तर्गत सभी व्यक्तियों को व्यक्तित्व के विकास हेतु समान अवसर प्राप्त हों और इस प्रकार उस असमानता का अन्त हो सके जिसका मूल सामाजिक वैषम्य है।"

स्वतन्त्रता और समानता की इन परिभाषाओं के अनुसार स्वतन्त्रता और समानता दोनों का ही उद्देश्य मानवीय व्यक्तित्व का उच्चतम विकास है और इस प्रकार स्वतन्त्रता और समानता एक-दूसरे के सहायक और पूरक हैं, परस्पर विरोधी नहीं। इस सम्बन्ध में एक्टन ने लिखा है कि **"विरोधाभास यह है कि समानता और स्वतन्त्रता जो कि परस्पर विरोधी विचार के रूप में प्रारम्भ होते हैं, विश्लेषण करने पर एक-दूसरे के लिए आवश्यक हो जाते हैं। यह सत्य है कि समानता के अर्थ की उचित व्याख्या स्वतन्त्रता के सन्दर्भों में की जा सकती है।"** यदि समान अवसरों के द्वार सबके लिए खुले रहते हैं तो व्यक्ति अपनी रुचि के अनुसार अपनी शक्तियों

1 "The passion for equality made vain the hope for liberty." —*Lord Acton*
2 Laski, *A Grammar of Politics*, p. 151.

का विकास करने की यथार्थ स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकता है। जिस समाज में किसी एक वर्ग को विशेषाधिकार प्राप्त रहते हैं और सामाजिक तथा आर्थिक अन्तर पाये जाते हैं, वहां वह वर्ग अन्य वर्गों पर दबाव डालने की अनुचित शक्ति प्राप्त कर लेता है और निम्न वर्गों को केवल नाममात्र की ही स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। लास्की के मतानुसार, **"सम्पत्ति की असमानता स्वतन्त्रता की विरोधी है। साधनों के अभाव के कारण निर्धन व्यक्ति न्यायालयों से उचित न्याय नहीं प्राप्त कर सकते हैं और मुकदमेबाजी की लम्बी प्रक्रिया से धनी लोग अपने निर्धन पड़ोसियों को तबाह कर देते हैं।"** एक अन्य स्थान पर लास्की लिखते हैं कि **"यदि स्वतन्त्रता का अर्थ मानवीय आत्मा में लगातार विकास की शक्ति से है, तो यह समान लोगों के समाज के अतिरिक्त शायद ही कहीं सम्भव है। जहां गरीब और साहूकार हों, शिक्षित और अशिक्षित हों, वहां मालिक और नौकर जरूर मिलेंगे।"**

वास्तव में, समानता के द्वारा स्वतन्त्रता के आधार के रूप में कार्य किया जाता है। एक ऐसे राज्य में जिसमें समानता नहीं है, स्वतन्त्रता हो ही नहीं सकती। इस बात को निम्नलिखित रूपों में स्पष्ट किया जा सकता है :

(1) यदि राजनीतिक समानता नहीं होगी, तो स्वतन्त्रता व्यर्थ हो जाएगी और जनता के एक बहुत बड़े भाग को शासन में कोई भाग प्राप्त नहीं होगा।

(2) यदि नागरिक समानता नहीं होगी, तो जो व्यक्ति नागरिक अयोग्यताओं से पीड़ित हैं, उन्हें स्वतन्त्रता उपलब्ध नहीं होगी।

(3) यदि सामाजिक समानता नहीं होगी, तो स्वतन्त्रता पर कुछ ही व्यक्तियों का विशेषाधिकार हो जाएगा।

(4) यदि आर्थिक समानता नहीं होगी, तो धन कुछ ही व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित हो जाएगा और केवल वही वर्ग स्वतन्त्रता का लाभ उठा सकेगा।

ऐसी स्थिति में डॉ. आशीर्वादम् ने ठीक ही कहा है कि **"फ्रांस के क्रान्तिकारी न तो पागल थे और न मूर्ख, जब उन्होंने स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व का नारा लगाया था।"**[1]

प्रो. पोलर्ड ने इस सच्चाई को एक ही वाक्य में इस प्रकार व्यक्त किया है, **"स्वतन्त्रता की समस्या का केवल एक हल है और वह हल समानता में निहित है।"** वास्तव में, स्वतन्त्रता और समानता मानव जीवन सरिता के दो तट हैं, ये मानव कल्याण रूपी रथ के दो पहिये हैं, सत्य तथा शिव का जो अभिन्न सहयोग है, वही मानवीय जीवन में स्वतन्त्रता और समानता का है।

यह नितान्त सम्भव है कि भारत के गरीब किसानों और मजदूरों में अनेक व्यक्ति नेहरू और टैगोर के समान ही प्रतिभा-सम्पन्न हों, लेकिन पर्याप्त सुविधाएं प्राप्त न होने के कारण वे अपने जीवन का विकास न कर सके हों। वस्तुतः समानता के अभाव में सबसे अधिक योग्य व्यक्तियों की खोज उसी प्रकार से बहुत अधिक कठिन है, जिस प्रकार एक ऐसी दौड़ में सबसे तेज दौड़ने वाले व्यक्ति का पता लगाना, जिसके अन्तर्गत प्रतियोगी अलग-अलग स्थानों से दौड़ शुरू करते हैं। इस प्रकार स्वतन्त्रता और समानता एक-दूसरे की पूरक और सहायक हैं। आर. एच. टॉनी ने सत्य ही कहा है कि **"समानता की एक बड़ी मात्रा स्वतन्त्रता की विरोधी न होकर इसके लिए आवश्यक है।"**

निबन्धात्मक प्रश्न

1. समानता से आप क्या समझते हैं? इसके विभिन्न स्वरूपों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
2. "आर्थिक समानता के अभाव में राजनीतिक स्वतन्त्रता केवल एक भ्रम है।" (कोल) इस कथन की व्याख्या कीजिए।
3. "स्वतन्त्रता और समानता एक-दूसरे की पूरक हैं क्योंकि कुछ समानता के अभाव में स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।
4. औपचारिक और वास्तविक समानता में भेद स्पष्ट कीजिए। वास्तविक समानता की स्थापना के लिए क्या किया जाना चाहिए? स्पष्ट कीजिए।

1 **"The French revolutionists were neither mad nor stupid, when they made their war cry Liberty, Equality and Fraternity."** —*Dr. Ashirvadam*

13

कानून
(LAW)

"राज्य कानून का शिशु और जनक दोनों ही है।"[1] —**मैकाइवर**

कानून का अर्थ

राज्य का लक्ष्य मानव कल्याण की उचित व्यवस्था करना है, किन्तु इस लक्ष्य की प्राप्ति की आशा तभी की जा सकती है जबकि राज्य के नागरिक अपने जीवन में आचरण के कुछ सामान्य नियमों का पालन करते हों। अतः राज्य अपने नागरिकों के जीवन के संचालन हेतु नियमों का निर्माण करता है, जिनका पालन करना व्यक्ति के लिए आवश्यक होता है और जिनका पालन न किये जाने पर व्यक्ति दण्ड का भागी होता है। राजनीति विज्ञान में राज्य द्वारा निर्मित और लागू किए जाने वाले इन नियमों को ही कानून कहते हैं।

कानून आंग्ल भाषा के 'लॉ' (Law) शब्द का हिन्दी रूपान्तर है। 'लॉ' शब्द की उत्पत्ति ट्यूटॉनिक 'लैग' (Lag) से हुई है, जिसका अर्थ होता है ऐसी वस्तु जो सदा स्थिर, स्थायी और निश्चित या सभी परिस्थितियों में समान रूप में रहे। अतः शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'कानून' का अर्थ है 'वह जो एकरूप बना रहे।' 'ऑक्सफोर्ड शब्दकोश' में इसकी परिभाषा **'सत्ता द्वारा आरोपित आचार व्यवहार के नियम'** के रूप में की गयी है।

कुछ प्रमुख विद्वानों द्वारा कानून की परिभाषा इस प्रकार की गयी है :

वुडरो विल्सन के अनुसार, "कानून स्थिति, विचार तथा स्वभाव का वह अंश है, जिसे शासक की शक्ति लागू करती है।"[2]

ऑस्टिन के अनुसार, "कानून सम्प्रभु की आज्ञा है।"[3]

पाउण्ड के शब्दों में, "न्याय के प्रशासन में जनता और नियमित न्यायालयों द्वारा मान्यता प्राप्त या लागू किये गये नियमों को कानून कहते हैं।"[4]

प्रो. सालमण्ड के अनुसार, "कानून नियमों का वह समूह है जिसे राज्य मान्यता देता है और न्याय व्यवस्था के प्रशासन में लागू करता है।"[5]

ग्रीन के अनुसार, "अधिकारों और कर्तव्यों की उस पद्धति को कानून कहा जा सकता है, जिसे सरकार लागू करती है।"[6]

---

1. "The State is both the child and the parent of Law."
—R. M. MacIver, *The Modern State*, p. 272.
2. "Law is that portion of the established thought and habit which has gained distinct and formed recognition in the state of uniform rules backed by the authority and power of government."
—*W. Wilson*
3. "Law is the command of the sovereign." —*Austin*
4. "The body of principles recognized and enforced by public and regular tribunals, in the administration of justice." —*Pound*
5. "The body of principles recognized and applied by the state in the administration of justice." —*Salmond*
6. "The system of rights and obligations, which the state enforces." —*Green*

उपर्युक्त परिभाषाओं की अपेक्षा हालैण्ड की परिभाषा अधिक स्पष्ट है, जिसके अनुसार, **"आचरण के उन सामान्य नियमों को कानून कहते हैं, जो मनुष्य के बाहरी आचरण से सम्बन्धित होते हैं और जिन्हें एक निश्चित सत्ता लागू करती है। यह निश्चित सत्ता राजनीतिक क्षेत्र की मानवीय सत्ताओं में सर्वोच्च होती है।"**[1]

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि कानून वे नियम हैं जिन्हें राज्य के द्वारा निर्मित या स्वीकृत किया जाता है और जिनका पालन न करने पर राज्य के द्वारा दण्डित किया जाता है।

कानून के तत्व

उपर्युक्त परिभाषाओं की विवेचना के आधार पर कानून के प्रमुख रूप से निम्नलिखित पांच तत्व वतलाए जा सकते हैं :

(1) कानून के लिए नागरिक समाज का अस्तित्व आवश्यक है क्योंकि नागरिक समाज ही एक सुव्यवस्थित संगठन है और इस संगठन के संचालन हेतु ही नियमों की आवश्यकता होती है।

(2) कानूनों के निर्माण तथा उनकी क्रियान्विति के लिए एक सम्प्रभुत्वपूर्ण सत्ता का अस्तित्व आवश्यक है।

(3) कानूनों का सम्बन्ध व्यक्ति के बाहरी आचरण से होता है, उनकी आन्तरिक भावनाओं से नहीं।

(4) नागरिकों को कानून का अनिवार्य रूप से पालन करना होता है और कानून का उल्लंघन करने पर वे राज्य दण्ड के भागी होते हैं।

(5) कानून ऐसे होने चाहिए, जिनका पालन न केवल दण्ड के भय से वरन् सामाजिक हित की भावना से किया जाए।

कानून का स्वरूप

कानून के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में राजनीतिक विचारकों में मतभेद है। कुछ विचारक कानून पर विश्लेषणात्मक दृष्टि से विचार करते हैं, तो कुछ ऐतिहासिक, दार्शनिक, तुलनात्मक या समाज-वैज्ञानिक दृष्टि से उसकी विवेचना करते हैं। इस सम्बन्ध में प्रमुख रूप से निम्नलिखित विचारधाराओं का अध्ययन आवश्यक है :

विश्लेषणात्मक विचारधारा या कानूनी विचारधारा (The Analytical School or the Legalistic School)—कानून के विश्लेषणवादी सम्प्रदाय ने निरंकुशतावादी और आदर्शवादी दर्शन से प्रेरणा ग्रहण की है, जिसका प्रारम्भ प्लेटो से समझा जा सकता है। कानून के सम्बन्ध में इनकी धारणा बेन्थम और ऑस्टिन के विचारों पर आधारित है और इसके प्रतिपादन का कार्य हालैण्ड और विलोबी, आदि के द्वारा किया गया है। ये विचारक कानून को राज्य की असीम सम्प्रभुता का निश्चित और स्पष्ट आदेश मानते हैं जिसका पालन राज्य की शक्ति के द्वारा ही कराया जाता है। इस प्रकार यह विचारधारा कानून के स्रोत के रूप में व्यवस्थापन पर बल देती है।

आलोचना—यद्यपि विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण सीधा और सरल है, किन्तु इसकी कड़ी आलोचना की गयी है। **सर्वप्रथम**, विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण बहुत कठोर और आवश्यकता से अधिक वैधानिक है। मैकाइवर के शब्दों में, **"कानून आदेश नहीं वरन् आदेश के बिल्कुल विपरीत है। कानून को आदेश मानने का परिणाम राज्यकार्य में अव्यवस्था होता है।"** कानून आदेश से इस रूप से भिन्न है कि आदेश, आदेश देने वाले और प्राप्त करने वाले को एक-दूसरे से पृथक् करता है जबकि कानून विधायक और सामान्य नागरिक दोनों पर समान रूप से लागू होता है। ऑस्टिन का सम्प्रभु निरंकुश और कानून से उच्च है, लेकिन आज के प्रजातान्त्रिक राज्य में इसे सत्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि मन्त्रियों और विधायकों को भी कानून के सम्मुख झुकना पड़ता है।" प्रो. लास्की भी कहते हैं, **"कानून को केवल एक आदेश मानना न्यायज्ञ के लिए परिभाषा को सौजन्य की सीमा तक खींचना है। कानून में एक प्रकार की एकरूपता होती है, जिसमें आदेश का तत्व आंखों से लगभग ओझल ही होता जाता है।"** ब्राइस, फ्रेडरिक पोलक और सालमण्ड के द्वारा भी इसी प्रकार का विचार व्यक्त किया गया है।

द्वितीय, 'आदेश' प्रशासन से सम्बन्धित होता है, व्यवस्थापन से नहीं। कानून में एक विशेष प्रकार का स्थायित्व होता है जबकि 'आदेश' विशेष परिस्थितियों के आधार पर जारी किए जाते हैं।

---

1 **"A general rule of action taking cognizance of external acts, enforced by a determinate authority, which authority is human and among human authorities is that which is permanent in a political society."** —*Holland*

तृतीय, विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण अपर्याप्त और अधूरा है। यह उन सारे रिवाजों को जो समाज में प्राकृतिक रूप से विकसित होते हैं और मान्य हैं, बिल्कुल अस्वीकार कर देता है। इन नियमों को सर्वसत्ता के आदेशों से किसी भी प्रकार कम शक्ति प्राप्त नहीं है। सर हेनरी मेन ने विश्लेषणवादी विचारधारा की इस कमी की ओर विशेष रूप से ध्यान आकर्षित किया है। वस्तुतः कोई भी सम्प्रभु परम्परागत नियमों की अवहेलना का साहस नहीं कर सकता। लास्की के अनुसार, टर्की के निरंकुश सुल्तान द्वारा भी परम्परागत सामाजिक नियमों की अवहेलना का कभी कोई प्रयत्न नहीं किया गया।[1]

चतुर्थ, इस दृष्टिकोण में रूढ़िवाद की झलक दिखायी देती है। गैटल के कथनानुसार, "विश्लेषणात्मक शाखा के लेखक नियमों को प्रगतिशील न मानकर गतिहीन मान लेते हैं और वे कानून के ऐतिहासिक विकास की ओर ध्यान नहीं देते।" ऐसी स्थिति में कहा जा सकता है कि विश्लेषणात्मक विचारधारा गर्दभ के समान है। उसे यह सुधि नहीं रहती कि समय कितना बीत गया है और जमाना कहां चला गया है। उसकी स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता। वह तो प्रगति विरोधी या प्रगति के प्रति उदासीन खूंटे से बंधा रहता है।

विश्लेषणवादी विचारधारा की कमियों के बावजूद यह कहा जा सकता है कि स्पष्ट परिभाषाओं और तार्किक निष्कर्षों पर विशेष बल देते हुए इस विचारधारा ने कानून की अवधारणा के सम्बन्ध में अस्पष्टताओं, सन्देहों और असंगतियों को दूर करने का महत्वपूर्ण कार्य किया है।

ऐतिहासिक विचारधारा (Historical School)—ऐतिहासिक विचारधारा के मुख्य प्रतिपादक जर्मनी में **सेविग्नी और इंगलैण्ड में सर हेनरी मेन, एफ. डब्ल्यू. मेटलैण्ड और सर फ्रेडरिक पोलक** रहे हैं। ये विचारक कानून के औपचारिक स्रोत की अपेक्षा उसकी विषय-वस्तु पर अधिक बल देते हैं। इन विचारकों के द्वारा विकासात्मक दृष्टिकोण के आधार पर कानून की उत्पत्ति तथा विकास का अध्ययन किया गया है तथा वे कानून में होने वाले परिवर्तनों तथा विकास के कारणों की छान-बीन करते हैं। इस दृष्टि से कोई भी कानून किसी कानून निर्माता की जानबूझकर की गयी रचना नहीं होता, वरन् वह भूतकाल से चली आ रही प्रथाओं और परम्पराओं पर ही आधारित होता है। इस विचारधारा के अनुसार मानवीय प्रकृति में अकस्मात ही कोई परिवर्तन होना सम्भव नहीं है, इसलिए जिसे हम वर्तमान समय में कानून कहते हैं, वह वास्तव में परम्परा ही है और भविष्य में भी ऐसा ही होता रहेगा। इस विचारधारा के अनुसार तो ऑस्टिन की अपेक्षा वुडरो विल्सन की परिभाषा अधिक उपयुक्त है क्योंकि वह कानून को किसी निश्चित सत्ता के रूप में नहीं मानता, वरन् इसमें प्रथाओं पर आधारित चलनों को भी सम्मिलित करता है।

यह विचारधारा कानून की अवधारणा के विकास सम्बन्धी पहलू के अध्ययन पर बल देते हुए महत्वपूर्ण सेवा सम्पादित करती है। विश्लेषणवादी विचारधारा द्वारा प्रतिपादित कानून की औपचारिक और स्थिर धारणा पर यह एक आवश्यक और उचित सुधार है। गैटल ठीक ही लिखते हैं, "यह विचारधारा वैधानिक विश्लेषण के लिए पृष्ठभूमि प्रदान करती है और बतलाती है कि कानूनी व्यवस्थाएं निरन्तर परिवर्तित होती रहती हैं तथा नवीन स्थितियों का सामना करने के लिए उनमें परिवर्तन होने ही चाहिए।"[2]

यह पद्धति विभिन्न राष्ट्रों की कानूनी पद्धतियों के अध्ययन हेतु अधिक उपयुक्त है, परन्तु इस पद्धति की यह बड़ी कमी है कि इसके पोषक साधारणतया कानून में परिवर्तन के विरोधी होते हैं। वे कानूनी इतिहास पर आवश्यकता से अधिक बल देते हैं। अतीत के प्रति अधिक श्रद्धा होने के कारण यह विचारधारा रूढ़िवादी है। इसके अतिरिक्त इस पद्धति में विधि के दर्शन को उचित स्थान नहीं दिया जाता। इस प्रकार यह विचारधारा प्रथाओं और परम्पराओं के अतिरिक्त अन्य तत्वों की अवहेलना करती है और कानून के सम्बन्ध में पूर्ण सत्य को व्यक्त नहीं करती।

दार्शनिक विचारधारा (Philosophical School)—इस विचारधारा के प्रतिपादक न्यायविद् वर्तमान या अतीत के वास्तविक कानूनों की अपेक्षा कानून के अमूर्त अथवा दार्शनिक रूप का अध्ययन करते हैं। उनका विशेष सम्बन्ध न्याय के विचार का एक नैतिक सिद्धान्त के रूप के विकास और एक आदर्श न्याय पद्धति से है। इस पद्धति में कानून के विकास के विचार को आचारात्मक और नैतिक तत्व के रूप में देखा जाता है। इसके पोषकों में हीगल, काण्ट और डीन पाउण्ड के नाम प्रमुख रूप से लिये जा सकते हैं। जर्मनी के

1 Lasky, *A Grammar of Politics*, p. 51.
2 "It furnishes the background for legal analysis and it points out that legal systems are constantly changing and need modifications to meet new conditions." —Gettell, *Political Science*, p. 179.

प्रोफेसर जोसेफ कोहलर इस विचारधारा के सबसे प्रमुख आधुनिक प्रतिपादक हैं। कोहलर (Kohler) के अनुसार, **"न्याय के दार्शनिक पहलू का आदर्श से उतना ही सम्बन्ध है जितना कि कानून के यथार्थ तत्वों से। कानून संस्कृति की उपज और उसे आगे बढ़ाने का साधन दोनों ही है।"**[1] इस विचारधारा के न्यायविद् कानून के अमूर्त अथवा दार्शनिक रूप पर अधिक वल देते हैं। इस पद्धति का मुख्य दोष यह है कि ये विचारक कानूनों से सम्बन्धित दार्शनिक विवेचनों में अधिक संलग्न रहते हैं और यथार्थ को दृष्टि में नहीं रखते।

तुलनात्मक विचारधारा (Comparative School)—यह अपेक्षाकृत नयी विचारधारा है और एक अर्थ में ऐतिहासिक विचारधारा से श्रेष्ठ है। इसमें विभिन्न देशों की कानूनी पद्धतियों पर विचार करके निष्कर्ष निकाले जाते हैं। वास्तव में, यह ऐतिहासिक पद्धति का ही एक विकसित और परिवर्तित रूप है क्योंकि इसके प्रतिपादकों का यह विश्वास है कि विभिन्न कानूनी पद्धतियों और प्रथाओं—अतीत और वर्तमान—सभी की समीक्षा और तुलना करने से वे अधिक अच्छे कानून सम्बन्धी निष्कर्षों पर पहुंच सकते हैं। इसके पोषकों में हर्बर्ट स्पेंसर और मार्शल मुख्य हैं और मेन व पोलक ने भी इसे कुछ सीमा तक अपनाया है।

समाजशास्त्रीय विचारधारा (Sociological School)—इस विचारधारा के प्रतिपादकों का विश्वास है कि कानून सामाजिक शक्तियों की उपज होते हैं, अतएव उसे समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन होना चाहिए। वे कानून के प्रशासन व उसकी रचना के ढंग दोनों ही बातों पर ध्यान देते हैं और उनका विश्वास है कि कानून की अच्छाई का निर्णय उसके परिणामों के आधार पर किया जाना चाहिए, न कि आदर्श व काल्पनिक सिद्धान्तों पर। वे कानून के सामाजिक उद्देश्यों का अध्ययन करते हैं और उसका अन्य सामाजिक शास्त्रों व सिद्धान्तों से भी सम्बन्ध स्थापित करते हैं। इसी कारण वे मनोविज्ञान, समाजशास्त्र और व्यवहारवाद (Pragmatism) के आधुनिक विकास से काफी अध्ययन सामग्री लेते हैं। इस शाखा के विचारकों में ऑस्ट्रिया के गमप्लोविज, हालैण्ड के क्रैब और संयुक्त राज्य अमरीका के जस्टिस होल्म्स प्रमुख हैं। इंगलैण्ड के प्रसिद्ध विचारक हैराल्ड लास्की भी इस विचारधारा के समर्थक हैं।

समाजशास्त्रीय विचारधारा कानूनों की अच्छाई-बुराई का निर्णय उसके परिणामों के आधार पर करती है, दार्शनिक सिद्धान्तों से नहीं। उनके अनुसार कानून का स्रोत राज्य नहीं, राज्य तो केवल उन सामाजिक नियमों को, जो अपने आप समाज हित में विकसित हैं, कानूनी स्वरूप दे देता है। इस दृष्टि से कानून का अस्तित्व राज्य के पूर्व माना जाता है और कानून की सत्ता राज्य से बढ़कर है। उदाहरण के लिए, डिग्विट के अनुसार, **"कानून आचरण के वे नियम हैं जो मनुष्यों को समाज में नियन्त्रित रखते हैं। मनुष्यों में सामाजिक संगठन की आवश्यकता की स्वाभाविक चेतना होती है जिसके कारण वे नियमों का पालन करते हैं। अतएव कानून राज्य से स्वतन्त्र, पूर्वकालिक, ऊपर और अधिक व्यापक है।"** इस प्रकार यह विचारधारा राज्य की सम्प्रभुता पर नहीं, वरन् कानून की सम्प्रभुता पर बल देती है।

कानून की समाजशास्त्रीय विचारधारा निम्न प्रकार से दोषपूर्ण है :

(i) चलन पूर्व राजनीतिक हो सकता है, किन्तु कानून नहीं। राज्य कानून के लिए संगठित होता है।

(ii) यह कथन असत्य है कि कानून सम्प्रभु की आज्ञा नहीं होता, क्योंकि कानून के पीछे आध्यात्मिक शक्ति होती है।

(iii) सभी कानून सामाजिक हित में ही हों ऐसा होना जरूरी नहीं है।

(iv) कानून राज्य से स्वतन्त्र नहीं हो सकता।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विचारधाराओं में से कोई भी कानून के स्वरूप पर पूर्ण प्रकाश डालने में असमर्थ है, किन्तु इसके साथ ही इनमें से प्रत्येक में सत्य का कुछ न कुछ अंश अवश्य है। कानून एक निश्चित तथा उच्चतर मानव का आदेश मात्र नहीं होता और न इसे स्थिर और मानव जीवन की आवश्यकताओं से अलग ही माना जा सकता है। कानून की एक उचित धारणा के अन्तर्गत हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि राजनीतिक शासन की सत्ता कानून को वैधानिक मान्यता प्रदान करती है, परन्तु उसका यथार्थ स्वरूप देश के ऐतिहासिक वातावरण तथा समाज की नैतिकता का परिणाम होता है। कानून प्रगतिशील होता है और अपने आपको जनता के नैतिक, आर्थिक तथा धार्मिक दृष्टिकोण के अनुकूल बना लेता है। आजकल सभी विचारधाराओं के

1. **"The juristic philosopher is as much concerned with the ideal as with the actual content of the law. Law is both the product of culture and a means for furthering it."**
—Joseph Kohler (Quoted from Coker, *Recent Political Thought*, p. 530)

विधानशास्त्री कानून को मानव कल्याण का एक साधन मानने लगे हैं। आज के विधानशास्त्री कानून की केवल सैद्धान्तिक विवेचना ही नहीं करते वरन् वे यह भी देखते हैं कि अतीत में उन कानूनों का क्या प्रभाव हुआ है, उनकी वर्तमान स्थिति क्या है और मानवीय प्रयत्न से उन्हें किस प्रकार सुधारा जा सकता है।

कानून अनिवार्य अवश्य होता है और उसे क्रियान्वित करने के लिए शक्ति का प्रयोग किया जा सकता है। यही कानून की सबसे बड़ी विशेषता है। परन्तु वास्तव में, कानून के पालन का मुख्य कारण उसकी अनिवार्यता नहीं है, वरन् लोग कानून का पालन स्वेच्छा से ही करते हैं। इस सम्बन्ध में **मैकाइवर** नितान्त उचित रूप में लिखते हैं कि "कानून के पालन का मूल कारण दमन नहीं, वरन् कानून के पालन की इच्छा होती है फिर भी कानून आदेश की स्थिति को प्राप्त कर लेता है।"[1]

कानून के प्रकार

विभिन्न विद्वानों ने कानूनों का वर्गीकरण विभिन्न प्रकार से किया है। कुछ विद्वान कानून-निर्मात्री सत्ता के आधार पर वर्गीकरण करते हैं, कुछ विद्वान निजी सार्वजनिक विशेषताओं के आधार पर, तो कुछ अन्य विद्वान राष्ट्रीयता एवं अन्तर्राष्ट्रीयता के आधार पर। कानून के विविध प्रकारों की अलग-अलग व्याख्या निम्न प्रकार से की जा सकती है :

(1) व्यक्तिगत कानून (Private Laws)—ये कानून व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों को निश्चित करते हैं। उदाहरणस्वरूप, ऋण सम्बन्धी कानून और जायदाद खरीदने व बेचने के कानून इसी श्रेणी में आते हैं।

(2) सार्वजनिक कानून (Public Laws)—इन कानूनों द्वारा व्यक्ति का सरकार या राज्य के साथ सम्बन्ध निश्चित किया जाता है। उदाहरणस्वरूप, कर लगाने, चोरी, डकैती और हत्या करने वालों को दण्ड देने के लिए जो कानून बनाये जाते हैं, इन्हें इसी सूची में शामिल किया जाता है।

(3) संवैधानिक कानून (Constitutional Laws)—संवैधानिक कानून उस कानून को कहते हैं जिसके द्वारा सरकार का ढांचा निश्चित किया जाता है और जिसके द्वारा राज्य के प्रति नागरिकों के अधिकारों तथा कर्तव्यों का विश्लेषण किया जाता है। उदाहरणस्वरूप, भारत में राष्ट्रपति का निर्वाचन, सर्वोच्च न्यायालय का गठन और शक्तियां तथा राज्यपाल की नियुक्ति से सम्बन्धित कानून संवैधानिक कानून के ही उदाहरण हैं।

(4) सामान्य कानून (Ordinary Laws)—नागरिकों के दैनिक जीवन एवं आचरण को नियमित करने वाले कानूनों को सामान्य कानून कहते हैं। वे व्यवस्थापिका द्वारा नियमित होते या रीति-रिवाजों और परम्पराओं पर आधारित होते हैं। लचीले संविधान में तो सामान्य कानून और संवैधानिक कानून के निर्माण की एक ही प्रक्रिया होती है, किन्तु कठोर संविधान में संवैधानिक कानून के निर्माण, परिवर्तन या संशोधन की प्रक्रिया सामान्य कानून से भिन्न तथा विशेष प्रकार की होती है।

(5) प्रशासकीय कानून (Administrative Laws)—किसी-किसी देश में साधारण नागरिकों से पृथक् सरकारी कर्मचारियों के लिए अलग कानून होते हैं। इन कानूनों को प्रशासकीय कानून कहते हैं। '**ये वे नियम हैं जो राज्य के सभी कर्मचारियों के अधिकारों तथा कर्तव्यों को निश्चित करते हैं।**' फ्रांस प्रशासकीय कानून का सर्वोत्तम उदाहरण है।

(6) प्रथागत कानून (Common Laws)—ये देश में प्रचलित रीति-रिवाज और परम्पराओं का विकसित रूप होते हैं और न्यायालय इन्हें मान्यता देकर कानून का रूप प्रदान करते हैं। इंगलैण्ड में कानून के विकास में रीति-रिवाजों ने महत्वपूर्ण भाग लिया है। इसलिए वहां 'कॉमन लॉ' काफी प्रचलित है।

(7) अध्यादेश (Ordinance)—किसी विशेष परिस्थिति का सामना करने के लिए अथवा किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए, कार्यपालिका के द्वारा एक निश्चित अवधि के लिए जो आदेश जारी किया जाता है, उसे अध्यादेश कहते हैं। भारत के राष्ट्रपति को अध्यादेश जारी करने का अधिकार प्राप्त है।

(8) अन्तर्राष्ट्रीय कानून (International Laws)—कानून के उपर्युक्त सभी भेद राष्ट्रीय कानून के ही उदाहरण हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त भी एक और कानून होता है। विश्व के स्वतन्त्र राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्ध को नियमित करने वाले कानूनों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून कहते हैं। ओपनहेम (Oppenheim) के शब्दों में, "**अन्तर्राष्ट्रीय विधि प्रयासों और परम्पराओं का वह समूह है जो सभ्य राज्यों द्वारा अपने आपसी सम्बन्ध में कानूनी**

1 "The root of obedience to law is not coercion but the will to obey; nevertheless law takes the form of an imperative."
—MacIver, *The Modern State*, p. 21.

तौर पर बाध्य समझा जाता है।" वर्तमान समय तक अन्तर्राष्ट्रीय कानून को, राष्ट्रीय कानून की भांति, बाध्यकारी शक्ति प्राप्त नहीं हुई है और इनके पीछे सबसे बड़ी शक्ति अन्तर्राष्ट्रीय लोकमत की है।

कानून के उद्गम या स्रोत
(SOURCES OF LAWS)

कानून के स्रोत से तात्पर्य उन साधनों से है जो प्रत्यक्ष रूप से कानून के निर्माण में सहायता देते हैं। आधुनिक राज्यों में सामान्यतः विधानमण्डल द्वारा कानून का निर्माण किया जाता है, किन्तु विधानमण्डल के अतिरिक्त भी कानून के अनेक स्रोत हैं, जिनका उल्लेख निम्न प्रकार से किया जा सकता है :

(1) रीति-रिवाज या परम्पराएं (Customs)—रीति-रिवाज कानून का प्राचीनतम तथा एक महत्वपूर्ण स्रोत हैं। रीति-रिवाजों का निर्माण नहीं होता, वरन् धीरे-धीरे उनका विकास होता है। ये समाज के वे प्रचलित नियम होते हैं, जिन्हें समाज के सभी लोग लम्बे समय से मानते चले आ रहे हैं। इन रीति-रिवाजों के पीछे सामाजिक संगठन का नियन्त्रण तथा समाज का नैतिक बल रहता है। जब ये समाज में अधिक मान्य तथा प्रचलित हो जाते हैं, तब राज्य उन्हें कानून का रूप दे देता है। इस प्रकार समाज के प्रचलित रीति-रिवाज कानून का रूप धारण कर लेते हैं और उन्हें प्रथागत कानून कहा जाने लगता है। रोम में, **'ट्वेल्व टेबुल्स' (Twelve Tables), भारत में स्मृतियां तथा इंगलैण्ड में 'कामन लॉ' इसी स्रोत की देन हैं।** एक राज्य की वैधानिक व्यवस्था में रीति-रिवाजों का महत्व स्पष्ट करते हुए **मैकाइवर** ने लिखा है कि **"कानून के विशाल ग्रन्थ में राज्य केवल कुछ ही नये वाक्य लिखता है और कहीं-कहीं एक आधा पुराना वाक्य काट देता है। इस ग्रन्थ के अधिकांश भागों की रचना में राज्य का कभी कोई हाथ नहीं रहा है, परन्तु राज्य स्वयं इस सम्पूर्ण ग्रन्थ से मर्यादित होता है।"**

(2) धर्म (Religion)—कानून के विकास में परम्परा की भांति धर्म का भी महत्वपूर्ण स्थान रहा है। धर्म परम्परागत कानून को धार्मिक विश्वास की मान्यता देकर उसे सबल बनाता है और इस दृष्टि से ये दोनों घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित हैं। इतना ही नहीं, धर्म ने प्रत्यक्ष रूप से भी कानून को जन्म दिया है। प्राचीनकाल में ईश्वर को समस्त सत्ता और कानून का उद्गम माना जाता था। इस प्रकार धर्माधिकारियों तथा धर्म शासकों के माध्यम से अभिव्यक्त कानूनों का स्वरूप दैवी होता था। प्राचीन समाज में धर्म तथा कानून इतने घुले-मिले थे कि जीवन के सभी नियमों के पीछे धार्मिक मान्यता का बल पाया जाता था। विल्सन ने ठीक ही कहा है कि **"रोम का प्रारम्भिक कानून शास्त्रगत धार्मिक नियमों के एक संग्रह अथवा कतिपय धार्मिक सिद्धान्तों के उचित पालन द्वारा धार्मिक अधिकार प्राप्त करने के साधनों की एक व्यवस्था के अतिरिक्त और कुछ नहीं था।"** आज भी हिन्दुओं का कानून मनु की व्यवस्था के आधार पर और इस्लामी कानून शरीयत के आधार पर टिका हुआ है।

(3) न्यायिक निर्णय (Judicial Decisions)—जैसे-जैसे सामाजिक व्यवस्था जटिल होने लगी, वैसे-वैसे विभिन्न रीति-रिवाज़ों में संघर्ष उत्पन्न होने लगा और इस संघर्ष के कारण रीति-रिवाजों की वैधता में सन्देह किया जाने लगा। इसी स्थिति में कभी-कभी ऐसे विवाद भी खड़े हो जाते थे, जिनका रिवाजों के पास कोई समाधान नहीं था, अतः ऐसे विवादों को सुलझाने के लिए समाज के उन सबसे बुद्धिमान व्यक्ति अथवा व्यक्तियों की सलाह ली जाती थी, जिनका निर्णय सबको स्वीकार हो। ऐसे व्यक्तियों के निर्णयों ने **'कानूनी दृष्टान्तों (Precedents)** का रूप धारण कर लिया। बाद में उत्पन्न विवाद सुलझाने के लिए इन पूर्ण दृष्टान्तों का अनुकरण किया जाने लगा और इस प्रकार न्यायिक निर्णय कानून के स्रोत बन गये।

आज भी न्यायिक निर्णय कानून के विकास में पर्याप्त सहायक होते हैं। न्यायाधीश विधि की व्यवस्था करते समय जाने-अनजाने में नये कानून के निर्माण का कार्य करते हैं। संयुक्त राज्य अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय ने तो अपनी व्याख्या की शक्ति द्वारा संविधान में पर्याप्त परिवर्तन कर दिये हैं। **जस्टिस होल्म्स (Holmes)** के विचार में, **"न्यायाधीश कानून बनाते हैं और उनको इसका अधिकार भी है।"**

(4) कानूनी टीकाएं (Commentaries)—प्रत्येक देश में कानून के प्रसिद्ध ज्ञाता कठिन कानूनों के अर्थ को स्पष्ट रूप से समझाने के लिए कानून की व्याख्या करते हुए ग्रन्थ-रचना करते हैं, जिन्हें कानूनी टीकाएं कहा जाता है। न्यायशास्त्रियों और विधि-विशारदों की ये टीकाएं भी कानून का एक महत्वपूर्ण स्रोत होती हैं। टीकाकार कानून के आधारभूत अमूर्त विद्धानों की विवेचना करते हुए उनके यथार्थ स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं तथा न्याय और कल्याण की दृष्टि से संशोधनों के सुझाव प्रस्तुत करते हैं। न्यायालयों में न्यायाधीश इन टीकाओं को मान्यता देते हैं तथा अपने निर्णयों में इनका आदर के साथ उल्लेख करते हैं। इस प्रकार कानून

की ये शास्त्रीय टीकाएं कानून के विकास में सहायक होती हैं। इंगलैण्ड में **सर एडवर्ड कोक, ब्लैकस्टोन और डायसी**, आदि महान् टीकाकारों की व्याख्याओं ने कानून का बहुत कुछ संशोधन किया है। इसी प्रकार हिन्दुओं में **मिताक्षरा अथवा दायभाग** और मुसलमानों में **'फतवा आलमगीरी'** भी इस प्रभाव के उल्लेखनीय उदाहरण हैं।

(5) **साम्य नीति या औचित्य** (Equity)—औचित्य भी एक अन्य स्रोत है जिससे कानून का उद्भव हुआ है। न्यायाधीशों के समक्ष कभी-कभी ऐसे विवाद उपस्थित हो जाते हैं जिनके सम्बन्ध में कानून कोई प्रकाश नहीं डालता। ऐसी स्थिति में न्यायाधीश विवेक, न्यायशास्त्र के अनुभव और न्याय की साधारण मान्यताओं के आधार पर निर्णय देते हैं और ये निर्णय ही औचित्यपूर्ण निर्णय कहलाते हैं। इस सम्बन्ध में **न्यायाधीशों के निर्णय** (Adjudications) और **औचित्यपूर्ण निर्णय** (Equity) में भेद कर लेना आवश्यक है। न्यायाधीशों के निर्णय का तात्पर्य उन निर्णयों से होता है, जिन्हें न्यायाधीश वर्तमान कानूनों की व्याख्या करते समय अथवा उन पर व्यवस्था करते समय घोषित करते हैं, किन्तु औचित्यपूर्ण निर्णय न्यायाधीश अपने विवेक के आधार पर उस समय देते हैं, जब किसी विवाद का निर्णय वर्तमान कानून के अनुसार उस कानून में पायी जाने वाली किसी कमी के कारण नहीं हो सकता। इस प्रकार औचित्यपूर्ण नियमों के द्वारा कानून का विकास होता है तथा साथ-साथ अनुपयुक्त कानूनों में सुधार और परिवर्तन भी होता है। प्रत्येक देश में औचित्यपूर्ण निर्णयों से उद्भूत कानूनों का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण होता है। इंगलैण्ड में तो संविधान और कानून के विकास में औचित्यपूर्ण निर्णयों का बहुत अधिक योग रहा है। औचित्य के अनेक नियम हैं, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं—ऐसी कोई त्रुटि नहीं होती जिसका उपचार न हो, जो औचित्य चाहता है उसके द्वारा स्वयं औचित्यपूर्ण व्यवहार किया जाना चाहिए औचित्य समानता में ही निहित है, आदि।

(6) **व्यवस्थापन** (Legislation)—व्यवस्थापन कानून का सबसे अधिक प्रत्यक्ष और महत्वपूर्ण स्रोत है। प्राचीनकाल में व्यवस्थापन का कार्य राजा अथवा उसके कुछ गिने-चुने लोगों द्वारा होता था और एक समय सम्पूर्ण जनता के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से व्यवस्थापन भी किया जाता था, किन्तु आज लगभग सभी राज्यों में व्यवस्थापन का कार्य व्यवस्थापिका (विधानमण्डल या संसद) द्वारा किया जाता है। व्यवहार रूप में प्रत्येक देश में प्रायः सभी कानून विधानमण्डल द्वारा बनाये जाते हैं और व्यवस्थापन कानून के प्रायः एकमात्र स्रोत का रूप धारण करता जा रहा है। गिलक्राइस्ट ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि **"व्यवस्थापन कानून का प्रमुख स्रोत है और यह अन्य स्रोतों पर प्रमुखता प्राप्त करता जा रहा है। प्रथाओं और औचित्य का स्थान बहुत कुछ सीमा तक विधानी कानूनों ने ले लिया है। कानून के संहितावद्ध होने से कानूनों के स्रोत के रूप में न्यायिक निर्णयों का क्षेत्र बहुत सीमित हो गया है और कानूनी टीकाओं का उपयोग तो केवल विचार-विमर्श के लिए ही किया जाता है।"**

कानून के स्रोतों की इस विवेचना के उपरान्त हम वुडरो विल्संन को उद्धृत करते हुए कह सकते हैं कि **"रीति-रिवाज विधि का सर्वप्रथम स्रोत है पर धर्म भी उसी का समकालीन, उतना ही सफल और राष्ट्र के विकास में लगभग वैसा ही स्रोत है। न्यायिक निर्णय अधिकारी बनकर आया और औचित्य के साथ कदम मिलाकर चला। केवल व्यवस्थापन, जो कानून का विचारपूर्ण और चेतन संगठन है और वैज्ञानिक व्याख्या जो कानून के नियमों का विकास है, राजनीतिक समाज में उन्नत पद पर पहुंचने की प्रतीक्षा में है, ताकि वह विधि निर्माण में प्रबल प्रभाव डाल सके"** कानून के प्रारम्भिक स्रोतों का महत्व यद्यपि आज कम हो गया है, किन्तु आज भी वे व्यवस्थापन की अति पर अंकुश रखने का कार्य करते हैं।

नैतिकता और कानून
(LAW AND MORALITY)

प्राचीन समय में कानून को नैतिकता से पृथक् नहीं माना जाता था। प्राचीन भारत में 'धर्म' शब्द कानून और नैतिकता दोनों के लिए प्रयुक्त होता था और यूनानी विचारधारा में भी कानून और नैतिकता को एक-दूसरे से अभिन्न माना जाता था। प्लेटो के कथनानुसार, "सर्वश्रेष्ठ राज्य वह है जो व्यक्ति के सदाचार और धर्मपरायणता के अधिकाधिक समरूप हो।" अरस्तू का कथन है कि राज्य का अस्तित्व व्यक्ति के जीवन को नैतिक बनाने के लिए है, परन्तु कालान्तर में जब राज्य ने एक सष्ट राजनीतिक संगठन का स्वरूप प्राप्त कर लिया, तो कानून ने सत्ता के आदेश का रूप धारण किया और इसका स्वरूप बहुत कुछ सीमा तक नैतिकता से भिन्न हो गया।

कानून और नैतिकता में भेद—कानून और नैतिकता में महत्वपूर्ण एवं आधारभूत भेद अग्रलिखित हैं :

(1) **नैतिकता का क्षेत्र कानून की अपेक्षा बहुत अधिक विस्तृत है।** नैतिकता का सम्बन्ध मनुष्य के बाहरी तथा आन्तरिक—सम्पूर्ण जीवन के साथ होता है, परन्तु कानून का सम्बन्ध व्यक्ति के केवल बाहरी आचरण के साथ होता है। यह सत्य है कि कानून कभी-कभी व्यक्ति के आन्तरिक भावों का भी अध्ययन करता है, परन्तु ऐसा केवल पृष्ठभूमि के रूप में और बाहरी आचरण के उद्देश्य निश्चित करने के लिए ही किया जाता है।

(2) **कानून राज्य की शक्ति द्वारा मनवाये जाते हैं, परन्तु नैतिक नियमों के पीछे इस प्रकार की कोई शक्ति नहीं होती।** उनका पालन तो व्यक्ति अपने अन्तःकरण की प्रेरणा से ही करता है। यदि कोई कानून को न माने, तो उसे राज्य द्वारा अवश्य ही दण्डित किया जाएगा, परन्तु यदि कोई नियमों का पालन न करे, तो उसे इस प्रकार का कोई दण्ड नहीं दिया जा सकता। अधिक से अधिक समाज के द्वारा उसे घृणित दृष्टि से देखा जा सकता है।

(3) कानून और नैतिकता में यह भी भेद है कि **कानून निश्चित और सर्वव्यापी होते हैं** अर्थात् सभी नागरिकों पर एक जैसे लागू होते हैं, परन्तु **नैतिक नियम अस्पष्ट और अनिश्चित होते हैं** और नैतिकता का अर्थ प्रत्येक व्यक्ति के लिए भिन्न होता है क्योंकि ये तो प्रत्येक व्यक्ति के अपने मन अथवा अन्तरात्मा के आदेश हैं। मैकाइवर के शब्दों में, **"सब व्यक्तियों के लिए केवल एक ही कानून का होना आवश्यक है, किन्तु नैतिक नियम प्रत्येक व्यक्ति के अपने आचरण तथा स्वभाव की अभिव्यक्ति होने के कारण प्रत्येक के लिए भिन्न हैं।"**[1]

(4) **सभी अनैतिक बातें गैर-कानूनी नहीं होतीं और सभी गैर-कानूनी बातें भी आवश्यक रूप से अनैतिक नहीं मानी जा सकती हैं।** उदाहरण के लिए, दूसरों के अमंगल की कामना करना अनैतिक है, परन्तु गैर-कानूनी नहीं। इसी प्रकार झूठ बोलना नैतिक नहीं है, किन्तु जिस झूठ का प्रयोग दूसरों को धोखा देने के लिए नहीं किया जाता है, गैर-कानूनी नहीं होता। इसके विपरीत, एक बड़े नगर की व्यस्त सड़कों पर दाहिनी ओर गाड़ी चलाना एक सामाजिक अपराध और कानून द्वारा निषिद्ध है, परन्तु इस प्रकार का कार्य गैर-कानूनी होते हुए भी अनैतिक नहीं है। राज्य के इस प्रकार के कानून नैतिकता की अपेक्षा व्यावहारिक सुविधा पर आधारित होते हैं।

घनिष्ठ सम्बन्ध—परन्तु कानून और नैतिकता में इतना अन्तर होते हुए भी इन दोनों का सम्बन्ध सदैव से बहुत घनिष्ठ रहा है। आधुनिक काल का राजनीतिक दर्शन भी इस बात को अस्वीकार नहीं करता कि मनुष्य स्वभावतः एक नैतिक प्राणी है और वह केवल राज्य के भीतर रहकर ही अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है, क्योंकि राज्य उसके नैतिक जीवन की सर्वोच्च स्थिति है। कानून और नैतिकता का सम्बन्ध अनेक रूपों से स्पष्ट किया जा सकता है :

सर्वप्रथम, कानून समाज में प्रचलित नैतिक विचारों की ही देन होते हैं और कानून का एक महत्वपूर्ण स्रोत नैतिकता होती है। वस्तुतः जब नैतिक विचार स्थायी और प्रचलित हो जाते हैं, तो वे कानून का रूप ग्रहण कर लेते हैं। नागरिकों के द्वारा केवल उन्हीं कानूनों का अच्छे प्रकार से पालन किया जा सकता है जो उनके नैतिक विचारों के अनुकूल हों। कानून प्रायः नैतिकता के प्रतिबिम्ब होते हैं और इस सम्बन्ध में गैटल का कथन है कि **"जो कानून लोगों की नैतिक धारणा के अनुकूल नहीं होते, उन्हें लागू करना असम्भव हो जाता है तथा जो कानून प्रचलित नैतिक स्तरों को नहीं छूते, लोग उनकी उपेक्षा करने लगते हैं।"** इसी प्रकार विल्सन ने लिखा है कि **"कानून देश की नैतिक प्रगति के दर्पण होते हैं।"** यद्यपि बाल विवाह को सम्पूर्ण भारत में और मद्य-निषेध को भारत के एक बड़े भाग में कानून निषिद्ध घोषित कर दिया गया है, किन्तु फिर भी ये बुराइयां विद्यमान हैं क्योंकि भारतीय समाज की नैतिक धारणा बाल-विवाह और मद्यपान के पूर्णतया विरुद्ध नहीं है।

द्वितीयतः, कानून के द्वारा भी नैतिक स्तर और विचारों को परिमार्जित करने का कार्य किया जाता है। उदाहरण के लिए, सती-प्रथा निषेध कानून ने इस सम्बन्ध में नैतिक गान्यता को परिमार्जित किया है और बाल-विवाह के सम्बन्ध में नैतिक मान्यता को प्रभावित किया जा रहा है।

तृतीयतः, व्यवहार में, कानून और नैतिकता एक-दूसरे के सहायक के रूप में कार्य करते हैं। नैतिकता के द्वारा व्यक्ति के विचार और आचरण को सुधार कर कानून के पालन हेतु आवश्यक मनोभावना उत्पन्न की जाती है तो दूसरी ओर कानून नैतिक व्यवहार के लिए आवश्यक परिस्थितियां पैदा करता है। जैसा कि बार्कर का कथन है, **"कानून नैतिकता की रक्षा के लिए उसके चारों ओर एक चहारदीवारी है।"**

1 MacIver, *The New Society*, p. 156.

नैतिकता और कानून में इतना सादृश्य है कि कई बार अवैध और अनैतिक की विभाजन रेखा को पहचानना कठिन हो जाता है। जो बात आज अनैतिक है, कल अवैध हो सकती है या जो आज अवैध है कल अनैतिक भी हो सकती है। कानून और नैतिकता परस्पर घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित हैं और आइवर ब्राउन (Ivor Brown) के शब्दों में कहा जा सकता है कि "राजनीतिक सिद्धान्तों के अभाव में नैतिक सिद्धान्तवाद अपूर्ण रह जाता है क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और वह समाज से विलग नहीं रह सकता, नैतिक सिद्धान्तों के अभाव में राजनीतिक सिद्धान्त, निरर्थक रह जाते हैं क्योंकि उनका अध्ययन और उनके परिणाम मूलतः हमारे नैतिक मूल्यों की व्यवस्था पर, हमारी सही और गलत की धारणाओं पर निर्भर करते हैं।"

निबन्धात्मक प्रश्न

1. कानून से आप क्या समझते हैं? कानून की प्रकृति के सम्बन्ध में प्रतिपादित विभिन्न सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए।
2. कानून के विविध स्रोतों का वर्णन कीजिए। कानून के विविध भेद बतलाइए।
3. कानून और नैतिकता के सम्बन्ध की विवेचना कीजिए। ये किस प्रकार एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं?

14

दण्ड
(PUNISHMENT)

"आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति ये चार विधाएँ हैं, क्योंकि विधा वह है जिसमें धर्म व अर्थ का परिज्ञान और सिद्धि हो, किन्तु इनमें दण्ड-नीति सर्वाधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि अन्य विधाओं का मूल दण्ड-नीति में ही है और सम्पूर्ण सांसारिक जीवन दण्ड-नीति पर ही आश्रित है।"[1] —कौटिल्य

दण्ड व्यवस्था
(PUNISHMENT SYSTEM)

दण्ड व्यवस्था का उद्देश्य—'दण्ड' एक अप्रिय शब्द है, किन्तु दण्ड व्यवस्था कोई अवांछनीय वस्तु नहीं है। दण्ड व्यवस्था का अस्तित्व सम्पूर्ण समाज के लिए हितकर है। किसी देश के नागरिक शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत कर सकें, बिना किसी भय के अपने कार्यों का सम्पादन कर सकें और अपने अधिकारों का स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग कर सकें, इसके लिए राज्य कानूनों का निर्माण करता है। यदि कोई व्यक्ति कानून का उल्लंघन करता है, तो वह अपने राज्य की शान्ति और सुरक्षा को संकट में डालता है, जिसके कारण किसी प्रकार की वैयक्तिक तथा सामाजिक उन्नति सम्भव नहीं होती है। अतः शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने के लिए राज्य के द्वारा कानून का उल्लंघन करने वाले व्यक्तियों को दण्डित किया जाता है। इस प्रकार दण्ड व्यवस्था देश की शान्ति और सुरक्षा की रक्षा और जनता की स्वतन्त्रता अथवा अधिकारों की रक्षा का कार्य करती है।

दण्ड व्यवस्था का उद्देश्य अपराधी को दण्ड देकर उसे हानि पहुंचाना ही नहीं होता, वरन् उसे सुधारना और उसे तथा अन्य व्यक्तियों को चेतावनी देकर अपराध की प्रवृत्ति को नियन्त्रित रखना और यथासम्भव दूर करना होता है। जिस प्रकार एक परिवार में पिता अपने बच्चे को दण्ड इसलिए देता है कि वह अपराधी प्रवृत्ति को त्याग दे और उसके अन्य बच्चे इस प्रकार का कार्य न करें। उसी प्रकार राज्य भी अपने अपराधी प्रवृत्ति वाले नागरिकों को दण्ड इसलिए देता है कि वे अपराध छोड़ दें और उन्हें दण्डित देखकर राज्य के अन्य नागरिक अपराध करने का साहस न करें। इस प्रकार दण्ड व्यवस्था का उद्देश्य अपराधी और अन्य व्यक्तियों को सुधार कर उन्हें आदर्श नागरिक बनाना होता है। दूसरे शब्दों में, दण्ड व्यवस्था का उद्देश्य सम्पूर्ण समाज का सुधार होता है।

दण्ड व्यवस्था के आवश्यक तत्व—दण्ड व्यवस्था के लक्ष्य की सिद्धि उसी स्थिति में हो सकती है, जबकि दण्ड देने का कार्य उचित रूप से सम्पादित हो। इस सम्बन्ध में कौटिल्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' में लिखा है, **"यदि काम, क्रोध या अज्ञानवश दण्ड दिया जाय, तो जनसाधारण की कौन कहे, वानप्रस्थ और संन्यासी तक क्षुब्ध हो जाते हैं। यदि दण्ड का उचित प्रयोग नहीं होता, तो बलवान मनुष्य निर्बलों को वैसे ही खा जाते, जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को।"** अतः दण्ड व्यवस्था के अन्तर्गत निम्नलिखित बातों को दृष्टि में रखना आवश्यक है :

(1) अनुपात—दण्ड अपराध की मात्रा के अनुसार होना चाहिए। साधारण अपराध के लिए साधारण दण्ड और कठोर अपराध के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था की जानी चाहिए। उदाहरणार्थ, भूख से विवश होकर चोरी करने वाले व्यक्ति को प्राणदण्ड देना अन्यायपूर्ण और हत्यारे पर केवल जुर्माना करना अपर्याप्त दण्ड होगा।

---

1 "चतस्त्र एवं विधा इति कौटिल्यः, तामि धर्माथा वुध्दिधाना विधात्वम् ।
दण्ड मूलास्तिस्त्रो विधाः, तस्या मामत्ता लोक मात्रा ।" —कौटिल्य, अर्थशास्त्र (अध्याय 1, 3, 4, 5)

(2) **विवेक**—दण्ड का निर्णय विवेकपूर्ण होना चाहिए अर्थात् अपराधी की स्थिति, अपराध की परिस्थितियां और समाज पर अपराध के प्रभाव, आदि सभी बातों को दृष्टि में रखकर ही दण्ड की मात्रा निश्चित की जानी चाहिए। एक पुरुष, एक स्त्री और एक बच्चे को समान अपराध के लिए समान दण्ड देना उचित नहीं है। इस प्रकार पहली बार के अपराधी और अभ्यासी अपराधी को एक ही स्तर पर रखना उचित नहीं होगा।

(3) **निष्पक्षता**—दण्ड व्यवस्था सभी के लिए समान होनी चाहिए तथा इसमें किसी प्रकार का भेदभाव या पक्षपात नहीं होना चाहिए। एक ही प्रकार के अपराध का दोषी होने पर गरीब किसान और राजकुमार में अन्तर नहीं किया जाना चाहिए।

(4) **मानवता**—दण्ड व्यवस्था में मानवता का ध्यान रखा जाना चाहिए। अर्थात् वह अमानुषिक और क्रूर नहीं होना चाहिए। अमानुषिक दण्ड से अपराधी व्यक्ति में समाज के प्रति घृणा की भावना उत्पन्न हो जाती है और वह सदैव के लिए अपराधी जीवन अपना लेता है। दण्ड व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जो अपराधी की नैतिक प्रवृत्तियों को जगाकर उसे सही मार्ग पर लाने का कार्य करे।

दण्ड व्यवस्था के सिद्धान्त

अपराधी के लिए दण्ड की मात्रा और स्वरूप का निर्णय किस प्रकार हो, इस सम्बन्ध में प्रमुख रूप से चार सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है :

प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त (Retributive Theory)—प्रतिशोध का अर्थ होता है बदला लेना। इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड का उद्देश्य अपराधी से अपराध का बदला लेना है। इस प्रकार प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त का आधार जैसे को तैसा, **'आंख के लिए आंख और दांत के लिए दांत' (An eye for an eye and a tooth for a tooth)** वाला विचार है।

प्राचीन काल में प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त को ही मान्यता प्राप्त थी। उस समय अपराधी को उन व्यक्तियों को सौंप दिया जाता था, जिन्हें उस अपराध से हानि पहुंचती थी। इन व्यक्तियों को अपराधी से बदला लेने का पूर्ण अधिकार होता था। राजनीतिक संगठन और सभ्यता के विकास के साथ-साथ शान्ति और व्यवस्था की स्थापना तथा नागरिकों की स्वतन्त्रता और अधिकार की रक्षा का दायित्व माना जाने लगा और अपराध को व्यक्ति विशेष के विरुद्ध नहीं, वरन् सम्पूर्ण राज्य के विरुद्ध एक कार्य समझा जाने लगा। इस सिद्धान्त के अनुसार अपराध राज्य की शक्ति के लिए चुनौती होती है और इसलिए राज्य अपनी सर्वोच्च सत्ता द्वारा शक्ति का प्रयोग करके अपराधी से प्रतिशोध लेता है। **काण्ट और हीगल ने इस सिद्धान्त का समर्थन करते हुए दण्ड को 'अपराधी के लिए निषेधात्मक उपहार' कहा है।**

मूल्यांकन—इस सिद्धान्त की आलोचना में कहा जा सकता है कि यह एक बुराई को दूर करने के प्रयत्न में दूसरी बुराई को प्रतिष्ठित कर देता है और इसलिए अन्ततः कभी सफल नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त, **'आंख के बदले आंख'** के सिद्धान्त का अनुकरण कर यह सिद्धान्त राज्य को प्रतिशोध लेने वाली निम्न संस्था का स्तर प्रदान कर देता है। यह धारणा उचित नहीं है कि दण्ड व्यवस्था का उद्देश्य प्रतिशोध लेना है और राज्य का अस्तित्व प्रतिशोध लेने के लिए ही है। यह सिद्धान्त बर्बरतापूर्ण है और असभ्य जंगली मनुष्यों के लिए ही उपयुक्त हो सकता है। वास्तव में, **राज्य और दण्ड व्यवस्था केवल प्रतिशोधात्मक न होकर सुधारात्मक भी हैं।**

निवर्तक सिद्धान्त (Deterrent Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड अपराधी सहित सारे समाज के लिए एक चेतावनी होना चाहिए जिससे अपराधों और अपराधियों की संख्या में कमी हो। दूसरे शब्दों में, अपराधी को दण्ड इसलिए दिया जाता है कि दूसरे व्यक्ति उसकी दुर्दशा देखकर डरें और अपराध करने का साहस न करें। स्वाभाविक रूप से इस सिद्धान्त के आधार पर प्रारम्भिक समाज में छोटे-छोटे अपराधों के लिए कठोरतम दण्ड की व्यवस्था होती थी। उदाहरण के लिए, भारत में ही हिन्दू काल में लगभग नगण्य अपराधों के लिए भी मृत्यु दण्ड अथवा अंग-भंग का दण्ड दिया जाता था। भारतीय राजनीतिक दार्शनिक **कौटिल्य** भी इस सिद्धान्त में विश्वास रखते थे और उन्होंने **अपने अर्थशास्त्र में 17 भयानक दण्डों का विधान किया है।** इसी प्रकार मध्यकालीन इंगलैण्ड और यूरोप में भी अपराधियों को दहकते लोहे से दागा जाता था, उनके नाक-कान काट लिये जाते थे, उन्हें सार्वजनिक स्थानों पर प्राणदण्ड दिया जाता था और कभी-कभी उन्हें जीवित जला दिया जाता था।

मूल्यांकन—इस सिद्धान्त की आलोचना में कहा जाता है कि दण्ड का निवृत्तात्मक प्रभाव उतना सर्वव्यापी नहीं होता है, जितना कि समझा जाता है। इसके अतिरिक्त, दण्ड की व्यवस्था जितनी कठोर होती है, अपराध को छिपाने की प्रवृत्ति भी उतनी ही अधिक हो जाती है और अन्त में, हानि समाज की ही होती है। अपराधी पर भी कठोर दण्ड की प्रतिक्रिया हानिकारक होती है और वह सुधरने के स्थान पर पक्का अपराधी बन जाता है। उदाहरण के लिए, मृत्यु दण्ड का उल्लेख किया जा सकता है जो हत्या का अपराध मिटाने में सफल नहीं हो सका है। यह सिद्धान्त इस दृष्टि से भी दोषपूर्ण है कि इसके अन्तर्गत अपराधी को अन्य व्यक्तियों को सचेत करने का साधन मात्र बना दिया जाता है जो अनुचित है। वास्तव में, प्रत्येक व्यक्ति के साथ साध्य रूप में ही व्यवहार किया जाना चाहिए।

सुधारात्मक सिद्धान्त (Reformative Theory)—उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तों के विपरीत सुधारात्मक सिद्धान्त के समर्थकों का दावा है कि अपराधी स्वभाव से बुरा होने के कारण नहीं वरन् अपने मस्तिष्क की असामान्य और दूषित प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण न रखने के कारण अपराध करता है। सुधारात्मक सिद्धान्त आधुनिक मनोवैज्ञानिक अन्वेषण पर आधारित है जिसके अनुसार असाधारण मनोवृत्तियां केवल अस्थायी रूप से व्यक्ति को अपने वश में कर लेती हैं और उस समय किये गये कार्य आत्मविस्मरण के क्षणों में किये गये होते हैं जिन पर स्वयं अपराधी को उसकी मानसिक स्थिति ठीक हो जाने पर पश्चात्ताप होता है। अतः इस सिद्धान्त के अनुसार **अपराधी एक मानसिक दोषी होता है और अपराधी को सुधारने के लिए अमानुषिक दण्ड की नहीं वरन् सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार की आवश्यकता होती है।** अपराधी को समाज से अलग तो अवश्य कर देना चाहिए, अन्यथा वह समाज को और अधिक क्षति पहुंचायेगा, परन्तु **उसका यह बहिष्कार कठोर कारावास दण्ड न होकर एक प्रकार का मनोवैज्ञानिक बिलगाव होना चाहिए।** उसे ऐसे स्थान पर रखा जाना चाहिए, जहां उसकी मानसिक गतिविधि का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके सहानुभूतिपूर्ण प्रभावों द्वारा उसका उपचार किया जा सके। यह सिद्धान्त हल्के दण्ड की धारणा में विश्वास करता है और इसके अनुसार **हत्यारे की हत्या कर देने की अपेक्षा उसका सुधार कर अच्छा नागरिक बना देने में समाज का अधिक लाभ है।**

मूल्यांकन—इस सिद्धान्त के आलोचकों का मुख्य तर्क यह है कि इसका मानव स्वभाव का दृष्टिकोण **अत्यधिक आदर्शात्मक है।** यह उन पक्के अपराधियों पर ध्यान नहीं देता जो अस्थायी मनोविकार के कारण नहीं, वरन् मूल अपराधी प्रवृत्ति के कारण अपराध करते हैं। **सुधारात्मक सिद्धान्त अल्पवयस्कों और पहली बार के अपराधियों के लिए अच्छा हो सकता है, किन्तु पक्के अपराधियों के सम्बन्ध में इस सिद्धान्त को अपनाने पर कारागार समाज के शत्रुओं के विश्राम-स्थल बन जायेंगे और कानून तथा न्याय की सम्पूर्ण व्यवस्था मजाक बन कर रह जायेगी।** इसके व्यावहारिक परिणाम समाज के लिए बहुत भयानक सिद्ध होंगे। इसके अतिरिक्त, यह धारणा सैद्धान्तिक ही अधिक है क्योंकि प्रत्येक अपराधी व्यक्ति का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कर उसके सुधार का उपाय खोजना अत्यधिक कठिन कार्य है, परन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि मानवता का तत्व इस सिद्धान्त में सबसे अधिक है और सुधारात्मक सिद्धान्त हमारे सम्मुख एक आदर्श की प्रतिष्ठा करता है।

आदर्शात्मक सिद्धान्त (Idealistic Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति को दण्ड प्रतिशोध की भावना से अथवा अन्य व्यक्तियों के सम्मुख उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए नहीं दिया जाता, वरन् ऐसा केवल इसलिए किया जाता है कि अनैतिकता के वशीभूत होकर उसने एक अनैतिक कार्य किया। अतः **दण्ड की मात्रा व्यक्ति द्वारा की गयी अनैतिकता के अनुपात में होनी चाहिए। अपराधी को दण्ड देने के लिए प्रयुक्त बल नैतिक इच्छा की स्वतन्त्रता के विरुद्ध कार्य करने वाले बल के बराबर होना चाहिए।** इस प्रकार, दण्ड एक अनैतिक कार्य न रहकर नैतिकता का सक्रिय पोषक बन जाता है। प्रथमतः, यह नैतिक इच्छा को कार्य की स्वतन्त्रता प्रदान करता है जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति वांछनीय कार्यों में रत रहता है। दूसरे, दण्ड से व्यक्ति की नैतिक भावना को आघात पहुंचता है, जिसके परिणामस्वरूप उसमें सुधार होता है। यह भयानक न होते हुए भी निवृत्तात्मक और व्यक्त रूप से सुधारात्मक न होते हुए भी अपने प्रभाव में सुधारात्मक होता है।

मूल्यांकन—दण्ड के सम्बन्ध में इस सिद्धान्त को भी व्यावहारिक नहीं माना जाता। **प्रथम, व्यावहारिक कठिनाई** तो यह है कि अपराध के परिणामस्वरूप होने वाली नैतिक क्षति का ठीक-ठीक अनुमान लगाना सम्भव नहीं है तथा इसी कारण दण्ड का अनुपात निश्चित करना भी सम्भव नहीं रहता। इसके अतिरिक्त, इसके अन्तर्गत दण्ड को नैतिकता पर आधारित मानकर उसे व्यक्ति के आन्तरिक पक्ष से सम्बद्ध मान लिया

गया है जबकि अपराध और दण्ड का सम्बन्ध जितना व्यक्ति के आन्तरिक पक्ष से होता है उतना ही उसके वाहरी पक्ष से होता है।

दण्ड के सम्बन्ध में बेन्थम का मत
(BENTHAM'S VIEW ON PUNISHMENT)

बेन्थम के समय की दण्ड व्यवस्था वड़ी अमानुषिक और कठोर थी। चोरी, जालसाजी, आदि छोटे-छोटे अपराधों के लिए प्राणदण्ड दिया जाता था। अतः बेन्थम ने इस दण्ड व्यवस्था की आलोचना करते हुए इसमें सुधार की आवश्यकता पर वल दिया। बेन्थम का विचार था कि दण्ड का उद्देश्य अपराध की रोकथाम होना चाहिए और इसलिए दण्ड की प्रकृति तथा मात्रा अपराध की गुरुता के अनुपात में ही होनी चाहिए, उससे कम अथवा ज्यादा नहीं। अधिक दण्ड देने से लाभ के बदले हानि की आशंका ही अधिक रहती है। बेन्थम का एक विचार यह है कि नये अपराधी को पुराने अपराधी से कम दण्ड दिया जाना चाहिए, क्योंकि नये अपराधी के सुधार की अधिक आशा रहती है।

दण्ड निर्धारित करने में चार बातों का ध्यान अवश्य ही रखा जाना चाहिए : (1) अपराध किस प्रकार का है : छोटा या बड़ा। (2) वे परिस्थितियां, जिनमें अपराध किया गया; उदाहरणार्थ, भूखा लड़का यदि एक रोटी चुरा ले, तो वह दया का पात्र है। (3) अपराधी का उद्देश्य और (4) अपराध से किस प्रकार के व्यक्ति को हानि पहुंचती है। डेबिडसन के अनुसार, **"बेन्थम का विचार है कि दण्ड देने में भावना या दुर्भावना से काम नहीं लिया जाना चाहिए।"**

दण्ड ऐसा हो कि वह अन्य अपराधियों के लिए चेतावनी स्वरूप हो और इस दृष्टि से दण्ड की कठोरता के स्थान पर दण्ड की निश्चितता होनी चाहिए। इसी उद्देश्य से दण्ड प्रकट और सार्वजनिक रूप से दिया जाना चाहिए।

वेन्थम के समय में जेल का प्रशासन भी नितान्त असन्तोषजनक था और जेल में कैदियों के साथ पशुवत् व्यवहार किया जाता था। बेन्थम ने इस बात पर बल दिया कि जेलें ऐसी होनी चाहिए जो यातनागृह के स्थान पर सुधारगृहों के रूप में कार्य कर सकें। जेल के अपराधियों को लाभदायक काम या शिल्प सिखाया जाना चाहिए जिससे कि वाहर आकर वे अपनी रोटी कमा सकें। अवकाश के समय में कैदियों को लिखने-पढ़ने तथा नैतिक और धार्मिक शिक्षा की सुविधा दी जानी चाहिए। उसका विश्वास था कि उचित शिक्षा और व्यवहार से प्रत्येक कैदी का जीवन सुधारा जा सकता है।

दण्ड के सम्बन्ध में ग्रीन का मत
(GREEN'S VIEW ON PUNISHMENT)

दण्ड के सम्बन्ध में ग्रीन की विचारधारा उसके राज्य के कार्यों सम्बन्धी सिद्धान्त का ही स्वाभाविक निष्कर्ष है। दण्ड व्यवस्था के सम्बन्ध में प्रचलित विभिन्न सिद्धान्तों को दृष्टि में रखते हुए उसके द्वारा समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाया गया है।

दण्ड के सम्बन्ध में मुख्यतया निम्नलिखित तीन सिद्धान्त प्रचलित रहे हैं :

(1) प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त (Retributive Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड का उद्देश्य अपराधी से उसके अपराध का प्रतिशोध या बदला लेना है। **'आंख के बदले आंख और दांत के बदले दांत'** (an eye for an eye and a tooth for a tooth) इस सिद्धान्त की प्रसिद्ध उक्ति है। ग्रीन इस सिद्धान्त को बर्बरतापूर्ण मानता है और उसका विचार है कि यह असभ्य जंगली मनुष्य के लिए ही उपयुक्त हो सकता है।

(2) निवारक सिद्धान्त (Deterrent Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार अपराधी को दण्ड इसलिए दिया जाता है कि अन्य व्यक्ति उसकी दुर्दशा को देखकर अपराध करने से डरें। ग्रीन को यह मत मान्य नहीं है क्योंकि उसका विचार है कि प्रत्येक व्यक्ति के साथ साध्य के रूप में व्यवहार किया जाना चाहिए, लेकिन इस सिद्धान्त के अनुसार अपराधी को अन्य व्यक्तियों को सचेत करने का साधन मात्र बना दिया जाता है, जो नितान्त अनुचित है।

(3) सुधार सिद्धान्त (Reformative Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड का उद्देश्य व्यक्ति का सुधार करना होता है। ग्रीन इस सिद्धान्त को भी ठीक नहीं समझता, क्योंकि उसके अनुसार वास्तविक सुधार दण्ड द्वारा नहीं, वरन् स्वेच्छा और आन्तरिक प्रेरणा से ही सम्भव है।

ग्रीन उपर्युक्त तीनों सिद्धान्तों में से किसी एक को पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं करता और यह मानता है कि दण्ड में एक साथ ही प्रतिशोध, निवारण व सुधार इन तीनों तत्वों का समावेश होना चाहिए। ग्रीन के अनुसार दण्ड का उद्देश्य व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए आवश्यक वातावरण निर्मित करना तथा इसमें आने वाली बाधाओं को दूर करना है। प्रत्येक अपराध स्थापित सामाजिक व्यवस्था को वलपूर्वक उलट या विगाड़ देने का प्रयत्न होता है। चोरी या डकैती व्यक्तिगत सम्पत्ति की संस्था पर आघात है और हिंसा या हत्या राज्य द्वारा स्वीकृत जीवन के अधिकार पर आक्रमण। इन अधिकारों से समाज की स्थापित व्यवस्थाओं और अधिकारों पर कुठाराघात होता है। अतः इन्हें रोकने के लिए राज्य अपराधी की प्रेरणा शक्ति का विध्वंस, उत्तम जीवन की बाधाओं का निवारण तथा नैतिक विकास के लिए उपयुक्त परिस्थितियों का निर्माण करता है।

इस प्रकार ग्रीन का यह दण्ड सिद्धान्त उसके राज्य के कार्यों सम्बन्धी सिद्धान्त का ही एक निष्कर्ष है क्योंकि ग्रीन के अनुसार राज्य दण्ड द्वारा सुव्यवस्थित जीवन के मार्ग की एक बाधा (अपराध) को बाधा पहुंचाता (रोकता) है। राज्य के अन्य कार्यों की भांति ही दण्ड देने का भी एक स्पष्ट नैतिक प्रयोजन है। यह इस अर्थ में नैतिक है कि इसका अन्तिम उद्देश्य ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न करना है जिनमें समाज का प्रत्येक सदस्य अपने नैतिक विकास के लिए आवश्यक कार्यों को स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकता है।

आदर्श दण्ड व्यवस्था—दण्ड व्यवस्था से सम्बन्धित उपर्युक्त सिद्धान्तों के विवेचन से स्पष्ट है कि इनमें से कोई भी सिद्धान्त पूर्ण नहीं है और किसी एक सिद्धान्त पर आधारित दण्ड व्यवस्था वांछनीय नहीं हो सकती है। **एक श्रेष्ठ दण्ड व्यवस्था में इन सभी सिद्धान्तों का सम्मिश्रण आवश्यक है।** प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त राज्य को बदला लेने वाली संस्था मानता है, अतः अनुचित है, परन्तु गम्भीर अपराधों के लिए कठोर दण्ड सदैव ही उचित माना जायेगा। निवृत्तात्मक सिद्धान्त का यह आधार कि भय से लोग अपराध करना छोड़ देंगे, उचित प्रतीत नहीं होता, किन्तु एक व्यक्ति को दिया गया दण्ड दूसरे के लिए चेतावनी अवश्य ही होता है। इसी प्रकार यदि केवल सुधारात्मक और आदर्शात्मक सिद्धान्तों को अपनाया जाय, तो वे पूर्णतया व्यावहारिक सिद्ध नहीं होंगे, परन्तु ये सिद्धान्त ऐसे आदर्श की ओर संकेत अवश्य ही करते हैं, जिनकी प्राप्ति का प्रयत्न अवश्य ही किया जाना चाहिए। वस्तुतः **सबसे श्रेष्ठ और व्यावहारिक दण्ड व्यवस्था वह है जिसके अन्तर्गत प्रतिशोध, निरोध एवं सुधार तीनों की उचित और संन्तुलित व्यवस्था हो।**

क्या मृत्युदण्ड होना चाहिए?
(SHOULD THERE BE CAPITAL PUNISHMENT?)

दण्ड के प्रसंग में इस विषय पर भी विचार करना उचित होगा कि क्या मृत्युदण्ड उचित है? प्राचीन या मध्य युग में ऐसे अपराधों की संख्या बहुत अधिक थी जिनके करने पर व्यक्तियों को मृत्युदण्ड दिया जाता था, लेकिन धीरे-धीरे यह सोचा गया कि मृत्युदण्ड अत्यन्त गम्भीर प्रकार के अपराधों—हत्या या राजद्रोह—पर ही दिया जाना चाहिए। आज अनेक व्यक्ति तो इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि मृत्युदण्ड की व्यवस्था को पूर्णतया समाप्त ही कर दिया जाना चाहिए, लेकिन कुछ व्यक्ति गम्भीर अपराधों के लिए इसे बनाये रखने के पक्ष में हैं। मृत्युदण्ड को बनाये रखने के पक्ष में निम्न तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं :

(1) मृत्युदण्ड की व्यवस्था को समाप्त करने से हत्या जैसे गम्भीर अपराधों की संख्या में बहुत अधिक वृद्धि हो जायेगी और सामाजिक शान्ति एवं सुरक्षा खतरे में पड़ जायेगी।

(2) मृत्युदण्ड हत्या के अपराध की पुनरावृत्ति करने से रोकता है।

(3) मृत्युदण्ड का अन्य व्यक्तियों पर भी निवारक प्रभाव पड़ता है और वे ऐसे अपराध करने से बचे रहते हैं।

मृत्युदण्ड के विपक्ष में—अनेक व्यक्ति इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि मृत्युदण्ड की व्यवस्था को पूर्णतया समाप्त कर दिया जाना चाहिए। उनके द्वारा अपने विचार के पक्ष में निम्न तर्क दिये जाते हैं :

(1) मृत्युदण्ड प्रतिकार की भावना पर आधारित है और यह वर्तमान समय की सभ्यतापूर्ण प्रवृत्तियों के प्रतिकूल है। **टाफ्ट** ने कहा है कि "**वह समाज जो जीवन की कद्र करता है, उसे तत्परता से जीवन नहीं लेना चाहिए।**"

(2) न्यायाधीश भी मनुष्य ही होते हैं और उनसे भी न्याय प्रदान करने में किसी प्रकार की त्रुटि हो जाना सम्भव है। ऐसी स्थिति में मृत्युदण्ड की व्यवस्था होने पर निरपराध व्यक्ति के जीवन के अन्त की आशंका

रहती है, किन्तु यदि मृत्युदण्ड के स्थान पर लम्बे कारावास की व्यवस्था हो तो न्यायाधीश अपने निर्णय पर पुनर्विचार कर सकते हैं। अनेक बार किसी घटना के सम्बन्ध में नवीन तथ्यों के प्रकाश में आने पर पिछले निर्णय पर पुनर्विचार की आवश्यकता पड़ती है। **बेकरिया** और **बेन्थम** जैसे विधानशास्त्रियों द्वारा इसी आधार पर मृत्युदण्ड की समाप्ति का प्रतिपादन किया गया है। गांधीजी ने इस सम्बन्ध में कहा है कि **"जब व्यक्ति एक बार मार दिया गया, तो उसे दी हुई सजा को वापस लेने या क्षतिपूर्ति करने का अवसर हाथ से निकल जाता है।"**

(3) यह कथन त्रुटिपूर्ण है कि मृत्युदण्ड की समाप्ति से अपराधों की संख्या में वृद्धि हो जायेगी। **डेनमार्क, हालैण्ड, बेल्जियम, नार्वे और स्वीडन**, आदि देशों में मृत्युदण्ड समाप्त कर दिया गया है, किन्तु इससे इन देशों में अपराधों की संख्या में कोई वृद्धि नहीं हुई। दूसरे देशों में भी मृत्युदण्ड को समाप्त कर देने पर ऐसे ही परिणामों की आशा की जा सकती है। इसके विपरीत यह देखा गया है कि सदियों से मृत्युदण्ड की व्यवस्था चली आ रही है, किन्तु इससे हत्या जैसे गम्भीर अपराधों में कोई कमी नहीं हुई है। वास्तव में, हत्यारे कभी भी परिणामों की चिन्ता नहीं करते हैं।

(4) हत्याएं कुछ परिस्थितियों के कारण होती हैं और इसलिए वांछनीय यह है कि व्यक्तियों को फांसी पर लटकाने के बजाय उन्हें सुधारने और परिस्थितियों को दूर करने की चेष्टा की जानी चाहिए, जो इन कार्यों के लिए उत्तरदायी हैं।

(5) जिन व्यक्तियों की प्रवृत्ति ही हत्या जैसे जघन्य अपराधों की ओर है, उन्हें आजन्म कारावास प्रदान कर भविष्य में इस प्रकार के अपराध करने से रोका जा सकता है।

ई. राय. कल्वर्ट ने अपनी पुस्तक **'20वीं सदी में मृत्युदण्ड'** (Capital Punishment in the Twentieth Century) में इसी विचार और तथ्य का प्रतिपादन किया है कि **जिन राज्यों में मृत्युदण्ड समाप्त कर दिया गया है, वहां पर हत्या जैसे अपराधों में बहुत कमी हुई है।**

निबन्धात्मक प्रश्न

1. दण्ड के स्वभाव तथा महत्व का विवेचन कीजिए। क्या आप इस मत से सहमत हैं कि 'मेरा दण्डित होने का अधिकार' है?
2. दण्ड के सम्बन्ध में प्रतिपादित विभिन्न सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए। आप इनमें से किस सिद्धान्त को उचित समझते हैं और क्यों?
3. दण्ड के सम्वन्ध में वेन्थम के मत और ग्रीन के मत का संक्षेप में उल्लेख कीजिए।
4. क्या मृत्युदण्ड की व्यवस्था समाप्त कर दी जानी चाहिए? मृत्युदण्ड के पक्ष और विरोध की विवेचना कीजिए।

15

न्याय
(JUSTICE)

"जिन राज्यों में न्याय नहीं रह जाता, वे डाकुओं के झुण्ड मात्र कहे जा सकते हैं।"[1]

—सन्त ऑगस्टाइन

राजनीतिक चिन्तन में न्याय की धारणा
(CONCEPT OF JUSTICE IN POLITICAL THOUGHT)

पाश्चात्य और पूर्वात्य, दोनों ही राजनीतिक दर्शनों में न्याय की धारणा को बहुत अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। वस्तुस्थिति यह है कि न्याय न केवल राजनीतिक वरन् नैतिक चिन्तन का भी एक अनिवार्य अंग और बहुत अधिक महत्वपूर्ण आधार है।

पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन में न्याय का अध्ययन प्लेटो की विचारधारा से प्रारम्भ किया जा सकता है। प्लेटो के प्रसिद्ध ग्रन्थ **'रिपब्लिक' (*Republic*)** का सबसे अधिक महत्वपूर्ण विषय न्याय की प्रकृति और उसके निवास की खोज करना ही है। 'रिपब्लिक' में उसकी इस न्याय सम्वन्धी धारणा को इतना प्रमुख स्थान प्राप्त है कि 'रिपब्लिक' का उपशीर्षक **'न्याय से सम्बन्धित'** (Concerning Justice) रखा गया है। इवेन्सटीन (Ebenstein) तो लिखते हैं कि **'प्लेटो के न्याय सम्बन्धी विवेचन में उसके राजनीतिक दर्शन के समस्त तत्व शामिल हैं।"[2]**

प्लेटो ने न्याय शब्द का प्रयोग वैधानिक अर्थ में नहीं वरन् नैतिक अर्थ में किया है। उसके द्वारा 'न्याय' शब्द का प्रयोग धर्म (लौकिक धर्म) के पर्यायवाची अर्थ में किया गया है। प्लेटो का कहना है कि **'न्याय मानव आत्मा की उचित अवस्था और मानवीय स्वभाव की प्राकृतिक मांग है।'** प्लेटो न्याय के दो रूपों का वर्णन करता है—व्यक्तिगत न्याय और सामाजिक या राज्य से सम्बन्धित न्याय। प्लेटो की धारणा थी कि मानवीय आत्मा में तीन तत्व या अंश मौजूद हैं—इन्द्रिय तृष्णा या इच्छा तत्व (Appetite), शौर्य (Spirit) और बुद्धि (Wisdom)। इन तीनों तत्वों के प्रतिनिधि के रूप में राज्य के तीन वर्ग होते हैं, जिन्हें क्रमशः शासक वर्ग, सैनिक या रक्षक वर्ग और उत्पादक या सेवक वर्ग कहा जाता है। प्लेटो का कहना है कि समाज अथवा राज्य समाज की आवश्यकता और व्यक्ति की योग्यता को दृष्टि में रखते हुए प्रत्येक व्यक्ति के लिए कुछ कर्तव्य निश्चित करते हैं और प्रत्येक व्यक्ति द्वारा सन्तोषपूर्वक अपने-अपने कर्तव्य का पालन करना ही न्याय है। प्लेटो के न्याय सिद्धान्त के सम्बन्ध में बार्कर के विचार हैं, **"न्याय का अर्थ है प्रत्येक व्यक्ति द्वारा उस कर्तव्य का पालन, जो उसके प्राकृतिक गुणों और सामाजिक स्थिति के अनुकूल है। नागरिक की अपने धर्म की चेतना तथा सार्वजनिक जीवन में उसकी अभिव्यंजना ही राज्य का न्याय है।"[3]** वास्तव में, प्लेटो ने अपने न्याय सिद्धान्त का प्रतिपादन एक कानूनी सिद्धान्त के रूप में नहीं, वरन् एक नैतिक सिद्धान्त के रूप में ही किया है।

प्लेटो के समान अरस्तू भी राज्य के लिए न्याय को बहुत महत्वपूर्ण मानता है, लेकिन अरस्तू ने न्याय की धारणा का प्रतिपादन प्लेटो से भिन्न रूप में किया है। अरस्तू ने न्याय के दो भेद माने हैं—**(i) वितरणात्मक या राजनीतिक न्याय** (Distributive Justice), **(ii) सुधारक न्याय** (Corrective or Rectificatory Justice)।

---

1 "Set justice aside then, and what are kingdoms but fair thevish purchases." —St. Augustine, *The City of God*, Vol. IV, Ch. IV.

2 "In the discussion of justice all elements of Plato's political philosophy are contained." —*Ebenstein*

—*Ebenstein*

3 E. Barker, *Greek Political Theory, Plato and his Predecessors*, pp. 176-77.

वितरणात्मक न्याय का सिद्धान्त यह है कि राजनीतिक पदों की पूर्ति नागरिकों की योग्यता और उनके द्वारा राज्य के प्रति की गई सेवा के अनुसार हो। सुधारक न्याय कर तात्पर्य यह है कि एक नागरिक के दूसरे नागरिक के साथ सम्बन्ध को निर्धारित करते हुए सामाजिक जीवन को व्यवस्थित रखा जाए।

ऑगस्टाइन न्याय को ईश्वरीय राज्य का सर्वप्रमुख तत्व मानता है और उसका कथन है कि **'जिन राज्यों में न्याय नहीं रह जाता वे डाकुओं के झुण्ड मात्र कहे जा सकते हैं।'** ऑगस्टाइन के अनुसार, **'न्याय एक व्यवस्थित और अनुशासित जीवन व्यतीत करने तथा उन कर्तव्यों का पालन करने में है जिनकी कि व्यवस्था मांग करती है।'** उसके द्वारा परिवार, लौकिक राज्य और ईश्वरीय राज्य के सन्दर्भ में न्याय की विवेचना की गयी है और अन्तिम रूप में न्याय से उसका आशय व्यक्ति द्वारा ईश्वरीय राज्य के प्रति कर्तव्य पालन से है।

थॉमस एक्वीनास कानून और न्याय को परस्पर सम्बन्धित मानते हुए न्याय की विवेचना करता है। न्याय के सम्बन्ध में एक्वीनास प्रधान रूप में रोमन विधिशास्त्रियों के मत का अनुकरण करते हुए कहता है कि यह **'प्रत्येक व्यक्ति को उसके अपने अधिकार देने की निश्चित और सनातन इच्छा है।'** किन्तु इस सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए उसने यह मान लिया है कि न्याय का मौलिक तत्व समानता है।

ऑगस्टाइन तथा एक्वीनास के बाद मध्य युग तथा आधुनिक युग के पश्चिमी राजनीतिक चिन्तन में न्याय पर विचार व्यक्त किए गए हैं, लेकिन इस सम्बन्ध में प्राचीन धारणा और आधुनिक सम्बन्ध में आधारभूत अन्तर है। प्राचीन युग में जहां न्याय की नैतिक दृष्टि से विवेचना की गई है वहां मध्य युग के अन्त और आधुनिक युग में न्याय की कानूनी दृष्टि से विवेचना की गई है, जिसका अध्ययन आगे किया जाएगा।

भारतीय राजनीतिक चिन्तन में न्याय (Justice in Indian Political Thought)—भारत के प्राचीन राजनीतिक चिन्तन में न्याय को अधिक महत्व दिया गया है और **मनु, कौटिल्य, बृहस्पति, शुक्र, भारद्वाज** तथा **सोमदेव** आदि सभी के द्वारा राज्य की व्यवस्था में न्याय को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इस सम्बन्ध के भारतीय राजनीतिक चिन्तकों की विशेषता यह रही है कि उन्होंने प्राचीन युग में भी न्याय की उस कानूनी धारणा को अपना लिया था, जिसे पश्चिम के राजनीतिक चिन्तक आधुनिक युग में ही अपना सके। इस सम्बन्ध में मनु और कौटिल्य के विचारों का उल्लेख विशेष रूप से महत्वपूर्ण है।

मनु की दूरदृष्टि इस बात में है कि उन्होंने प्राचीन युग में भी विवादों की वे दो श्रेणियां बतला दी थीं, जिन्हें आज दीवानी और फौजदारी की संज्ञा दी जाती है। मनु ने न्याय की निष्पक्षता और सत्यता पर अधिक बल दिया है। एक स्थान पर वे लिखते हैं, **"जिस सभा (न्यायालय) में सत्य असत्य से पीड़ित होता है उनके सदस्य ही पाप से नष्ट हो जाते हैं।"**[1]

कौटिल्य समुचित न्याय प्रणाली को राज्य का प्राण समझता है और उसका विचार है कि जो राज्य अपनी प्रजा को न्याय प्रदान नहीं कर सकता, वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। उसके अनुसार न्याय का उद्देश्य प्रजा के जीवन तथा सम्पत्ति की रक्षा करना तथा असामाजिक तत्वों एवं अव्यवस्था उत्पन्न करने वाले व्यक्तियों को दण्डित करना है। कौटिल्य अपने 'अर्थशास्त्र' में दो प्रकार के न्यायालयों का उल्लेख करता है—**धर्मस्थीय** तथा **कण्टक शोधन**, जिन्हें वर्तमान समय के दीवानी तथा फौजदारी न्यायालयों के लगभग समान कहा जा सकता है। उसके द्वारा न्यायिक संगठन और प्रक्रिया का भी विशद वर्णन किया गया है।

न्याय की धारणा (Concept of Justice)

न्याय समाज दर्शन की एक ऐसी बुनियादी धारणा है, जिस पर सामाजिक चिन्तन के प्रारम्भ से ही विचार होता रहा है। इतिहास में न्याय की अनेक प्रकार से व्याख्या हुई है। कभी उसे **'जैसी भरनी, वैसे करनी'** का पर्याय माना जाता रहा, तो कभी ईश्वर की इच्छा और पूर्व जन्म के कार्यों का फल। आधुनिक न्यायशास्त्र में न्याय का अर्थ सामाजिक जीवन की वह अवस्था है, जिसमें व्यक्ति के आचरण का समाज के व्यापक कल्याण के साथ समन्वय स्थापित किया गया हो। स्वभाव से प्रत्येक मनुष्य अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए आचरण करता है, पर उसका आचरण न्यायपूर्ण तभी समझा जा सकता है, जबकि उसका आचरण समाज को भी कल्याण के मार्ग पर आगे ले जाने वाला हो। संक्षेप में, न्याय का अर्थ समाज के व्यापक कल्याण की सिद्धि है; उस व्यापक कल्याण की सिद्धि, जो व्यक्तियों के अलग-अलग कल्याण से भिन्न हो, बहुमत तक के कल्याण से भिन्न हो। न्याय की धारणा के प्रमुखतया दो आधार हैं—**स्वतन्त्रता और समानता।**

---
1 Quoted from Kewal Motwani, *Manu Dharmshastra*, p. 147.

न्याय धारणा के विविध रूप (Various Forms of the Concept of Justice)

परम्परागत रूप में न्याय की दो ही धारणाएं प्रचलित रही हैं—नैतिक और कानूनी। लेकिन आज की स्थिति में न्याय ने बहुत अधिक व्यापकता प्राप्त कर ली है और आज कानूनी या राजनीतिक न्याय की अपेक्षा भी सामाजिक और आर्थिक न्याय अधिक महत्वपूर्ण हो गए हैं। न्याय की धारणा के इन विविध रूपों का उल्लेख निम्न प्रकार से किया जाता है :

(1) नैतिक न्याय—परम्परागत रूप में न्याय की धारणा को नैतिक रूप में ही अपनाया जाता रहा है। नैतिक न्याय इस धारणा पर आधारित है कि विश्व में कुछ सर्वव्यापक, अपरिवर्तनीय तथा अन्तिम प्राकृतिक नियम हैं जो कि व्यक्तियों के आपसी सम्बन्धों को ठीक प्रकार से संचालित करते हैं। इन प्राकृतिक नियमों और प्राकृतिक अधिकारों पर आधारित जीवन व्यतीत करना ही नैतिक न्याय है। जब हमारा आचरण इन नियमों के अनुसार होता है, तब वह नैतिक न्याय की अवस्था होती है। जब हमारा आचरण इसके विपरीत होता है, तब वह नैतिक न्याय के विरुद्ध होता है।

नैतिक न्याय के अन्तर्गत जिन बातों को शामिल किया जा सकता है, उनमें से कुछ हैं—सत्य बोलना, प्राणि मात्र के प्रति दया का वर्ताव करना, प्रतिज्ञा पूरी करना या वचन का पालन करना, उदारता और दान का परिचय देना आदि। नैतिक न्याय और नैतिकता परस्पर सम्बन्धित होते हुए भी इनमें कुछ भेद हैं और नैतिकता नैतिक न्याय की तुलना में निश्चित रूप से व्यापक है।

(2) कानूनी न्याय—राज्य के उद्देश्यों में न्याय को बहुत अधिक महत्व दिया गया है और कानूनी भाषा में समस्त कानूनी व्यवस्था को न्याय व्यवस्था कहा जाता है। कानूनी न्याय में वे सभी नियम और कानूनी व्यवहार सम्मिलित हैं, जिनका अनुसरण किया जाना चाहिए। इस प्रकार कानूनी न्याय की धारणा दो अर्थों में प्रयोग की जाती है—**(i) कानूनों का निर्माण अर्थात् सरकार द्वारा बनाये गए कानून न्यायोचित होने चाहिए, (ii) कानूनों को लागू करना अर्थात् बनाये गए कानूनों को न्यायोचित ढंग से लागू किया जाना चाहिए।** कानूनों को न्यायोचित ढंग से लागू करने का मतलब यह है जिन व्यक्तियों ने कानूनों का उल्लंघन किया है, उन्हें दण्डित करने में किसी भी प्रकार का पक्षपात नहीं किया जाना चाहिए।

(3) राजनीतिक न्याय—राज-व्यवस्था का प्रभाव समाज के सभी व्यक्तियों पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में पड़ता ही है। अतः सभी व्यक्तियों को ऐसे अवसर प्राप्त होने चाहिए कि वे राज-व्यवस्था को लगभग समान रूप से प्रभावित कर सकें और राजनीतिक शक्तियों का प्रयोग ऐसे ढंग से किया जाना चाहिए कि सभी व्यक्तियों को लाभ प्राप्त हो। यही राजनीतिक न्याय है और इसकी प्राप्ति स्वाभाविक रूप से एक प्रजातान्त्रिक व्यवस्था के अन्तर्गत ही की जा सकती है। प्रजातान्त्रिक व्यवस्था के साथ-साथ राजनीतिक न्याय की प्राप्ति के कुछ अन्य साधन हैं—वयस्क मताधिकार, सभी व्यक्तियों के लिए विचार, भाषण, सम्मेलन और संगठन, आदि की नागरिक स्वतन्त्रताएं, प्रेस की स्वतन्त्रता, न्यायपालिका की स्वतन्त्रता, बिना किसी भेदभाव के सभी व्यक्तियों को सार्वजनिक पद प्राप्त होना, आदि। राजनीतिक न्याय की धारणा में यह बात निहित है कि राजनीति में कोई कुलीन वर्ग अथवा विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग नहीं होगा।

(4) सामाजिक न्याय—सामाजिक न्याय का मतलब यह है कि नागरिक-नागरिक के बीच में सामाजिक स्थिति के आधार पर किसी प्रकार का भेद न माना जाए और प्रत्येक व्यक्ति को आत्मविकास के पूर्ण अवसर प्राप्त हों। सामाजिक न्याय की धारणा में यह बात निहित है कि अच्छे जीवन के लिए आवश्यक परिस्थितियां व्यक्ति को प्राप्त होनी चाहिए और इस सन्दर्भ में समाज की राजनीतिक सत्ता से यह आशा की जाती है कि वह अपने विधायी तथा प्रशासनिक कार्यक्रमों द्वारा एक ऐसे समाज की स्थापना करेगा, जो समानता पर आधारित हो।

वर्तमान समय में सामाजिक न्याय का विचार बहुत अधिक लोकप्रिय है और सामाजिक न्याय पर बल देने के कारण ही विश्व के करोड़ों लोगों द्वारा मार्क्सवाद या समाजवाद के अन्य किसी रूप को अपना लिया गया है। इस सम्बन्ध में श्री नेहरू ने एक बार यह ठीक ही कहा था कि **लाखों-करोड़ों लोगों के लिए मार्क्सवाद के प्रति आकर्षण का स्रोत उसका वैज्ञानिक सिद्धान्त नहीं है, वरन् सामाजिक न्याय के प्रति उसकी तत्परता है।** **गेहरलिख, सोम्बार्ट, टायनबी और बर्जाइम**, आदि ने इसी आधार पर मार्क्सवाद को **'नवीन युग का एक नया**

धर्म' वताया है। वास्तव में, सामाजिक न्याय के बिना समानता तथा स्वतन्त्रता के आदर्श बिल्कुल निस्सार हो जाते हैं।

(5) आर्थिक न्याय—आर्थिक न्याय सामाजिक न्याय का एक अंग है। कुछ लोग आर्थिक न्याय का तात्पर्य पूर्ण आर्थिक समानता से लेते हैं, किन्तु वास्तव में इस प्रकार की स्थिति व्यवहार के अन्तर्गत किसी भी रूप में सम्भव नहीं है। आर्थिक न्याय का तात्पर्य यह है कि सम्पत्ति सम्बन्धी भेद इतना अधिक नहीं होना चाहिए कि धन सम्पदा के आधार पर व्यक्ति-व्यक्ति के बीच विभेद की कोई दीवार खड़ी हो जाए और कुछ धनीमानी व्यक्तियों द्वारा अन्य व्यक्तियों के श्रम का शोषण किया जाए या उसके जीवन पर अनुचित अधिकार स्थापित कर लिया जाए। इसमें यह बात भी निहित है कि पहले समाज में सभी व्यक्तियों की अनिवार्य आवश्यकताएं पूरी होनी चाहिए, उसके बाद ही किन्हीं व्यक्तियों द्वारा आरामदायक आवश्यकताओं या विलासिता की आवश्यकताओं को पूरा किया जा सकता है। आर्थिक न्याय के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार को सीमित किया जाना आवश्यक है।

भारतीय संविधान में राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक न्याय की व्यवस्था—भारतीय संविधान में न्याय के आदर्श की वही भूमिका है, जो मन्दिर में मंगलकलश की होती है। संविधान निर्माताओं द्वारा इस तथ्य को समझ लिया गया है कि सच्चे लोकतन्त्र के लिए स्वतन्त्रता और समानता की ही नहीं, वरन् न्याय की भी आवश्यकता है क्योंकि न्याय के विना स्वतन्त्रता और समानता के आदर्श बिल्कुल व्यर्थ हो जाते हैं। संविधान की प्रस्तावना में सभी नागरिकों को राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक न्याय प्रदान करना संविधान का लक्ष्य घोषित किया गया है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अनेक कदम उठाए गए हैं। सर्वप्रथम राजनीतिक न्याय की प्राप्ति के लिए लोकतान्त्रिक व गणतन्त्रीय व्यवस्था को अपनाया गया है और **संविधान के अनुच्छेद 19 द्वारा नागरिकों को 6 स्वतन्त्रताएं** प्रदान की गई हैं।

भारतीय संविधान में सामाजिक न्याय के आदर्श को अनेक रूपों में स्वीकार किया गया है। संविधान के **तीसरे भाग (मौलिक अधिकार) और चौथे भाग (राज्य की नीति के निर्देशक तत्व)** में सामाजिक न्याय की प्राप्ति के लिए विविध उपायों का उल्लेख किया गया है। अनुच्छेद 14 में भारत के सभी नागरिकों को कानून के सामने समानता और कानूनों से समान सुरक्षा प्रदान की गई है। अनुच्छेद 15 में धर्म, मूल वंश, जाति, लिंग या जन्म-स्थान के आधार पर भेदभाव की मनाही की गई है और अनुच्छेद 16 के द्वारा राज्य के अधीन पदों पर नियुक्ति के सम्बन्ध में सब नागरिकों को अवसर की समानता प्राप्त है। अनुच्छेद 17 द्वारा छुआछूत का तथा अनुच्छेद 23 व 24 द्वारा बेगार व शोषण का अन्त कर दिया गया है। संविधान के उपर्युक्त अनुच्छेदों द्वारा तो सामाजिक न्याय के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर किया गया है और संविधान के नीति निर्देशक तत्वों के अन्तर्गत विशेषतया अनुच्छेद 41 से 47 तक जो विविध व्यवस्थाएं की गई हैं, उसका लक्ष्य सकारात्मक रूप में सभी नागरिकों को सामाजिक न्याय प्रदान करना है। अनुच्छेद 41 में नागरिकों का कुछ अवस्थाओं में काम, शिक्षा और लोक सहायता पाने का अधिकार स्वीकार किया गया है, अनुच्छेद 42 राज्य को जिम्मेदारी सौंपता है कि वह काम की उचित दशाएं बनाये रखने का प्रयत्न करेगा। अनुच्छेद 43 श्रमिकों के लिए निर्वाह योग्य मजदूरी का प्रवन्ध, अनुच्छेद 44 नागरिकों के लिए समान व्यवहार संहिता, अनुच्छेद 45 बालकों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था, अनुच्छेद 46 अनुसूचित जातियों तथा अन्य सभी दुर्बल वर्गों के शिक्षा और अर्थ सम्बन्धी उन्नति और अनुच्छेद 47 में सामान्य जनता के जीवन स्तर को ऊंचा उठाने की बात कही गई है।

संविधान में अनुसूचित जातियों और जनजातियों को विशेष सुविधाएं प्रदान की गई हैं, उन्हें किसी भी प्रकार से सामाजिक न्याय के प्रतिकूल नहीं कहा जा सकता है। वास्तव में, भारत के इन दलित वर्गों की स्थिति बहुत अधिक गिरी हुई थी और जब तक इन्हें विशेष स्थिति प्रदान न कर दी जाए, तब तक उनके द्वारा समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ समानता प्राप्त करने की आशा नहीं की जा सकती।

इसी प्रकार आर्थिक न्याय के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए भी संविधान के नीति निर्देशक तत्वों में विविध कार्य करने का निर्देश किया गया है। इस सम्बन्ध में कुछ प्रमुख व्यवस्थाएं इस प्रकार हैं—(1) राज्य प्रत्येक स्त्री और पुरुष को समान रूप से जीविका के साधन प्रदान करने का प्रयत्न करेगा और प्रत्येक नागरिक को, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, समान कार्य के लिए समान वेतन प्रदान करेगा। (ii) राज्य देश के भौतिक

साधनों के स्वामित्व और नियन्त्रण की ऐसी व्यवस्था करेगा कि अधिक-से-अधिक सार्वजनिक हित हो सके। (iii) राज्य इस बात का भी ध्यान रखेगा कि सम्पत्ति और उत्पादन के साधनों का इस प्रकार से केन्द्रीकरण न हो सके कि सार्वजनिक हित को किसी प्रकार की हानि पहुंचे। (iv) राज्य श्रमिक पुरुषों और स्त्रियों के स्वास्थ्य और शक्ति तथा बालकों की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न होने देगा। (v) राज्य अपने आर्थिक साधनों के अनुसार और विकास की सीमाओं के भीतर यह प्रयास करेगा कि सभी नागरिक अपनी योग्यता के अनुसार रोजगार पा सकें एवं बेकारी, बुढ़ापा, बीमारी और अंगहीनता, आदि दशाओं में सार्वजनिक सहायता प्राप्त कर सकें।

भारत के शासक दल द्वारा समाजवादी ढंग के समाज और लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना अपना लक्ष्य घोषित किया गया है और अब तक की 6 पंचवर्षीय योजनाएं इस दिशा में आगे बढ़ने के प्रयास में रही हैं लेकिन संविधान और शासन द्वारा की गई इन सभी घोषणाओं के बावजूद यह मानना होगा कि सामाजिक और आर्थिक न्याय की दिशा में अभी तक जो कुछ किया गया है उसकी तुलना में अभी बहुत अधिक किया जाना शेष है।

आर्नाल्ड ब्रैचट और न्याय की धारणा[1] (Arnold Brecht and Conception of Justice)—राजनीति विज्ञान के आधुनिक विद्वानों में सबसे अधिक प्रमुख रूप में अर्नाल्ड ब्रैचट के द्वारा अपनी पुस्तक "*Political Theory*" में न्याय के सिद्धान्त की विवेचना की गई है। उनका कथन है कि **न्याय की धारणा वांछित स्थिति के प्रति हमारे स्वभाव पर निर्भर करती है और यह तो एक ऐसे बर्तन की भांति है, जिसके कई तल होते हैं।** न्याय के सम्बन्ध में हमारी धारणा या तो सभ्य जीवन की परम्परागत संस्थाओं पर आधारित होती है अथवा वह परम्परागत संस्थाओं से आगे बढ़ जाती है। प्रथम स्थिति में उसे परम्परागत न्याय और दूसरी स्थिति में उसे अपरम्परागत न्याय कहा जा सकता है।

1. परम्परागत न्याय (Traditional Justice)—न्याय की परम्परागत धारणा रीति-रिवाज, प्रथाओं और परम्पराओं पर आधारित होती है। यह उन मूलभूत संस्थाओं को स्वीकार करती है जो हमारे दैनिक सामाजिक जीवन की आधार हैं। इस प्रकार की मूलभूत संस्थाओं या प्रथाओं में प्रमुखतया निम्न 5 हैं—**एक पत्नी विवाह प्रथा, परिवार, निजी सम्पत्ति, पैतृक धन के सम्बन्ध में उत्तराधिकार की व्यवस्था तथा समझौता करने की स्वतन्त्रता और समझौते की बाध्यकारी शक्ति।** परम्परागत न्याय की धारणा उस मन्दिर में निहित है, जो इन पांच आधारों पर टिका हुआ है। उसमें इन संस्थाओं के औचित्य को कोई चुनौती नहीं दी जाती है। जब व्यक्ति इन आधारभूत संस्थाओं के अनुसार आचरण करता है, तब वह न्याय भावना के अनुसार होता है और जब इनका उल्लंघन होता है, तब यह न्यायसंगत नहीं होता है।

ब्रैचट के अनुसार इस परम्परागत न्याय भावना में निम्नलिखित तत्व शामिल हैं— (i) व्यक्ति ज्ञानपूर्वक या अज्ञानपूर्वक ढंग से परम्परागत संस्थाओं को अपने तर्क में स्वीकार करता है। (ii) व्यक्ति इनका प्रयोग क्रमिक तर्क और पूर्व कल्पनाओं को प्राप्त करने के लिए करता है। (iii) वह निश्चिंतता और औचित्य बनाये रखने वाले नियमों और विनियमों को स्वीकार करता है। (iv) वह इन संस्थाओं की आलोचना के विरुद्ध तर्क करता है।

2. अपरम्परागत न्याय (Trans-traditional Justice)—जब हम न्याय की परम्परागत संस्थाओं को स्वीकार करने के बजाय उनकी अपने दृष्टिकोण से आलोचना करते और मूल्यांकन करते हैं, तब हम अपरम्परागत न्याय की धारणा में प्रवेश करते हैं। इसके अन्तर्गत निश्चित और पहले से चली आ रही परम्परागत संस्थाओं से व्यक्ति अपने आपको अलग कर लेता है और इनकी आलोचना न्याय के सम्बन्ध में अपनी धारणा और विश्वास के आधार पर करता है। वह अपनी धारणा और विश्वास के आधार पर कल्पना करता है कि कौन-सी उपयोगी परिस्थितियां हो सकती हैं, जिनकी ओर समाज को बढ़ना चाहिए, जिससे कि न्यायपूर्ण जीवन के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सके। वह विचार करता है कि अनेक महत्वपूर्ण उद्देश्यों में कौन-सा उद्देश्य उपयुक्त है और इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए कौन-से साधन उपयुक्त हैं।

अपरम्परागत न्याय के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न समयों पर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा न्याय को अलग-अलग मापदण्डों के आधार पर परखा गया और जांचा गया है। दार्शनिक काण्ट ने कहा है कि यदि पृथ्वी पर कोई

1 Arnold Brecht, *Political Theory* (Times of India Press, Bombay, 1965), pp. 146-157.

परम मूल्यवान वस्तु है, तो वह व्यक्ति का गौरव और महत्व है। 19वीं सदी में व्यक्तिवादियों ने केवल व्यक्ति की भलाई को ही न्यायसंगत माना, जबकि संघवादियों के लिए संघ की भलाई ही न्यायसंगत है। वास्तव में, न्याय क्या है, यह व्यक्ति विशेष की व्यक्तिगत धारणा पर निर्भर करता है।

विभिन्न राजनीतिक दलों के लिए भिन्न-भिन्न मूल्य न्यायपूर्ण हैं। कुछ प्रमुख राजनीतिक दलों और उनके मूल्यों का उल्लेख निम्न प्रकार से किया जा सकता है :

राजनीतिक दल	प्रमुख न्याय मूल्य
(1) लोकतन्त्रवादी	बहुमत
(2) समाजवादी	समानता
(3) उदारवादी	स्वतन्त्रता
(4) परम्परावादी	परम्परा, राष्ट्रीय एकता और शक्ति
(5) राष्ट्रवादी	राष्ट्र
(6) धार्मिक दल	ईश्वरीय कथन
(7) यथार्थवादी	सत्ता
(8) फासिस्टवादी व नाजी पार्टी	नेतृत्व, समूह एवं राष्ट्र
(9) उपयोगितावादी	प्रसन्नता, उपयोगिता
(10) स्वतन्त्रतावाद	सभ्यता, प्रसन्नता, एकता, शान्ति तथा अनुरूपता

इस प्रकार प्रत्येक दल अपनी विचारधारा के दृष्टिकोण से न्याय का मापदण्ड रखता है और इनमें से कौन-सा विचार ठीक है, यह निर्णय कर सकना निश्चित रूप से बहुत अधिक कठिन है।

न्याय के सार्वलौकिक और स्थिर आधार तत्व
(UNIVERSAL AND INVARIANT POSTULATES OF JUSTICE)

न्याय क्या है? यह बहुत कुछ सीमा तक व्यक्ति के अपने विश्वास और अपनी धारणा पर निर्भर करता है। फिर भी कुछ ऐसे तत्व हैं, जो न्याय की सभी धारणाओं में विद्यमान हैं और जिन्हें न्याय के आधार तत्व कहा जा सकता है। ब्रैचट के द्वारा अपनी पुस्तक '*Political Theory*' में इन आधार तत्वों का उल्लेख इस प्रकार से किया गया है :[1]

(1) सत्य—यद्यपि राडब्रुच (Radbruch) का विचार है कि, **'न्याय का प्रत्यक्ष सम्बन्ध केवल अच्छाई से होता है, सत्य से नहीं; सत्य तो विज्ञान का क्षेत्र है'** लेकिन वास्तव में सत्य न्याय का एक बहुत अधिक महत्वपूर्ण तत्व है। वस्तुनिष्ठ रूप (Objectives sense) में न्याय की मांग है कि तथ्य और सम्बन्ध विषयक अपने सभी कथनों में हम सत्य का प्रयोग करें। व्यक्तिनिष्ठ रूप (Subjective sense) में इसका आशय यह है कि विभिन्न व्यक्तियों और वस्तुओं के सम्बन्ध में हम यही विचार प्रकट करें, जिसें हम ठीक समझते हैं। विशेष रूप में न्याय के प्रशासन में तथ्यों की सत्यता का बहुत अधिक महत्व है।

(2) मूल्यों के आधारभूत क्रम की सामान्यता—विभिन्न मामलों के विषय में विचार करते हुए हमारे द्वारा न्याय की एक ही धारणा को लागू किया जाना चाहिए। यह नितान्त अनुचित होगा कि हमारे द्वारा एक मामले में न्याय की एक धारणा को और दूसरे मामले में न्याय की किसी अन्य धारणा को लागू किया जाए।

(3) कानून के समक्ष समानता या समानता का व्यवहार—कानून के सामने सभी समान होने चाहिए और उनके प्रति समानता का व्यवहार किया जाना चाहिए। एक ही प्रकार की स्थितियों में मनमाने ढंग से भेद करना अन्यायपूर्ण है। किसी भी व्यक्ति के साथ धर्म, जाति, भाषा, लिंग के आधार पर भेदभावपूर्ण व्यवहार नहीं होना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को उन्नति तथा विकास के समान अवसर प्राप्त होने चाहिए।

(4) स्वतन्त्रता—उचित रुकावटों के अलावा मनुष्य की स्वतन्त्रता पर रोक नहीं लगाई जानी चाहिए। मनमाने ढंग से व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर रुकावटें लगाना अन्यायपूर्ण है। शासक को अपने स्वार्थ या शक्ति को बनाये रखने के लिए ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर कोई रुकावटें नहीं लगानी चाहिए।

(5) प्रकृति की अनिवार्यताओं के प्रति सम्मान—जो कार्य व्यक्ति की सामर्थ्य के बाहर हैं और जो कार्य प्रकृति की ओर से व्यक्ति के लिए असम्भव हैं, उन्हें करने के लिए व्यक्ति को मजबूर करना न्याय भावना

1 Arnold Brecht, *Ibid.*, pp. 395-401.

के विरुद्ध है। अतः जिन कानूनों या आदेशों का पालन करना मनुष्य के लिए सम्भव नहीं है, ऐसे कानूनों या आदेशों की अवहेलना करने पर व्यक्ति को दण्ड देना या उसकी निन्दा करना भी अन्यायपूर्ण है। उदाहरण के लिए, बहुत अधिक वृद्ध, अन्धे या अपंग व्यक्ति के लिए समाज की दया के आधार पर जीवन व्यतीत करना न्यायपूर्ण है, लेकिन ऐसा व्यक्ति जो शारीरिक और मानसिक दृष्टि से ठीक है उसके लिए खुद काम करके रोजी ही कमाना न्यायपूर्ण है।

स्थानीय, राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय सभी क्षेत्रों में न्याय को प्राप्त करने के लिए उपर्युक्त पांच सिद्धान्तों का पालन आवश्यक है।

कानूनी न्याय को प्राप्त करने के साधन
(MEASURES FOR THE ATTAINMENT OF LEGAL JUSTICE)

यद्यपि राजनीतिक चिन्तन में न्याय की धारणा पर विविध दृष्टि से विचार किया जाता रहा है, लेकिन न्याय का तात्पर्य प्रमुख रूप से कानूनी न्याय से ही लिया जाता है। कानूनी रूप से न्याय की प्राप्ति व्यक्ति के लिए निश्चित रूप से बहुत अधिक महत्वपूर्ण है और यह तभी सम्भव है जबकि न्याय का ढांचा स्वतन्त्र और निष्पक्ष हो। **लॉस्की के द्वारा** अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ **'राजनीति के मूल तत्व'** (*Grammar of Politics*) में कानूनी न्याय प्राप्त करने के साधनों का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है।[1] इस सम्बन्ध में लॉस्की की विवेचना और अन्य विचारों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कानूनी न्याय को प्राप्त करने के लिए निम्नलिखित साधन प्रमुख रूप से अपनाए जाने चाहिए :

(1) **न्यायपालिका का कार्यपालिका के प्रभाव से मुक्त होना**—यह एक सर्वमान्य बात है कि यदि न्यायपालिका कार्यपालिका के दबाव से मुक्त नहीं हुई, तो उसके द्वारा निष्पक्ष रूप से न्याय प्रदान करने का कार्य नहीं किया जा सकेगा। विधियों की व्याख्या का कार्य ऐसे व्यक्तियों को सौंपा जाना चाहिए, जिनके विचार पर कार्यपालिका का विचार हावी न हो सके। केवल इतना ही नहीं, वरन् वे इस योग्य होने चाहिए कि उनके द्वारा जरूरत पड़ने पर कार्यपालिका या व्यवस्थापिका से जवाब-तलब किया जा सके। न केवल सर्वोच्च स्तर पर वरन् निम्न स्तरों पर भी न्यायपालिका कार्यपालिका के दबाव से मुक्त होनी चाहिए।

(2) **न्यायाधीशों की नियुक्ति, चुनाव नहीं**—न्यायाधीशों के सम्बन्ध में प्रमुख रूप से तीन विधियां प्रचलित हैं—(i) जनता द्वारा निर्वाचन, (ii) व्यवस्थापिका सभा द्वारा निर्वाचन, और (iii) कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति। **'इनमें जनता द्वारा न्यायाधीशों के निर्वाचन की पद्धति निश्चित रूप से सबसे अधिक बुरी है।'**[2] और व्यवस्थापिका सभा द्वारा न्यायाधीशों का चुनाव किए जाने पर भी न्यायाधीश पद दलबन्दी का शिकार बन जाएगा। अतः न्यायाधीशों की कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति की पद्धति ही सबसे अधिक श्रेष्ठ है। लॉस्की ने लिखा है, **"इस विषय में सभी बातों को देखते हुए न्यायाधीशों की कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति के परिणाम सबसे अच्छे रहे हैं। परन्तु यह अति आवश्यक है कि न्यायाधीशों के पदों को राजनीतिक सेवा का फल नहीं बनाया जाना चाहिए।"**

(3) **न्यायाधीशों के लिए उच्च योग्यताएं**—न्याय की उचित रूप में प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि न्यायाधीशों का पद केवल ऐसे ही व्यक्तियों को प्रदान किया जाए, जिनकी व्यावसायिक कुशलता और निष्पक्षता सर्वमान्य हो। न केवल उच्च, वरन् निचले न्यायाधीशों के पद पर भी ऐसे व्यक्तियों को नियुक्त किया जाना चाहिए, जो योग्य और विधि के बहुत अच्छे ज्ञाता हों।

(4) **पर्याप्त वेतन और पदोन्नति के अवसर**—हैमिल्टन ने अपनी पुस्तक **'राजनीति के तत्व'** (*Elements of Politics*) में लिखा है कि **'यह मानव स्वभाव है कि जो व्यक्ति अपनी आजीविका की दृष्टि से शक्ति सम्पन्न हैं, उनके पास संकल्प की शक्ति का भी बड़ा बल होता है।'** यह कथन पूर्ण सत्य है और इसके आधार पर कहा जा सकता है कि न्यायाधीशों को निश्चित और पर्याप्त वेतन दिया जाना चाहिए। इस बात की आशंका बनी रहती है कि कम वेतन पाने वाले न्यायाधीश भ्रष्टाचार के शिकार हो जाएंगे। इसके अलावा न्यायाधीशों को पदोन्नति के अवसर भी दिए जाने चाहिए, जिससे उनकी अपने कार्य में रुचि बनी रहे।

(5) **लम्बा कार्यकाल और पद की सुरक्षा**—न्यायाधीशों का कार्यकाल लम्बा होना चाहिए तथा सामान्यतया ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि वे सदाचार-पर्यन्त अपने पद पर बने रहें। लम्बा कार्यकाल होने पर न्यायाधीश

1 हेराल्ड लॉस्की, राजनीति के मूल तत्व, पृ. 456-464.

2 वही, पृ. 160.

अपने कार्य का अनुभव प्राप्त कर अधिक कुशल बन जाते हैं एवं स्वतन्त्रता और निष्पक्षता के साथ अपना कार्य कर सकते हैं। इसके साथ ही ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि न्यायाधीशों को पद की सुरक्षा प्राप्त हो और कार्यपालिका अपनी इच्छानुसार उन्हें न हटा सके। ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि न्यायाधीशों को भ्रष्टता या अयोग्यता की स्थिति में केवल व्यवस्थापिका के द्वारा विशेष बहुमत से महाभियोग का प्रस्ताव पास करके ही हटाया जा सके। कार्यपालिका द्वारा न्यायाधीशों की आलोचना भी नहीं की जानी चाहिए।

(6) न्यायाधीशों के लिए अवकाश प्राप्ति के बाद व्यवसाय निषेध—शक्ति के बुरे प्रयोग को रोकने के लिए भी आवश्यक है कि न्यायाधीश को अवकाश प्राप्ति के बाद वकालत करने के लिए निषेध किया जाए। इस सम्बन्ध में इतनी व्यवस्था तो अवश्य की जानी चाहिए कि एक व्यक्ति जिन न्यायालयों में न्यायाधीश के रूप में कार्य कर चुका हो, कम-से-कम उन न्यायालयों या उनके क्षेत्राधिकार में आने वाले अन्य न्यायालयों में वकालत का कार्य न कर सके। इसके साथ ही अनेक विचारक यह भी सुझाव देते हैं कि जो व्यक्ति एक बार न्यायिक पद प्राप्त कर चुका हो, उसे किसी भी राजनीतिक या कार्यपालिका पद के पात्र नहीं समझा जाना चाहिए।

(7) ज्यूरी व्यवस्था—सामान्यतया ज्यूरी की व्यवस्था को न्याय की प्राप्ति में सहायक ही पाया गया है। इसलिए सभी फौजदारी मामलों में और सार्वजनिक हितों से सम्बन्धित दीवानी मामलों में ज्यूरी की व्यवस्था होनी चाहिए। ज्यूरी का सदस्य होने के लिए सम्पत्ति का मालिक होना जरूरी नहीं समझा जाना चाहिए। ज्यूरी के सदस्य को उचित पारिश्रमिक दिया जाना चाहिए, जिससे उनकी अपने कार्य में रुचि रहे। ज्यूरी के निर्णयों, विशेषतया फौजदारी मामलों में उनके निर्णयों के विरुद्ध अपील की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(8) न्याय में समानता की व्यवस्था—न्याय में समानता के लक्ष्य को प्राप्त किया जाना बहुत आवश्यक है, नहीं तो न्याय धनीमानी वर्ग की सुविधा बनकर रह जाएगा। न्याय में समानता को प्राप्त करने के लिए दो व्यवस्थाएं जरूरी हैं—**पहली विशेषाधिकारों की समाप्ति** और दूसरी निःशुल्क कानूनी सहायता की व्यवस्था। वास्तव में, **'मुफ्त कानूनी सहायता'** (Free Legal Aid) की व्यवस्था होने पर ही साधारण व्यक्ति न्याय प्राप्त करने की आशा कर सकता भारत में अभी हाल ही के वर्षों में 'मुफ्त कानूनी सहायता' की व्यवस्था करने की कोशिश की जा रही है।

उपर्युक्त व्यवस्थाएं कर लेने पर ही कानूनी न्याय को प्राप्त करने की आशा की जा सकती है।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. न्याय से आप क्या समझते हैं? इसके भिन्न-भिन्न रूपों का वर्णन कीजिए।
2. राजनीतिक चिन्तन में न्याय की धारणा की विवेचना कीजिए। आर्नाल्ड ब्रैचट ने न्याय की व्याख्या किस प्रकार की है?
3. न्याय के सार्वलौकिक और स्थिर आधार तत्वों का वर्णन कीजिए।
4. सामाजिक और आर्थिक न्याय से आप क्या समझते हैं? भारत में न्याय को प्राप्त करने के लिए किन उपायों को अपनाया गया है?
5. कानूनी न्याय से आप क्या समझते हैं। कानूनी न्याय को प्राप्त करने के लिए आप कौन से उपाय अपनाने का सुझाव देंगे?

16

उदारवाद
(LIBERALISM)

"एक राजनीतिक सिद्धान्त के रूप में उदारवाद दो पृथक् तत्वों का मिश्रण है। इसमें से एक लोकतन्त्र है और दूसरा व्यक्तिवाद।"[1]

—मैक्गवर्न

उदारवाद

उदारवादी विचारधारा अन्य विचारधाराओं की भांति निश्चित और क्रमबद्ध विचारधारा नहीं है। उदारवाद न तो किसी एक व्यक्ति के विचारों का परिणाम है और न ही यह विचारधारा किसी एक युग के साथ जुड़ी हुई है। वास्तव में यह कोई एक दर्शन नहीं, वरन् अधिक विचारों का सम्मिश्रण है। यह एक जीवन दृष्टि, जीवन क्रम तथा मस्तिष्क की एक प्रवृत्ति है जिसके अन्तर्गत अनेक मान्यताएं, आदर्श एवं संस्थाएं हैं। ऐसी स्थिति में उदारवाद की व्याख्या स्वाभाविक रूप से एक कठिन कार्य हो जाता है।

उदारवाद क्या है? इस सम्बन्ध में अनेक प्रकार के विचार प्रचलित रहे हैं। उदारवाद का घर इंगलैण्ड रहा है और इंगलैण्ड में उदारवाद का उदय अनुदारवाद का विरोध करने वाली एक प्रवृत्ति के रूप में हुआ। इसलिए अनेक व्यक्ति उदारवाद को अनुदारवाद का विलोम तथा प्रगति और परिवर्तन का पर्यायवाची मानते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि जब अनुदारवादी ब्रिटेन में लम्बे समय से चली आ रही राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक संस्थाओं, परम्पराओं और रूढ़ियों को बनाए रखना चाहते थे; उस समय उदारवाद के द्वारा सुधार, परिवर्तन और प्रगति का समर्थन किया गया। लेकिन उदारवाद को प्रगति और परिवर्तन का पर्यायवाची नहीं माना जा सकता है क्योंकि इसके द्वारा हमेशा परिवर्तनों का स्वागत नहीं किया गया है और परिवर्तनों का स्वागत करने के बजाय कुछ अवसरों पर इसने विद्यमान व्यवस्था को बनाए रखने का पक्ष लिया है। इसके अतिरिक्त उदारवाद परिवर्तन हेतु क्रान्ति के मार्ग को अपनाने के तो नितान्त विरुद्ध है।

कुछ व्यक्ति उदारवाद को व्यक्तिवाद का पर्यायवाची मानते हैं जो कि पूर्णतया सत्य नहीं है। यद्यपि व्यक्तिवाद उदारवाद का अभिन्न अंग है, किन्तु दोनों एक ही चीज नहीं हैं। जार्ज सेबाइन ने लिखा है कि लगभग 1830 तक तो इन दोनों में कोई विशेष भेद नहीं था। क्योंकि उस समय तक ये दोनों विचारधाराएं व्यक्ति के जीवन में राज्य के हस्तक्षेप की विरोधी थीं। लेकिन इसके बाद स्थिति बदल गयी। ग्रीन जैसे उदारवादियों के द्वारा नकारात्मक स्वतन्त्रता के साथ-साथ सकारात्मक स्वतन्त्रता पर जोर देते हुए कहा गया कि समाज के सभी सदस्यों के कल्याण और विकास के लिए राज्य के द्वारा समुचित सुविधाओं की व्यवस्था की जानी चाहिए। यदि जन-कल्याण के इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए व्यक्तियों के जीवन में हस्तक्षेप करना या राज्य द्वारा व्यक्तियों के जीवन पर नियन्त्रण रखा जाना आवश्यक हो, तो राज्य ऐसा भी कर सकता है।

प्राय: लोकतन्त्र को उदारवाद का नाम दे दिया जाता है लेकिन यह भी सीमित अर्थ में ही सही है। आधुनिक लोकतन्त्र बहुसंख्यक वर्ग की सत्ता में विश्वास करता है, लेकिन उदारवाद सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में बहुसंख्यक वर्ग की अपेक्षा अल्पसंख्यक वर्ग के हित की रक्षा के प्रति अधिक जागरूक है। इस प्रकार उदारवाद लोकतन्त्र से कुछ अधिक हो जाता है।

1 "To the present writer it seems clear that Liberation as a political concept is a compound of two separate elements. One of these is democracy, the other is individualism."
—W. M. McGovern, *From Luther to Hitler*, p.11.

उदारवाद परिवर्तन और प्रगति का सन्देशा देता है तो व्यक्तिवाद तथा लोकतन्त्र भी इसमें शामिल हैं। लेकिन उदारवाद केवल यही नहीं है। व्यक्ति और राज्य के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय पर अंब तक दो प्रकार की विचारधाराओं का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार की विचारधाराएं राज्य को समस्त मानवीय जीवन का केन्द्र और अपने आप में एक साध्य मानती हैं, लेकिन दूसरी श्रेणी की विचारधाराएं इस बात का प्रतिपादन करती हैं कि व्यक्ति और राज्य में व्यक्ति ही साध्य है। उदारवाद द्वितीय प्रकार की इन विचारधाराओं का समूह है **जो इस बात पर बल देता है कि समस्त मानवीय व्यवस्था का केन्द्र व्यक्ति ही है, राज्य, समाज और अन्य संस्थाएं इस व्यक्ति के कल्याण के साधन मात्र ही हैं और समस्त राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था का निर्धारण व्यक्ति को केन्द्र मानकर ही किया जाना चाहिए।**

उदारवाद की पृष्ठभूमि या उदय

राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में उदारवाद का उदय अनेक प्रवृत्तियों का परिणाम था, जिसमें से कुछ निम्न प्रकार हैं :

(1) औद्योगिक क्रान्ति और पूंजीपति वर्ग का उदय—मध्य युग में लोगों का आर्थिक जीवन स्वतन्त्र नहीं था। कृषक सामन्तों के अधीन हुआ करते थे और दस्तकारी तथा व्यापार पर भी अनेक नियन्त्रण थे। दस्तकारों पर उनकी श्रेणियों का नियन्त्रण हुआ करता था, जो 'गिल्ड' कहलाती थीं। इसके अतिरिक्त चर्च भी आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप किया करता था और आर्थिक जीवन की गतिविधियों के सम्बन्ध में अनेक धार्मिक तथा नैतिक नियम थे। 18वीं सदी के अन्त में औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप वस्तुओं का बहुत बड़े पैमाने पर उत्पादन होने लगा। इस उत्पादन के परिणामस्वरूप जितनी तेजी से समृद्धि आयी उतनी ही गति से आर्थिक जीवन पर चले आ रहे नियन्त्रण समाप्त होने लगे। समाज में जो नवीन समृद्धिशाली वर्ग उत्पन्न हो रहा था, उसका एकमात्र उद्देश्य अधिकाधिक सम्पत्ति प्राप्त करना था। यह वर्ग उन समस्त नियमों और प्रतिबन्धों का विरोध करने लगा जो अधिकाधिक सम्पत्ति के अर्जन में बाधक थे। यह नवीन समृद्धशाली वर्ग सामाजिक जीवन में बहुत अधिक प्रभावशाली हो गया था और उसने अपने प्रभाव से इस बात को स्वीकार करवा लिया कि व्यक्तियों के आर्थिक जीवन और गतिविधियों पर राजनीतिक, सामाजिक और नैतिक कोई प्रतिबन्ध नहीं होने चाहिए। इस प्रकार आर्थिक स्वतन्त्रता की भावना उदारवाद का स्रोत बन गयी।

(2) नवजागरण (Renaissance)—प्राचीन युग में यूनानी जीवन के अन्तर्गत व्यक्ति के जीवन को आधारभूत रूप में महत्व प्राप्त था। उनके चिन्तन का रूप लौकिक था और प्राचीन यूनानियों ने दर्शन, साहित्य, कला और विज्ञान के क्षेत्र में आश्चर्यजनक प्रगति की थी। लेकिन मध्य युग में पारलौकिक दृष्टिकोण को अपना लिया गया और चिन्तन का एकमात्र केन्द्र ईश्वर ही हो जाने के कारण जीवन के अन्य क्षेत्रों में कोई प्रगति सम्भव नहीं हो सकी। मध्य युग में व्यक्ति को भुला दिया गया। लेकिन आधुनिक युग के प्रारम्भ में लोगों की दृष्टि पुनः यूनानी चिन्तन पर पड़ी और नवजागरण के नाम से एक बौद्धिक आन्दोलन चल पड़ा जिसने लोगों के विचारों, आदर्शों और चिन्तन पद्धति में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया।

नवजागरण ने व्यक्तियों के दृष्टिकोण को लौकिक बनाया, व्यक्ति और उसके व्यक्तित्व को सर्वोच्च महत्व प्रदान किया और उन्हें यह सिखाया कि सत्य की प्राप्ति का मार्ग श्रद्धा और अन्धविश्वास का नहीं, वरन् बुद्धि और विवेक का है। इस प्रकार नवजागरण ने व्यक्ति स्वतन्त्रता पर बल देकर उदारवाद का मार्ग प्रशस्त किया।

(3) धर्म सुधार (Reformation)—मध्य युग न केवल राजनीतिक वरन् धार्मिक निरंकुशता के लिए भी प्रसिद्ध रहा है। धार्मिक क्षेत्र में पोप लोगों की निरंकुशता थी और ऐसा माना जाता था कि पोप शास्त्रों का जो अर्थ बतलाते हैं, वही प्रामाणिक है। 16वीं सदी में धर्म सुधार की प्रवृत्ति आरम्भ हुई और मार्टिन लूथर, ज्विगली तथा काल्विन आदि धर्म सुधारकों के द्वारा धार्मिक निरंकुशता का विरोध प्रारम्भ कर दिया गया। धर्म सुधार ने परम्पराओं के बन्धन तोड़कर आध्यात्मिक स्वतन्त्रता का मार्ग प्रशस्त किया। लूथर ने सिखाया कि व्यक्ति और ईश्वर के बीच सम्बन्ध स्थापित करने के लिए किसी मध्यस्थ की आवश्यकता नहीं है, व्यक्ति स्वयं अपने प्रयत्नों से ईश्वर की कृपा प्राप्त कर सकता है और धार्मिक क्षेत्र में शक्ति प्रयोग के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। इस प्रकार धर्म सुधार ने धार्मिक जीवन की बुराइयों का अन्त कर व्यक्तियों को वास्तविक अर्थों में धार्मिक

स्वतन्त्रता प्रदान की। प्रो. लास्की के शब्दों में, **"धर्म सुधार के सिद्धान्त तथा सामाजिक परिणाम व्यक्ति के लिए मुक्तिदायक सिद्ध हुए।"**[1]

(4) निरंकुशतावादी शासन के विरुद्ध प्रतिक्रिया—उदारवाद के जन्म के लिए सबसे प्रमुख उत्तरदायी तत्व निरंकुशतावादी शासन के विरुद्ध प्रतिक्रिया ही रहा है। 16वीं और 17वीं शताब्दियां यूरोप के इतिहास में निरंकुश राजतन्त्र के लिए प्रसिद्ध थीं। इनमें से अनके राज्यों के शासकों द्वारा दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर अपने आपको ईश्वर का अवतार घोषित कर दिया गया था। इनमें से कुछ सरकारें तो इतनी अधिक निरंकुश एवं अमर्यादित हो गयी थीं कि आशीर्वादम के शब्दों में, **"उनके अर्थहीन कानून निश्चित दिनों के लिए विशिष्ट प्रकार के भोजन निर्धारित करते थे तथा मुर्दों को दफनाने के लिए विशेष प्रकार के वस्त्रों की व्यवस्था की आज्ञा देते थे।"** इस प्रकार के निरंकुशवादी शासन के विरुद्ध प्रतिक्रिया उत्पन्न होनी स्वाभाविक थी और **जॉन लॉक, मिल, स्पेन्सर** तथा **ग्रीन** के द्वारा व्यक्ति स्वातन्त्र्य उदारवाद का प्रतिपादन किया गया।

उदारवाद के मूल सिद्धान्त

उदारवाद एक विशाल नदी की भांति है जिसमें बहुत सी छोटी नदियां मिलती हैं और उनसे प्रवाह क्रम में वहुत-सी शाखाएं और उपशाखाएं निकल पड़ती हैं। उदारवाद के मूल सिद्धान्त निम्नलिखित कहे जा सकते हैं :

(1) मानवीय विवेक में आस्था—उदारवादी विचारधारा का सर्वप्रमुख तत्व मानवीय बुद्धि और विवेक में मूलभूत आस्था है। यूरोप के विभिन्न देशों में मध्य युग के अन्तर्गत ईसाइयत ने मनुष्य की बुद्धि को कठोर बन्धनों में जकड़ रखा था और ऐसा माना जाता था कि चर्च के अधिकारी, विशेषकर पोप, शास्त्रों का जो अर्थ वतलाते हैं, वही प्रामाणिक है। लेकिन 17वीं और 18वीं सदी में नवजागरण के साथ ही प्रमुख उदारवादी दार्शनिकों ने शास्त्रों का अन्धानुकरण करने के स्थान पर स्वयं अपने विवेक के आधार पर सोचना प्रारम्भ किया। **जॉन लॉक** और **टामस पेन** को ऐसे विचारकों में प्रमुख कहा जा सकता है। टामस पेन ने तो समस्त रूढ़िवादियों को चुनौती देते हुए कहा कि **'मेरा अपना मन ही मेरा चर्च है।'** इस प्रकार उदारवाद इस बात में विश्वास करता है कि भावना पर विवेक को प्रधानता दी जानी चाहिए। उदारवाद ने इस दृष्टिकोण को अपनाकर स्वतन्त्र चिन्तन को प्रोत्साहित किया।

(2) इतिहास तथा परम्पराओं का विरोध—उदारवाद मानवीय विवेक में विश्वास करता है और किसी भी ऐसे विचार, संस्था या सिद्धान्त को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है जो बुद्धिसंगत न हो, चाहे वह कितना ही पुराना क्यों न हो और चाहे उसे कितना ही पवित्र क्यों न समझा जाता रहा हो। उदारवाद का विश्वास रहा है कि यदि प्रगति के लिए इतिहास तथा परम्पराओं के प्रति विद्रोह किया जाना आवश्यक हो तो इस प्रकार का विद्रोह अवश्य ही किया जाना चाहिए। इंगलैण्ड के उपयोगितावादी उदारवादियों ने उपयोगिता के नाम पर पहले से चली आ रही व्यवस्था और परम्पराओं का खण्डन किया। उनके प्रभाव के कारण ही 19वीं सदी में इंगलैण्ड के जीवन के हर क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। लेकिन उदारवादी सदैव ही विद्यमान व्यवस्था के विरोधी नहीं रहे हैं और आज तो वे बहुत सीमा तक विद्यमान राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था को बनाए रखने के पक्ष में हो गए हैं।

(3) मानवीय स्वतन्त्रता की धारणा में विश्वास—उदारवादी विचारधारा के अनुसार मनुष्य जन्म से ही स्वतन्त्र उत्पन्न होता है और स्वतन्त्रता उसका प्राकृतिक एवं जन्मसिद्ध अधिकार है। स्वतन्त्रता का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति के जीवन पर किसी स्वेच्छाचारी सत्ता का नियन्त्रण न हो और ऐसा वातावरण हो कि व्यक्ति अपने विवेक के अनुसार आचरण कर सकें। उदारवादियों ने सदैव ही मानव जीवन पर निरंकुश सत्ता का विरोध किया है और वे राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, बौद्धिक और धार्मिक सभी क्षेत्रों में स्वतन्त्रता का समर्थन कर रहे हैं। लास्की के शब्दों में, **"स्वतन्त्रता के साथ इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, क्योंकि इसका जन्म ही समाज के किसी वर्ग द्वारा जन्म अथवा धर्म के आधार पर प्राप्त विशेषाधिकारों के विरोध में हुआ था।"**[2]

---

1 "Both its doctrines and social results were emancipating to the individual."
—Laski, *The Rise of European Liberalism*, p. 30.

2 "It is directly related to freedom for it came as the foe of privilege conferred on any class in the community by virtue of birth or creed." —*H. J. Laski*

(4) व्यक्ति साध्य तथा समाज और राज्य साधन—उदारवाद का मूल आधार व्यक्ति है और वे व्यक्ति को साध्य मानकर ही आगे बढ़ते हैं। उनके अनुसार व्यक्ति का भौतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक कल्याण, उसकी रचनात्मक शक्तियों का विकास ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण चीज है। समाज और राज्य तो साधन मात्र हैं और उनका महत्व उसी सीमा तक है, जहां तक वे इस लक्ष्य की पूर्ति में सहायक होते हैं।

(5) समाज और राज्य कृत्रिम संगठन—उदारवादी समाज और राज्य को प्राकृतिक नहीं वरन् कृत्रिम मानते हैं और उनका विचार है कि इनका निर्माण व्यक्तियों के द्वारा अपनी कुछ विशेष आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ही किया गया। व्यक्ति अपने आप में पूर्ण है, समाज और राज्य का संगठन उनके द्वारा अपनी निश्चित योजना के अनुसार किया गया और इस नाते व्यक्तियों को यह अधिकार प्राप्त हो जाता है कि वे समाज और राज्य के संगठन में अपनी आवश्यकतानुसार संशोधन-परिवर्तन का कार्य कर सकें। इस प्रकार उदारवादी न तो राज्य की प्राकृतिकता में विश्वास करते हैं और न ही व्यक्ति और राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय पर सावयव सिद्धान्त में।

(6) व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों की धारणा में विश्वास—उदारवादियों का विश्वास रहा है कि व्यक्ति के कुछ जन्मजात और अउल्लंघनीय अधिकार हैं, जिन्हें उनके प्राकृतिक अधिकार कहा जा सकता है। उनका कथन है कि अधिकारों की सृष्टि किसी मानवीय संस्था, समाज या राज्य के द्वारा नहीं की गयी है, वरन् ये तो इन संस्थाओं के अस्तित्व में पूर्ण से विद्यमान रहे हैं और समाज तथा राज्य की उत्पत्ति इन अधिकारों की रक्षा के लिए ही हुई है। इस सम्बन्ध में लॉक का **'प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त'** विशेष प्रसिद्ध है जिसके अनुसार व्यक्ति के मुख्य प्राकृतिक अधिकार **जीवन सम्पत्ति और स्वतन्त्रता** के अधिकार हैं।

(7) धर्मनिरपेक्ष राज्य का आदर्श—उदारवाद धर्मनिरपेक्ष राज्य के आदर्श में विश्वास करता है जिसके अनुसार राज्य का कोई धर्म नहीं होना चाहिए, राज्य के द्वारा अपने सभी नागरिकों को पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए और धर्म के आधार पर अपने नागरिकों में किसी प्रकार का पक्षपात नहीं किया जाना चाहिए।

मध्यकालीन यूरोप के विभिन्न देशों में किसी-न-किसी एक विशेष धर्म को प्रधानता प्राप्त थी। ऐसी स्थिति में उदारवादियों ने प्रारम्भ से ही धार्मिक सहिष्णुता और स्वतन्त्रता की आवाज उठायी। जॉन लॉक धार्मिक सहिष्णुता का कट्टर समर्थक था। 18वीं सदी के फ्रेंच दार्शनिकों ने भी चर्च और राज्य को पृथक् करने के लिए आन्दोलन किया और इस प्रकार के आन्दोलन के परिणामस्वरूप फ्रांसीसी क्रान्ति के बाद फ्रांस और संयुक्त राज्य अमरीका में धर्मनिरपेक्ष राज्यों की स्थापना हुई। इसके बाद तो यूरोप के सभी देशों में धर्मनिरपेक्ष की लहर ही आ गयीं। वस्तुतः धर्मनिरपेक्ष का आदर्श उदारवाद की एक बहुत बड़ी देन हैं।

(8) शासकीय स्वेच्छाचारिता का विरोध और कानून की प्रधानता का प्रतिपादन—उदारवाद अपने स्वभाव से ही शासकीय स्वेच्छाचारिता का विरोध करता है और इस बात का प्रदिपादन करता है कि शासन में व्यक्ति की नहीं वरन् कानून की प्रधानता होनी चाहिए। शासक वर्ग भी इन कानूनों को मानने के लिए उतनी ही सीमा तक बाध्य होना चाहिए, जितनी सीमा तक शासित वर्ग। यदि शासक वर्ग मनमानी करता है और जनता के हितों का ध्यान नहीं रखता, तो ऐसी स्थिति में जनता को अत्याचारी शासन के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। लेकिन इसके साथ ही उदारवाद की धारणा है कि परिवर्तन हेतु शान्तिपूर्ण और वैधानिक उपाय ही अपनाए जाने चाहिए। इस सम्बन्ध में 1688 की इंगलैण्ड की गौरवपूर्ण क्रान्ति उनका आदर्श है।

(9) लोकतान्त्रिक पद्धति का समर्थन—लोकतान्त्रिक पद्धति का समर्थन उदारवाद का अन्तिम, किन्तु सबसे अधिक महत्वपूर्ण विचार कहा जा सकता है। उदारवाद का जन्म ही स्वेच्छाचारी शासन के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में हुआ और लोक-प्रभुत्व उदारवाद का मूल तत्व है। उदारवादी विचारधारा के अनुसार सभी मनुष्य स्वतन्त्र होते हैं, इसलिए किसी को भी दूसरों पर उनकी सहमति के बिना शासन करने का अधिकार नहीं हो सकता है। वे इस बात पर बल देते हैं कि व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा का सर्वोच्च उपाय यही हो सकता है कि शासन की शक्ति स्वयं जनता के हाथों में हो और किसी व्यक्ति अथवा वर्ग विशेष को स्वेच्छाचारी ढंग से शासन करने का अधिकार न हो। इसी उदारवादी विचार को अभिव्यक्ति देते हुए फ्रांस

के 'मानवीय अधिकारों की घोषणा' में कहा गया था, "राष्ट्र ही तत्वतः सम्पूर्ण प्रभुत्व का स्रोत है; कोई व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का कोई समूह किसी ऐसी सत्ता का अधिकारी नहीं हो सकता, जो राष्ट्र से न प्राप्त हुई हो।"[1]

(10) **अन्तर्राष्ट्रीय और विश्व-शान्ति में विश्वास**—उदारवाद अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राज्य की निरंकुशता को स्वीकार नहीं करता और विश्व-शान्ति तथा विश्व-बन्धुत्व के आदर्श का प्रतिपादन करता है। उदारवाद के अनुसार प्रत्येक राष्ट्र को शनैः-शनैः शान्तिपूर्वक प्रगति करनी चाहिए और उसे अन्य राष्ट्रों की वैसी ही प्रगति में सहायता देनी चाहिए। उदारवाद के अनुसार राष्ट्रीय वैमनस्य की भावना को प्रोत्साहित नहीं किया जाना चाहिए और राज्यों के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता तथा सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को स्वीकार कर लिया जाना चाहिए।

राज्य के उद्देश्यों और कार्यों के सम्बन्ध में उदारवाद

राज्य के उद्देश्यों और कार्यों के सम्बन्ध में उदारवादियों का सदैव एक ही दृष्टिकोण नहीं रहा है और इस सम्बन्ध में उसकी विचारधारा परिस्थितियों के अनुसार विकसित होती रही है। इस सम्बन्ध में उदारवाद के प्रमुख रूप से दो रूप बतलाए जा सकते हैं—**(1) परम्परागत उदारवाद, तथा (2) आधुनिक जनतन्त्रात्मक उदारवाद।**

परम्परागत उदारवाद—मूल रूप में उदारवाद का जन्म स्वेच्छाचारी शासन और व्यवस्था के विरुद्ध एक स्वतन्त्रता आन्दोलन के रूप में हुआ था और परम्परागत उदारवाद का मूल तत्व स्वतन्त्रता ही रहा है। जॉन लॉक और जॉन स्टुअर्ट मिल को इस परम्परागत उदारवाद का प्रतिनिधि विचारक कहा जा सकता है। प्रो. हॉबहाउस ने अपने 'उदारवाद' शीर्षक ग्रन्थ में परम्परागत उदारवाद के नौ मूल सिद्धान्त बतलाए हैं, जो इस प्रकार हैं :

(1) नागरिक स्वतन्त्रता (Civil Liberty)—नागरिक स्वतन्त्रता शासकीय स्वेच्छाचारिता का विरोध करती है और इसका कथन है कि व्यक्तियों पर व्यक्तियों को नहीं, वरन् कानूनों को प्रभुत्व प्राप्त होना चाहिए। मध्ययुग की सामन्ती व्यवस्था में सामन्त वर्ग के वर्गीय विशेषाधिकारों का बोलबाला था। व्यक्तियों को अपने जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा प्राप्त नहीं थी, सामन्त वर्ग के द्वारा व्यक्तियों को मनमाने तरीके से सताया जाता, उन्हें कारागृह में डाल दिया जाता और उनकी सम्पत्ति को छीन लिया जाता था। नागरिक स्वतन्त्रता के आदर्श द्वारा इस स्वेच्छाचारिता का विरोध किया गया और इस बात का प्रतिपादन किया गया कि व्यक्तियों को अपनी इच्छानुसार जीवन व्यतीत करने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए।

(2) वित्तीय स्वतन्त्रता (Civil Liberty)—मध्य युग के निरंकुश शासकों द्वारा अनेक वार जनता पर मनमाने कर लगा दिए जाते थे, अतः नागरिक चेतना के उदय के साथ इस वात पर वल दिया गया कि नागरिकों पर उनके प्रतिनिधियों की इच्छा के बिना कोई कर नहीं लगाए जाएं। उदारवादी सम्पत्ति को व्यक्तियों का एक पवित्र अधिकार मानते थे, इसीलिए उनके द्वारा यह कहा गया कि नागरिकों पर कर लगाने का अधिकार जनप्रतिनिधियों के बहुमत को ही हो सकता है। इसका अर्थ है **उत्तरदायी शासन।** 18वीं सदी के अन्त में अमरीकी स्वतन्त्रता संग्राम इसी प्रश्न को लेकर प्रारम्भ हुआ था और उनका प्रसिद्ध नारा था **'बिना प्रतिनिधित्व के कर नहीं'** (No taxation, without representation)।

(3) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता (Personal Liberty)—उदारवादियों के द्वारा सदैव ही व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर बहुत अधिक वल दिया गया है। उनके द्वारा शासकीय और धार्मिक निरंकुशता का विरोध करते हुए इस बात का प्रतिपादन किया गया है कि व्यक्ति को अपने जीवन के सभी क्षेत्रों के अन्तर्गत स्वयं अपने सम्बन्ध में निर्णय करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त होना चाहिए। व्यक्तियों के जीवन और उनके रहन-सहन में राज्य या समाज के अन्य व्यक्तियों द्वारा उस समय तक कोई हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिए, जब तक कि सामाजिक हित की दृष्टि से इस प्रकार का हस्तक्षेप नितान्त आवश्यक न हो गया हो। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अन्तर्गत विचार और भाषण की स्वतन्त्रता, रहन-सहन की स्वतंन्त्रता, धार्मिक विश्वास और आराधना की स्वतन्त्रता आदि विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं। जॉन स्टुअर्ट मिल का तो कहना है कि **व्यक्ति को अपने जीवन के साथ तरह-तरह के प्रयोग करने का अधिकार भी प्राप्त होना चाहिए यदि उसके इन प्रयोगों का समाज के अन्य व्यक्तियों पर विपरीत प्रभाव न पड़े।**

---

1 "The nation is essentially the source of all sovereignty; not can any individual, or any body of man, be entitled to any authority which is not expressly derived from it."
—*Declaration of the Rights on Man and of Citizens*, Article III.

(4) सामाजिक स्वतन्त्रता (Social Liberty)—उदारवादी चिन्तन में सामाजिक स्वतन्त्रता का भी विशेष महत्व रहा है। सामाजिक स्वतन्त्रता का अर्थ यह है कि जन्म, सम्पत्ति, वर्ण, जाति अथवा लिंग के आधार पर व्यक्तियों में कोई भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए। समाज के सभी व्यक्तियों को विकास के लिए समान और पर्याप्त अवसर प्रदान किए जाने चाहिए, क्योंकि इसके अभाव में स्वतन्त्रता का उपभोग सम्भव नहीं है। विशेष प्रकार के पद, पेशे, व्यवसाय, उच्च शिक्षा की सुविधाएं और निगम अथवा समुदाय की सदस्यता वंशानुगत गुणों पर आधारित नहीं होनी चाहिए वरन् इसके द्वार सबके लिए खुले होने चाहिए।

(5) आर्थिक स्वतन्त्रता (Economic Liberty)—परम्परागत उदारवाद के सन्दर्भ में आर्थिक स्वतन्त्रता का अर्थ यह है कि व्यक्तियों के आर्थिक जीवन और उनके द्वारा संचालित उद्योग तथा व्यापार में राज्य के द्वारा हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिए। मध्य युग के सामन्ती राज्यों ने भूमि, वस्तुओं तथा सम्पत्ति के क्रय-विक्रय, भाड़े पर श्रमिक रखने तथा धन उधार लेने और देने पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगा रखे थे। उदारवादियों ने उन्हें हटाने की मांग की और इस बात पर भी बल दिया कि आर्थिक क्षेत्र में राज्य द्वारा **'हस्तक्षेप की नीति'** (Policy of *Laissez Faire*) अपनायी जानी चाहिए। राज्य के द्वारा व्यापारिक और औद्योगिक क्षेत्रों में 'मुक्त प्रतियोगिता' के विचार को अपना लिया जाना चाहिए। वस्तुओं के मूल्य और उनके उत्पादन की मात्रा स्वयं निर्धारित करने के स्थान पर, मांग और पूर्ति के नियम द्वारा निर्धारित होने के लिए छोड़ देनी चाहिए। व्यक्तियों को आर्थिक क्षेत्र में **'संविदा की स्वतन्त्रता'** प्राप्त होनी चाहिए और उन्हें अपनी आर्थिक उन्नति के लिए संघ और समुदाय बनाने की स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए।

(6) पारिवारिक स्वतन्त्रता (Domestic Liberty)—इसका अर्थ यह है कि स्त्रियों को, विशेषकर विवाह तथा सम्पत्ति के क्षेत्र में पुरुषों के समान ही अधिकार प्राप्त होने चाहिए। बच्चों को भी, विशेष परिस्थितियों के अन्तर्गत माता-पिता के दुर्व्यवहार के विरुद्ध सुरक्षा प्राप्त होनी चाहिए और माता-पिता को उनके शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक विकास के लिए उत्तरदायी ठहराया जाना चाहिए।

(7) जातीय तथा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता (Racial and National Liberty)—उदारवादी विचारक राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के प्रबल समर्थक थे और भौगोलिक तथा प्रशासकीय, दोनों क्षेत्रों में स्वशासन के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते थे। वे जातीय समानता का भी समर्थन करते थे। किन्तु इस सम्बन्ध में एक विशेष और आपत्तिजनक बात यह देखने में आयी है कि कुछ उदारवादी विचारकों द्वारा किया गया जातीय तथा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का समर्थन यूरोपीय राष्ट्रों तथा गोरी जातियों तक ही सीमित रहा है।

(8) अन्तर्राष्ट्रीय स्वतन्त्रता (International Liberty)—उदारवाद एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य के विरुद्ध बल प्रयोग का विरोधी रहा है और उसका विचार है कि शान्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के आधार पर कार्य किया जाना चाहिए। आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में राज्यों के द्वारा परस्पर अधिकाधिक समीप आने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

(9) राजनीतिक स्वतन्त्रता (Political Liberty)—हॉबहाउस के अनुसार उदारवाद की यह सबसे बड़ी विशेषता और सर्वोच्च देन थी। राज्य के कार्यों में सक्रिय रूप से भाग लेने का नाम ही राजनीतिक स्वतन्त्रता है और इसके अन्तर्गत ये चार चीजें सम्मिलित हैं : **नागरिकों को अपने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार, निर्वाचित होने का अधिकार, सार्वजनिक पद ग्रहण करने का अधिकार और राजनीतिक मामलों में समुचित जानकारी प्राप्त करने तथा उन पर स्वतन्त्रतापूर्वक विवाद करने का अधिकार।** इस प्रकार उदारवाद की राजनीतिक स्वतन्त्रता लोकतन्त्र की पर्यायवाची है।

परम्परागत उदारवाद के इन सिद्धान्तों को दृष्टि में रखते हुए इसे बहुत कुछ सीमा तक **'व्यक्तिवाद का सहयोगी दर्शन'** कहा जा सकता है।

परम्परागत उदारवादी : जॉन स्टुअर्ट मिल

यद्यपि बेन्थम और जेम्स मिल की विचारधारा द्वारा अनेक प्रकार के उदारवादी दर्शन को सहायता प्रदान की गयी लेकिन उदारवादी दर्शन की पूर्ण अभिव्यक्ति सर्वप्रथम जॉन स्टुअर्ट मिल की विचारधारा में ही है। मिल ने उन सिद्धान्तों को लागू करने के लिए संघर्ष किया जो उसने बेन्थम और जेम्स मिल से ग्रहण किए थे। इस सम्बन्ध में उसने अनुभव और परिस्थितियों से पाठ ग्रहण करते हुए नागरिक अधिकारों को व्यापक बनाने पर बल दिया और इस बात का प्रतिपादन किया कि स्त्रियों को भी नागरिक अधिकार प्राप्त होने चाहिए।

मिल का विचार है कि सत्य की प्राप्ति वैज्ञानिक पद्धति अर्थात् विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के आधार पर ही सम्भव है। उसके द्वारा '**विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता**' शब्दों का प्रयोग व्यापक अर्थों में किया गया है और उसकी इस धारणा के अन्तर्गत लेखन, प्रकाशन और संगठन की स्वतन्त्रता भी सम्मिलित है। ये स्वतन्त्रताएं परस्पर पूरक हैं और सामुदायिक जीवन के लिए रोटी, पानी और हवा कही जा सकती हैं।

मिल के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को विचार स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए और उसे इस बात का भरोसा होना चाहिए कि उसकी इस स्वतन्त्रता में राज्य या व्यक्ति के पड़ोसियों द्वारा कोई हस्तक्षेप नहीं किया जाएगा। विचार स्वतन्त्रता का उस समय तक कोई उपयोग नहीं हो सकता जब तक कि इन्हें व्यक्त करने और इनके प्रसार हेतु संगठन स्थापित करने का व्यक्तियों को अधिकार प्राप्त न हो। अतः राज्य के द्वारा व्यक्तियों को ये सभी स्वतन्त्रताएं प्रदान की जानी चाहिए और यदि कभी बहुसंख्यक वर्ग अपनी शक्ति के बल पर अल्पसंख्यक वर्ग की इन स्वनतन्त्रताओं पर आघात करना चाहे, तो राज्य के द्वारा बहुसंख्यक वर्ग के हस्तक्षेप से अल्पसंख्यक वर्ग की इन स्वतन्त्रताओं की रक्षा की जानी चाहिए। मानवीय स्वतन्त्रताओं की रक्षा करने के साधन के रूप में ही उसके द्वारा '**प्रतिनिध्यात्मक शासन**' का प्रतिपादन किया गया था। उसका दृढ़ विश्वास था कि राजनीतिक सामान्य हित का विषय है और इसलिए राज्य की नीति पर सामान्य नागरिक समुदाय का नियन्त्रण होना चाहिए।

मिल के द्वारा अपनी विचारधारा का प्रारम्भ एक परम्परागत उदारवादी के रूप में किया गया लेकिन शीघ्र ही उसके द्वारा यह अनुभव किया गया कि व्यक्तियों की स्वतन्त्रता की रक्षा तभी सम्भव है जबकि जनसाधारण के लिए उचित प्रकार की सामाजिक स्थितियां विद्यमान हों। **फोरियर और लुई ब्लां** आदि की विचारधारा के अध्ययन से वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि राजनीतिक स्वतन्त्रता का प्रश्न सम्पत्ति और उस पर नियन्त्रण के प्रश्न से जुड़ा हुआ है। अब उसने इस विचार को अपनाया कि पूंजीवाद में व्याप्त भीषण निर्धनता और बेकारी पूंजीवादी व्यवस्था के ही दुष्परिणाम हैं। उसने इस बात पर बल दिया कि राज्य के द्वारा उचित वेतन, सभी के लिए शिक्षा की व्यवस्था और समानता की स्थापना के लिए प्रयत्न किया जाना चाहिए। समाज की उत्पादन क्षमता और मानवीय साधनों का पूर्ण उपयोग किया जाना चाहिए और इस सम्बन्ध में उसके द्वारा राष्ट्रीय समाजवादी अर्थव्यवस्था का भी विरोध नहीं किया गया।

जॉन लॉक : उदारवाद की आत्मा

सत्रहवीं सदी के समझौतावादी विचारक जॉन लॉक की विचारधारा में उदारवाद के दोनों ही रूपों—पुरातन उदारवाद और नवीन उदारवाद के दर्शन हैं। उदारवाद के समर्थकों में निस्सन्देह वह सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। लॉक को '**उदारवाद की आत्मा**' कहा जा सकता है क्योंकि उसने अपने दर्शन में स्वतन्त्रता को शासन के सर्वोच्च लक्ष्य का स्थान प्रदान किया है। शासन को व्यक्ति स्वातन्त्र्य की प्राप्ति का एक महत्वपूर्ण साधन मानते हुए भी लॉक इस बात को कभी नहीं भूला है कि शासकीय शक्ति की मर्यादाएं निर्धारित की जानी चाहिए, ताकि इस शक्ति का प्रयोग मानवीय स्वतन्त्रता के विरुद्ध न हो सके। उसके द्वारा सामाजिक समझौता सिद्धान्त की सम्पूर्ण व्यूह-रचना मानवीय स्वतन्त्रता के लक्ष्य को दृष्टि में रखकर ही की गयी है। डनिंग के शब्दों में, **"हॉब्स और पूफेण्डोर्फ के द्वारा सामाजिक समझौते के आधार पर राजनीतिक संघ के निर्माण की पद्धति शासकीय सत्ता की असीमितता का प्रतिपादन करने के लिए अपनायी गयी है, लेकिन लॉक इस पद्धति के आधार पर शासकीय सत्ता को सीमित करने के लिए ही प्रयत्नशील रहा है।"**[1]

लॉक की धारणा है कि प्राकृतिक अवस्था में व्यक्तियों को कुछ अधिकार प्राप्त थे और राजनीतिक समाज की स्थापना के बाद भी उनके ये अधिकार पूर्णतया सुरक्षित रहे। प्रो. डनिंग के शब्दों में, **"व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार सम्प्रभु समाज के अधिकारों को ठीक वैसे ही सीमित करते हैं, जिस प्रकार प्राकृतिक अवस्था में ये अधिकार अन्य व्यक्तियों के अधिकारों को सीमित करते थे।"**[2] शक्ति का दुरुपयोग न किया जा सके, इसलिए लॉक ने शक्ति-विभाजन का सिद्धान्त भी अस्थिर कर दिया है। वह व्यवस्थापिका और कार्यपालिका विभागों को बिल्कुल अलग-अलग रखना चाहता था, क्योंकि उसका विचार था कि दोनों शक्तियों के एक ही स्थान पर केन्द्रित होने से स्वतंन्त्रता को खतरा उत्पन्न हो सकता है।

1 Prof. W. A. Durining, *Political Theories*, Vol. II, p. 352.
2 *Ibid.*, p. 350.

लॉक इस दृष्टि से एक प्रमुख उदारवादी है कि लॉक के दर्शन में व्यक्ति उसके महत्व और हित-चिन्तन को ही सर्वोपरि स्थान प्रदान किया गया है। इस सम्बन्ध में प्रो. वाहन का कथन है कि **"लॉक की प्रणाली में प्रत्येक चीज का आधार व्यक्ति है, प्रत्येक व्यवस्था का उद्देश्य व्यक्ति की प्रभुता को सुरक्षित रखना है।"**[1]

राजनीतिक उदारवाद को उसकी एक बहुत बड़ी देन धार्मिक-सहिष्णुता का सिद्धान्त है। उसका विचार है कि व्यक्ति को अपने अन्तःकरण के अनुसार कार्य करने की पूरी स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए। व्यक्ति को छूट होनी चाहिए कि वह जो धर्म चाहे, माने और चाहे जिस सम्प्रदाय का सदस्य रहे। वस्तुतः लॉक व्यक्तियों की स्वतन्त्रता की रक्षा के प्रति इतना अधिक जागरूक है कि उसके द्वारा व्यक्तियों को कुशासन के विरुद्ध विद्रोह का स्पष्ट अधिकार प्रदान किया गया है। मानवीय स्वतन्त्रता के रक्षक को 'उदारवाद की आत्मा' का नाम ठीक ही दिया गया है।

आधुनिक जनतन्त्रात्मक उदारवाद का विकास

19वीं सदी के मध्य तक उदारवाद परम्परागत रूप में प्रचलित रहा, लेकिन इसके बाद बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार उदारवाद के स्वरूप में परिवर्तन हो गया। 1860 तक अधिकांश उदारवादी लोकतन्त्र और आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप की नीति में विश्वास करते थे। लेकिन इस समय तक परिस्थितियां कुछ तो परिवर्तित हो गयी थीं और कुछ तेजी से परिवर्तित होती जा रही थीं। आर्थिक क्षेत्र में अहस्तक्षेप की नीति को अपनाने के परिणाम निर्धन श्रमिक वर्ग के लिए बहुत ही अधिक बुरे हुए थे और यह बहुत अधिक जरूरी हो गया था कि निर्धन व्यक्तियों के हितों की रक्षा के लिए राज्य द्वारा आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप किया जाए। इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह थी कि ब्रिटेन उदारवाद का घर रहा है और ब्रिटेन में मताधिकार क्रमशः व्यापक होतें जाने के कारण किसी भी राजनीतिक दल (ब्रिटेन के उदार दल के लिए भी) के लिए यह जरूरी हो गया था कि राजनीतिक प्रभुत्व प्राप्त करने के लिए निम्न वर्गों पर ध्यान केन्द्रित किया जाए। इन नवीन उदारवादियों द्वारा यह कहा गया कि निर्धन, साधनहीन और अशिक्षित जनता अपने हितों की रक्षा नहीं कर सकती और धनीमानी वर्ग उनके शोषण का प्रयत्न करता है। अतः जनता के हित के सभी सम्भव कार्य सरकारी क्षेत्र में आ जाने चाहिए। इस दृष्टि से उदारवादियों ने राज्य द्वारा संचालित स्कूलों की व्यवस्था, मद्य-निषेध, बच्चों तथा स्त्रियों के श्रम के अधिकाधिक नियमन, श्रमिकों के लिए क्षतिपूर्ति की व्यवस्था, आदि का समर्थन प्रारम्भ किया। इसके बाद उनके द्वारा इस बात पर बल दिया गया कि राज्य द्वारा व्यापार, वृद्धावस्था के लिए पेंशन योजना तथा बेकारी और बीमारी बीमा योजना को अपनाया जाना चाहिए।

इस प्रकार 19वीं सदी के मध्य तक तो उदारवाद इस पक्ष में था कि राज्य का कार्यक्षेत्र संकुचित होना चाहिए, लेकिन इसके बाद उदारवाद के द्वारा राज्य के कार्यक्षेत्र में क्रमिक वृद्धि का प्रतिपादन किया गया। उदारवादी विचारधारा का यह नवीन रूप थॉमस हिल ग्रीन के साथ प्रारम्भ हुआ और इंगलैण्ड का उदारवादी दल आज उदारवाद के इस रूप में ही विश्वास करता है। उदारवाद का यह नवीन रूप पूंजीवाद की अपेक्षा समाजवाद के हीं अधिक समीप है।

आधुनिक जनतन्त्रात्मक उदारवादी : थॉमस हिल ग्रीन

ग्रीन को आधुनिक जनतन्त्रात्मक उदारवादी विचारधारा का प्रतिनिधि विचारक कहा जा सकता है। उसके द्वारा सज्य के अहस्तक्षेप पर बल देने वाले परम्परागत उदारवाद और राज्य को दैवीय स्तर प्रदान करने वाले हीगलवादी आदर्शवाद दोनों को ही अस्वीकार करते हुए औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए जनतन्त्रात्मक उदारवाद का प्रतिपादन किया गया है।

ग्रीन आदर्शवाद होने के साथ-साथ उदारवादी इस दृष्टि से है कि उसने राज्य को भी कभी एक साध्य नहीं माना है। ग्रीन के मतानुसार राज्य एक साध्य की प्राप्ति का साधन मात्र है और साध्य है—राज्य में रहने वाले व्यक्तियों का पूर्ण नैतिक विकास। ग्रीन बार-बार इस बात पर बल देता है कि संस्थाओं का अस्तित्व व्यक्तियों के लिए होता है, व्यक्तियों का अस्तित्व संस्थाओं के लिए नहीं। ग्रीन की स्वतन्त्रता की धारणा भी हीगल से भिन्न है और उसके अन्तर्गत व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास को सर्वोपरि महत्व प्रदान किया गया

1 **"Everything in Locke's system revolves round the individual, everything is disposed so as to ensure the sovereignty of the individual."**
—*Vaughan*

है। ग्रीन का विचार है कि व्यक्ति अपने अन्तःकरण की मांग पर राज्य की सत्ता का भी विरोध कर सकता है। ग्रीन का यह विचार उदारवादी धारणा के ही अनुरूप है।

इस प्रकार ग्रीन एक उदारवादी है लेकिन वह वैसा परम्परागत उदारवादी विचारक नहीं है जो राज्य को 'एक आवश्यक बुराई' मानते हुए सामाजिक और आर्थिक जीवन में उसके प्रत्येक हस्तक्षेप का विरोध करते हैं। ग्रीन राज्य को एक आवश्यक बुराई मानने के स्थान पर उसे एक नैतिक संगठन मानता है। परम्परागत उदारवादियों मिल, आदि का विचार है कि राज्य का कार्य केवल रक्षा करना है। लेकिन ग्रीन के अनुसार राज्य का प्रमुख कर्तव्य व्यक्ति द्वारा उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करवाना है। राज्य यद्यपि व्यक्तियों को प्रत्यक्ष रूप से नैतिक नहीं बना सकता लेकिन उसके द्वारा विकास के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर कर उनके नैतिक विकास में सहायता पहुंचाई जा सकती है। इस दृष्टि से राज्य के द्वारा अज्ञान, शराबखोरी और भिखमंगापन, आदि बाधाओं को दूर किया जाना चाहिए और ऐसे कानूनों का निर्माण किया जाना चाहिए जो श्रमिक वर्ग के हितों की अधिकाधिक रक्षा करें और समस्त जनता को स्वास्थ्य तथा शिक्षा के क्षेत्र में अधिकाधिक सुविधाएं प्रदान करें। ग्रीन ने राज्य के द्वारा सद्‌जीवन के मार्ग की सभी बाधाओं को दूर करने की जो बात कही है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि उसने बीसवीं सदी के जनकल्याणकारी राज्य की नींव डाली।

उसने उदारवाद और आदर्शवाद दोनों के दोषों को दूर करते हुए एक समन्वयकारी और सन्तुलित विचारधारा का प्रतिपादन किया। ग्रीन की उपलब्धि यह थी कि उसने उदारवाद को एक नया धार्मिक विश्वास प्रदान किया और उसे बदलती हुई परिस्थितियों में जनहित और जनतन्त्रात्मक व्यवस्था के अनुकूल बनाया। उदारवाद को यह नवीन रूप प्रदान कर ग्रीन ने सर्वाधिकार के विरुद्ध उदारवाद की रक्षा करने का ही कार्य किया है।

उदारवाद की आलोचना

परम्परागत उदारवाद की तो लगभग उसी प्रकार से आलोचना की जाती है जिस प्रकार से व्यक्तिवाद की आलोचना की गयी है, क्योंकि परम्परागत उदारवाद व्यक्तिवाद की ही भांति आर्थिक क्षेत्र में राज्य के अहस्तक्षेप की नीति का प्रतिपादन करता है। लेकिन इसके अतिरिक्त भी उदावाद की कुछ आलोचनाएं की गयी हैं। उदारवाद के इन आलोचकों में ब्रिटिश संसद के अनुदारवादी सदस्य एडमण्ड बर्क का नाम सबसे प्रमुख रूप से लिया जा सकता है।

एडमण्ड वर्क के अनुसार उदारवाद की प्रथम और सबसे गम्भीर त्रुटि यह है कि इसके द्वारा इतिहास और परम्पराओं को उचित महत्व प्रदान नहीं किया गया है। परम्पराओं के पीछे पीढ़ियों का अनुभव निहित होता है और अतीत से एकदम और पूर्ण सम्बन्ध तोड़ लेना न तो सम्भव है और न ही उचित। आज का जीवन बहुत कुछ सीमा तक भूतकालीन परिस्थितियों का ही परिणाम है।

उदारवाद की आलोचना करते हुए यह भी कहा जा सकता है कि इस दर्शन में मानवीय वृद्धि को बहुत अधिक महत्व प्रदान किया गया है जो अनुचित है। वास्तव में मानवीय घटना-चक्र के निर्धारण में वृद्धि की अपेक्षा ईश्वरीय इच्छा और संयोग के द्वारा अधिक भाग लिया गया है।

उदारवादी राज्य को एक कृत्रिम संस्था और समझौते का परिणाम मानते हैं, लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं है। राज्य न तो किसी समझौते के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुआ है और न ही यह कोई व्यावसायिक ढंग की साझेदारी है, जिसे इच्छानुसार भंग किया जा सकता है। तथ्य यह है कि राज्य उच्चतम मानवीय गुणों के विकास ओर महानतम् आदर्शों की प्राप्ति में क्रियाशील एवं शाश्वत संस्था है।

आदर्शवादी और फासीवादी विचारक भी उदारवाद की आलोचना करते हुए कहते हैं कि उदारवाद में व्यक्ति को जिस प्रकार की पूर्ण स्वतन्त्रता देने की बात कही गयी है, वह तो मानवीय जीवन को एक प्रकार की पूर्ण अराजकता में परिणत कर देगी। समस्त समाज के विकास और सामूहिक जीवन की पूर्णता के लिए व्यक्तियों की स्वतन्त्रता को सीमित करना नितान्त आवश्यक हो जाता है।

मार्क्सवादी विचारकों के द्वारा भी उदारवाद की आलोचना की गयी है क्योंकि उनके अनुसार उदारवाद पूंजीवादी वर्ग के हितों का पोषण करता है और पूंजीवादी का सहायक दर्शन है।

उदारवाद का प्रभाव और महत्व

आज उदारवादी दर्शन की आलोचना की जा सकती है, लेकिन यह एक तथ्य है कि 19वीं सदी में यूरोप तथा अमरीका में उदारवादी दर्शन सबसे अधिक प्रभावशाली था और इस दर्शन ने इन राष्ट्रों के इतिहास को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित किया। इसने यूरोप के विभिन्न राज्यों तथा अमरीका के औद्योगिक विकास को अत्यधिक प्रोत्साहित किया और इसके परिणामस्वरूप इन क्षेत्रों के निवासियों ने आर्थिक क्षेत्र में आश्चर्यजनक प्रगति की। इसके द्वारा मुक्त-व्यापार पर वल दिया गया, जिसके परिणामस्वरूप विश्व के विभिन्न देश एक-दूसरे के समीप आए और एक विश्व वाजार का निर्माण हुआ। इसमें धर्म तथा राजनीति को एक-दूसरे से पृथक् कर, धर्मनिरपेक्षता का मार्ग प्रशस्त किया, जो आज के प्रगतिशील युग का एक वहुत बड़ा प्रतीक है। इसने विशेषाधिकारों पर आधारित पुरानी व्यवस्था का अन्त कर स्वतन्त्रता, समानता तथा लोकतन्त्र का समर्थन किया। आज की संसदीय संस्थाएं और वयस्क मताधिकार का सिद्धान्त इस उदारवादी दर्शन की ही देन हैं। इसने राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त का समर्थन कर विभिन्न जातियों की राष्ट्रीय स्वाधीनता में महत्वपूर्ण योग दिया। उदारवाद की एक विशेषता यह रही है कि इसके द्वारा वदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार सदैव ही अपने स्वरूप में परिवर्तन कर लिया गया। यदि परम्परागत उदारवाद पूंजीवाद का सहायक दर्शन रहा है तो आज का उदारवाद समाजवाद के समीप है। इस प्रकार उदारवाद को लोकतन्त्र, राष्ट्रीय स्वाधीनता और आर्थिक प्रगति का दर्शन कहा जा सकता है। पश्चिमी देशों पर उदारवाद के प्रभाव के सम्बन्ध में प्रो. लास्की लिखते हैं कि **''पिछले लगभग सौ वर्षों की अमरीकी सभ्यता के उदारवादी दर्शन को ही पूर्णता कहना अनुचित न होगा।''**[1]

निबन्धात्मक प्रश्न

1. उदारवाद का क्या अर्थ है? परम्परागत उदारवाद तथा आधुनिक जनतन्त्रात्मक उदारवाद का भेद स्पष्ट कीजिए।
2. उदारवादी दर्शन के मुख्य सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए।
3. परम्परागत उदारवाद की सैद्धान्तिक व्याख्या कीजिए तथा इसके प्रमुख प्रतिपादक मिल के विचारों पर प्रकाश डालिए।
4. आधुनिक जनजन्त्रात्मक उदारवाद की विशेषताओं का वर्णन कीजिए तथा इस सम्वन्ध में ग्रीन की विचारधारा का विश्लेषण कीजिए।
5. वर्तमान युग में उदारवाद की स्थिति पर प्रकाश डालिए। इसके मार्ग में मुख्य वाधाएं क्या हैं?
6. उन्नीसवीं सदी के व्रिटिश उदारवाद के मुख्य सिद्धान्तों की समीक्षा कीजिए।
7. ''उदारवाद दो पृथक् तत्वों का मिश्रण है इनमें एक लोकतन्त्र और दूसरा व्यक्तिवाद है।'' विवेचना कीजिए।
8. राजनीतिक उदारवाद के प्रमुख सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए। आधुनिक राज्यों के लिए यह सिद्धान्त कहां तक उपयुक्त है?

---

1 **"There is a sense, indeed which American civilization of the last hundred years may not illegitimately be regarded as the fulfilment of the liberal idea."**
—Laski, *The Rise of European Liberalism*, pp. 237-38.

17

सर्वाधिकारवाद

(TOTALITARIANISM)

"सर्वाधिकारवाद के सिद्धान्त के अनुसार शासन न केवल सत्ता के प्रयोग में निरंकुश वरन् असीमित भी होता है। कोई भी वस्तु उसके क्षेत्र के बाहर नहीं होती। प्रत्येक हित और वस्तु राष्ट्रीय साधनों के प्रत्येक अंग—आर्थिक, नैतिक और सांस्कृतिक—पर शासन का नियन्त्रण होता है और उसी के द्वारा उसका प्रयोग किया जाता है।"[1]

—सेवाइन

सर्वाधिकारवाद का तात्पर्य

सर्वाधिकारवाद प्रजातन्त्र और उदारवादी विचारधारा के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया है जो व्यक्ति को गौण और राज्य को प्रधान सत्ता मानते हुए सम्पूर्ण शक्ति राज्य को प्रदान करना चाहती है। इसका उद्देश्य सन्तानोत्पादन से लेकर काव्य-रचना तक के जीवन के सभी क्षेत्रों में राज्य को असीम, अपरिमित और अमर्यादित अधिकार प्रदान करना है। यह मनुष्यों के राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा अन्य सभी प्रकार के आचार-विचार, व्यवहार और कार्यों पर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण और प्रभुत्व स्थापित करने का प्रबल समर्थन करती है। सर्वाधिकारवादी विचारधारा को व्यक्त करते हुए मुसोलिनी ने कहा है, **"सभी कुछ राज्य के अन्तर्गत है, राज्य के विरुद्ध या राज्य के बाहर कुछ भी नहीं है।"[2]** जीवन के सभी क्षेत्रों में राज्य को पूर्ण अधिकार देने के कारण ही इसे **'सर्वाधिकारवादी'** (Totalitarian) विचारधारा कहा जाता है।

प्रो. सेबाइन ने सर्वाधिकारवाद के सम्बन्ध में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए हैं कि सर्वाधिकारवादी राज्य में, **"सरकार की आज्ञा के बिना न तो राजनीतिक दलों, श्रमिक समुदायों, औद्योगिक या व्यापारिक समुदायों का निर्माण किया जा सकता है। सरकार के नियमों के अभाव में कोई भी व्यक्ति किसी वस्तु का निर्माण नहीं कर सकता। वह न कोई व्यापार कर सकता है और न कोई काम। उसके आदेशों के अभाव में न कोई प्रकाशन किया जा सकता है और न सार्वजनिक मीटिंग की जा सकती है। शिक्षा पर उनका पूर्ण अधिकार होता है और सैद्धान्तिक दृष्टि से धर्म पर भी उनका ही अधिकार होता है। विश्राम और आमोद-प्रमोद के साधन प्रोपेगेण्डा के साधन का रूप धारण कर लेते हैं। इस प्रकार मानव के समस्त जीवन और कार्यकलापों पर राज्य का अधिकार स्थापित हो जाता है और व्यक्ति का अपना कहने के लिए कुछ भी शेष नहीं रहता है।"**

सर्वाधिकारवाद के दो रूप : साम्यवादी और फासिस्ट सर्वाधिकारवाद—यद्यपि साम्यवाद, फासीवाद और नाजीवाद सब सर्वाधिकारवादी हैं, परन्तु साम्यवादी सर्वाधिकारवाद फासिस्ट सर्वाधिकारवाद से भिन्न है। साम्यवादी सर्वाधिकारवाद 'वामपक्षीय' (Leftist) है किन्तु फासिस्ट सर्वाधिकारवाद 'दक्षिणपक्षीय' (Rightist) है। साम्यवादी पूंजीवादी का अन्तर कर उसके स्थान पर **'श्रमिक के राज्य'** की स्थापना के पक्ष में है। व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार और व्यवस्था का विरोध करने के कारण इसे **'वामपक्षीय सर्वाधिकारवाद'** कहा जाता है। फासिस्ट (फासीवाद और नाजीवाद) **'दक्षिणपक्षीय सर्वाधिकारवादी'** हैं क्योंकि वे समाज की पूंजीवादी व्यवस्था का अन्त करना नहीं चाहते वरन् यथास्थिति बनाए रखना चाहते हैं। यद्यपि ये दोनों व्यवस्थाएं सर्वाधिकारवाद

1 **"According to the theory of totalitarianism, therefore, government was not only absolute in its exercise but unlimited in its application. Nothing lay outside its province. Every interest and value economic, moral and cultural—being part of the national resource were to be controlled and utilized by government."** —G. H. Sabine, *A History of Political Theory*, p. 745.

2 **"Everything within the state nothing outside the state and nothing against the state."** —*Mussolini*

के दो रूप हैं किन्तु व्यवहार में सर्वाधिकारवाद शब्द का प्रयोग सामान्यतः फासिस्ट सर्वाधिकारवाद के लिए ही किया जाता है और सर्वाधिकारवाद का मूल रूप भी यह फासिस्ट सर्वाधिकारवाद ही है।

प्रथम विश्वयुद्ध और द्वितीय विश्वयुद्ध के बीच के काल में विशेष तौर पर इस सर्वाधिकारवादी प्रवृत्ति का प्रसार हुआ। इसका प्रादुर्भाव 1922 में इटली में मुसोलिनी के नेतृत्व में फासीवाद के रूप में तथा 11 वर्ष के बाद जर्मनी में हिटलर के नेतृत्व में नाजीवाद के रूप में हुआ। जापान में भी इस विचारधारा की प्रवलता देखी गयी और स्पेन, पुर्तगाल, हंगरी, आदि देशों में भी फासिस्ट शासन स्थापित हो गए। सर्वाधिकारवाद का दूसरा रूप साम्यवादी सर्वाधिकारवाद रूस, चीन और पूर्वी यूरोप के दूसरे राज्यों में विद्यमान है।

सर्वाधिकारवाद के मूल सिद्धान्त

यद्यपि साम्यवादी सर्वाधिकारवाद और फासिस्ट सर्वाधिकारवाद में आर्थिक क्षेत्र के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण अन्तर है और व्यवहार में जर्मनी, इटली, रूस और चीन आदि देशों में जहां-जहां भी सर्वाधिकारवाद पहुंचा है, वहां-वहां देशकाल की परिस्थितियों की भिन्नता के कारण इसमें अन्तर रहा है किन्तु फिर भी कुछ ऐसे लक्षण हैं जो इन सभी सर्वाधिकारवादी व्यवस्थाओं में सामान्य रूप से विद्यमान हैं। सर्वाधिकारवाद के इन सामान्य लक्षणों की विवेचना निम्नलिखित रूपों में की जा सकती है :

(1) सर्वाधिकारवाद पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न राज्य में विश्वास करता है—सर्वाधिकारवाद उदारवादी विचार-धाराओं में विश्वास नहीं करता और मानता है कि राज्य का स्वरूप एक सर्वशक्तिमान, अजर, अमर, सर्वव्यापी तथा सर्वगुण सम्पन्नता का होना चाहिए। सर्वाधिकारवाद राज्य की हीगलवादी धारणा को मानता है और राज्य को **'पृथ्वी पर ईश्वर का साक्षात आगमन'** (March of God on earth) कहता है। वह कहता है कि सर्वोच्च राजसत्ता किसी एक व्यक्ति अथवा दल को सौंप दी जानी चाहिए और फिर उसे अपनी इच्छानुसार कार्य करने की पूर्ण स्वाधीनता होनी चाहिए। व्यक्ति के द्वारा ऐसी सत्ता का विरोध करना या उसके विरुद्ध विद्रोह की बात सोचना एक अधम नीतिपूर्ण कार्य और पाप है जिसे किसी भी स्थिति में सहन नहीं किया जा सकता। सर्वाधिकारवादी मानते हैं कि राज्य से कभी कोई भूल हो ही नहीं सकती। वे समाचार-पत्र, रेडियो, चलचित्र, रंगमंच, साहित्य, आदि सभी पर राज्य का नियन्त्रण स्थापित करना चाहते हैं, और यह मानते हैं कि व्यक्ति या व्यक्तियों द्वारा निर्मित कोई भी ऐच्छिक समुदाय राज्यों की समानता नहीं कर सकता।

इस प्रकार सर्वाधिकारवादी एक पूर्ण प्रभुत्वशाली राज्य में विश्वास करते हैं जिसके द्वारा मानव जीवन के प्रत्येक अंग पर पूर्ण नियन्त्रण रखा जाता है।

(2) सर्वाधिकारवाद प्रजातन्त्र के लिए अभिशाप है—सर्वाधिकारवादी प्रजातन्त्र का उपहास करते हुए कहते हैं कि **'यह तो एक सड़ती हुई लाश है।'** उनका मत है कि संसार के आदमी अभी प्रजातन्त्र के योग्य नहीं हैं इसलिए प्रजातन्त्र इस दुनिया से एक अकाल मौत मर रहा है। उनकी धारणा है कि यह प्रजातान्त्रिक प्रणाली केवल ऊपरी दिखावा मात्र है। संसदों में केवल बकवास ज्यादा होती है और लोकप्रियता तथा जनता के नाम पर मूर्ख, अयोग्य तथा निकम्मे व्यक्ति मजे उड़ाते हैं जिससे देश की भारी हानि होती है। युद्ध, आदि संकटकालीन अवसरों पर तो प्रजातन्त्रीय शासन बिल्कुल ही अयोग्य सिद्ध होता है। इस प्रकार सर्वाधिकारवाद प्रजातन्त्र का विरोध कर अधिनायकवाद का प्रतिपादन करता है। इसका विकास रूस में एक दल के अधिनायकवाद व जर्मनी और इटली में एक व्यक्ति के अधिनायकवाद के रूप में हुआ है।

(3) सर्वाधिकारवाद बुद्धि और विवेक को अस्वीकार कर स्वाभाविक प्रवृत्तियों का उपासक है—सर्वाधिकारवाद मानव जीवन में बुद्धि और विवेक की अपेक्षा स्वाभाविक प्रवृत्तियों को अधिक महत्वपूर्ण मानता है और यह मानकर चलता है कि तर्कशीलता तथा बुद्धिवाद पर विश्वास करने से मनुष्य आगे नहीं बढ़ता, वरन् उसकी सच्ची उन्नति तो तभी सम्भव हो सकती है जब वह अपनी स्वाभाविक प्रेरणाओं तथा प्रवृत्तियों के अनुसार कार्य करे। इस तत्व के कारण इसे **'बुद्धि विरोधी दर्शन'** (Anti-intellectualist Philosophy) कहा जा सकता है।

(4) सर्वाधिकारवाद एक अति राष्ट्रीय विचारधारा है—सर्वाधिकारवादी राज्य प्रायः सभी राष्ट्रीय राज्य ही हुए हैं और हैं। अतः वे राष्ट्रीयता की भावना पर आवश्यकता से अधिक बल देकर राष्ट्र को अत्यधिक गौरव तथा गरिमा प्रदान करते हैं। राष्ट्रीयता की भावना को उग्र रूप देकर वे संकीर्ण राष्ट्रीयता और अन्ध देशभक्ति

को जाग्रत करते हैं, जिसके परिणामस्वरूप साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों का जन्म होता है। सर्वाधिकारवाद का यह लक्षण फासिस्ट सर्वाधिकारवाद के सम्बन्ध में अधिक सत्य है।

(5) **सर्वाधिकारवाद नैतिक सिद्धान्तों और मूल्यों में आस्था नहीं रखता**—सर्वाधिकारवाद राज्य का चित्र एक ऐसे क्रूर और निर्दयी राज्य का चित्र है जो किन्हीं भी नैतिक या मानवतावादी मूल्यों में विश्वास नहीं करता और जो राष्ट्र की उन्नति के लिए विद्वेष, घृणा, धोखा, आदि उपायों का मनमाने रूप में आश्रय ले सकता है। सर्वाधिकारवादियों की दृष्टि में राजनीति में कोई नैतिक सिद्धान्त नहीं होते और सत्यता, आदि सिद्धान्तों के पालन से राज्य का विनाश हो सकता है। इटली और जर्मनी में मुसोलिनी और हिटलर के द्वारा व्यावहारिक रूप में जिस प्रकार से आचरण किया गया, उससे यह स्पष्ट है कि सर्वाधिकारवाद '**मैकेवेलियन दर्शन**' का उपासक है।

(6) **सर्वाधिकारवाद धर्म का शत्रु है**—राज्य की एकात्मकता स्थापित करने के लिए सर्वाधिकारवादी धर्म को भी राज्य के अधीन रखकर उसे एक '**निष्क्रिय शक्ति**' के रूप में बल देना चाहते हैं। वे धर्म को राज्य के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं। जर्मनी, इटली तथा रूस तीनों ही प्रमुख सर्वाधिकारवादी राज्यों में धर्म के महत्व को कम करने के लिए तरह-तरह के उपाय काम में लाए गए। **स्पेण्डर (Spender)** ने एक स्थान पर लिखा है कि **''रूस ने धर्म को समाप्त करने की चेष्टा की, मुसोलिनी ने उसे निष्प्राण बनाने की तथा हिटलर ने उसे अधीन करने की।''**

इस प्रकार सर्वाधिकारवादी विचारधारा राज्य की निरंकुश सत्ता की समर्थक व मानवीय स्वतन्त्रता, उदारभाव, प्रजातन्त्र, धर्म व नैतिक सिद्धान्तों की विरोधी है।

सर्वाधिकारवाद का मूल्यांकन

सर्वाधिकारवादी विचारधारा के पक्ष में कहा जाता है कि यह एक व्यावहारिक दर्शन है जो जीवन तथा समाज की जटिल यथार्थताओं के लिए समाधान उपस्थित करता है। सर्वाधिकारवाद के समस्त दर्शन में एक भी तत्व काल्पनिक नहीं है। सच तो यह है कि पहले इसने यथार्थ का रूप ग्रहण किया और बाद में यह दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। सर्वाधिकारवाद को इस दृष्टि से भी मूल्यवान कहा जा सकता है कि इसके द्वारा नागरिकों में देशभक्ति की भावना जाग्रत की जाती है। इन सबके अतिरिक्त व्यवहार में सर्वाधिकारवादी सरकारें कार्यकुशल सरकारें होती हैं। विभिन्न प्रकार की समस्याओं से ग्रस्त राज्य के लिए इस प्रकार की कार्यकुशल सरकार बहुत आवश्यक होती है। इतिहास में इस प्रकार के सर्वाधिकारवादी राज्यों की सरकारों द्वारा अपने राज्यों की समस्याएं हल करने में महत्वपूर्ण सफलताएं प्राप्त की गयी हैं।

सर्वाधिकारवाद में कुछ अच्छाइयां हो सकती हैं और यह भी सम्भव है कि थोड़े समय के लिए उसके परिणाम सुखद हुए हों लेकिन सर्वाधिकारवाद के गुणों की तुलना में उसके दोष बहुत अधिक हैं। सर्वाधिकारवाद के आलोचकों के अनुसार **सर्वाधिकारवाद की प्रजातन्त्र पर विजय पशुता की मानवता पर विजय है और यदि सर्वाधिकारवाद एक विश्वव्यापी विचारधारा बन जाए, तो हम सभ्यता के युग से फिर बर्बर एवं अर्ध सभ्य जंगलीपन में पहुंच जायेंगे।** इन आलोचकों द्वारा सर्वाधिकार की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की गयी है :

(1) **सर्वाधिकारवादी राज्य मानवीय व्यक्तित्व का अन्त कर देगा**—सर्वाधिकारवादी दर्शन की धारणा है कि सब कुछ राज्य के अन्तर्गत है, राज्य के बाहर और राज्य के विरुद्ध कुछ भी नहीं है। इसका तात्पर्य है कि राज्य अपने आप में एक साध्य है और मानवीय व्यक्तित्व कोई मूल्य व महत्व नहीं रखता। यदि इसे स्वीकार कर लें तो व्यक्ति की स्थिति यूनानी युग के दास की सी हो जाएगी जिसका एकमात्र कार्य राज्य के संकेत पर खिलौने की भांति नाचना होगा। इस प्रकार के चेतनाहीन व्यक्तियों के बल पर राज्य की दीर्घकालीन प्रगति और मानवीय सभ्यता का उत्थान कतई सम्भव नहीं है।

(2) **विचार स्वातन्त्र्य का अन्त कर देगा**—व्यक्ति एक विवेकशील प्राणी है और विचार स्वातन्त्र्य उसकी एक मौलिक प्रवृत्ति है लेकिन सर्वाधिकारवाद व्यक्ति के इस विचार स्वातन्त्र्य पर प्रतिबन्ध लगाता है तथा व्यक्ति को राज्य के विरोध का अधिकार नहीं देता। ऐसे राज्य में प्रेस, रेडियो, चलचित्र तथा साहित्य पर कठोर निरीक्षण तथा नियन्त्रण के कारण व्यक्ति स्वातन्त्र्य का अन्त हो जाता है। **डॉ. नोबिल्स के शब्दों में, 'ऐसे राज्य में प्रेस एक पियानो बना दी जाती है जिस पर प्रचार मन्त्रालय अपनी इच्छित धुनें बजाता है।'** मानवीय स्वतन्त्रता पर इस प्रकार के प्रतिबन्ध होने के कारण कला, संस्कृति तथा साहित्य का विकास अवरुद्ध हो जाता है।

(3) यह एक अमानवीय दर्शन है—मनुष्य एक बुद्धिवादी विवेकशील प्राणी है जो अपने कार्य अपनी उच्च भावना तथा प्रेरणाओं से प्रेरित होकर करता है। लेकिन सर्वाधिकारवाद विवेक और बुद्धिवाद का विरोधी है अतः इसे बुद्धिवादी युग के बुद्धिवादी समाज के दर्शन के रूप में कभी भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है। सर्वाधिकारवाद इस कारण से भी अमानवीय है कि इसमें नैतिकता को उचित स्थान प्रदान नहीं किया गया है और यह राज्य को छल-कपट, आदि सभी साधन अपनाने की खुली छूट देता है।

(4) यह शान्ति विरोधी तथा युद्ध और साम्राज्यवाद की समर्थक विचारधारा है—सर्वाधिकारवादी विचार-धारा राष्ट्रीय हितों की रक्षा के लिए युद्ध की स्वीकृति देती है और अधिकांश सर्वाधिकारवादी विचारक तो इस मत के हैं कि **'विश्वशान्ति कायरों का स्वप्नमात्र है और युद्ध पुरुषों के लिए वैसा ही स्वाभाविक है जैसा कि नारी के लिए मातृत्व।'** सर्वाधिकारवाद नागरिकों में इस बात को जन्म देता है कि **'मेरा देश चाहे सही हो या गलत, मुझे उसका समर्थन करना है'** और इस प्रकार की विचारधारा साम्राज्यवाद तथा युद्ध को जन्म देती है।

सर्वाधिकारवाद का यह दोष न केवल सिद्धान्ततः वरन् व्यवहार में भी देखा गया है। द्वितीय महायुद्ध का एक प्रमुख कारण जर्मनी, इटली और जापान की सर्वाधिकारवादी व्यवस्थाएं ही थीं।

(5) यह विचारधारा प्रजातन्त्र के दोषों का अतिरंजित रूप में वर्णन करती है—सर्वाधिकारवादियों ने प्रजातन्त्र के जो दोष बतलाए हैं, वे बहुत कुछ सीमा तक प्रजातन्त्र के भ्रान्त अध्ययन पर आधारित हैं। अपनी समस्त त्रुटियों के बावजूद प्रजातंत्र मानवीय मस्तिष्क की सर्वोत्तम देन है और प्रजातन्त्र को अपनाकर ही मानवीय व्यक्तित्व का विकास किया जा सकता है।

सर्वाधिकारवाद के कुछ गुण हो सकते हैं और यह भी माना जा सकता है कि देशकाल की विशेष परिस्थितियों में इसने कुछ हितकर कार्य किए हैं लेकिन जैसा कि लिंडसे ने कहा है, **"यह हित उस मूल्य के सम्मुख कुछ भी नहीं है जो जनता को उस हित के लिए चुकाना पड़ा है। वास्तव में सर्वाधिकार एक बीते हुए युग की दोषपूर्ण विचारधारा है और इसे प्रजातन्त्र का सन्तोषजनक विकल्प नहीं कहा जा सकता है।"**

निबन्धात्मक प्रश्न

1. "सर्वाधिकारवाद भ्रष्ट जनतन्त्र के विरुद्ध एक प्रतिशोधात्मक विस्फोट है।" क्या आप इस कथन को स्वीकार करते हैं?
2. रूस और चीन में पाए जाने वाले सर्वाधिकारवाद की चर्चा करते हुए समझाइए कि वह निजी और फासी सर्वाधिकारवाद से किस प्रकार भिन्न है?
3. "आधुनिक युग में मानवीय सभ्यता और उदारवादी सिद्धान्तों को सबसे अधिक भय सर्वाधिकारवाद से है।" पुष्टि कीजिए।

18

फासीवाद
(FASCISM)

"जब तक समाजवाद, साम्यवाद और उदारवाद के विरोध को ही एक पृथक् दर्शन न मान लिया जाय, तब तक यही कहना पड़ेगा कि फासीवाद की यह अनोखी विशेषता है कि वह किन्हीं निश्चित सिद्धान्तों, विचारधारा या दर्शन पर आधारित नहीं है।"[1]

—पं. जवाहरलाल नेहरू

फासीवाद का अभिप्राय

फासीवाद का आंग्ल पर्यायवाची *'Fascism'* इटालियन भाषा के *Fascio'* शब्द से निकला है, जिसका अर्थ इटालियन भाषा में लकड़ियों का बँधा हुआ बोझ व कुल्हाड़ी होता है। प्राचीन काल में रोम का राजचिह्न फैसियो (Fascio) ही था, जिसमें लकड़ियों का बँधा हुआ बोझ राष्ट्रीय एकता की व कुल्हाड़ी शक्ति का द्योतक मानी जाती थी। मुसोलिनी के नेतृत्व में इटली के फ़ासी दल ने इसी चिह्न का प्रयोग किया, जो इस बात का प्रतीक था कि फासी दल का लक्ष्य वर्ग संघर्ष पर आधारित समाज़वादी समाज व्यवस्था के स्थान पर राजकीय नियन्त्रण के अन्तर्गत और राष्ट्रीय एकता पर आधारित समाज व्यवस्था है।

फासीवाद देश के युवकों को एकता की प्रेरणा देने वाला मुसोलिनी का विशेष सन्देश और कार्यक्रम था, जिसमें वाद-विवाद की अपेक्षा कार्य को अधिक महत्व दिया गया था। मुसोलिनी ने कहा था कि **"फासीवाद वास्तविकता पर आधारित है। हम निश्चित तथा वास्तविक उद्देश्यों की प्राप्ति करना चाहते हैं। हमारा कार्यक्रम कार्य करना है, केवल बातें करना नहीं।"[2]**

फासीवाद का मूल प्रणेता मुसोलिनी है और फासीवाद मुसोलिनी द्वारा अपनाया गया सिद्धान्त और व्यवहार ही है। इस फासीवाद को कुछ परिवर्तनों के साथ हिटलर द्वारा ग्रहण किया गया और हिटलर द्वारा अपनाये गये इस फासीवाद को **'हिटलर के फासीवाद'** या **'नात्सीवाद'** नाम से जाना जाता है।

फासीवाद का स्वरूप सैद्धान्तिक कम और व्यावहारिक अधिक रहा है। वास्तविकता यह है कि उन्होंने अपनी जनता के हर वर्ग को बहकाने का प्रयत्न किया और इसलिए जब जैसा अवसर देखा, तब तैसी बात कह दी। मुसोलिनी ने एक लेख में स्पष्ट रूप से लिखा है : **"हम फासीवादियों में सब परम्परागत राजनीतिक सिद्धान्तों को त्याग देने का साहस है और हम अभिजाततन्त्रवादी, लोकतन्त्रवादी, क्रान्तिकारी तथा प्रतिक्रियावादी, सर्वहारा के समर्थक तथा सर्वहारा के विरोधी, शान्तिवादी तथा शान्तिवाद विरोधी सभी कुछ हैं। एक निश्चित आदर्श अर्थात् राष्ट्र का होना पर्याप्त है। शेष स्वतः स्पष्ट हो जायेगा।"**

यद्यपि फासीवाद एक पृथक् विचारधारा है, लेकिन फासीवाद आवश्यक रूप से सर्वाधिकारवाद की धारणा पर आधारित है और इस कारण फासीवाद को **सर्वाधिकारवाद का इटालियन रूपान्तर'** (Italian variant of Totalitarianism) कहा जा सकता है। वास्तव में, फासीवाद का प्रतिपादन इटली की भौतिक और नैतिक शक्तियों को संगठित करने के लिए ही किया गया था।

1 "Fascism had the unique distinction of having no fixed principles, no ideology, no philosophy behind it, unless the mere opposition to Socialism, Communism and Liberalism might be considered to be a philosophy." —*Jawahar Lal Nehru*

2 "Fascism is based on reality, we want to be definite and real. Our programme is action, not talk." —*Mussolini*

विलियम इबन्सटीन के अनुसार, **"पश्चिमी उदारवादी जीवन पद्धति के विरुद्ध बीसवीं सदी में साम्यवाद पहला महत्वपूर्ण सर्वाधिकारवादी विद्रोह था और फासीवाद दूसरा। मूलतः फासीवाद एकदलीय अधिनायकत्व वाले शासन व समाज का वह सर्वाधिकारवादी संगठन है जो उग्र राष्ट्रवादी, नस्लवादी, युद्धप्रिय और साम्राज्यवादी होता है।"**

फासीवाद के स्रोत

मैक्सी ने लिखा है कि फासीवादी दर्शन में अनेक तत्वों का बड़ी चतुराई के साथ मिश्रण कर दिया गया है और इसके स्रोतों को ढूँढ़ निकालना सरल कार्य नहीं है। **मैकियावेली, हॉब्स, फिक्टे, ट्रीटश्के, नीत्शे, मार्क्स, सोरेल, मोस्का, शोपेनहावर, बर्गसन, जेम्स और परेटो** के विचारों के अतिरिक्त अन्य अनेक विचारधाराओं का प्रभाव इस पर स्पष्ट दिखायी देता है।

मैक्गवर्न का विचार है कि फासीवाद सामाजिक डार्विनवाद, अबौद्धिकवाद, परम्परावाद और आदर्शवाद से प्रभावित है। इसमें जेम्स के व्यवहारवाद को और सम्मिलित करते हुए फासीवाद के स्रोतों का उल्लेख निम्न प्रकार से किया जा सकता है :

सामाजिक डार्विनवाद—चार्ल्स डार्विन ने प्रकृति में निरन्तर चलने वाले विकट जीवन संघर्ष और **योग्यतम प्राणी के जीवित रहने** (Survival of the fittest) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और इसे ही **'डार्विनवाद'** कहा जाता है। ऑस्ट्रियन समाजशास्त्री **गमप्लाविज**, आदि कुछ विचारकों ने इसे सामाजिक क्षेत्र में लागू करते हुए कहा कि प्राकृतिक क्षेत्र की भाँति समाज में भी व्यक्तियों तथा समुदायों में निरन्तर संघर्ष चलता रहा है और इस संघर्ष में वे ही व्यक्ति और समुदाय विजयी होते हैं, जो शक्तिशाली, सुदृढ़ और अनुशासनबद्ध हों। इसी को 'सामाजिक डार्विनवाद' की विचारधारा कहा जाता है। मुसोलिनी और हिटलर इस पर अत्यधिक बल देते हुए कहते हैं कि **"संघर्ष ही मानव समाज की प्रगति का मूलमन्त्र है।"** मुसोलिनी नीत्शे की विचारधारा से प्रेरणा लेते हुए संघर्ष की धारणा को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में लागू करते हुए कहता है कि अनवरत शान्ति न तो सम्भव है और न ही उपयोगी। मानव जाति का उत्थान युद्ध से ही सम्भव है। मानव इतिहास एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र पर प्रभुत्व पाने के लिए संघर्ष करने का इतिहास है और फासीवाद के द्वारा युद्ध के आधार पर साम्राज्यवाद की स्थापना की जानी चाहिए।

फासीवादी दर्शन पर सामाजिक डार्विनवाद का प्रभाव स्पष्ट है। सामाजिक डार्विनवाद ने ही वस्तुतः मुसोलिनी को **अनुशासनप्रिय, कठोर और साम्राज्यवादी** बना दिया।

अबौद्धिकवाद (Irrationalism)—अबौद्धिकवादी दार्शनिकों में विलियम जैम्स, बर्गसा, सोरेल, शोपेनहावर, नीत्शे और परेटो, आदि प्रमुख हैं। डेकार्टे की बुद्धिवादी विचारधारा के नितान्त विपरीत अबौद्धिकवादी विचारधारा मानती है कि मनुष्य सोच-विचार कर कार्य करने वाला विवेकशील प्राणी नहीं है, वरन् वह अपने सभी कार्य बुद्धि के स्थान पर अन्तःप्रेरणा (intuition), अन्धश्रद्धा और विश्वास से प्रेरित होकर करता है। अबौद्धिकवाद से प्रेरणा लेते हुए मुसोलिनी ने अन्धश्रद्धा को अपनाने पर बल दिया था। उसने कहा कि **"हमारी अन्धश्रद्धा हमारा राष्ट्र हैं, हमारी अन्धश्रद्धा हमारे राष्ट्र की महानता है। विश्वास ही पर्वतों को हिला सकता है, तर्क नहीं। तर्क एक साधन हो सकता है, किन्तु जनता की 'प्रेरक शक्ति'** (motive force) **नहीं बन सकता।"**[1] इसी आधार पर फासीवाद ने इटली की जनता को दो नारे दिये : (अ) मुसोलिनी सदैव ठीक होता है, तथा (ब) मुसोलिनी के आदेशों व आज्ञाओं में हमेशा विश्वास करना चाहिए। उनका पूरी तरह पालन करना चाहिए और उनके लिए युद्ध तक के लिए तैयार रहना चाहिए। अबौद्धिकवाद में विश्वास के कारण ही मुसोलिनी ने अपनी व्यवस्था के लिए कोई कार्यक्रम निर्धारित नहीं किया।

परम्परावाद (Traditionalism)—फासीवाद मैजिनी और ट्रीटश्के के परम्परावादी दर्शन से बहुत अधिक प्रभावित है। शासन सत्ता प्राप्त करने के पूर्व मुसोलिनी परम्पराओं का विरोधी था और एक नितान्त नवीन सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करना चाहता था। किन्तु शासन सत्ता प्राप्त करने पर उसने यह अनुभव किया कि अपनी सत्ता को स्थायी बनाये रखने के लिए गौरवपूर्ण रोमन साम्राज्य, राजतन्त्र तथा रोमन कैथोलिक चर्च की परम्पराएँ बहुत सहायक सिद्ध हो सकती हैं। परम्पराओं का निर्वहन करते हुए ही उसने राजतन्त्र को

1 **"Our myth is our nation, our myth is the greatness of the nation.....faith moves mountains, not reason. Reason is a tool, but it can never be the motive force of the crowd."**

—***Mussolini*, Quoted by McGovern, *From Luther to Hitler*.**

सुरक्षित रखा और स्वयं नास्तिक होते हुए भी जनता का सम्मान और पोप का सहयोग प्राप्त करने के लिए उसने 1929 में **पोप के साथ समझौता** कर लिया। वह सदैव इस बात पर बल देता था कि किसी राष्ट्र की विशेषता उसकी गौरवपूर्ण ऐतिहासिक परम्पराएँ होती हैं। इटली का इतिहास गौरवपूर्ण रहा है। उसके शब्दों में, **'इटली को पुनः तीसरी बार मानवता का नेतृत्व करना है।'**

आदर्शवाद—फासीवादी विचारधारा पर सबसे अधिक प्रभाव रूसो, काण्ट, फिक्टे और हीगल के आदर्शवाद का रहा है और फासीवाद को बहुत अधिक सीमा तक **'हीगल के आदर्शवाद का राजनीतिक शिशु'** कहा जा सकता है। जोड आदर्शवादी विचारकों (काण्ट, फिक्टे व हीगल) को फासीवाद व नाजीवाद का **आध्यात्मिक** पूर्वज कहता है। फ़ासीवाद मार्क्स के भौतिकवाद को अस्वीकार और आदर्शवाद को स्वीकार करता है। मुसोलिनी के शब्दों में **"फासीवाद भौतिकवाद के सिद्धान्त को अस्वीकार करता है।"**

फ़ासीवादी विचारधारा का सर्वाधिक प्रमुख तत्व **'सर्वाधिकारवादी राज्य की धारणा'** है जो निश्चित रूप से आदर्शवाद से ही प्रेरित है। वैयक्तिक स्वतन्त्रता, नैतिकता, युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, आदि बातों के सम्बन्ध में भी फासीवादी विचारधारा पर आदर्शवाद का प्रभाव नितान्त स्पष्ट है। रूसो, ग्रीन और बोसांके, आदि आदर्शवादी राज्य को समाज की सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति मानते हैं और उनका विचार है कि राज्य व्यक्ति का विरोधी न होकर उनका सहयोगी एवं पूरक है। इसी धारणा को एक कदम और आगे बढ़ाते हुए मुसोलिनी कहता है कि, **"राज्य एक आध्यात्मिक और नैतिक सत्ता है........यह एक ऐसा संगठन है, जिसके प्रादुर्भाव और विकास में आत्मा की अभिव्यक्ति (manifestation) होती है........राज्य जनता की आत्मा को अभिव्यक्त करता है।"**[1] फासीवाद भी आदर्शवाद के ही समान राज्य को सर्वोच्च स्थान प्रदान करते हुए कहता है कि न तो व्यक्तियों को निरपेक्ष स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकती है और न ही उनके द्वारा किसी भी स्थिति में राज्य का विरोध किया जा सकता है।

व्यवहारवाद (Pragmatism)—जेम्स के व्यवहारवाद के अनुसार सत्य की कोई शाश्वत सत्ता नहीं है, वह परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है और एक विशेष स्थिति के अन्तर्गत सत्य वही है जो हितकर है। मुसोलिनी ने कहा था कि उसके फासिस्ट दर्शन का मूल आधार व्यवहारवाद ही है।

मुसोलिनी का व्यवहारवादी दर्शन कोरा अवसरवादी था, उसने अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए जिस सिद्धान्त को अपनाना उचित और आवश्यक समझा, उसे अपनाया। सत्ता प्राप्त करने के पूर्व मुसोलिनी धर्म-विरोधी और नास्तिक था, पदारूढ़ होने पर उसने ईश्वर की दुहाई दी और पोप के साथ समझौता कर लिया। किसी समय वह सोरेल के विचारों से प्रभावित और संघवादी आन्दोलन का कट्टर समर्थक था, बाद में वह श्रमिक आन्दोलन का घोर विरोधी हो गया। किसी समय शान्ति का समर्थन करने वाले मुसोलिनी ने बाद में युद्ध का प्रबल पोषण किया। इटली का अधिनायक बनने के एक वर्ष पूर्व उसने घोषित किया था कि वह किसी भी प्रकार की तानाशाही को स्वीकार नहीं करेगा, व्यवहार में उसने इटली की प्रजातान्त्रिक परंम्पराओं का उल्लंघन करते हुए एक सर्वाधिकारवादी राज्य की स्थापना की। सत्ता प्राप्त करते ही उसने अपने समाजवादी साथियों को जेल में ठूँसा, मरवाया और देश छोड़ने के लिए बाध्य किया। उसकी लक्ष्य सिद्धि में सहायता देने वाला प्रत्येक उपाय उसके लिए न्यायोचित और सत्य था।

फासीदल का विकास

प्रथम विश्वयुद्ध का उद्देश्य विश्व में जनतन्त्रवाद को सुरक्षित रखना था, किन्तु विश्वयुद्ध का यह उद्देश्य, उद्देश्य बनकर ही रह गया और विश्वयुद्ध के पश्चात् विश्व के विभिन्न देशों में अधिनायकवाद के जो अनेक रूप प्रकट हुए, फासीवाद उनमें से ही एक था।

फ़ासीवाद का विकास प्रथम महायुद्ध के बाद इटली में हुआ था। इस महायुद्ध में इटली ने मित्र राष्ट्रों की ओर से भाग लिया था और उसे आशा थी कि विजय से प्राप्त होने वाले लाभ में उसे अन्य मित्रराष्ट्रों के समान ही भाग प्राप्त होगा। इटली की दृष्टि प्रमुख रूप से आस्ट्रियन साम्राज्य के कुछ भागों और अफ्रीका में अपने साम्राज्य के विस्तार की ओर थी। किन्तु वर्साय की सन्धि में उसकी ये आशाएँ पूरी नहीं हुईं और मित्र राष्ट्रमण्डली में उसे उचित सम्मान भी प्राप्त नहीं हुआ। इस प्रकार इटली की जनता तत्कालीन लोकतन्त्रीय शासन से असन्तुष्ट हो गयी और वह नेतृत्व में परिवर्तन की माँग करने लगी।

1 Mussolini, *Doctrine and Institutions*, p. 27.

1912 में इटली का टर्की से युद्ध होने के कारण इटली की आर्थिक स्थिति महायुद्ध प्रारम्भ होने के पहले ही खराब थी। युद्ध के व्यय ने आर्थिक स्थिति को और अधिक बिगाड़ने का कार्य किया। तत्कालीन इटली की तथाकथित लोकतन्त्रीय सरकार लगातार घाटे के बजट प्रस्तुत कर रही थी और देश आर्थिक अस्थिरता की ओर बढ़ रहा था। युद्ध बन्द होने के कारण युद्ध सामग्री का निर्माण करने वाले कारखानों में काम करने वाले श्रमिक वहुत बड़ी संख्या में बेरोजगार हो गये थे और युद्ध से लौटे हुए सैनिकों की भी यही स्थिति थी। आये दिन की हड़तालों के कारण उत्पादन भी बहुत कम हो गया था और ऐसी स्थिति में स्वाभाविक रूप से साम्यवाद का भय बहुत बढ़ गया था।

ऐसी शोचनीय परिस्थितियों में मुसोलिनी ने इटली के राजनीतिक जीवन में पदार्पण किया। मुसोलिनी प्रारम्भ से ही महायुद्ध में इटली के भाग लेने का विरोधी था और विश्वयुद्ध में भाग लेने से उत्पन्न निराशा ने मुसोलिनी के सम्मान में वृद्धि कर दी थी। प्रारम्भ में मुसोलिनी समाजवादी विचारधारा के सम्पर्क में आया और उसने **'फासिस्को डी कोम्बे डाइमेण्टो'** (*Fasisco De Combe Di Mento*) नामक संस्था की स्थापना की। इस संस्था का कोई निश्चित कार्यक्रम नहीं था, इसने केवल पूँजीवाद और निरंकुश शासन के विरोध का ही मार्ग अपनाया था। इसके अतिरिक्त सैनिक अनुशासन के ढंग पर एक **'स्वयं सेवक संघ'** भी गठित किया गया था।

लेकिन इस संस्था की स्थापना के एक वर्ष बाद से ही मुसोलिनी यह अनुभव करने लगा कि इटली की जनता साम्यवाद से भयभीत है और इटली की जनता का समर्थन करने के लिए साम्यवाद का स्पष्ट विरोध नितान्त आवश्यक है। 1921 में मुसोलिनी के विचारों में आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ और उसने उद्योगपतियों तथा जमींदारों का पक्ष ग्रहण करके खुले रूप से उग्र राष्ट्रवाद तथा हिंसा का प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया। लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए 1922 में मुसोलिनी ने कैथोलिक विरोधी और राजतन्त्र विरोधी दृष्टिकोण का भी त्याग कर दिया। फासीवादियों ने सैनिक ढंग से संगठित होना प्रारम्भ कर दिया और 28 अक्टूबर, 1922 को फासीवादियों के जत्थे रोम पहुँचने लगे। यह एक तथ्य है कि इस समय तक भी फासी दल की शक्ति बहुत अधिक नहीं थी और फासीवादियों के जत्थे को आसानी से रोका जा सकता था, लेकिन इटली के सम्राट ने फासी विरोधी आज्ञा पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया और 29 अक्टूबर, 1922 को मुसोलिनी को मिली-जुली नवीन सरकार का निर्माण करने के लिए आमन्त्रित किया गया। मुसोलिनी ने सभी वर्गों के साथ सहयोग व समझौते की इच्छा व्यक्त करते हुए प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। लेकिन समय बीतने के साथ-साथ मुसोलिनी ने अपनी वास्तविकता प्रकट कर दी। देश में संसदात्मक व्यवस्था को भंग कर दिया गया, फासीदल के अतिरिक्त अन्य दलों को अवैध करार दे दिया गया और विरोधियों की हत्या तथा इसी प्रकार के अन्य उपायों से समाप्त कर दिया गया। 1926 में मुसोलिनी ने इटालियन संसद 'ड्यूस' (Duce) को भंग कर दिया और वह इटली का तानाशाह बन बैठा। इसी समय से इटली में मुसोलिनी की पूर्ण सत्ता स्थापित हो गयी जो जुलाई 1943 में इटली की पराजय और फासीदल की सरकार के समाप्त होने तक बनी रही। 1945 में जर्मनी और इटली की पराजय के बाद इटली से फासीदल का बिल्कुल अन्त हो गया।

फासीदल के प्रमुख सिद्धान्त

फासीदल के प्रमुख सिद्धान्तों का उल्लेख निम्न रूपों में किया जा सकता है :

(1) फासीवाद एक क्रमबद्ध दर्शन नहीं है—व्यक्तिवाद, आदर्शवाद या साम्यवाद की भाँति फासीवाद एक क्रमबद्ध दर्शन नहीं है। फासीवादियों के पास न तो अपने कोई निश्चित सिद्धान्त हैं और न ही कोई निश्चित कार्यक्रम। वास्तव में वे सैद्धान्तिक वाद-विवादों की उलझन में पड़ना ही नहीं चाहते हैं। फासीवाद सिद्धान्त तथा निश्चित कार्यक्रम में विश्वास नहीं करता है। फासीवाद का आधार तो व्यवहार और वास्तविकता है। स्वयं मुसोलिनी के शब्दों में, **"हमारा कार्यक्रम सरल है....हम इटली पर शासन करना चाहते हैं....औपचारिक सिद्धान्त लोहे और टीन की हथकड़ियाँ हैं। मेरा कार्यक्रम बात नहीं, काम है।....फासीवादी इटली की राजनीति के बंजारे (जिप्सी) हैं जो किन्हीं भी निश्चित सिद्धान्तों से बँधे हुए नहीं हैं। इटली की जनता के कल्याण को एकमात्र ध्येय मानकर वे शाश्वत गति से आगे बढ़ते रहते हैं।"**[1]

1 "Our programme is simple........we wish to govern Italy........Formal Principles are iron and tin fetters........My programme is action and not talk........Fascists are the gypsies of Italian politics and not being tied down to any fixed principles. They proceed unceasingly towards the goal of future well-being of the people of Italy."

—*Mussolini*

(2) फासीवाद एक सर्वाधिकारवादी धारणा है—फासीवादी व्यक्ति और राज्य में, राज्य को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं और उनका विचार है कि राज्य के हित व्यक्तियों के हितों से अधिक महत्वपूर्ण हैं। फासीवाद राज्य को एक ऐसी सर्वाधिकारवादी और सर्वशक्तिमान संस्था के रूप में देखना चाहता है जिसकी एकमात्र पुकार है—**'व्यवस्था, अनुशासन तथा सत्ता'** (Order, Discipline and Authority) और इन तीनों की प्राप्ति के लिए फासीवादी राज्य के द्वारा वैयक्तिक स्वाधीनता का बलिदान किया जा सकता है। फासीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति राज्य रूपी मशीन का एक ऐसा पुर्जा होता है जिसका एकमात्र कर्तव्य राज्य के सम्मुख मतमस्तक होकर उसके प्रति पूर्ण श्रद्धा और भक्ति रखना है। यथार्थ में फासीवाद राज्य को एक ऐसी सर्वशक्तिशाली संस्था के रूप में देखता है कि व्यक्ति के सामाजिक जीवन का कोई भी पक्ष उसके कठोर अनुशासनपूर्ण नियमों से मुक्त नहीं हो सकता। स्वयं मुसोलिनी अपने इस सर्वाधिकारवादी राज्य का चित्रण करते हुए कहता है, **"विश्व की कोई भी मानवीय अथवा आध्यात्मिक वस्तु राज्य के बाहर नहीं हो सकती और यदि हो तो उसका कोई मूल्य नहीं हो सकता। सब कुछ राज्य के अन्तर्गत है, राज्य के बाहर तथा राज्य के विरुद्ध कुछ भी नहीं है।"**[1]

(3) उग्र राष्ट्रवाद में विश्वास तथा शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीयता का विरोध—फासीवादी तथा नात्सीवादी दोनों ही राज्य तथा राष्ट्र को एक ही मानते थे और उनकी भाषा में राज्य का अर्थ राष्ट्र ही था। फासीवाद ऐसी उग्र राष्ट्रीयता का उपासक है जो राष्ट्र और राज्य के आगे कुछ भी नहीं देख पाता है। उनके अनुसार राज्य तथा राष्ट्र अन्तिम सत्य है और राष्ट्र का हित ही सर्वोपरि तथा सर्वसाध्य होना चाहिए। स्वयं मुसोलिनी के शब्दों में, **"राज्य एक आध्यात्मिक व नैतिक संगठन है—ऐसा संगठन जिसका उद्‌भव और विकास परमात्मा की ही अभिव्यक्ति है।"**[2]

राष्ट्र के प्रति अपने इसी दृष्टिकोण के कारण फासीवाद शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीयता में विश्वास नहीं करता। उसके अनुसार तो प्रत्येक राज्य को अपने हितों की साधना करनी चाहिए, चाहे इसके लिए दूसरे राज्यों के हितों का बलिदान ही क्यों न करना पड़े। मुसोलिनी कहता है जो लोग विश्वशान्ति की बात करते हैं, वे कायर हैं क्योंकि विश्वशान्ति कभी भी सम्भव नहीं है। शान्ति तो एक ऐसे तालाब के समान है जहाँ पानी ठहरकर गन्दा हो जाता है। बिना युद्ध के कोई मनुष्य, जाति, समाज या राज्य उन्नति नहीं कर सकता। युद्ध नितान्त स्वाभाविक है और मानव जीवन की पूर्णता युद्ध में ही है। मुसोलिनी के शब्दों में, **"पुरुष के जीवन में युद्ध का वही स्थान है जो नारी के जीवन में मातृत्व का है।"**[3] हिटलर ने भी इस सम्बन्ध में ऐसा ही कहा था कि **"अविराम युद्धों से मानव जाति की उन्नति हुई है और सदा के लिए शान्ति की स्थापना से मानव जाति विनाश के गर्त में चली जायेगी।"** निरंकुश तानाशाही शासन-व्यवस्था की समर्थक विचारधारा का युद्धप्रिय होना स्वाभाविक भी है। मोनो कार्ली के अनुसार, **"फासीवाद का उद्‌भव युद्ध से हुआ है और युद्ध से ही इसका विकास सम्भव है।"**[4]

(4) प्रजातन्त्र का विरोध व कुलीनतन्त्र में विश्वास—फासीवादियों के अनुसार फ्रांस के पश्चात् लोकतन्त्रवाद आया, पर वह भी वास्तविक रूप में जनता के शासन की स्थापना न कर सका। उसके मतानुसार यद्यपि लोकतन्त्र के आगमन से राज्य की शक्ति राजाओं और कुलीनों के हाथों में न रही, किन्तु वह जनता के हाथों में न आकर कुछ चतुर और स्वार्थी लोगों के ही हाथों में केन्द्रित हो गयी क्योंकि केवल मत देने के अधिकार से ही जनता को राज्य करने की शक्ति नहीं मिल जाती है। इस कारण फासीवादी लोकतन्त्र को मूर्खतापूर्ण, भ्रष्ट, काल्पनिक तथा अव्यावहारिक शासन-व्यवस्था मानते हैं और उन सब बातों का विरोध करते हैं जो लोकतन्त्र के अन्तर्गत आती हैं।

---

1 "Nothing human or spiritual exist and much less has any value outside the state. Everything within the state, nothing outside the state and nothing against the state."
—Quoted by Herman Finer, *Mussolini's Italy*, p. 169.

2 "The state is a spiritual and ethical entity........an organisation which in its origin and growth is a manifestation of the spirit." —B. Mussolini, *The Political and Social Doctrines of Fascism*, Day-to-Day Pamphlet No. 18 (1933) p. 251.

3 "War is to man what maternity is to woman." —*Mussolini*

4 "Fascism is from war and in war it must find its outlet." —*Mono Carli*

फासीवाद लोकप्रिय सम्प्रभुता को एक मिथ्या धारणा मानता है, प्रजातन्त्र की तुलना शव से करता है, संसद को **'बातों की दुकानें'** (talking shops) कहता है और बहुमत के शासन को **'उल्लुओं की व्यवस्था'** कहकर उसका उपहास उड़ाता है। उनके अनुसार प्रजातन्त्र में लोगों को भ्रम रहता है कि वे वास्तविक शासक हैं, परन्तु यथार्थ में शासन शक्ति उन्हीं के हाथों में केन्द्रित रहती है जो जनता को अपनी वाक्पटुता से बेवकूफ बनाना जानते हैं। मुसोलिनी के शब्दों में, **"प्रजातन्त्रीय शासन की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि वह समय-समय पर लोगों को जनता की सम्प्रभुता का झूठमूठ आभास देती रहती है जबकि वास्तविक तथा प्रभावशाली सम्प्रभुता अदृश्य, गुप्त तथा अनुत्तरदायी हाथों में रहती है।"**

फासीवाद का विचार है कि जनसाधारण अज्ञानी, अन्धविश्वासी तथा भावुक होता है और उसके द्वारा राष्ट्र का नेतृत्व नहीं किया जा सकता। लेकिन विशाल राष्ट्र में सदैव ही कुछ ऐसे योग्य, अनुभवी तथा कार्यकुशल व्यक्ति हुआ करते हैं जो निश्चित आदर्शों से प्रेरणा लेकर निष्ठापूर्वक सम्पूर्ण राष्ट्र के हित में कार्य करते हैं। इस प्रकार फासीवाद जन्मजात असमानता में विश्वास करते हुए प्रजातन्त्र के मूल आधार को चुनौती देता है और कार्यकुशलता, योग्यता तथा अनुभव की आड़ लेकर कुलीन लोगों द्वारा संचालित तानाशाही शासन-व्यवस्था का समर्थन करता है।

(5) फासीवाद तर्क और बुद्धि में विश्वास नहीं करता—फासीवाद व्यक्ति को स्वभाव से एक विवेकशील, तर्कपूर्ण तथा बुद्धिवादी प्राणी न मानकर एक भावनात्मक (sentimental) और प्रवृत्तिवादी (instinctive) प्राणी मानता है। फासीवाद बुद्धिवादी दर्शन को विलासवादी धारणा मानता है और बुद्धि या तर्क के स्थान पर निर्णय और विश्वास का समर्थन करता है। मुसोलिनी ने इटली की जनता को राज्य का अन्धा भक्त बनाये रखने के लिए दो नारे दिये थे—प्रथम, **मुसोलिनी सदैव सही होता है,** तथा द्वितीय **यह है कि उसके आदेशों में हमें विश्वास करना चाहिए, उनका पालन करना चाहिए तथा उनके लिए युद्ध तक को उद्यत रहना चाहिए,** (To have faith, to obey and to fight)। फासीवाद का विचार है कि अपने जीवन को पूर्णतया सुखमय बनाने के लिए व्यक्ति को कुछ ऐसे आदर्शों के प्रति निष्ठावान् होना पड़ता है, जो साधारणतया तर्क की कसौटी पर खरे नहीं उतरते।

(6) फासीवाद समाजवाद विरोधी है—फासीवाद वर्ग संघर्ष या इतिहास की आर्थिक व्याख्या की धारणा में विश्वास नहीं करता है। ये इस बात को भी स्वीकार नहीं करते हैं कि सम्पूर्ण जीवन आर्थिक तत्वों से संचालित होता है। उनका विचार है कि **धर्म, देशभक्ति, पवित्रता और वीर-पूजा मानव जीवन के अधिक महत्वपूर्ण आदर्श हैं।** फासीवाद समाजवाद को निरा भौतिकवादी दर्शन कहकर उसकी आलोचना करता है। मुसोलिनी के ही शब्दों में, **"आर्थिक समृद्धि मनुष्यों को उन पशुओं के समान बना देगी, जिन्हें केवल अपना पेट अच्छी तरह भरने की ही चिन्ता रहती है और इस प्रकार मनुष्य जाति का अस्तित्व केवल भौतिक हो जायेगा।"**

इस प्रकार फासीवाद वर्ग संघर्ष की धारणा को अस्वीकार कर समाज के सभी वर्गों के सहयोग से राज्य की सर्वतोमुखी उन्नति का प्रयत्न करता है। उनका विचार है कि समाज के विभिन्न वर्गों के बीच सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किये जा सकते हैं और वर्ग संघर्ष की धारणा न तो प्राकृतिक है और न ही अवश्यम्भावी।

(7) फासीवाद धर्म विरोधी सिद्धान्त नहीं है—सन् 1921 से पूर्व इटली का फासीदल धर्म तथा धार्मिक गिरजाघरों को समूल नष्ट करने के पक्ष में था, किन्तु 1921 में उसने यह अनुभव किया कि कैथोलिक चर्च का प्रभाव इटली की जनता पर इतना गहरा और प्रबल है कि उसे खत्म नहीं किया जा सकता है और अपने प्रभाव में वृद्धि करने के लिए कैथोलिक धर्माधिकारियों के साथ अच्छे सम्बन्ध रखना आवश्यक है। सत्ता प्राप्त कर लेने के बाद तो अनेक प्रमुख नागरिकों को फासीदल का सदस्य बनाने के लिए, उसने चर्च से सन्धि कर लेना ही उचित समझा। इसके फलस्वरूप 1929 में *'Vatican Italian Accord'* नाम से एक सन्धि हुई, जिसके अनुसार पोप ने फासिस्ट सरकार को इटली की सरकार के रूप में मान्यता प्रदान की तथा मुसोलिनी ने 'वैटिकन प्रदेश' पर पोप की सत्ता को स्वीकार किया। सन्धि की अन्य शर्तों के अनुसार यह निश्चित किया गया कि पोप कैथोलिक पादरियों को इटली की राजनीति में भाग लेने से मना कर देगा और इटली के राजकीय स्कूलों में धार्मिक शिक्षा दी जाती रहेगी। इस प्रकार धर्म के सम्बन्ध में फासीवादियों का अपना कोई विशेष

दृष्टिकोण नहीं था, अवसरवादी होने के कारण उन्होंने धार्मिक भावनाओं को राजनीतिक लाभ के लिए प्रयोग किया। वास्तव में चर्च उनके हाथ की कठपुतली मात्र था जो उनके पक्ष में प्रचार करता था।

(8) **फासीवाद साम्राज्यवाद में विश्वास करता है**—फासीवाद सर्वसत्तावादी विचारधारा है और सर्वसत्तावादी होने के कारण उसका दृष्टिकोण साम्राज्यवादी है। उनका विचार है कि साम्राज्यवाद से राष्ट्र के नागरिकों की समस्याएँ हल होती हैं और साम्राज्यवाद सम्पन्न राष्ट्र का जन्मसिद्ध अधिकार है। यदि एक अर्ध-विकसित राष्ट्र अपने प्राकृतिक साधनों का उपयोग करने में असफल रहे तो बड़े राष्ट्रों का नैतिक कर्तव्य हो जाता है कि वे उन साधनों से स्वयं लाभ उठावें। उसका विचार है कि साम्राज्यवाद के बिना इटली की उन्नति नहीं हो सकती। स्वयं मुसोलिनी के शब्दों में, **"साम्राज्यवाद जीवन का शाश्वत तथा अपरिवर्तनशील नियम है........इटली का विकास जीवन-मरण का प्रश्न है। इटली का या तो प्रसार होना चाहिए या उसे मर जाना चाहिए।"**[1]

(9) **फासीवादी स्वतन्त्रता को अधिकार न मानकर कर्तव्य मानते हैं**—सर्वसत्तावादी दर्शन होने के कारण फासीवाद स्वतन्त्रता को मानव जीवन के लिए स्वाभाविक न मानकर राज्य द्वारा दी गयी एक रियायत मात्र मानता है और इस सम्बन्ध में हीगल तथा नीत्शे की विचारधारा को स्वीकार करता है। उनका दृष्टिकोण है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता राज्य की शक्ति पर निर्भर करती है। राज्य आन्तरिक तथा वाह्य दृष्टि में जितना अधिक शक्तिशाली होगा, व्यक्ति उतनी ही अधिक स्वतन्त्रता का उपयोग कर सकेंगे। व्यक्ति द्वारा अपने आपको राज्य के प्रति समर्पित किये जाने से व्यक्ति की स्वतन्त्रता में कमी नहीं होती, वरन् उसमें वृद्धि होती है। मुसोलिनी ने इस सिद्धान्त को इन शब्दों में व्यक्त किया है, **"फासीवादी राज्य में व्यक्ति का निषेध नहीं हो जाता, बल्कि वह अपने से कई गुना हो जाता है, जिस प्रकार एक सैनिक टुकड़ी का सिपाही न्यून नहीं हो जाता बल्कि अपने साथियों की संख्या के कारण एक से अनेक हो जाता है।"**[2]

स्वतन्त्रता को कोई भी व्यक्ति राज्य से अधिकार के रूप में नहीं माँग सकता, स्वतन्त्रता राज्य की इच्छा पर निर्भर है। व्यक्तियों को जो कुछ भी स्वतन्त्रता प्राप्त होती है, वह राज्य उनके सामाजिक हितों को ध्यान में रखकर प्रदान करता है। मुसोलिनी के शब्दों में, **"फासीवादी राज्य में व्यर्थ और हानिकारक स्वतन्त्रता को कम कर दिया गया है और केवल वे ही स्वतन्त्रताएँ रखी गयी हैं जिनका रखना आवश्यक समझा गया है। स्वतन्त्रता के क्षेत्र में व्यक्ति कभी भी निर्णायक नहीं हो सकता, केवल राज्य ही इसका निर्णय कर सकता है।"**

(10) **फासीवाद फासीदल को राज्य की अन्तःचेतना मानता है**—सर्वसत्तावादी धारणा होने के कारण फासीवाद स्वाभाविक रूप से एक ही राजनीतिक दल के आधिपत्य में विश्वास करता है। दल राज्य का मुख्य अंग माना जाता है और दल को राज्य की सत्ता पर एकाधिकार प्राप्त होता है। जेण्टाइल के अनुसार, **"दल राज्य की अन्तःचेतना है।"**[3] वर्तमान समय के साम्यवादी राज्यों की तरह ही इटली में फासीदल के अतिरिक्त अन्य किसी राजनीतिक दल का गठन नहीं किया जा सकता था। दल की सदस्यता बहुत अधिक सीमित थी और दल के साधारण सदस्यों का एकमात्र कर्तव्य और अधिकार दल के नेता मुसोलिनी की आज्ञा का पालन करना था।

(11) **मूलभूत मानवीय समानता की अवहेलना**—प्रो. हैलोवेल के अनुसार फासीवाद वैयक्तिक स्वाधीनता और समानता की धारणाओं को अस्वीकार करता है। फासीवाद के अनुसार मानव जीवन का मूल आधार समानता नहीं, वरन् असमानता है। प्रकृति के द्वारा मनुष्यों को योग्यता और शक्ति समान मात्रा में नहीं वरन् असमान मात्रा में प्रदान की गयी है। फासीवादी दर्शन जीवन के सभी क्षेत्रों में असमानता का प्रतिपादन करता है। इसके अनुसार पुरुष स्त्री से श्रेष्ठ होता है, सैनिक असैनिक से, फासीवादी दल का सदस्य अन्य सामान्य व्यक्ति से और युद्ध में विजयी राज्य पराजित राज्य से श्रेष्ठ होता है। असमानता की इसी धारणा के आधार पर फासीवाद प्रजातन्त्र का विरोध और कुलीनतन्त्र का समर्थन करता है।

फासीवाद की आर्थिक व्यवस्था—निगमनात्मक राज्य
(CORPORATE STATE)

आर्थिक क्षेत्र में फासीवाद व्यक्तिवादी तथा समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के मध्यम मार्ग को ग्रहण करता है। वह न तो व्यक्तिवादियों की भाँति आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तियों की पूर्ण स्वतन्त्रता और उनके निर्बाध अधिकार

1 "Imperialism is the eternal and immutable law of life........Italian expansion is a matter of life and death. Italy must expand or perish." —*Mussolini*

2 B. Mussolini, *The Political and Social Doctrine of Fascism*, p. 24.

3 "Fascist party is the conscience of the state." —*Gentile*

को स्वीकार करता है और न समाजवादियों की भाँति राज्य शक्ति के आधार पर आर्थिक समानता स्थापित करने का प्रयत्न करता है। मुसोलिनी के आर्थिक विचारों पर फ्रांस के संघवादी आन्दोलन का विशेष प्रभाव था। मुसोलिनी फासिस्ट राज्य को संघ राज्य कहता है और अपने संघ राज्य की अर्थ-व्यवस्था में पूँजीपतियों तथा श्रमिकों के हितों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करता है। फासीवादियों की अर्थव्यवस्था को व्यापक रूप से दो भागों में बाँटा जा सकता है—**संघ व्यवस्था** (Syndicates) तथा **निगम** (Corporations)।

प्रत्येक व्यवसाय के लिए प्रत्येक जिले में दो सिण्डीकेट बनाये गये। उनमें से एक व्यवसाय के मालिक का, दूसरा मजदूरों का होता था। इन स्थानीय संघों का व्यवसाय राष्ट्रीय संघों से जोड़ा गया और इन राष्ट्रीय संघों को महासंघों (Confederations) से सम्बन्धित किया गया था। पहले इन महासंघों की संख्या 9 थी जो बाद में 13 हो गयी। कृषि, उद्योग, वाणिज्य तथा बैंकिंग से सम्बन्धित एक-एक महासंघ मालिकों एवं एक-एक महासंघ श्रमिकों के थे। कलाकारों का भी एक महासंघ स्थापित किया गया।

इन संस्थाओं (सिण्डीकेट, राष्ट्रीय संघ तथा महासंघ) का कार्य श्रमिकों तथा मालिकों के झगड़ों को निपटाकर सामूहिक ठेके, आदि लेना था। हड़ताल तथा तालाबन्दी इटली में अवैध थी। यदि किसी को पंच फैसलों के निर्णय अमान्य होते तो अन्तिम निर्णय के लिए राजकीय श्रमिक न्यायालयों में अपील की जा सकती थी। सिण्डीकेट की सदस्यता ऐच्छिक रखी गयी थी, किन्तु सिण्डीकेटों द्वारा गैर-सदस्यों के हितों का भी प्रतिनिधित्व किया जाता था। राज्य के द्वारा फासीवादी विचारधारा की समर्थक सिण्डीकेटों को ही मान्यता प्रदान की जाती थी। सिण्डीकेट के अधिकारियों के लिए आवश्यक शर्त यह थी कि वे योग्य, चरित्रवान तथा राष्ट्रभक्त हों और दूसरों को भी ऐसा ही पाठ पढ़ायें।

इन सिण्डीकेटों के अतिरिक्त 5 फरवरी, 1934 को फासीवादी सरकार ने प्रत्येक व्यवसाय से सम्बन्धित 'निगमों' (Corporations) की भी स्थापना की। इस प्रकार के निगमों की कुल संख्या 22 थी। प्रत्येक निगम में तीन प्रकार के सदस्य होते थे—श्रमिकों के प्रतिनिधि, पूँजीपतियों के प्रतिनिधि और राज्य के प्रतिनिधि। श्रमिकों तथा मिलमालिकों के प्रतिनिधि यथार्थ में राज्य द्वारा ही नियुक्त किये जाते थे। राज्य द्वारा नियुक्त अधिकारियों को उपभोक्ताओं का प्रतिनिधि भी कहा जाता था। प्रत्येक निगम को अपने निर्णयों पर सरकार की अनुमति लेनी आवश्यक थी तथा यह व्यवस्था थी कि श्रमिकों के विवादों को श्रमिक न्यायालयों में भेजने के पूर्व उन्हें **'समझौता मण्डल'** (Conciliation Board) के सम्मुख भेजना आवश्यक था।

मैक्सी का मत था कि निगम की व्यवस्था **"फासिस्ट वस्त्र पहने हुए श्रम संघवाद है"** परन्तु इस प्रकार के विचार को स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि फासिस्ट निगम प्रणाली और श्रमिक संघवाद में आधारभूत अन्तर है। फासिस्ट निगम प्रणाली में श्रम संघवाद की पूँजी विरोधी और राजनीति विरोधी भावनाओं को नहीं अपनाया गया है। श्रम संघवाद के मजदूर संघ वर्ग-संघर्ष के लिए बनाये गये थे। वहाँ फासिस्ट संघों का निर्माण समुदायों में सहयोग की भावना उत्पन्न करने के लिए और समस्त आर्थिक व्यवस्था पर राज्य का नियन्त्रण स्थापित करने के लिए किया गया था। श्रमिक संघवाद में केन्द्रीय स्थान श्रमिक संघों का है, फासिस्ट निगमनात्मक व्यवस्था में केन्द्रीय स्थान राज्य का है। फासिस्ट निगम प्रणाली श्रेणी समाजवादियों की श्रेणी व्यवस्था से भी दूर है। वास्तव में, इस प्रकार की समस्त निगमनात्मक व्यवस्था राज्य के ही अधिकार में थी। प्रो. जोड ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि **"फासीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत निगम राज्य के अधीन होने चाहिए जिनके द्वारा राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति और उसके विशेष उद्देश्यों की पूर्ति हो सके।"**

इस व्यवस्था से इटली की आर्थिक व्यवस्था पर फासिस्ट राज्य का पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो गया, क्योंकि 22 निगमों की राष्ट्रीय परिषद् की केन्द्रीय समिति में न केवल फासिस्ट दल का महामन्त्री तथा राज्य के मन्त्री शामिल होते थे, वरन् शासन का अध्यक्ष मुसोलिनी स्वयं इसका सभापति होता था।

हिटलर का फासीवाद (जर्मनी का नात्सीवाद)

प्रथम महायुद्ध के बाद जिस प्रकार लोकतन्त्र को निर्बल व अनुपयोगी समझकर इटली में फासीवादी तानाशाही विचारधारा व व्यवस्था का विकास हुआ, उसी प्रकार की व्यवस्था को कुछ मामूली परिवर्तनों के साथ जर्मनी में अपनाया गया। जर्मनी में हिटलर द्वारा अपनाये गये इस विचारधारा एवं व्यवहार को ही **हिटलर का फासीवाद** या दूसरे शब्दों में **नात्सीवाद** नाम से जाना जाता है। वर्साय की सन्धि के द्वारा जर्मनी के प्रति बहुत अधिक अन्याय किया गया था। न केवल उसके उपनिवेश और अधीनस्थ प्रदेश उससे ले लिये गये थे,

अपितु जर्मनी का अंग-भंग भी कर दिया गया था। जर्मनी को युद्ध के लिए उत्तरदायी ठहराकर उस पर हर्जाने की एक बड़ी रकम भी लाद दी गयी थी। जर्मनी के प्राचीन राजतन्त्र का अन्त कर जिस गणतन्त्र की स्थापना की गयी थी, वह बहुत निर्बल था और विभिन्न राजनीतिक दलों के उग्र मतभेदों के कारण यह गणतन्त्र कोई भी कार्य करने में असमर्थ था। जर्मनी की जनता में घोर निराशा और तीव्र असन्तोष व्याप्त था और वह राष्ट्रीय उत्कर्ष के लिए उत्सुक थी।

ऐसी स्थिति में जर्मनी की जनता को एक ऐसा शक्तिशाली नेता प्राप्त हुआ जिसने जर्मन लोगों के विचारों और भावनाओं को समझते हुए उन्हें कार्य रूप में परिणत करने के लिए एक नयी नीति व कार्यक्रम प्रदान किया। इस नेता का नाम **एडोल्फ हिटलर** था और जर्मन जनता ने आँख मींचकर उसका अनुसरण किया। इस नात्सी आन्दोलन का प्रारम्भ 1920 में स्थापित **'राष्ट्रीय समाजवादी जर्मन दल'** (National Socialist German Workers' Party) द्वारा किया गया और युद्धोपरान्त की अस्थिर परिस्थितियों के प्रारम्भ में, अत्यन्त महत्वहीन इस राजनीतिक दल की लोकप्रियता बढ़ती गयी। 1930 के आर्थिक संकट का नात्सीदल ने अपने प्रचार के लिए पूरा-पूरा लाभ उठाया और 1933 के चुनावों में नात्सीदल को बहुमत प्राप्त हो गया।

प्रजातान्त्रिक तरीके से सत्ता प्राप्त कर लेने के बाद हिटलर ने अपने हाथ में सत्ता बनाये रखने के लिए सभी प्रकार के उपायों का अवलम्बन किया। 1934 में वीमर संविधान (Weimer Constitution) को मृत घोषित कर दिया गया, हिटलर जर्मनी का तानाशाह बन गया और सम्पूर्ण राजनीतिक शक्ति नाजीदल के हाथों में केन्द्रित हो गयी। 1945 में द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति तक जर्मनी की राजनीतिक शक्ति नात्सीदल के हाथों में ही रही।

फासीवाद और नात्सीवाद, किन्हीं भी अन्य विचारधाराओं की अपेक्षा, परस्पर बहुत अधिक समान हैं। फासीवाद और नात्सीवाद का उदय एक ही प्रकार की परिस्थितियों में हुआ और इटली में मुसोलिनी तथा जर्मनी में हिटलर के द्वारा एक ही प्रकार की पद्धति को अपनाकर शासन-व्यवस्था पर अपना अधिकार स्थापित किया गया। यद्यपि हिटलर के द्वारा अपनी पुस्तक **'मीन काम्फ'** (Mein Kamph—मेरा संघर्ष) में अपने भावी कार्यक्रम और अपने विचारों को स्पष्ट किया गया है, किन्तु वास्तविकता यह है कि फासीवाद की तरह ही नाजीवाद भी सिद्धान्त की अपेक्षा व्यवहार पर आधारित एक अवसरवादी विचारधारा है। जर्मनी के एक नात्सी नेता ने एक पूँजीपति को लिखा था, **"हम लोगों के पोस्टरों पर जो कुछ लिखा रहता है उससे सदैव भ्रम में मत पड़ो........उनमें पूँजीवाद का नाश हो, आदि नारे भी मिलेंगे, किन्तु वे आवश्यक हैं........हमें असन्तुष्ट समाजवादी मजदूरों की भाषा में भी बात करनी है। हम लोग कोई स्पष्ट कार्यक्रम प्रस्तुत नहीं करते.........इसका कारण कूटनीतिक है।"**

नात्सीवाद भी एक ऐसी विचारधारा थी जो सर्वाधिकारवादी राज्य में विश्वास करती थी और जिसका उद्देश्य व्यक्ति की तुलना में राज्य को प्राथमिकता देना था। इसके अतिरिक्त, प्रजातन्त्र के विरोध, कुलीनतन्त्र में विश्वास, अन्तर्राष्ट्रीयता के विरोध, तर्क और बुद्धि में अविश्वास, हिंसा, युद्ध-साम्राज्यवाद और मानवीय स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में भी नात्सीवाद, फासीवाद से लगभग पूर्णरूप से सहमत है। आर्थिक क्षेत्र में भी नात्सियों ने फासीवाद का ही अनुसरण किया। उनका मत था कि पूँजीपतियों और मजदूरों में सहयोग और समन्वय ही होना चाहिए, पारस्परिक विरोध नहीं।

नात्सीवाद का नस्ल की उच्चता का सिद्धान्त

फासीवाद और नात्सीवाद में उपरोक्त महत्वपूर्ण समानताएँ हैं, किन्तु इनमें एक महत्वपूर्ण असमानता यह है कि नात्सीवाद में नस्ल की उच्चता के सिद्धान्त का बहुत अधिक विस्तार के साथ प्रतिपादन किया गया है। फासीवाद यद्यपि रोम के गौरवपूर्ण अतीत की याद दिलाता है, किन्तु उसमें जातीय उच्चता के किसी सिद्धान्त का कोई उल्लेख नहीं है। हिटलर **'सामाजिक डार्विनवाद'** और नस्ल के सिद्धान्त को लेकर चला और उसने बताया कि इतिहास व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष नहीं और न वर्गों के पारस्परिक संघर्ष की कहानी है, वरन् वह तो श्रेष्ठ नस्ल (आर्य नस्ल) की प्रतिभा के विकास का उल्लेख है। विश्व में विभिन्न नस्लें जीवित रहने और अपने आपको शक्तिशाली बनाने के लिए संघर्ष करती हैं किन्तु उसमें जो नस्ल शुद्ध होती है, वही सबसे शक्तिशाली सिद्ध होती है। सबसे शुद्ध आर्य नस्ल है विशेषकर उसकी नार्डिक शाखा, जो जर्मनी में निवास करती है। हिटलर ने अपनी **'आत्म-कथा'** में लिखा है, **"मनुष्य जाति की सम्पूर्ण संस्कृति,**

कला, विज्ञान और प्रविधि की सभी उपलब्धियाँ जो आज हमारे सामने हैं केवल आर्य नस्ल की सृजनात्मक प्रतिभा का परिणाम है।''[1]

नात्सियों के अनुसार नस्ल नैतिक मूल्यों का आधार होती है और निम्न नस्लें निम्न नैतिकता को तथा श्रेष्ठ नस्लें श्रेष्ठ नैतिकता को जन्म देती हैं। नैतिकता के गुणों में नार्डिक नस्ल सर्वोपरि है, लेकिन यह अपनी सर्वोपरिता कायम रख सके इसके लिए इसे विशुद्ध रखा जाना आवश्यक है। जब कभी आर्य नस्ल का दूसरी नस्लों के साथ सम्मिश्रण हुआ तभी उसके परिणाम खराब हुए हैं। अतः आर्य नस्ल और उसकी शाखा नार्डिक नस्ल को अन्य नस्लों के साथ मिश्रित होने से बचाया जाना चाहिए।

नस्ल की उच्चता के अपने इन सिद्धान्त के आधार पर ही उसके द्वारा यहूदी विरोध के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया। हिटलर का कहना था कि यहूदी नस्ल उन सब बुराइयों का अवतार है, जिनका शिकार आज जर्मनी हो रहा है। जर्मनी के पराभव में यहूदियों का हाथ रहा और जब तक जर्मनी में एक भी यहूदी विद्यमान है, तब तक संसार की सबसे बड़ी संस्कृति खतरे में है। उसके ही शब्दों में, **''इतिहास से स्पष्ट है कि जो राष्ट्र यहूदियों को अपने में अंगीकार कर लेते हैं और उन्हें वे सब अधिकार दे देते हैं, जिनका वे स्वयं उपभोग करते हैं तो वे यहूदी विष से शीघ्र ही अथवा कुछ विलम्ब से नष्ट हो जाते हैं।''**

हिटलर ने यहूदियों के प्रति असीम घृणा फैलायी और उनके प्रति ऐसा अमानवीय व्यवहार किया, जिसका उदाहरण मानव जाति के इतिहास में दूसरा कोई नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त नाजीवाद में प्रचार की शक्ति को भी बहुत अधिक महत्व दिया गया है जो फासीवाद में नहीं पाया जाता। जातीय उच्चता के इस सिद्धान्त के अतिरिक्त अन्य सभी बातों में फासीवाद नाजीवाद और नाजीवाद फासीवाद है।

अन्य राज्यों में अधिनायकवादी आन्दोलन

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद फासीवाद और नाजीवाद के रूपों में जो नवीन अधिनायकवादी लहर शुरू हुई थी, वह केवल इटली और जर्मनी तक ही सीमित नहीं रही। **स्पेन ने फ्रेंको के नेतृत्व** में तानाशाही व्यवस्था को स्वीकार किया। **चैकोस्लोवाकिया, ऑस्ट्रिया, रूमानिया और पोलैण्ड**, आदि अनेक राज्यों में फासी व नाजी दलों का संगठन हुआ और कुछ ही समय में इन राज्यों की शासन शक्ति फासीवादियों के हाथों में चली गयी। महायुद्ध के बाद इन सब राज्यों में लोकतन्त्रीय शासन की स्थापना हुई थी, लेकिन राजनीतिक दलों के उग्र पारस्परिक विरोध के कारण इन देशों में लोकतन्त्रवाद सफल नहीं हो सका। ऐसी स्थिति में इन राज्यों की जनता ने यही श्रेयस्कर समझा कि अपने भाग्य को ऐसे शक्तिशाली नेताओं के सुपुर्द कर दिया जाय, जो उनकी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए साहसपूर्ण नीति का अनुसरण करने में समर्थ हों। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद फासीवाद इस संसार से लगभग लुप्त हो गया है, पर फासीवाद के विनाश से लोकतन्त्र को बल नहीं मिला। फासीवाद का स्थान साम्यवाद ने ले लिया, जो लोकतन्त्रवाद को अपूर्ण और अपर्याप्त समझता है।

फासीवाद की आलोचना

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद अस्थिर वातावरण में **इटली, जर्मनी, स्पेन, चैकोस्लोवाकिया, ऑस्ट्रिया, रूमानिया, पोलैण्ड**, आदि अनेक राज्यों में फासिस्ट प्रवृत्ति का विकास हुआ और ऐसे सुसंगठित फासीवादी दल स्थापित हुए जिनका वहाँ की शासन-व्यवस्था पर प्रभुत्व स्थापित हो गया। इससे स्पष्ट है कि जब लोकतन्त्रीय ढाँचे में पनपने वाली राजनीतिक दलबन्दी अत्यन्त दूषित हो गयी हो और जब देश की शासन-व्यवस्था का संचालन सार्वजनिक हित के स्थान पर दलीय हितों की साधना की दृष्टि से किया जाता हो तो फासीवाद की उपादेयता से इन्कार नहीं किया जा सकता है। फासीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत इटली व जर्मनी ने जो उन्नति की, वह इस बात का प्रमाण है कि किन्हीं विशेष परिस्थितियों में फासीवादी अधिनायकतन्त्र अत्यन्त हितकारक होता है। यूरोप के इन देशों में फासीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत बहुत अधिक आर्थिक उन्नति हुई और फासीवाद ने सम्बद्ध देशों में राष्ट्रीय एकता स्थापित करने का भी कार्य किया।

लेकिन यूरोप के इन देशों में फासीवाद को इस प्रकार की व्यावहारिक सफलताएँ प्राप्त होने पर भी फासीवाद को सैद्धान्तिक या व्यावहारिक दृष्टि से श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता है। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से तो

1 **"All the human culture, all the results of art, science and technology that we see before us today, are almost exclusively, the creative product of the Aryan."**
—Quoted by Lawrence C.Waulass, *Gettell's History of Political Thought*, p. 378.

फासीवाद में अनेक त्रुटियाँ हैं ही, व्यावहारिक दृष्टिकोण से भी फासीवाद ने जो सफलताएँ प्राप्त कीं, वे आवश्यक रूप में अल्पकालीन थीं और मानवीय स्वतन्त्रता के रूप में उनका बहुत अधिक मूल्य देना पड़ा था।

फासीवाद की प्रमुख आलोचनाएँ निम्नलिखित आधारों पर की जा सकती हैं :

(1) **फासीवादी विचारधारा स्पष्ट और सन्तुलित नहीं है**—प्रथम तो फासीवाद कोई दर्शन है ही नहीं और यदि उसे दर्शन मान भी लिया जाय, तो इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि पूर्ण रूप से अवसरवादी होने के कारण यह अनेक अनिश्चित और परस्पर विरोधी बातों से भरा पड़ा है। फासीवाद में अनेक ऐसे राजनीतिक विचार मिलते हैं, जिन्हें परिस्थिति की आवश्यकता के अनुसार ग्रहण कर लिया गया है, लेकिन जिनके आधार पर एक क्रमवद्ध और सुसंगठित विचारधारा का विकास नहीं किया जा सकता है। फासीवाद की इस सैद्धान्तिक दुर्बलता पर टिप्पणी करते हुए प्रो. सेबाइन लिखते हैं कि **"फासीवाद विभिन्न स्रोतों से एकत्र किया गया विचारों का वह समूह है जिसे समय की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए एक साथ रख दिया गया है। फासीवाद के लिए हीगल के राष्ट्रवाद, प्लेटो की कुलीनतन्त्रीय सरकार और बर्गसन के अबुद्धिवाद को एक ही दर्शन में मिलाना और उसके आधार पर व्यवहार में सफलतापूर्वक कार्य करना कठिन था।"**[1]

(2) **राज्य को साध्य मानना त्रुटिपूर्ण है**—फासीवाद यदि राज्य को उचित महत्व दे, तो इसमें किसी को आपत्ति नहीं हो सकती, किन्तु यह तो राज्य को एक '**रहस्यात्मक देवता**' (A mysterious God) का रूप प्रदान कर देता है और राज्य को अपने आप में ही एक साध्य मानता है। राज्य मानव-जीवन की अत्यन्त आवश्यक और उपयोगी संस्था होने पर भी उसे अपने आप में साध्य नहीं माना जा सकता है क्योंकि मानव-जीवन के विना राज्य की कल्पना ही सम्भव नहीं है। वास्तव में राज्य व्यक्ति के लिए है, न कि व्यक्ति राज्य के लिए। राज्य का मुख्य कर्तव्य मानव-जीवन के लिए समस्त हितकारी साधनों को एकत्रित करना और एक ऐसे वातावरण का निर्माण करना है, जिसके आधार पर मानव अपने व्यक्तित्व का विकास कर सके।

(3) **फासीवाद प्रगतिशील विचारों का विरोधी है**—फासीवादी विचारधारा इतनी अपरिष्कृत और पिछड़ी हुई है कि इसे आज से सदियों पहले की विचारधारा कहा जा सकता है। बीसवीं सदी का सभ्य प्रगतिशील समाज प्रजातन्त्र, विचार स्वाधीनता, विश्वशान्ति तथा मानव मात्र की आधारभूत एकता में वड़ी श्रद्धा के साथ विश्वास करता है और इन्हें सामाजिक व्यवस्था के सुदृढ़ आधार वनाने के लिए प्रयत्नशील है। फासीवाद जिन विचारों का प्रतिपादन करता है, ये युग की पुकार के विल्कुल विपरीत हैं। फासीवाद युद्ध को अनिवार्य और उपयोगी बतलाते हुए विश्वशान्ति का विरोध करता है, प्रजातन्त्र को एक '**सड़ा हुआ शव**' (Decaying Corpse) घोषित करता है मानव मात्र की असमानता का प्रतिपादन करते हुए भेड़ों की तरह जनता को नेता के अनुकरण का उपदेश देता है। इस प्रकार फासीवाद एक ऐसी प्रतिक्रियावादी और आदिम युग की विचारधारा है, जिसे वर्तमान समय के एक सभ्य और प्रगतिशील राष्ट्र द्वारा अपनाना शोभा नहीं देता।

(4) **शक्ति राज्य का स्थायी आधार नहीं हो सकती**—फासीवादी शक्ति को राज्य का स्थायी आधार मान लेते हैं जिसे उचित नहीं कहा जा सकता। मानव-जाति का अब तक का इतिहास वताता है कि भय और शक्ति पर आधारित राज्य कुछ क्षणिक सफलताएँ भले ही प्राप्त कर लें, लेकिन उनका शीघ्र ही पतन हो जाता है। शक्ति एक अस्थायी तत्व होने के कारण अपनी प्रकृति से ही राज्य जैसी स्थायी संस्था का आधार नहीं वन सकती। रूसो के अनुसार, "**शक्ति आवश्यकता का कार्य या दूरदर्शिता का कार्य तो हो सकती है, परन्तु वह राज्य का स्थायी आधार कभी नहीं हो सकती।**" ऐसी स्थिति में प्रो. ग्रीन की भाषा में कहना होगा कि '**राज्य का आधार शक्ति नहीं वरन् इच्छा है।**' फासीवादी राज्य शक्ति की उत्पत्ति था और शक्ति ने ही उसे समाप्त भी कर दिया। इटली के अन्य विचारक फेरेरो (Suglielmo Ferrero) ने प्राचीन रोमन साम्राज्य को ध्यान में रखते हुए लिखा था, "**एक शक्ति जिसका निर्माण करती है, दूसरी शक्ति उसका विध्वंस भी कर देती है। रोमन साम्राज्य का निर्माण सेनाओं से हुआ था, इसका विध्वंस भी इसे उत्पन्न करने वाली सेनाओं से हुआ है।**"[2]

(5) **फासीवादी स्वतन्त्रता की धारणा असत्य है**—फासीवाद की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा भी नितान्त त्रुटिपूर्ण है। उनका यह विचार गलत है कि स्वतन्त्रता एक अधिकार न होकर कर्तव्यमात्र है और एक

1 "It is a body of ideas taken from various sources and put together to fit the exigencies of the situation. It was difficult to combine Hegelian nationalism, Plato's government by aristocracy. Bergsonian anti-intellectualism etc., and to work them successfully in actual practice."—*Sabine*

2 Quoted from Coker's, *Recent Political Thought.*

शक्तिशाली राज्य के आज्ञापालन में ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता निहित है। यदि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का रूप और उसका क्षेत्र राज्य की इच्छा पर छोड़ दिया जाय तो अधिनायक की सत्ता के सम्मुख व्यक्ति की स्वतन्त्रता का बलिदान हो जाता है। फासीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति सरकार अथवा राज्य रूपी मशीन का एक पुर्जा मात्र है जिसका न कोई अपना व्यक्तित्व है और न ही मौलिकता। फासीवादी राज्य की असीम सत्ता के पुजारी हैं और ऐसा राज्य **'उत्पीड़न केन्द्र'** (Concentration camp) के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता है तथा उसमें रहने वाले व्यक्ति दासों से ज्यादा स्वतन्त्र नहीं रह सकते।

(6) फासीवाद का केन्द्रित राज्य कला और विज्ञान की प्रगति में बाधक—फासीवाद एक ऐसे सर्वाधिकारवादी राज्य की धारणा में विश्वास करता है जो मानव जीवन के सभी पक्षों पर पूरा-पूरा नियन्त्रण रखता हो। इस प्रकार के अतिकेन्द्रित राज्य में कला और विज्ञान की उन्नति हो ही नहीं सकती है। कला और विज्ञान की उन्नति व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और साधन से होती है, जिसके लिए फासीवादी व्यवस्था में कोई स्थान नहीं है। पूर्ण रूप से अनुशासित और नियन्त्रित राज्य में तो कला और विज्ञान मृत्यु को ही प्राप्त होंगे। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्सटीन ने अपने लघु लेख **'विज्ञान और अधिनायकवाद'** में ठीक ही लिखा है, **"एक अधिनायकवाद का तात्पर्य सब दिशाओं में प्रतिवन्ध लगाना है, इसका परिणाम सभी कार्यों को बेकार बनाना होता है। विज्ञान विचार व्यक्त करने की स्वतन्त्रता के वातावरण में ही उन्नति कर सकता है।"**[1] प्रो. कोकर के द्वारा स्वयं भी इसी प्रकार का विचार व्यक्त किया गया है।

(7) युद्ध और साम्राज्यवाद का मार्ग श्रेयस्कर नहीं—फासीवाद उस साम्राज्यवाद का समर्थन करता है जिसे आज के लगभग सम्पूर्ण जगत ने हेय मान लिया है। इटली के फासीवादियों व जर्मनी के नाजीवादियों का मत था कि राष्ट्र की उन्नति के लिए उसके प्रभुत्व-क्षेत्र में वृद्धि होना आवश्यक है। इस प्रकार फासीवाद उस हेय साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का पोषण करता है, जिसका एकमात्र आधार शक्तिशाली राज्य द्वारा निर्बल राज्य का शोषण है।

इसके अतिरिक्त फासीवादी साम्राज्यवाद के सहगामी युद्ध के भी समर्थक हैं। उनका यह विचार कि युद्ध मनुष्य की श्रेष्ठ शक्तियों को विकसित होने का अवसर प्रदान करता है और शान्ति मानव-जाति के विकास में बाधक है, पागलों का सा प्रलाप है। हाइड्रोजन और कोबाल्ट बमों के इस युग में युद्ध मानव-जाति की सामूहिक आत्महत्या का ही दूसरा नाम हो गया है। ऐसी स्थिति में कोई भी विवेकशील व्यक्ति युद्ध की प्रवृत्ति का स्वागत कैसे कर सकता है?

(8) धर्म और राजनीति का मिश्रण अनुचित है—फासीवादियों का एक प्रमुख दोष यह भी है कि वे धर्म और राजनीति को मिश्रित कर देते हैं। धर्म एक पृथक् वस्तु है और उसे राजनीति के साथ मिश्रित कर देने का अर्थ है, मनुष्य की राजनीतिक चेतना को कुचलना, जिसे किसी भी प्रगतिशील समाज के लिए प्रशंसा की वस्तु नहीं कहा जा सकता। धर्म और राजनीति के मिश्रण की बात एक रूढ़िवादी विचारधारा है और वर्तमान समय में विश्व के लगभग सभी देशों में धर्म और राजनीति के मार्ग पृथक्-पृथक् हैं। फासीवाद प्रारम्भ में धर्म विरोधी था, लेकिन उसने परिस्थितियों की आवश्यकतावश धर्म से समझौता कर लिया।

(9) फासीवाद निगमनात्मक राज्य का सिद्धान्त केवल एक प्रदर्शन की वस्तु—फासीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत निगमनात्मक राज्य के रूप में पूँजीपति तथा श्रमिक के हितों के बीच सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु निगमनात्मक राज्य का सिद्धान्त सैद्धान्तिक रूप में जितना श्रेष्ठ प्रतीत होता है, व्यवहार में उतना ही बुरा है। ऊपर से यह व्यवस्था श्रेष्ठ प्रतीत होती है, किन्तु वास्तव में इन निगमों द्वारा फासीवादी व्यवस्था के प्रचार का एकमात्र कार्य किया गया। निगमों के नाम पर निर्धन श्रमिकों का शोषण किया गया और पूँजीपतियों का समर्थन। फासीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत एक निगमनात्मक राज्य की स्थापना की भी नहीं जा सकती थी, क्योंकि निगमनात्मक व्यवस्था शक्ति के विकेन्द्रीकरण पर ही आधारित हो सकती है और फासीवाद का मूल आधार ही शक्ति का केन्द्रीकरण था। एक लेखक के शब्दों में, **"फासीवादी आर्थिक व्यवस्था एक ऐसे पिरामिड के समान है जो अपने आधार पर खड़ा हुआ न होकर चोटी के बल पर उलटा खड़ा हुआ हो।"**[2]

1 "Dictatorship means muzzling allround and consequently stultification. Science can flourish only in a atmosphere of free speech."

—Einstein, Quoted from Coker's, *Recent Political Thought*, p. 490.

2 "The pattern of Fascism is that of a Pyramid, balanced on its apex."

फासीवादी निगमनात्मक राज्य का सिद्धान्त श्रमिक संघवादी तथा श्रेणी समाजवादी विचारों से प्रभावित होते हुए भी एक प्रदर्शन की वस्तु मात्र है।

इन सैद्धान्तिक तर्कों के अतिरिक्त व्यवहार में भी फासीवाद ने इस विचारधारा से जुड़े हुए देशों और समस्त मानवता का बहुत अधिक अहित किया है और फासीवाद के पक्ष में कहने के लिए लगभग कुछ भी नहीं है।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. "सभी कुछ राज्य के लिए है, न तो राज्य के विरुद्ध ही कुछ हो सकता है और न राज्य की शक्ति के वाहर ही।" इस कथन के परिप्रेक्ष्य में फासीवाद की विवेचना कीजिए।
2. फासीवाद से आप क्या समझते हैं? इसके मूल सिद्धान्त वताइए तथा आलोचना कीजिए।
3. फासीवाद क्या है? फासीवाद के गुण-दोषों की विवेचना कीजिए।
4. "फासीवाद अन्तर्राष्ट्रीयता का शत्रु और लोकतन्त्र का विरोधी है।" व्याख्या कीजिए।
5. "फासीवाद लोकतन्त्रवादी, उदारवादी तथा समाजवादी विचारों का प्रतिवाद है।" व्याख्या कीजिए।
6. फासीवाद के तीन प्रमुख स्रोतों और तीन प्रमुख सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए।

19

समाजवाद
(SOCIALISM)

"समाजवाद वास्तव में दर्शन का एक पूरा संसार है। यह धर्म के क्षेत्र में नास्तिकता का, राज्य के क्षेत्र में लोकतन्त्रात्मक प्रणाली का, औद्योगिक क्षेत्र में जनवादी समष्टिवाद का, नैतिकता के क्षेत्र में एक अनन्त आशावाद का, आध्यात्मवाद के क्षेत्र में एक प्रकृतिवादी भौतिकवाद का तथा पारिवारिक क्षेत्र में एक गृहस्थ सम्बन्धों तथा वैवाहिक बन्धनों की लगभग पूर्ण शिथिलता का सूचक है।"[1] —हर बेविल

समाजवाद, जो कि वर्तमान समय का सबसे अधिक लोकप्रिय शब्द है, का प्रयोग 1827 ई. में रावर्ट ओवन के विचारों का प्रचार करने के लिए स्थापित पत्रिका **'ओ नाइट कोऑपरेटिव (*O Night Co-operaive*)** में व्यक्तिवादी और उदारवादी विचारों के विरुद्ध भावों को प्रदर्शित करने के लिए किया गया। उसके बाद 1835 से रावर्ट ओवन की अध्यक्षता में स्थापित **'सब राष्ट्रों के सब वर्गों के समुदाय'** (Association of all calsses of all Nations) ने **'समाजवाद'** और **'समाजवादी'** शब्दों का प्रयोग किया तत्पश्चात् फ्रांसीसी लेखक रेवांद (Reoband) ने अपनी रचना ***'Reformation Moderner'*** में इन शब्दों का खूब प्रयोग करते हुए इन्हें व्यापक रूप से प्रचलित कर दिया।

समाजवाद एक अत्यन्त अनिश्चित विचारधारा

समाजवाद आज के युग की सर्वाधिक लोकप्रिय विचारधारा है। इसकी अत्यधिक लोकप्रियता ने ही इसे वहुत अधिक अनिश्चितता का रूप प्रदान कर दिया है। समाजवाद की इस अनिश्चितता के कारण ही प्रो. सी. ई. एम. जोड ने कहा है कि **"संक्षेप में समाजचाद एक ऐसे टोप की तरह है जिसकी आकृति भंग हो गयी है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति ने इसे धारण करने का प्रयास किया है।"** समाजवाद की अनिश्चितता के प्रमुख कारण इस प्रकार हैं :

(1) समाजवाद एक अत्यन्त व्यापक तथा अनेक रूपी विचारधारा है, जिसने विभिन्न राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक अवस्थाओं में विभिन्न रूप धारण कर लिए। लाभ-हानि को परस्पर वांटने की सामान्य बात से लेकर राज्य को अधिकतर कार्य सौंपने की सभी बातें समाजवाद के अन्तर्गत आ जाती है। डॉ. शैडवेल के शब्दों में, **"समाजवाद अत्यन्त जटिल, अनेक तरफा और भ्रान्तियों से पूर्ण ऐसा प्रश्न है जिसने मानव मस्तिष्क को सबसे अधिक उलझाया है।"**[2]

(2) समाजवाद एक राजनीतिक विचारधारा होने के साथ-साथ आर्थिक विचारधारा भी है। जोड के अनुसार समाजवादी दर्शन को पूर्णतया या मुख्यतः राजनीतिक समझ लेना त्रुटि होगी। उनके शब्दों में, **"इसके केवल राजनीतिक पक्ष का विवरण देना न केवल अव्यावहारिक वरन् अवांछनीय भी है।"**[3] समाजवादी दर्शन में आर्थिक और राजनीतिक तत्व इस प्रकार गुथे हुए हैं कि इस विचारधारा का सप्टतापूर्वक अध्ययन करना अत्यन्त

1 **"Socialism is in reality an entire world of philosophy. In religion it means atheism, in the state a democratic republic, in industry a popular collectivism, in ethics an unmeasurable optimism, in metaphysics a naturalistic materialism, in the house an almost entire loosening of family ties and of marriage bond."** —*Herr Bebble*

2 **"Socialism is the most complicated many sided and confused question, that ever plagued the minds of men."** —*Dr. Schadwell*

3 **आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त प्रवेशिका, पृ. 33.**

कठिन हो जाता है। कुछ के द्वारा इसका विवेचन आर्थिक दृष्टि से किया गया है और जो कुछ के द्वारा राजनीतिक दृष्टि से, और इसी कारण प्रो. बार्कर **"इसे एक सिद्धान्त मानते हैं, जो अपने लक्ष्य और उद्देश्य में बहुत अधिक अनिश्चित और भ्रामक है।"**[1]

(3) समाजवादी विचारधारा की इतनी अधिक धाराएं एवं उपधाराएं निकल चुकी हैं और निकलती जा रही हैं कि इसका एक निश्चित रूप निर्धारित करना लगभग असम्भव है। इसके अतिरिक्त ये विभिन्न समाजवादी उपधाराएं (bycurrent of Socialism) अपने उद्देश्य और प्रणालियों में एक-दूसरे से इतनी भिन्न हैं कि इनके आधार पर समाजवाद को समझना एक विफल प्रयत्न बनकर रह जाता है। इस स्थिति को एक लेखक ने इन शब्दों में व्यक्त किया है कि **'समाजवाद उस बहु सिर वाले जन्तु की तरह है जिसका जितनी देर में एक सिर भी नहीं कट पाता, उतनी ही देर में एक नया सिर उसके स्थान पर निकल पड़ता है।'**

(4) समाजवाद एक राजनीतिक विचारधारा और दर्शन ही नहीं वरन् एक आन्दोलन भी है। इस आन्दोलन की भी कोई एक निश्चित दिशा होने के स्थान पर विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में यह विविध रूपों में है। कहीं पर यह शान्तिपूर्ण आन्दोलन के रूप में है तो कहीं पर हिंसक आन्दोलन के रूप में। कहीं पर यह प्रजातान्त्रिक पद्धति द्वारा संचालित है तो कहीं पर क्रान्तिकारी प्रक्रिया के रूप में है। एक ही देश में भी अनेक प्रकार के समाजवादी विचार और आन्दोलन देखे जा सकते हैं। भारत इसका उदाहरण है।

(5) समाजवाद एक प्रगतिशील और परिवर्तनशील दर्शन तथा कार्यक्रम है जिसका स्वाभाविक गुण बदलती हुई आर्थिक तथा राजनीतिक आवश्यकताओं के साथ-साथ अपने स्वरूप में परिवर्तन करना है। समाज के इस परिवर्तनशील वातावरण में समाजवाद के सम्बन्ध में आज निश्चित की गई धारणा कल अनुपयुक्त हो सकती है। ऐसे स्थिति में अनिश्चितता समाजवाद का एक स्वाभाविक लक्षण हो गया है। वस्तुतः समाजवाद एक क्रियात्मक तथा व्यावहारिक दर्शन होने के कारण कोई बनी बनाई योजना तथा निश्चित पद्धति हो ही नहीं सकती है। समाजवाद के इस निरन्तर परिवर्तनशील स्वरूप को दृष्टि में रखते हुए रेम्जे म्योर ने कहा था, **"समाजवाद परिस्थितियों के अनुसार रंग बदलने वाला गिरगिट का सा धर्म है। बाजार के एक कोने पर अथवा क्लब में भीड़ जमा करके व्याख्यान देने वाला व्यक्ति इसे वर्ग-संघर्ष के भड़कीले लाल रंग में प्रस्तुत करता है, बुद्धिजीवियों के लिए यह अत्यधिक पीले रंग वाले लोहे के समान है, भावुक व्यक्तियों के लिए यह कोमल गुलाबी फूल की भांति है तथा पादरी वर्ग में यह श्वेत वस्त्रधारी और उदारवादी आकांक्षाओं का प्रेरक बन जाता है।"**

(6) समाजवाद के सम्बन्ध में अनिश्चितता का एक अन्य कारण यह है कि व्यवहार में एक बड़े वर्ग द्वारा समाजवाद और साम्यवाद को एक ही समझ लिया जाता है, जबकि वस्तुतः इन दोनों में बहुत अधिक अन्तर है।

समाजवाद की इस अनिश्चितता को रापोपोर्ट (Rappoport) ने सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त किया है। वे लिखते हैं, **"यदि मुझसे पूछा जाए कि क्या मैं समाजवादी हूं? तो मैं स्पष्ट रूप से उत्तर दूंगा कि मुझे मालूम नहीं। यह सब इस बात पर निर्भर करता है कि कोई व्यक्ति समाजवाद से क्या समझता है।"**

समाजवाद की परिभाषा

समाजवाद आंग्ल भाषा के **'सोशलिज्म'** (Socialism) शब्द का हिन्दी पर्यायवाची है। **'सोशलिज्म'** शब्द की उत्पत्ति **'सोशियस'** (Socious) शब्द से हुई है जिसका अर्थ 'समाज' होता है। इस प्रकार समाजवाद का सम्बन्ध समाज और उसके सुधार से है। लेकिन वर्तमान समाज में यह सीधा सादा शब्द समाजवाद इतना अधिक लोकप्रिय और प्रचलित हो गया है कि इसे विभिन्न ढंग से परिभाषित किया गया है। डॉन ग्रिफिथ्स (Dan Griffiths) ने अपनी रचना **'समाजवाद क्या है?'** में समाजवाद की लगभग 263 परिभाषाएं संग्रहीत की थीं, प्रो. ऐली ने अपनी एक पुस्तक में समाजवाद की 400 से भी अधिक परिभाषाओं का संकलन किया है और 1892 में पेरिस के एक पत्र **'ली फिगारो'** (Le Figaro) ने विभिन्न लोगों द्वारा विभिन्न समयों पर दी गई समाजवाद की लगभग 600 परिभाषाएं दी थीं। ऐसी स्थिति में यह सुगमतापूर्वक कहा जा सकता है कि समाजवाद की उतनी ही परिभाषाएं हैं जितने कि समाजवादी। कुछ प्रमुख विचारकों द्वारा समाजवाद की परिभाषाएं अग्र प्रकार दी गई हैं :

1 "It is the most elusive and bewildering in doctrines, its aims and purposes." —*E. Barker*

बेल्जियन समाजवादी इमाइल के शब्दों में, "समाजवाद का अर्थ है श्रमिकों की एक ऐसी व्यवस्था, जो पूंजीवादी सम्पत्ति को सामाजिक सम्पत्ति में बदलने के उद्देश्य से राजनीतिक सत्ता को प्राप्त करेगी।"[1]

हुगन (Hughan) के अनुसार, "समाजवाद श्रमिग वर्ग द्वारा की जाने वाली एक ऐसी राजनीतिक क्रान्ति है जिसका उद्देश्य उत्पादन तथा वितरण के साधनों की प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था तथा सामूहिक स्वामित्व द्वारा शोषण का उन्मूलन करना है।"[2]

सेलर्स (Sellers) के अनुसार, 'समाजवाद एक ऐसी प्रजातन्त्रात्मक विचारधारा है जिसका उद्देश्य समाज में एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था लाना है जो किसी भी समय व्यक्ति को अधिकतम सम्भव न्याय और स्वाधीनता प्रदान कर सके।"[3]

रेम्जे मैक्डानल्ड के अनुसार, "साधारण रूप से समाजवाद की इससे अधिक अच्छी परिभाषा नहीं दी जा सकती कि वह समाज की भौतिक तथा आर्थिक शक्तियों की एक ऐसी व्यवस्था चाहता है जिस पर मानवीय शक्ति का नियन्त्रण हो।"[4]

उपर्युक्त विद्वानों की तुलना में भारत के समाजवादी नेता जयप्रकाशनारायण की परिभाषा अधिक स्पष्ट है। उनके शब्दों में, "समाजवादी समाज एक ऐसा वर्गहीन समाज होगा, जिसमें सब श्रमजीवी होंगे। इस समाज में वैयक्तिक सम्पत्ति के हित के लिए मनुष्य के श्रम का शोषण नहीं होगा। इस समाज की सारी सम्पत्ति सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय अथवा सार्वजनिक सम्पत्ति होगी तथा अनार्जित आय और आय सम्बन्धी भीषण असमानताएं सदैव के लिए समाप्त हो जाएंगी। ऐसे समाज में मानव जीवन तथा उसकी प्रगति योजनाबद्ध होगी और सब लोग सबके हित के लिए जीयेंगे।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के शब्दों में पर्याप्त भेद है। इनमें से किसी परिभाषा में समाजवाद को एक आन्दोलन, किसी में एक आर्थिक प्रणाली तथा किसी में दर्शन माना गया है। इन परिभाषाओं में इतनी विभिन्नता होते हुए भी यह स्पष्ट है कि समाजवाद पूंजीवाद का घोर विरोधी है और यह पूंजीवादी व्यवस्था को समाप्त कर उत्पादन के साधनों (भूमि, उद्योग इत्यादि) पर समाज का नियन्त्रण स्थापित करना चाहता है जिससे आर्थिक असमानता का अन्त होकर सभी व्यक्तियों को उन्नति के समान अवसर प्राप्त हो सकें।

समाजवाद का इतिहास

यद्यपि एक शब्द के रूप में 'समाजवाद' का प्रयोग काफी बाद में हुआ और एक विचारधारा के रूप में समाजवाद मूलतः आधुनिक युग की विचारधारा है तथापि एक व्यापक अर्थ में **'मनुष्य की समानता'** या **'न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था'** के अर्थ में, अत्यन्त प्राचीन काल में भी इस प्रकार की विचारधारा के दर्शन होते हैं। इसके प्रथम दर्शन **'ओल्ड टेस्टामेण्ट'** (*Old Testament*) में वर्णित **एमोस, होसिया, इसियाह, जेरेमिया** आदि प्राचीन यहूदी पैगम्बरों की वाणी में होते हैं जिन्होंने धनिकों के अत्याचारों की निन्दा कर एक ऐसे न्यायपूर्ण समाज की कल्पना की है, जिसमें राजा धनिकों को दण्ड देकर निर्धनों के हितों की रक्षा करेगा। परन्तु ये सब विचारक मूलतः समाजवादी ही थे, ऐसा नहीं है। **लैडलर (Laidler)** का यह कथन सत्य है कि ये सब विचारक **"नैतिकता और धर्म-प्रधान विचारक थे, समाजवादी नहीं।"**[5]

प्लेटो (417-347 ई. पू.) ने अपनी पुस्तक **'रिपब्लिक'** (***Republic***) में आदर्श राज्य का जो चित्रण किया है, उसमें भी समाजवाद के बीज निहित हैं क्योंकि प्लेटो का विचार है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति और परिवार व्यक्ति को पथभ्रष्ट कर देते हैं और इसके कारण वह अपने आंदर्श राज्य के प्रथम दो वर्गों—शासक एवं सैनिक वर्ग के लिए सम्पत्ति और परिवार का निषेध करता है।

1 "Socialism means an organization of worker for the conguest of political power for the purpose of transforming capitalist property into social property." —*Emile*

2 "Socialism is a political movement of the working class, which aims to abolish exploitation be means of the collective ownership and distribution." —*Hughan*

3 "Socialism is a democratic movement, whose purpose is the securing of an economic organisation of society, which will give the maximum possible at any time of justice and liberty." —*Sellers*

4 "No better definition of socialism can be givne in general terms that it aims at the organisation of the material economic forces." —*Ramsy Mecdonald*

5 Harry W. Laidler, *History of Social' Thought*, 6th Edn., p. 4

प्लेटो के पश्चात रोमन युग तथा मध्य-युग में **वर्जिल, होरेस और बाईक्लिफ** जैसे पैगम्बरों और विचारकों के द्वारा इसी प्रकार के विचारों का प्रतिपादन किया गया है और आधुनिक युग में **'सर थामस मूर की यूटोपिया'** (1516) को इस श्रेणी की एक प्रमुख रचना कहा जा सकता है जिसमें उसके द्वारा इंगलैण्ड की तत्कालीन अन्यायपूर्ण व्यवस्था पर कटु व्यंग्य करते हुए **'यूटोपिया'** नामक टापू की आदर्श व्यवस्था का चित्रण किया गया है, जिसमें सभी व्यक्ति अपने परिश्रम से उत्पन्न वस्तुओं को एक स्थान पर रख देते हैं और वहां से आवश्यकतानुसार वस्तुएं प्राप्त करते रहते हैं। इस टापू में किसी भी व्यक्ति के पास व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं है, न किसी को व्यक्तिगत सम्पत्ति की चाह है और इसी कारण इस टापू में शान्ति का अखण्ड साम्राज्य है।

सर थामस मूर के पश्चात **फ्रांसिस बेकन** ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *New Atlantis* में तत्कालीन समाज व्यवस्था की आलोचना करते हुए एक 'आदर्श राज्य' का चित्र प्रस्तुत किया।

उपर्युक्त सभी स्थितियों में राज्य अथवा प्रस्थापित शासन व्यवस्था के विरुद्ध जो प्रक्रिया व्यक्त की गई, वह भावुक और धार्मिक थी, राजनीतिक और आर्थिक नहीं। यहूदी और ईसाई पैगम्बरों, प्लेटो और थामस मूर की रचनाओं में यद्यपि समाजवाद के दर्शन होते हैं, किन्तु वस्तुतः उसमें समाजवाद के अतिरिक्त भी बहुत कुछ है। ये तो वस्तुतः सम्पूर्ण मानव जीवन से सम्बन्धित मानवीय रचनाएं हैं। समाजवाद उनका एकमात्र विषय तो है ही नहीं, सामान्यतया यह उनका प्रमुख विषय भी नहीं है।

समाजवाद की प्रमुख धारा—एक राजनीतिक विचारधारा के रूप में समाजवाद बहुत प्राचीन विचारधारा नहीं है और इसका जन्म व्यक्तिवाद की प्रतिक्रिया के रूप में 18वीं सदी में ही हुआ है। इस समाजवादी विचारधारा के भी दो रूप देखे जा सकते हैं—(1) कल्पनावादी समाजवाद (Uptopian socialism), और (2) वैज्ञानिक समाजवाद (Scientific socialism)।

कल्पनावादी समाजवाद—प्रारम्भिक समाजवादियों ने पूंजीवादी व्यवस्था की निन्दा कर उसके स्थान पर एक न्यायपूर्ण व्यवस्था की स्थापना का सुझाव दिया। लेकिन न तो उनके द्वारा पूंजीवादी व्यवस्था की तार्किक ढंग से व्याख्या की गई और न ही उनके द्वारा पूंजीवाद को समाप्त करने के उपाय बताए गए। ऐन्जिल्स का कल्पनावादी समाजवाद के सम्बन्ध में कहना है कि **''प्रारम्भिक दिनों के समाजवाद ने निश्चित रूप से उत्पादन के स्थापित पूंजीवादी तरीकों और उनके परिणामों की कटु आलोचना की, पर वे उनकी व्याख्या नहीं कर सके और इस कारण वे सफल नहीं हो सके। वे उसे बुरा कहकर केवल अस्वीकृत कर सके।''**[1]

कल्पनावादी समाजवादी विचारकों में **नॉयल बावेफ, हेनरी सां सिमो, सेण्ट साइमन, चार्ल्स फोरियर और रॉबर्ट ओवन** प्रमुख हैं। इनमें अन्तिम तीन विचारकों को अधिक महत्वपूर्ण कहा जा सकता है।

नॉयल बावेफ (1714-1797)—फ्रांस की राज्य क्रान्ति के बाद फ्रांस में समाजवादी विचारधारा का उदय हुआ। फ्रांस की क्रान्ति में जीवन के सभी क्षेत्रों में मानव मात्र की समानता की घोषणा की गयी थी, किन्तु क्रान्ति से मात्र राजनीतिक समानता ही स्थापित हो सकी, आर्थिक समानता नहीं। रोबेस्पियर के पतन के बाद यह स्पष्ट हो गया था कि क्रान्ति का सबसे अधिक लाभ सट्टेबाजों और भूस्वामियों को ही हुआ है। ऐसी स्थिति में पहले नॉयल बाबेफ ने व्यक्तिगत सम्पत्ति और आर्थिक विषमता के विरोध का मार्ग अपनाया। तत्कालीन व्यवस्था का विरोध करते हुए वह लिखता है—**''जब मैं देखता हूं कि गरीबों के तन पर न कपड़े हैं और न पैरों में जूते, जबकि गरीब लोग ही कपड़े और जूते बनाते हैं, तथापि उन्हें ये ही उपयोग के लिए नहीं मिलते, और जब मैं उन लोगों का ख्यात करता हूं जो स्वयं कुछ भी काम नहीं करते, पर उनके पास किसी भी चीज की कमी नहीं है तो मेरा यह विश्वास दृढ़ हो जाता है कि राज्य अब भी जनसाधारण के विरुद्ध कुछ लोगों का षड्यन्त्र मात्र ही है।''**

बावेफ ने इस वात पर बल दिया कि निजी सम्पत्ति का अन्त कर समस्त सम्पत्ति पर राज्य का नियन्त्रण स्थापित किया जाना चाहिए और राज्य की अधीनता में सम्पत्ति का आवश्यकतानुसार वितरण होना चाहिए। उत्पादन व्यवस्था पर राज्य का नियन्त्रण होना चाहिए। सभी व्यक्तियों से कार्य लिया जाना चाहिए और कार्य के घण्टे कानून द्वारा निश्चित होने चाहिए। 'सामानों का षड्यन्त्र' के नाम से उसने अपनी विचारधारा को कार्य रूप प्रदान करने का प्रयत्न भी किया, किन्तु इसमें उसे सफलता प्राप्त नहीं हुई। उसके विचारों और

1 "The socialism of earlier days certainly criticised the existing capitalistic mode of production and its consequences. But it could not explain them and therefore could not get the mastery of them, it could only simple reject them as bad." —Engels, *Socialism : Utopian and Sceientific*, p. 49.

योजना का भावी समाजवादी विचारधारा पर गहरा प्रभाव पड़ा। लेडलर ने उसे **"पहला महत्वपूर्ण समाजवादी विचारक कहा है।"**[1]

हेनरी सां सिमो—बाबेफ के अनुयायियों में हेनरी सां सिमो का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है। सां सिमो का कहना था कि भूमि और पूंजी पर व्यक्तियों का नहीं वरन् राष्ट्र का नियन्त्रण होना चाहिए और प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता के अनुसार कार्य तथा वेतन मिलना चाहिए। सां सिमो ने फ्रांस में समाजवाद को प्रसारित करने में महत्वपूर्ण योग दिया।

सेण्ट साइमन (1760-1825)—सेण्ट साइमन का जन्म फ्रांस में हुआ था। उस पर फ्रांस की क्रान्ति का गम्भीर प्रभाव पड़ा था। सेण्ट साइमन ईसाई धर्म का अनुयायी था और सम्भवतः निर्धन वर्ग के कल्याण की प्रेरणा उसे ईसामसीह की शिक्षाओं से मिली। उसने यह अनुभव किया कि सामाजिक और राजनीतिक सुधार तभी सम्भव हो सकते हैं जबकि उनका आधार आध्यात्मिक हो। वह ईसामसीह की शिक्षाओं पर आधारित एक ऐसे समाज की स्थापना करना चाहता था जिसमें निर्धन वर्ग का कल्याण हो और इस सम्बन्ध में वह धनिकों को निर्धनों का ट्रस्टी बनने की प्रेरणा देता था।

सेण्ट साइमन का विचार था कि समस्त राजनीतिक परिवर्तनों का मूल आधार आर्थिक या उत्पादन के साधनों में होने वाले परिवर्तन ही रहे हैं। अतः उसके द्वारा राजनीति को **'उत्पादन का विज्ञान'** (Science of Production) कहा गया है और उसकी धारणा है कि राजनीतिक सिद्धान्तों की विवेचना हेतु उत्पादन के साधनों की प्रकृति को समझा जाना चाहिए। राजनीति को नितान्त गौण और अर्थव्यवस्था को सर्वाधिक प्रमुख विषय मानते हुए उसने भविष्यवाणी की थी कि राजनीति अन्ततोगत्वा अर्थशास्त्र में विलीन हो जाएगी। साइमन की यह बात कार्ल मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की पूर्व धारणा है।

अपनी इसी धारणा के आधार पर उसका कहना था कि सरकार का स्वरूप राजनीतिक के स्थान पर आर्थिक होना चाहिए और सरकार में प्रतिनिधित्व क्षेत्रीय आधार पर नहीं, वरन् आर्थिक हितों और व्यवसाय के आधार पर होना चाहिए।

साइमन समस्त सामाजिक व्यवस्था का पुनर्गठन करना चाहता था और उसका विश्वास था कि इस पुनर्गठन में वैज्ञानिकों और कलाकारों को सर्वोच्च महत्व प्रदान किया जाना चाहिए, क्योंकि मानव जाति की प्रगति का कार्य इनसे ही सम्भव है। इस सम्बन्ध में उसके द्वारा एक विचित्र-सी योजना तीन सदस्यों वाली पार्लियामेण्ट—का सुझाव दिया गया था। इसके पहले **'आविष्कारक सदन'** के सदस्य इन्जीनियर, कवि, चित्रकार, मूर्तिकार और संगीतज्ञ होंगे, दूसरे **'परीक्षा सदन'** के सदस्य भौतिकशास्त्र वेत्ता और गणितज्ञ होंगे तथा तीसरे **'शासक सदन'** के सदस्य उद्योगपति होंगे। पहला सदन कानूनों को प्रस्तावित करेगा, दूसरा उनकी जांच करेगा तथा तीसरा इन्हें कार्यरूप में परिणत करेगा।

साइमन के विचार उच्च और आदर्शवादी थे, किन्तु वह इन्हें व्यावहारिक रूप प्रदान करने का उपाय नहीं बता सका।

चार्ल्स फोरियर (1772-1837)—चार्ल्स फोरियर सेण्ट साइमन का समकालीन था। उसका जन्म एक निर्धन परिवार में हुआ और उसने अपना अधिकांश जीवन एक दुकान पर क्लर्क के रूप में बिताया। इस दुकान पर कार्य करते हुए उसे दो कटु अनुभव हुए, उन्होंने ही उसे पूंजीवाद का विरोधी बना दिया। पांच वर्ष की आयु में जब उसने ग्राहक को किसी वस्तु की सच्ची कीमता बतला दी, तो उसे बहुत डांट पड़ी। 19 वर्ष की आयु में उसे अपने मालिक के आदेश से चावल की बोरियां समुद्र में डुबानी पड़ीं जिससे चावल के दाम बढ़ जाएं और उसके मालिक को लाभ हो। इन बातों ने उसके सामने पूंजीवाद के दोष—झूठ, अपव्यय, बर्बादी और विनाश—नितान्त स्पष्ट कर दिए।

फोरियर का विचार है कि व्यक्ति स्वभाव से श्रेष्ठ होता है किन्तु परिस्थितियां उसे कुमार्ग पर ले जाती हैं। उसने तात्कालीन सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था की कटु आलोचना की। निर्धनता, सामाजिक असमानता और युद्ध के लिए वह निजी सम्पत्ति की व्यवस्था को उत्तरदायी मानता है और उसका विचार है कि पारिवारिक जीवन भी इसी कारण असफल रहता है। वह प्रतियोगिता प्रणाली का अन्त कर एक न्यायपूर्ण आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के पक्ष में था।

1 Laidler, *Social Economic Movements*, p. 49.

पूंजीवादी व्यवस्था के दोषों को दूर करने के लिए उसने एक विस्तृत और विचित्र-सी योजना प्रस्तुत की जिसे **'फैलेक्स'** या **'ऐच्छिक समुदायों की योजना'** कहा गया है। उसका कहना था कि लगभग 1,800 सदस्यों के छोटे-छोटे समाजों का निर्माण किया जाए। वे समस्त सदस्य मिलकर आर्थिक उत्पादन करें और सबको आवश्यकता के अनुसार निश्चित पारिश्रमिक मिले तथा उसके पश्चात् जो शेष रहे, उसे $\frac{1}{3}$, $\frac{4}{1}$ और $\frac{1}{4}$ के अनुपात में क्रमशः पूंजी, श्रम और विशेष योग्यता वाले व्यक्तियों में वितरित कर दिया जाए। फोरियर मूलतः एक सहकारवादी और विकेन्द्रीकरण का समर्थक था।

रॉबर्ट ओवन (1771-1858)—राबर्ट ओवन ब्रिटिश समाजवाद के संस्थापकों में प्रमुख और अपने समय का प्रभावशाली विचारक था। ओवन पहला व्यक्ति था, जिसने समाजवाद शब्द का प्रयोग किया। ओवन के विचार, उसकी दो पुस्तकों *'A New View of Society'* और *'The Book of the New Moral World'* में देखे जा सकते हैं।

निर्धनता से सम्पन्नता की ओर बढ़ते हुए ओवन की यह निश्चित धारणा हो गयी थी कि मनुष्य और उसकी उन्नति परिस्थितियों पर निर्भर है और परिस्थितियों में सुधार होने पर वह निश्चित रूप से प्रगति कर सकता है। उसने 1799 में न्यू लेनार्क की सूती कपड़ा मिल को खरीद कर इसे एक आदर्श वस्ती के रूप में परिणत कर दिया। न्यू लेनार्क के परीक्षण की सफलता का प्रमाण यह था कि जव रुई के अभाव में चार माह के लिए मिल वन्द हो गयी, तव भी ओवन ने मजदूरों का वेतन देना जारी रखा। ओवन का विचार था कि रोजगार दिलाने के लिए एक **'श्रम कार्यालय'** (labour bureau) स्थापित किया जाए। मजदूरों के कार्य करने के अधिकतम घण्टे निश्चित किए जाएं और 10 वर्ष से कम उम्र के वच्चों को नौकर न रखा जाए।

न्यू लेनार्क के परीक्षण में तो ओवन सफल रहा, किन्तु इसके वाद वह कल्पनावादी हो गया। उसने उत्तरी अमरीका के **'इण्डियाना'** राज्य में एक सहकारी वस्ती **'न्यू हारमानी'** (New Harmony) वसायी लेकिन कुप्रवन्ध, अनियन्त्रित व्यक्तिवाद और वौद्धिक मतभेदों के कारण यह परीक्षण असफल रहा।

उसने 1833 में **'प्रथम श्रमिक कांग्रेस'** की अध्यक्षता की। इंगलैण्ड में **'फैक्ट्री एक्ट्स'** बनवाने का श्रेय ओवन को ही प्राप्त है।

रॉबर्ट ओवन की मृत्यु के बाद इंगलैण्ड में और भी समाजवादी विचारक हुए। इनमें **विलियन थाम्पसन तथा टामस हाजस्किन** प्रमुख हैं। इस परम्परा ने कुछ अन्य विचारकों को भी प्रभावित किया। इंगलैण्ड की भांति अमरीका में भी काल्पनिक समाजवादी हुए, जिनमें अल्वर्ट ब्रिस्बैन तथा चार्ल्स डैना प्रमुख थे। कल्पनावादी समाजवाद ने एक दर्शन और प्रगति की दिशा में आगे बढ़ने के लिए अवकाश प्रदान किया।

वैज्ञानिक समाजवाद—कार्ल मार्क्स और ऐंजिल्स द्वारा प्रतिपादित समाजवादी विचारधारा को वैज्ञानिक समाजवाद के नाम से जाना जाता है। कार्ल मार्क्स का दृष्टिकोण अनिवार्यतः पूर्वकालीन समाजवादियों की अपेक्षा पूर्णतया वैज्ञानिक था। मार्क्स से पूर्व के समाजवादी विचारक आर्थिक विषमता के स्थान पर धन के न्यायोचित वितरण पर बल देते थे, किन्तु उन्होंने यह नहीं बतलाया था कि यह विषमता किन कारणों से उत्पन्न होती है और उसका उत्पादन की विधियों के साथ क्या सम्बन्ध है। उन्होंने विद्यमान अवस्था को सुधारने के लिए कोई क्रियात्मक व्यावहारिक दर्शन भी प्रदान नहीं किया था। इसी कारण इनकी विचारधारा को कल्पनावादी समाजवाद के नाम से जाना जाता है।

मार्क्स ने आधुनिक समाज का बड़ी गूढ़ता और आलोचनात्मक दृष्टि से अध्ययन किया है। उसने पूंजीवाद के दोषों का वर्णन करने के साथ-साथ पूंजीवाद का अन्त कर वर्गहीन समाज की स्थापना करने के लिए एक विधिवत् प्रक्रिया का निरूपण भी किया है। उसके द्वारा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तथा इतिहास की आर्थिक व्याख्या के आधार पर अब तक के घटना-चक्र की व्याख्या प्रस्तुत की गयी है और इस प्रकार उसने समाजवाद को उसकी भावुक तथा काल्पनिक पृष्ठभूमि से निकाल कर उसे वैज्ञानिक रूप प्रदान किया है। केवल इतना ही नहीं, वरन् समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के उद्देश्य से उसके द्वारा **'विश्व के मजदूरो एक हो जाओ'** इन शब्दों में श्रमिक वर्ग का क्रान्ति के लिए आह्वान किया गया है। उसके द्वारा श्रमिक वर्ग को संगठित करने का भी प्रत्येक सम्भव प्रयत्न किया गया और इस दृष्टि से 1834 में **'प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय'** की स्थापना एक महत्वपूर्ण कदम था। इस प्रकार उसने विद्यमान व्यवस्था की व्याख्या करने के अतिरिक्त विश्व की आर्थिक और राजनीतिक स्थिति को परिवर्तित करने का एक व्यावहारिक मार्ग भी बतलाया।

विकासवादी समाजवाद—मार्क्स द्वारा प्रतिपादित समाजवाद को एक-दूसरे नाम **'क्रान्तिकारी समाजवाद'** से भी जाना जाता है। इसका कारण यह है कि यद्यपि मार्क्स विश्व के कुछ देशों में पूंजीवाद के स्थान पर समाजवाद की स्थापना के लिए प्रजान्त्रात्मक पद्धति की ओर देखता है लेकिन उसकी सामान्य विचारधारा यही है कि पूंजीवाद के अन्त और समाजवाद की स्थापना के लिए क्रान्ति का मार्ग अपनाना आवश्यक है। उसके द्वारा वर्ग-संघर्ष की भावना को तीव्रतम रूप प्रदान करने और 'विश्व के मजदूरो एक हो जाओ' इस प्रकार के नारे लगाने से भी क्रान्ति की बात स्पष्ट होती है। कार्ल मार्क्स की विचारधारा को विश्व के अनेक देशों में अपनाया गया, लेकिन इंगलैण्ड और अमरीका जैसे कुछ देशों में प्रजातन्त्र के प्रति आस्था बहुत दृढ़ होने और सामान्य विचारधारा क्रन्ति के विरुद्ध होने के कारण मार्क्सवाद या क्रान्तिकारी समाजवाद के स्थान पर **'विकासवादी समाजवाद'** को अपनाया गया। विकासवादी समाजवाद का आशय यह है कि पूंजीवाद के स्थान पर समाजवाद की स्थापना के लिए क्रान्ति नहीं वरन् संवैधानिक और शान्तिपूर्ण साधनों को ही अपनाया जाना चाहिए। विकासवादी समाजवाद के अनेक रूप हैं जिनमें कुछ प्रमुख हैं—**समष्टिवाद, फेबीयनवाद, संशोधनवाद और प्रजातान्त्रिक समाजवाद**। विकासवादी समाजवाद के कुछ प्रमुख प्रतिपादक हैं—**सिडनी और बेट्रिस बेब, जार्ज बर्नार्ड शॉ, प्रो. ग्राहम वालस, एनी बेसेण्ट, आर. एच. टॉनी, रैम्जे मैक्डानल्ड, एटली हैरल्ट, लास्की, इवान एफ. एम. डर्बिन और जी. डी. एच. कोल**, आदि। अमरीका के विकासवादी समाजवाद का प्रतिपादन नार्मन थामस के द्वारा किया गया और भारतीय समाजवाद के प्रणेताओं—आचार्य नरेन्द्र देव, जयप्रकाश नारायण और पण्डित नेहरू—को भी विकासवादी समाजवादियों की श्रेणी में ही रखा जा सकता है।

भारत में समाजवाद का विकास

भारत में समाजवाद का आरम्भ ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध किए जाने वाले राष्ट्रीय संघर्ष में ही हुआ। सर्वप्रथम सन् 1929 के **लाहौर अधिवेशन** में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की कार्य समिति ने घोषित किया था, **"इस समिति की राय में भारतीय जनता की भयंकर दरिद्रता विदेशियों द्वारा किए गए शोषण के कारण ही नहीं है वरन् समाज की आर्थिक व्यवस्था के कारण भी है, जिसका विदेशी शासक अपना शोषण जारी रखने के लिए समर्थन करते हैं। अतः इस दरिद्रता को दूर करने और भारत की सर्वसाधारण जनता की दशा सुधारने के लिए समाज की वर्तमान सामाजिक और आर्थिक बनावट में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने पड़ेंगे।"**

सन् 1931 के करांची अधिवेशन में कांग्रेस द्वारा पास किए गए प्रसिद्ध प्रस्ताव के प्राक्कथन में कहा गया है—**"स्वराज्य से हमारा आशय देश की राजनीतिक स्वतन्त्रता से नहीं, वरन् सर्वसाधारण की आर्थिक स्वतन्त्रता से भी है।"** गांधीजी ने भारतीय आदर्शों और परिस्थितियों के अनुकूल समाजवाद का प्रतिपादन किया। स्वतन्त्रता आन्दोलन के काल में पं. जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचन्द्र बोस, मानवेन्द्र राय, आचार्य नरेन्द्र देव, जयप्रकाश नारायण और राममनोहर लोहिया, आदि नेताओं ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अन्दर और बाहर समाजवादी विचारधारा को लोकप्रिय बनाने में महत्वपूर्ण रूप से भाग लिया।

भारतीय संविधान में समाजवाद के तत्व—स्वन्त्रता-प्राप्ति के बाद सर्वप्रथम भारतीय संविधान के अन्तर्गत प्रजातान्त्रिक समाजवाद के तत्वों को अपनाया गया। इन तत्वों को भारतीय संविधान की प्रस्तावना, नीति निर्देशक तत्वों और मौलिक अधिकारों में देखा जा सकता है। संविधान में उल्लिखित निर्देशक तत्व समाजवादी व्यवस्था के सामान्य सिद्धान्त व उद्देश्य हैं। इन्हीं उद्देश्यों को बाद में कांग्रेस दल और सरकार द्वारा अधिक स्पष्ट रूप से व्यक्त किया गया है। भारतीय शासन द्वारा अपनायी गयी पंचवर्षीय योजनाओं का लक्ष्य समाजवाद की स्थापना ही रहा है।

पण्डित नेहरू के नेतृत्व में भारत में समाजवाद—स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत का नेतृत्व पण्डित नेहरू के हाथ में आया और पण्डित नेहरू अपने सार्वजनिक जीवन के प्रारम्भ से ही समाजवाद में विश्वास करते थे। अतः उनके नेतृत्व में कांग्रेस दल और भारत ने समाजवाद की दिशा में आगे बढ़ने का प्रयंत्न किया। **1955 के अबाड़ी कांग्रेस** अधिवेशन में राष्ट्रीय कांग्रेस ने **'समाजवादी ढांचे के समाज की स्थापना'** (**Socialistic Pattern of Society**) को अपना लक्ष्य घोषित किया। प्रस्ताव में ऐसे उपाय करने का निर्देश किया गया, जिससे उत्पादन के प्रमुख साधनों पर समाज का स्वामित्व और नियन्त्रण रहे, उत्पादन में वृद्धि हो और राष्ट्रीय सम्पत्ति का समुचित वितरण सम्भव हो सके।

1962 के भावनगर अधिवेशन में इसी आशय का प्रस्ताव दुहराते हुए कहा गया कि **"भारत में मूल समस्या जीवन-स्तर को ऊंचा उठाना ही नहीं, वरन् उत्तरोत्तर सामाजिक और आर्थिक समानता की स्थापना करना है।"**

राष्ट्रीय कांग्रेस के 68वें अधिवेशन द्वारा गोपवन्धुनगर (भुवनेश्वर) में 9 जनवरी 1964 को पुनः एक अत्यन्त व्यापक प्रस्ताव पारित कर प्रजातान्त्रिक समाजवाद को राष्ट्रीय नीति का आधार स्वीकार किया गया। इस क्रान्ति के उद्देश्य बतलाए गए—आर्थिक सम्पन्नता, सभी के लिए समान अवसर, विशेषाधिकारों का अन्त, रहन-सहन और विचारों के सम्बन्ध में नवीन दृष्टिकोण तथा नैतिक उत्थान। अधिवेशन में तत्कालीन अध्यक्ष श्री कामराज ने कहा था, **"हम आशा करते हैं कि वर्गीय संघर्ष के विना ही एम एक समाजवादी समाज की स्थापना करने में सफल होंगे और इस धारणा को दूर कर देंगे कि समाजवादी राज्य में व्यक्ति अपनी प्राकृतिक स्वतन्त्रता को खो देते हैं।"**

नेहरू काल में समाजवादी व्यवस्था की स्थापना की दिशा में कुछ प्रगति भी हुई। जमींदारी प्रथा की समाप्ति और जीवन बीमे का राष्ट्रीयकरण किया गया। सारे देश में सामुदायिक विकास योजनाओं का एक जाल-सा विछाया गया और विकास कार्यों में सहयोग प्राप्त करने व राज्य की शक्ति को विकेन्द्रित करने के लिए पंचायती राज्य की स्थापना की गई। सामाजिक संरक्षण और श्रम के क्षेत्र में भी अनेक कानूनों का निर्माण कर श्रमिक कल्याण की दिशा में कुछ महत्वपूर्ण कदम उठाए गए।

श्रीमती गांधी और भारतीय समाजवाद—भारत में समाजवाद की स्थापना की दिशा में प्रधानमन्त्री श्रीमती गांधी का नाम सदैव ही प्रमुख रूप से लिया जाता रहेगा। 1969 में गुटवन्दी के परिणामस्वरूप कांग्रेस का जो दो पक्षों में विभाजन हुआ, उसके पूर्व ही श्रीमती गांधी के द्वारा समाजवाद की दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाने शुरू कर दिए गए थे। 1969 के मध्य में 14 प्रमुख वैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया। 1972 के पांचवें आम चुनाव में सत्ता कांग्रेस का सवसे प्रमुख नारा **'गरीबी, बेरोजगारी और सामाजिक असमानता की समाप्ति'** था और चुनाव के आधार पर लोकसभा में दो-तिहाई वहुमत प्राप्त कर लेने के बाद श्रीमती गांधी के द्वारा सम्पत्ति के मौलिक अधिकार को सीमित किया गया, राजाओं के प्रिवीपर्स समाप्त किए गए, जोत की भूमि के समीकरण आदि से सम्बन्धित कदम उठाए गए।

वर्तमान समय में भी भारत में सभी समाजवाद की जोर-शोर के साथ बात कर रहे हैं, किन्तु अब तक इस दिशा में जिस प्रकार की व्यावहारिक सफलता अपेक्षित थी, वह सम्भव नहीं हो सकी है। भारत में समाजवाद की स्थापना में अभी वहुत कुछ किया जाना शेष है।

समाजवाद के प्रमुख सिद्धान्त

समाजवाद व्यक्तिवादी विचारधारा और पूंजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध एक सशक्त विचारधारा और आन्दोलन है। यह समानता को अपना आदर्श मानकर चलता है और राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में अधिकाधिक समानता स्थापित करना चाहता है। समाजवाद के प्रमुख सिद्धान्तों का अध्ययन निम्नलिखित रूपों में किया जा सकता है :

(1) समाजवाद का उद्देश्य पूंजीवाद का उन्मूलन है—समाजवाद व्यक्तिवादी विचारधारा तथा पूंजीवादी व्यवस्था के विरोध पर आधारित है। समाजवाद के अनुसार पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था में कुछ लोग बहुत अधिक अमीर और कुछ लोग वहुत अधिक गरीव होते जाते हैं और इस प्रकार की गम्भीर आर्थिक विषमता के परिणामस्वरूप अनेक सामाजिक भेद-भाव उत्पन्न हो जाते हैं। इस आर्थिक विषमता के कारण ही राष्ट्र की सामूहिक उन्नति नहीं हो पाती।

पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में उत्पादन का ढंग भी दोषपूर्ण है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत मानवीय आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर योजनावद्ध रूप में उत्पादन नहीं होता। कभी तो जरूरत से बहुत अधिक और कभी जरूरत से बहुत कम उत्पादन होने के कारण आर्थिक क्षेत्र में बहुत अधिक अव्यवस्था फैल जाती है। यह अव्यवस्था उपभोक्ताओं के लिए भी वहुत अधिक हानिकारक होती है, क्योंकि विज्ञापन, आदि पर बहुत अधिक धन व्यय कर दिया जाता है जिसे उपभोक्ताओं से ही वसूल किया जाता है। व्यक्तिवादी अर्थव्यवस्था में कला और प्रतिभा का भी ह्रास हो जाता है। शिल्पी जो कुछ करता है वह अपने लिए नहीं, वरन् पूंजीपति के लिए ही होता है और शिल्पी की स्थिति भी मशीन के एक पुर्जे की सी हो जाती है। पूंजीवाद के अमानवीय प्रभावों का उल्लेख करते हुए एरिक फ्रॉम (Erich Fromm) ने लिखा है, **"व्यक्ति और भी एकाकी व अकेला पड़ गया, वह अपने**

अधिकार के बाहर की अतिशय सबल शक्तियों के हाथों का साधन बन गया, वह एक व्यक्ति बन गया, किन्तु एक असमर्थ और असुरक्षित व्यक्ति।''[1] इन सबके अतिरिक्त पूंजीवादी अर्थव्यवस्था अशान्ति को जन्म देने वाली होती है। आन्तरिक क्षेत्र में इसका परिणाम वर्ग-संघर्ष और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में युद्ध व साम्राज्यवाद होता है।

इस प्रकार समाजवाद के अनुसार वर्तमान समय की पूंजीवादी व्यवस्था दोषपूर्ण, जर्जर, अन्यायी व शोषक है और सम्पूर्ण समाज के हित में इस अर्थव्यवस्था का अन्त कर दिया जाना ही श्रेयष्कर है।

(2) समाजवाद एक प्रजातान्त्रिक विचारधारा है—समाजवाद के सम्बन्ध में प्रमुख बात यह है कि यह एक प्रजातान्त्रिक विचारधारा है। अनेक बार समाजवाद को साम्यवाद का पर्यायवाची मान लिया जाता है, जो नितान्त भ्रमपूर्ण है। पूंजीवाद के विरोध में परस्पर सहमत होते हुए भी समाजवाद और साम्यवाद परस्पर नितान्त विरोधी विचारधाराएं हैं। इबन्सटीन (Ebenstein) के शब्दों में, **''ये (समाजवाद और साम्यवाद) विचार और जीवन के दो नितान्त विरोधी ढंग हैं उतने ही विरोधी जितने कि उदारवाद और सर्वाधिकारवाद।''**[2] इन दोनों विचारधाराओं में प्रमुख भेद साधनों के सम्बन्ध में देखा जा सकता है। साम्यवाद पूंजीवाद के अन्त हेतु हिंसक साधनों को अपनाने के पक्ष में है, किन्तु समाजवाद वांछित परिवर्तन प्रजातान्त्रिक संवैधानिक साधनों से ही लाने का इच्छुक है। समाजवाद प्रजातन्त्रवादी विचारधारा है, साम्यवाद सर्वाधिकारवादी।

(3) समाजवाद समाज की आंगिक एकता पर बल देता है—समाजवाद का आधारभूत विचार यह है कि व्यक्ति कोई अकेला प्राणी नहीं है वरन् वह समाज के दूसरे व्यक्तियों से उसी प्रकार सम्बन्धित है, जिस प्रकार शरीर के अंग-प्रत्यंग परस्पर सम्बन्धित होते हैं। इसलिए समाजवाद का सिद्धान्त है कि समाज को एक भीड़ या समूह मात्र न मानकर उसे एक इकाई माना जाए और व्यक्ति को समाज का एक अंग मानते हुए ही उस पर विचार किया जाए।

(4) समाजवाद प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोग को प्रतिष्ठित करता है—व्यक्तिवादियों के विपरीत समाजवादी प्रतियोगिता को एक बहुत बड़ा दोष मानते हैं और उनका विचार है कि इससे केवल धनिक वर्ग को ही लाभ होता है। प्रतियोगिता में मजदूर पूंजीपतियों का मुकाबला नहीं कर सकते, इसलिए बहुत थोड़े मूल्य पर उन्हें श्रम बेचना पड़ता है। इसके अतिरिक्त प्रतियोगिता के कारण प्रत्येक व्यवसायी अपनी चीजों को सस्ता बेचना चाहता जिससे उनकी श्रेष्ठता बिल्कुल नष्ट हो जाती है और अनेक बार किन्हीं वस्तुओं का अत्यधिक मात्रा में उत्पादन हो जाने के कारण देश की सामग्री का भी अपव्यय होता है। समाजवाद इस प्रतिस्पर्द्धा के स्थान पर सहयोग की प्रतिष्ठा करना चाहता है। डॉ. हेडन गेस्ट का कहना है कि **''मेरे विचार से समाजवाद का अर्थ स्थानीय, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय सभी क्षेत्रों में प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोग को प्रतिष्ठित करना है।''**[3]

(5) समाजवाद का ध्येय समता है—समाजवाद वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में विद्यमान असमानता का अत्यन्त विरोधी है और वह नवीन समाज का निर्माण ऐसे सिद्धान्तों के आधार पर करना चाहता है कि उसमें वर्तमान समय में पाई जाने वाली गम्भीर असमानता कम-से-कम हो जाए। योग्यता के अन्तर को तो समाजवादी भी स्वीकार करते हैं और वे भी यह मानते हैं कि पूर्ण समानता अनुचित, अनावश्यक और असम्भव है, किन्तु साथ ही उनका लक्ष्य एक ऐसे वातावरण का निर्माण करना है जिससे प्रत्येक को उन्नति के समान अवसर प्राप्त हो सकें और जहां तक सम्भव हो सके, मनुष्य के बीच ऐसी अवस्थाएं न रहें कि **'कुछ लोग बिना काम किए ही जीवित रहें और कुछ लोग काम करने पर भी न जी सकें।'**

(6) समाजवाद उत्पादन के साधनों पर सामाजिक स्वामित्व के पक्ष में है—पूंजीवादी व्यवस्था का घोर विरोधी होने के कारण समाजवाद भूमि और उद्योगों पर वैयक्तिक स्वामित्व के अन्त की मांग करता है और उत्पादन के समस्त साधनों पर सामाजिक स्वामित्व स्थापित करना चाहता है। समाजवादियों के अनुसार, **''वैयक्तिक उद्योग एक वैयक्तिक लूटमार है''** और व्यक्तिगत सम्पत्ति को सामाजिक अथवा सामूहिक सम्पत्ति का रूप देना ही श्रेयष्कर है। **ब्लैचफोर्ड** (Blacthford) के शब्दों **''भूमि तथा उत्पादन के सभी साधनों को राष्ट्रीय**

1 Fromm's speech at a Political Conference in U.S.A.

2 "The two represent two incompatible ways of thought and life as incompatible as liberalism and totalitarianism." —W. Ebenstein, *Modern Political Thought*, p. 636.

3 "Socialism, to my mind is the substitution of co-operation for competition in local, national and international affairs." —*Dr. H. Guest*

सम्पत्ति बना दो। सारे खेतों, खानों, जहाजों को राष्ट्रीय नियन्त्रण में रख दो, फिर बस व्यावहारिक समाजवाद पूरा हो जाएगा।''

(7) समाजवाद व्यक्ति की अपेक्षा समाज को प्राथमिकता देता है—एक समष्टिमूलक दर्शन होने के नाते समाजवाद का विचार है कि सम्पूर्ण समाज का सामूहिक हित अकेले व्यक्ति के हित से कहीं अधिक मूल्यवान है और आवश्यकता पड़ने पर समष्टि के हित में व्यक्ति के हित का बलिदान किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में समाजवादियों का विचार है कि सामूहिक हित में व्यक्तिगत हित निहित होता है और सामूहिक हित की साधना से व्यक्तिगत हित की साधना स्वयमेव ही हो जाती है।

(8) समाजवाद राज्य को एक सकारात्मक गुण मानता है—समाजवाद व्यक्तिवाद के इस कथन को अस्वीकार करता है कि '**राज्य एक अनावश्यक दुर्गुण है**' और इसके विपरीत राज्य को एक ऐसी कल्याणकारी संस्था मानता है, जिसका जन्म ही नागरिकों के जीवन को सभ्य और सुखी बनाने के लिए होता है। अधिकांश समाजवादी इतिहास से उदाहरण देते हुए कहते हैं कि राज्य संस्था चिरकाल से मानव जाति की सेवा करती चली आ रही है और यदि इसने कहीं बल का प्रयोग किया भी है तो सामूहिक हित के लिए ही। इस प्रकार साधारणतया समाजवादी राज्य को एक जनहितकारी सकारात्मक अच्छाई मानते हैं।

(9) समाजवादी राज्य को अधिकाधिक कार्य समर्पित करना चाहते हैं—समाजवादी राज्य को एक कल्याणकारी संस्था मानते हैं और व्यक्ति को अधिकाधिक स्वतन्त्रता प्रदान करने के लिए राज्य के कार्यक्षेत्र को व्यापक करना चाहते हैं। समाजवाद के अनुसार व्यक्तिवादी पुलिस राज्य समाज की पूरी-पूरी भलाई नहीं कर सकता और इस पुलिस राज्य में 90 प्रतिशत जनता पूंजीवादी शोषण से पिसकर अपने प्राण दे देगी। ऐसी स्थिति में गरीबों और मज़दूरों के हित में राज्य के द्वारा आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप किया जाना चाहिए। समाजवादियों के अनुसार आधुनिक राज्यों को व्यक्ति की समस्याओं में अधिक से अधिक रुचि लेनी चाहिए तभी वह एक वास्तविक लोकहितकारी राज्य का रूप धारण कर सकता है।

इस प्रकार समाजवाद व्यक्तिवाद के विरुद्ध एक ऐसी प्रतिक्रिया है जिसके द्वारा बैयक्तिक हित के स्थान पर सामूहिक हित और प्रतिस्पर्द्धा के स्थान पर सहयोग को प्रतिष्ठित करके, उत्पादनों के साधनों पर सामाजिक नियन्त्रण की पद्धति से आर्थिक समानता स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है।

समाजवाद का मूल्यांकन

व्यक्तिवाद के प्रथम प्रभाव से पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की स्थापना हुई, जिसके अन्तर्गत उत्पादन में वृद्धि होने के साथ-साथ सम्पत्ति का अधिकाधिक केन्द्रीकरण होने लगा और पूंजीपतियों व श्रमिकों को विरोधी वर्ग निर्मित हो गए। व्यक्तिवाद के इन दोषों की प्रतिक्रिया के रूप में समानता के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित करते हुए शोषण के विरुद्ध आवाज उठायी। परन्तु समाजवादी व्यवस्था का जो व्यावहारिक रूप हमारे समक्ष आया है उसे भी पूर्णतया दोष-रहित नहीं कहा जा सकता है। अतः समाजवादी सिद्धान्त व व्यवस्था के पक्ष और विपक्ष दोनों का ही अध्ययन किया जाना चाहिए।

समाजवाद के विपक्ष में
(CASE AGAINST SOCIALISM)

यद्यपि समाजवाद आज के युग का सर्वाधिक लोकप्रिय सिद्धान्त है और विश्व के लगभग सभी देश किसी न किसी रूप में समाजवाद की कटु आलोचना करते हैं। आलोचना के इस क्रम में प्रो. हर्नशा (Hearnshaw) तो यहां तक कहते हैं कि **''समाजवाद की ओर आकृष्ट होने वाले केवल दो ही वर्ग हैं—एक सनकी वर्ग और दूसरा अपराधी वर्ग।''** यद्यपि हर्नशा का यह कथन किसी भी रूप में सही नहीं है, किन्तु समाजवाद के विरुद्ध प्रस्तुत किए जाने वाले तर्कों का निम्नलिखित रूपों में अध्ययन किया जा सकता है :

(1) समाजवाद का अर्थ है सर्वसत्तावाद या नौकरशाही का अत्यधिक विकास—आलोचकों का कथन है कि समाजवादी व्यवस्था में उत्पादन तथा वितरण के सभी साधनों पर सरकार का पूरा-पूरा नियन्त्रण होगा। ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था राज्य की इच्छा पर निर्भर हो जाएगी और उत्पादन तथा वितरण के लिए राज्य अपनी इच्छानुसार कानून बना लेगा। इस प्रकार समाज के आर्थिक ढांचे पर पूर्ण दृढ़ नियन्त्रण रखने के कारण समाजवादी राज्य एक **'सर्वसत्तावादी राज्य'** (Authoritarian State) होगा। इस सर्वसत्तावादी राज्य

में राज कर्मचारियों की एक बहुत बड़ी अत्यन्त शक्तिशाली सेना खड़ी हो जाएगी, लालफीताशाही तथा भ्रष्टाचार बढ़ेगा और सरल कार्य भी देर से होंगे।

(2) उत्पादन की गति मन्द होना—पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में प्रत्येक उद्योग के साथ व्यक्ति विशेष की लाभ-हानि का प्रश्न जुड़ा हुआ है, अतः वह उद्योगपति उत्पादन की मात्रा तथा श्रेष्ठता बढ़ाने का प्रत्येक सम्भव प्रयत्न करता है, किन्तु समाजवाद में उत्पादन से होने वाला लाभ किसी एक का न होकर सबका होगा, और जैसी कि कहावत है **"सबका काम किसी का काम नहीं होता।"** मनुष्य सूझबूझ से कार्य करें और नवीन उद्योगों में प्रवृत्त हों, इस बात के लिए समाजवादी व्यवस्था में कोई प्रेरणा नहीं मिलती। समाजवाद में बुद्धिमानों, परिश्रमियों तथा योग्य व्यक्तियों की स्थिति मूर्खों, आलसियों तथा अयोग्य व्यक्तियों के समान होती है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति की कार्यकुशलता में कमी हो जाती है और उत्पादन की गति मन्द पड़ जाती है। समाजवाद में राज्य पर आवश्यकता से अधिक कार्यों का बोझ पड़ जाने से राज्य की कार्य-कुशलता कम हो जाएगी और इस बात की आशंका है कि राज्य ऐसी स्थिति में कोई भी कार्य ठीक प्रकार से न कर सकेगा।

(3) समाजवादी व्यवस्था अलोकतन्त्रीय और स्वतन्त्रता विरोधी—समाजवाद सैद्धान्तिक रूप में लोकतन्त्र और मानव स्वतन्त्रता का समर्थन अवश्य करता है किन्तु व्यवहार में यह विचारधारा राज्य को अत्यधिक शक्ति देकर अलोकतन्त्रीय और स्वतन्त्रता विरोधी रूप ग्रहण कर लेती है। व्यवहार में, समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति पूर्ण रूप से राज्य के अधीन हो जाता है, क्योंकि उद्योग से सम्बन्धित सभी बातें राज्य के अधिकारियों द्वारा ही निश्चित की जाती हैं, और श्रमिक का उसमें कोई भाग नहीं होता। व्यक्ति को राज्य के इतना अधीन बना देना उसकी स्वतन्त्रता को नष्ट कर देता है और इतनी अधिक शक्ति प्रदान कर देने से राज्य का निरंकुश हो जाना नितान्त स्वाभाविक है। लीकॉक के शब्दों में, "समाजवाद के अन्तर्गत स्वाधीनता का अन्त हो जाएगा। एक चुने हुए स्वामी के शासन के अतिरिक्त वहां और कुछ नहीं होगा। श्रमिक को अपना कार्य करने के लिए आदेश मिलेगा और वह उसका पालन करेगा।"

(4) प्रतियोगिताओं के बिना उपभोक्ताओं का अहित—समाजवादी व्यवस्था में उत्पादन तथा वितरण के साधनों का राष्ट्रीयकरण हो जाएगा, किन्तु उनका उपभोग व्यक्तिगत ही रहेगा। उत्पादन के क्षेत्र में सरकार को एकाधिकार प्राप्त होने के कारण सरकार जिस कीमत पर और जिस प्रकार की वस्तुएं वेचेगी, उपभोक्ता को विवश होकर उन्हें खरीदना पड़ेगा। सरकार श्रेष्ठ प्रकार की वस्तुएं निर्मित करने के लिए भी कोई प्रेरणा नहीं देगी। इस प्रकार समाजवाद में उपभोक्ताओं का बहुत अधिक अहित होगा।

(5) समाजवाद भी अन्यायपूर्ण है—इसमें सन्देह नहीं कि पूंजीवादी व्यवस्था अन्यायपूर्ण है लेकिन समाजवाद को भी न्यायपूर्ण नहीं कहा जा सकता है। यदि एक वर्ग विशेष धनवान बन सकता है तो इसका एक बहुत बड़ा कारण यह है कि उसके द्वारा अपने विवेक और परिश्रम का उचित उपयोग किया गया, किन्तु समाजवाद उनके द्वारा न्यायपूर्ण ढंग से अर्जित इस सम्पत्ति को छीनना चाहता है, जिसे किसी भी आधार पर न्यायोचित नहीं कहा जा सकता। इसी कारण डेविडसन तो **"समाजवाद को 'एक संगठित लुटेरापन' ही मानता है।"**[1]

(6) समाजवादी व्यवस्था अपव्ययी होगी—सामान्य अनभुव यह बतलाता है कि प्रशासनिक व्यवस्था के अन्तर्गत एक छोटे-से कार्य के लिए अनेक कर्मचारी रखे जाते हैं और फिर भी कार्य कुशलतापूर्वक सम्पन्न नहीं हो पाता। यदि यही काम निजी क्षेत्र को सौंप दिया जाए, तो इसे थोड़े से व्यक्ति थोड़े ही समय में कुशलता के साथ सम्पन्न कर लेंगे। इस प्रकार समाजवादी व्यवस्था को पूंजीवादी व्यवस्था की अपेक्षा बहुत अधिक खर्चीला कहा जा सकता है।

(7) समाजवाद में मानव का नैतिक पतन हो जाएगा—आलोचकों के अनुसार समाजवाद का नैतिक स्तर बहुत अधिक निम्न है और इस विचारधारा को सत्य और न्याय के प्राकृतिक विचारों से रहित, अवसरवादी और भौतिक विचारधारा कहा जा सकता है। समाजवादियों द्वारा श्रमिक और पूंजीपति के बीच किया गया घृणा और द्वेष का प्रचार नैतिक पतन का कारण होगा। यह भी कहा जाता है कि समाजवादी व्यवस्था में राज्य के कार्य-क्षेत्र की अधिक वृद्धि हो जाने से व्यक्तियों के स्वावलम्बन, आरम्भक और आत्मविश्वास के गुण नष्ट हो जाएंगे।

1 **"Socialism is brigandage reduced to a system."** —*Davidson*

उपर्युक्त के अतिरिक्त समाजवाद की भी अनेक आलोचनाएं की जाती हैं। आलोचकों के अनुसार समाजवादी व्यवस्था में भी पूंजीवाद के समान औद्योगिक अशान्ति रहती है। आलोचक इसे मानव मनोवृत्ति के प्रतिकूल और अयथार्थवादी विचारधारा भी कहते हैं और उनका कथन है समाजवाद परिवार जैसी स्वाभाविक, नैतिक और शाश्वत महत्व की संस्था का अन्त कर देगा। आलोचकों के अनुसार समाजवाद यथार्थवादी होने की अपेक्षा प्रचारात्मक ही अधिक है।

समाजवाद के पक्ष में तर्क
(CASE IN FAVOUR OF SOCIALISM)

समाजवाद के विपक्ष में जो विभिन्न तर्क दिए गए हैं, उनके आधार पर यह अनुमान नहीं लगाया जाना चाहिए कि समाजवाद एक सारहीन दर्शन है। समाजवाद वर्तमान विश्व की सर्वाधिक लोकप्रिय विचारधारा है और विश्व में जिस शीघ्रता के साथ इस विचारधारा का प्रचलन हुआ है, उससे यह स्वत: सिद्ध है कि औद्योगिक विश्व की वर्तमान और भविष्यकालीन सभी समस्याओं का एक मात्र हल समाजवाद ही है। आज के तथाकथित पूंजीवादी राज्य भी किसी-न-किसी रूप में उन बातों को पूरा करने के लिए प्रयत्नशील हैं, जिनका समर्थन समाजवाद द्वारा किया जाता है। समाजवाद के पक्ष में प्रमुख रूप से निम्नलिखित बातें कहीं जाती हैं :

(1) समाजवाद के प्रति की गई अधिकांश आलोचनाएं भ्रमपूर्ण हैं—समाजवाद के आलोचकों द्वारा व्यक्ति को आलसी, निकम्मा और कामचोर मानकर इस बात का प्रतिपादन किया जाता है कि समाजवादी व्यवस्था में उद्योग के अन्तर्गत कार्य करने वाले व्यक्तियों का उद्योग के साथ लाभ-हानि का प्रश्न न जुड़ा होने के कारण उन्हें कुशलतापूर्वक कार्य करने के लिए कोई प्रेरणा नहीं मिलती और उत्पादन में कमी हो जाती है। आलोचकों का यह विचार मानव स्वभाव की त्रुटिपूर्ण मान्यता पर आधारित है। इस सम्बन्ध में प्रो. जोड लिखते हैं कि **"मनुष्य स्वभावतः कामचोर नहीं है वह तो केवल अधिक कठोर, गन्दे और अत्यधिक परिश्रम के कार्यों से बचना चाहता है।"** बर्नार्ड शॉ ने भी कहा है, **"नरक की सबसे उत्तम परिभाषा निरन्तर अवकाश है।"** समाजवादी व्यवस्था में विज्ञान की सहायता से कठोर और गन्दे कार्यों को हल्का और आकर्षक बनाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत मनुष्यों में समाज सेवा की भावना को जाग्रत और विकसित किया जा सकता है जिससे सम्पूर्ण मानव समाज का हित होगा।

समाजवाद से व्यक्ति की स्वतन्त्रता सीमित हो जाएगी, यह भी एक भ्रान्ति ही है। इस सम्बन्ध में विलियम मॉरिस का यह विचार अधिक सही है कि **"समाजवाद के अन्तर्गत व्यक्ति पहले की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र ही होंगे। स्वतन्त्रता अधिक व्यापक रूप में वितरित हो जाएगी और वास्तविक परिवर्तन यह होगा कि व्यक्ति सही अर्थों में नागरिक बन जाएगा।"**[1] समाजवाद में प्राप्त आर्थिक स्वतन्त्रता व्यक्ति को सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में स्वतन्त्र कर देगी।

समाजवाद को सर्वाधिकारवाद पर आधारित नौकरशाही व्यवस्था भी नहीं कहा जा सकता। व्यक्तिवादी अर्थव्यवस्था में भी सही कार्य वह व्यक्ति नहीं करता जो व्यवसाय के लाभ-हानि का भागीदार होता है। कर्मचारी वर्ग का सहारा तो दोनों ही प्रकार की व्यवस्थाओं में लेना पड़ता है। इसके अतिरिक्त समाजवाद का लक्ष्य उत्तरदायित्वपूर्णता है, निरंकुशता नहीं। समाजवाद की आलोचनाएं तो भ्रमपूर्ण हैं ही, इसके विपरीत समाजवाद कुछ सकारात्मक श्रेष्ठताओं पर आधारित है।

(2) समाजवाद वर्तमान व्यवस्था की बुराइयों का प्रभावशाली वर्णन है—समाजवाद वर्तमान व्यवस्था की बुराइयों का स्पष्ट, विस्तृत और प्रभावशाली वर्णन है। समाजवाद पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत निर्धन वर्ग के दु:खों और कष्टों का व्यापक वर्णन करता है और नागरिकों को पूंजीवादी व्यवस्था की बुराइयां दूर करने का सन्देश प्रदान करता है। लेवेलिये (Leveleye) के अनुसार, "समाजवाद ने वर्तमान सामाजिक व्यवस्था की बुराइयों और असमानताओं की ओर ध्यान आकर्षित कर और सभी सहृदय व्यक्तियों में इन बुराइयों को दूर करने की इच्छा उत्पन्न कर एक महान सेवा प्रदान की है।"

1 "My conclusion is that men and women will be more free, not less free under socialism. Freedom will be more widely disseminated..... The real change will be that a man will become a citizen." —W. Morris; *Challenge of Socialism*, p. 267.

(3) समाजवाद आज की आर्थिक अव्यवस्था का सुन्दर हल है—समाजवाद वर्तमान आर्थिक जीवन की बुराइयों का वर्णन करने के साथ-साथ इन बुराइयों को दूर करने का व्यावहारिक मार्ग भी बतलाता है। आज के समाज में जो भी शोषण, अन्याय तथा भीषण असमानता दिखाई देती है, उन सबका मूल कारण पूंजी का असमान वितरण और उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व है। ऐसी स्थिति में उत्पादन के साधनों पर सामाजिक स्वामित्व की स्थापना हो जाए और सबको उपभोग के लिए बराबर मिले, तो वर्तमान काल की सभी आर्थिक और उनके परिणामस्वरूप उत्पन्न सामाजिक तथा राजनीतिक बुराइयों का अन्त हो जाए। इस सम्बन्ध में पूंजी तथा सम्पत्ति के राष्ट्रीयकरण द्वारा समाजवाद एक निश्चित कार्यक्रम तथा सुझाव रखता है, जिसके आधार पर एक न्यायपूर्ण आर्थिक व्यवस्था की स्थापना की जा सकती है।

(4) समाजवाद में सम्पत्ति का अपव्यय नहीं होगा—व्यक्तिवादी अर्थव्यवस्था में आपसी प्रतियोगिता के कारण विपणन, आदि पर बहुत खर्च करना पड़ता है। किसी वस्तु के उत्पादन केन्द्र से उपभोक्ता तक पहुंचने में उसे अनेक मध्यस्थों के हाथों से गुजरना होता है और ऐसी स्थिति में उपभोक्ता को वह वस्तु खरीदने के लिए उसके लागत मूल्य से बहुत अधिक व्यय करना होता है। इसके विपरीत समाजवादी व्यवस्था में आवश्यकतानुसार उत्पादन होने तथा विज्ञापन और मध्यस्थों की कोई आवश्यकता न होने के कारण बहुत अधिक मितव्ययता सम्भव हो सकेगी।

(5) समाजवाद सबको उन्नति के समान अवसर देगा—समाजवाद का लक्ष्य समानता है और लक्ष्य की प्राप्ति के लिए समाजवाद सभी व्यक्तियों को उन्नति के समान अवसर देने की व्यवस्था करता है। समाजवाद व्यक्तियों और राष्ट्र के चरित्र एवं भाग्य निर्धारण में वातावरण के महत्व को स्वीकार करता है और एक ऐसे वातावरण के निर्माण पर जोर देता है, जिसमें प्रत्येक के द्वारा अपने व्यक्तित्व का उच्चतम विकास किया जा सके। समाजवादी व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति को उसकी इच्छा, शक्ति एवं योग्यता के अनुसार ही काम देने पर भी जोर दिया जाता है।

(6) समाजवाद पर-परिश्रमजीवी वर्ग का अन्त कर देगा—समाजवादी दर्शन **'जो काम नहीं करेगा वह खायेगा भी नहीं'** (He, who will not work, neither shall he eat) के विचार पर आधारित है। इससे स्पष्ट है कि समाजवाद में स्वयं परिश्रम कर रोजी कमाने वाले वर्ग को ही जीवित रहने का अधिकार होगा और आज की सामाजिक व्यवस्था में विद्यमान पर-परिश्रमजीवी पूंजीपति वर्ग का अन्त हो जाएगा। समाजवाद का यह विचार और कार्य पूर्णतया न्यायोचित है।

(7) समाजवाद भ्रातृत्व तथा समाज सेवा को बढ़ाता है—समाजवादी राज्य समानता पर आधारित होगा और इस राज्य के सदस्य सामूहिक हानि-लाभ के विचार को ध्यान रखते हुए भ्रातृभाव की ओर अग्रसर होंगे। व्यक्तियों पर समाजवादी व्यवस्था को अपनाने में मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी पड़ेगा और इस बात की आशा की जा सकती है कि समाजवादी व्यवस्था में उनकी प्रवृत्ति व्यक्तिगत स्वार्थों की तुष्टि के स्थान पर सामूहिक हितों की साधना ही हो जाएगी।

(8) समाजवाद एक न्यायपूर्ण तथा जनतान्त्रिक विचारधारा है—राजकीय क्षेत्र में समाजवाद जनतन्त्र के प्रति विश्वास व्यक्त करता है, क्योंकि राजतन्त्रीय या कुलीनतन्त्रीय व्यवस्था में अनिवार्य रूप से विद्यमान भेद समाजवाद को मान्य नहीं है। इसके अतिरिक्त समाजवाद उत्पादन पर **'सामूहिक स्वामित्व'** (collective ownership) और उसकी **'सामूहिक व्यवस्था'** (collective management) का समर्थक है, जो पूर्णतया प्रजातन्त्रीय या न्यायोचित विचार है। वास्तव में प्रजातन्त्र और समाजवाद परस्पर पूरक हैं जिनमें से एक राजनीतिक समानता का प्रतिपादन करता है, तो दूसरा आर्थिक समानता का। **लैडलर के शब्दों में, ''प्रजातान्त्रिक आदर्श का आर्थिक पक्ष वास्तव में समाजवाद ही है।''**[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि समाजवादी विचारधारा के आभारभूत तत्वों को सभी वर्गों के लोग स्वीकार करते हैं और समाजवाद के व्यावहारिक रूप के सम्बन्ध में मतभेद होते हुए भी यह सर्वत्र ही स्वीकार कर लिया गया है कि लोक-कल्याण की दृष्टि से राज्य द्वारा आर्थिक क्षेत्र और मानव जीवन के सभी पक्षों पर प्रभावपूर्ण नियन्त्रण रखा जाना चाहिए। समाजवाद के पक्ष में सबसे बड़ा व्यावहारिक तर्क यह है कि आज के पूंजीवादी राज्य भी उन सिद्धान्तों को कार्यरूप में परिणत करने हेतु प्रयत्नशील हैं, जिनका प्रतिपादन

1 **"The economic side of the democratic ideal, is in fact, socialism itself."**

—**Laidler, *Social and Economic Movement*, p. 163.**

समाजवाद करता है। आज मानव जाति एक ऐसे चौराहे पर खड़ी है जिसके सभी मार्ग समाजवाद की ओर ले जाने वाले हैं।

व्यक्तिवाद और समाजवाद (पूंजीवाद और समाजवाद)

व्यक्तिवाद और समाजवाद आधुनिक राजनीतिक चिन्तन की दो सबसे अधिक प्रमुख विचारधाराएं हैं। औद्योगिक क्रान्ति के बाद यूरोपियन देशों के द्वारा व्यक्तिवादी व्यवस्था को अपनाया गया था और इस व्यवस्था को अपनाने के जो दुष्परिणाम प्रकट हुए, उनकी प्रतिक्रिया स्वरूप ही समाजवाद का जन्म हुआ। व्यक्तिवाद और समाजवाद इन दोनों ही विचारधाराओं का लख्य व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास है। प्रो. जोड के शब्दों में, **"समाजवादियों और व्यक्तिवादियों के उद्देश्य में विशेष अन्तर नहीं है। दोनों ही व्यक्ति को अधिकाधिक स्वतन्त्रता प्रदान करने के पक्ष में हैं।"**[1] लेकिन इन विचारधाराओं के अनुसार इस लक्ष्य की प्राप्ति के साधन भिन्न हैं। इन दोनों विचारधाराओं के भेदों का अध्ययन निम्नलिखित रूपों में किया जा सकता है :

(1) दोनों विचारधाराओं के मूल आधार में भेद—इन दोनों विचारधाराओं के मूल आधार में आधारभूत भेद हैं। यदि व्यक्तिवाद व्यक्ति को केन्द्र मानकर चलता है तो समाजवाद समाज को। व्यक्तिवाद का विचार है कि व्यक्ति ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व है और समाज एवं राज्य व्यक्तियों के समूह मात्र ही हैं। इसलिए सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था का निर्धारण व्यक्ति को ही केन्द्र मानकर किया जाना चाहिए। व्यक्तिवाद व्यक्ति को साध्य एवं समाज और राज्य को मानव व्यक्तित्व के विकास का साधन मात्र मानता है। इसके निरन्तर विपरीत समाजवाद समाज पर आश्रित है और उसका सिद्धान्त है कि व्यक्ति समाज के लिए है, समाज व्यक्ति के लिए नहीं। समाजवाद का विचार है कि समष्टि के कल्याण में ही व्यक्ति का कल्याण निहित है और सामाजिक हित की साधना ही हमारा प्रमुख लक्ष्य होना चाहिए। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि **"जहां व्यक्तिवाद व्यक्ति के हितों पर आधारित है, वहां समाजवाद का आधार समाज और सामाजिक हित हैं।"**[2]

(2) राज्य के सम्बन्ध में भेद—व्यक्तिवादी राज्य का विरोध करते हुए कहते हैं कि **'राज्य एक आवश्यक बुराई है।'** व्यक्तिवादियों का विचार है कि राज्य की उत्पत्ति मानव स्वभाव में निहित स्वार्थ और संघर्ष की भावना के कारण हुई है और इसीलिए राज्य आवश्यक होते हुए भी मानव के नैतिक कल्याण में सहायक न होकर बाधक ही है।

इसके अतिरिक्त समाजवाद राज्य को अनिवार्य और नैतिक संस्था मानता है। राज्य समाज का राजनीतिक रूप है और समाज व्यक्ति की समष्टि। व्यक्ति का सुख, हित और विकास सब कुछ राज्य के कारण और राज्य के अन्तर्गत ही सम्भव है। राज्य मानव जीवन की सामाजिकता और सद्गुणों का परिणाम है और व्यक्ति का आर्थिक, सामाजिक और नैतिक कल्याण राज्य के अधीन रहने में ही है। इस प्रकार जहां व्यक्तिवादी राज्य को एक बुराई मानता है, समाजवाद इसे मानव स्वभाव की सामाजिकता पर आधारित एक सकारात्मक सद्गुण मानता है।

(3) राज्य के कार्यों में भेद—व्यक्तिवादी राज्य के कार्यक्षेत्र को सीमित रखने के पक्ष में हैं। व्यक्तिवादी स्पेन्सर कहता है कि **"राज्य की सत्ता इसलिए आवश्यक है कि समाज में अपराध हैं, अतः राज्य का कर्तव्य रक्षा करना एवं अपराधों को रोकना है न कि सार्वजनिक हित का पोषण करना और समुन्नत करना।"** व्यक्तिवाद का विचार है कि शक्ति पर आधारित होने के कारण राज्य व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में सहायक न होकर बाधक ही होता है, अतः राज्य के द्वारा कम-से-कम कार्य ही किए जाने चाहिए।

समाजवाद के अनुसार राज्य को न केवल निषेधात्मक वरन् सकारात्मक कार्य भी करने चाहिए। व्यवहार में शान्ति और सुरक्षा स्थापित करने के अतिरिक्त राज्य के द्वारा वे सभी कार्य भी किए जाने चाहिए, जो व्यक्ति को सुखी, समृद्ध और सन्तुष्ट करते हैं। समाजवाद का लक्ष्य एक पुलिस राज्य के स्थान पर लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना है, जिसके द्वारा राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक समानता की स्थापना के लिए सभी सम्भव प्रयत्न किए जाते हैं।

1 "The aims of socialists and individualists do not in the long run differ, each aims at giving to the individual the maximum amount of liberty." —C.E.M. Joad

2 "Whereas individualism converges on the individuals interests, the basis of socialism is social interest."

(4) मानव स्वतन्त्रता सम्बन्धी दृष्टिकोण में भेद—मानव स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में भी व्यक्तिवादी और समाजवादी विचारधारा में आधारभूत भेद हैं। व्यक्तिवादी विचारधारा के अनुसार स्वतन्त्रता का अर्थ **'नियन्त्रण का अभाव'** है और यदि व्यक्ति पर कोई भी नियन्त्रण हो तो उसे स्वतन्त्र नहीं माना जा सकता है। व्यक्तिवाद के अनुसार मानव स्वतन्त्रता व्यक्ति की आन्तरिक प्रवृत्तियों के अनुसार कार्य करने में ही निहित है और यह तभी सम्भव है जबकि राज्य या समाज के दूसरे व्यक्तियों द्वारा व्यक्ति विशेष के कार्यों में अनावश्यक हस्तक्षेप न किया जाए। मानव स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में अपनी इसी धारणा के आधार पर व्यक्तिवादी **'व्यक्ति को अकेला रहने दो'** का प्रतिपादन करते हैं।

लेकिन समाजवाद के अनुसार व्यक्ति की स्वतन्त्रता अनियन्त्रित रूप से सभी प्रकार के कार्य करने में नहीं, वरन् केवल उन्हीं कार्यों को करने में निहित है जो व्यक्तिगत तथा सामाजिक दृष्टि से करने योग्य और वांछनीय हैं। समाजवाद के अनुसार साधारणतया सामाजिक और राजनीतिक बन्धनों के अन्तर्गत रहकर जीवन व्यतीत करने में ही स्वतन्त्रता निहित है। वास्तव में, यदि व्यक्तिवाद व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर जोर देता है तो समाजवाद व्यक्ति की पारस्परिक समानता पर। **एम. टंगन बेरेनोवस्की** (M. Tungan Baranowsky) के अनुसार, **"आधुनिक समाजवाद की नैतिकता का मौलिक आधार मनुष्य की समानता के सिद्धान्त को स्वीकार करना होना चाहिए।"**[1] अतः यह कहा जा सकता है कि **'यदि व्यक्तिवाद व्यक्ति के हितों पर आधारित है तो समाजवाद का आधार समाज और सामाजिक हित है।"**

(5) आर्थिक व्यवस्था के सम्बन्ध में भेद—व्यक्तिवाद आर्थिक क्षेत्र में व्यक्ति की स्वतन्त्रता का समर्थक है और उसका विचार है कि राज्य के द्वारा स्वाभाविक आर्थिक शक्तियों और प्रवृत्तियों के कार्य में कोई बाधा नहीं डाली जानी चाहिए किन्तु समाजवाद सर्वमान्य जनता के हित में आर्थिक क्षेत्रों में बहुत कुछ सीमा तक राज्य का प्रभुत्व स्थापित करने के पक्ष में है।

इस प्रकार व्यक्तिवाद और समाजवाद इन दोनों विचारधाराओं का अन्तिम लक्ष्य एक ही मानव कल्याण और व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास है। किन्तु इस लक्ष्य की प्राप्ति के साधनों में इन दोनों विचारधाराओं में भेद है। **"जहां व्यक्तिवाद स्वतन्त्रता पर बल देता है, वहां समाजवाद समानता पर।"**

निबन्धात्मक प्रश्न

1. समाजवाद क्या है? समाजवाद के पक्ष तथा विपक्ष में दी जाने वाली युक्तियों का उल्लेख कीजिए।
2. "समाजवाद एक ऐसा आर्थिक और राजनीतिक दर्शन है जिसका जन्म पूंजीवाद के विरोध में हुआ है।" व्याख्या सहित समझाइए और क्रान्तिवादी तथा विकासवादी समाजवाद की धाराओं में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
3. "समाजवाद का उद्देश्य व्यक्तिगत हित के स्थान पर सामाजिक सेवा की भावना को स्थान देना है।" विवेचना कीजिए।
4. "जहां व्यक्तिवाद असमानता पर वल देता है, वहां समाजवाद समानता पर।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।
5. "जहां व्यक्तिवाद व्यक्ति के हित पर केन्द्रित है, समाजवाद की बुनियाद समाज और सामाजिक हित है।" स्पष्ट कीजिए।
6. समाजवादी परस्पर विरोधी सम्प्रदायों में विभक्त हैं, वे उद्देश्य और पद्धतियों दोनों की दृष्टि से परस्पर पृथक् हैं, समाजवाद के समकालीन महत्वपूर्ण सम्प्रदायों के सम्बन्ध में इस कथन की विवेचना कीजिए।

1 **"The ideal of equality of man must be recognised as the fundamental ethical tenet of modern socialism."**
—Baranowsky

20

गांधीवाद
(GANDHISM)

"व्यक्ति की दो अन्तरात्माएं नहीं हो सकतीं—एक व्यक्तिगत एवं सामाजिक और दूसरी राजनीतिक। मानवीय कार्यों के सभी क्षेत्रों में एक ही नैतिक संहिता का पालन किया जाना चाहिए........हमें सत्य और अहिंसा को केवल व्यक्तिगत व्यवहार के ही नहीं, वरन् संघों, समुदायों और राष्ट्रों के व्यवहार के सिद्धान्त बनाना है।"[1]

गांधीवाद का तात्पर्य

गांधीवाद के सम्बन्ध में सर्वप्रथम प्रश्न यह है कि क्या गांधीवाद नाम की कोई वस्तु है? स्वयं गांधीजी ने 1936 में सांवली सेवा संघ में प्रवचन करते हुए कहा था, **"गांधीवाद नामक कोई वस्तु नहीं है। मैं अपने बाद कोई सम्प्रदाय छोड़ना नहीं चाहता। मैं किन्हीं नये सिद्धान्तों या किसी मत को चलाने का दावा नहीं करता। मैंने तो केवल अपने ढंग से आधारभूत सच्चाइयों को अपने नित्य प्रति के जीवन एवं समस्याओं पर लागू करने का प्रयत्न किया है। मैंने जो मत बनाये तथा निष्कर्ष निकाले हैं, वे सब अन्तिम नहीं हैं। मैं कल ही उन्हें परिवर्तित कर सकता हूं। दुनिया को सिखाने के लिए मेरे पास कुछ नहीं है। सत्य और अहिंसा उतने ही पुरातन हैं जितने कि पहाड़। मैंने तो केवल इन दोनों को यथासम्भव विस्तृत क्षेत्र में प्रयोग का प्रयत्न किया है........आप इसे गांधीवाद न कहें, इसमें कोई वाद नहीं है।"[2]**

इस प्रकार यदि वाद से अभिप्राय किन्हीं सिद्धान्तों या मतों से है जो एक निश्चित सूत्र में पिरोये हुए हों तो निश्चित रूप से गांधीवाद जैसी कोई वस्तु नहीं है। गांधीजी कभी भी अपने विचारों के बारे में पूर्णता का दावा नहीं करते थे। वे तो सदा सत्य और अहिंसा के साथ प्रयोग करते रहे और ऐसा करने में उनसे जो भी भूलें हुईं उन्होंने उन भूलों को स्वीकार किया और उनसे सीखा। उन्होंने अपनी आत्मकथा को भी **'सत्य के साथ मेरे प्रयोग'** (*My Experiments with Truth*) का नाम दिया है। गांधीजी ने अन्तिम रूप से या आगामी समय के लिए कोई मत प्रतिपादित नहीं किया और न वे यह चाहते थे कि उनके अनुयायियों के द्वारा उनका अन्धानुकरण किया जाय। उन्होंने किसी प्रणाली का निर्माण नहीं किया और न ही किसी वाद का संस्थापन ही किया।

तो भी गांधीजी का एक निश्चित जीवन-दर्शन था। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जटिलताओं के समाधान के लिए उनके कुछ विशेष सिद्धान्त एवं उनकी अपनी पद्धति थी। उनके इन सिद्धान्तों और उनकी कार्य पद्धति को ही सामूहिक रूप से 'गांधीवाद' के नाम से पुकारा जा सकता है। गांधीवाद की परिभाषा का प्रयत्न करते हुए डॉ. पी. एस. रमाया लिखते हैं, **"गांधीवाद नीतियों, सिद्धान्तों, नियमों, आदेशों और निषेधों, आदि का सिद्धान्त ही नहीं, वरन् जीवन का एक रास्ता है। इनके द्वारा जीवन की समस्याओं के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण का प्रतिपादन या पुरातन दृष्टिकोण की पुनर्व्याख्या करते हुए आधुनिक समस्याओं के लिए पुरातन हल प्रस्तुत किये गये हैं।"**

---

1 "There could not be two consciences of man, one individual and social and the other political. The same code of morality had to be observed in all shperes of human activity.......We have to make truth and non-violence matters, not merely for individual practice, but for practice by groups, communities and nations. That at any rate is my dream." —M. Gandhi, *Harijan*, March 2, 1934.

2 Sitaramayya, B. P. : *Gandhi and Gandhism*, p. 26.

गांधीवाद के प्रेरणा स्त्रोत

गांधीवादी विचारधारा के प्रधान प्रेरणा स्रोतों को मूल रूप से दो भागों में बांटा जा सकता है—पूर्वी और पश्चिमी। पूर्वी स्रोतों में सर्वप्रथम उन पर अपनी माता के व्यक्तिगत जीवन की पवित्रता और पिता की सादगी एवं सदाचार का अमिट प्रभाव पड़ा। उन्होंने अपनी माता से वैष्णव हिन्दू धर्म के संस्कार प्राप्त किये। उनके जीवन और विचार पर अन्य प्रभावों में जैन और बौद्ध धर्म, गीता और उपनिषद्, भारत के विभिन्न साधु-सन्तों के उपदेश एवं प्रमुख रूप से जैन साधक श्री रामचन्द्रजी के सम्पर्क का उल्लेख किया जा सकता है। गांधीजी ने अपनी विचारधारा के मूल आधार सत्य और अहिंसा को जैन और बौद्ध दर्शन से ग्रहण किया था और गांधीजी ने अपने प्रथम चरित्र लेखक एक **मिशनरी डोक** को बताया था कि अहिंसक प्रतिकार की कल्पना मुझे सर्वप्रथम **श्याम भट्ट** द्वारा रचित गुजराती कविता से सूझी थी, जिसका सारांश इस प्रकार था—"**यदि कोई तुम्हें पानी पिलाये और तुमने भी बदले में उसे पानी पिलाया, तो उसका कोई महत्व नहीं है। अपकार के बदले उपकार करने में ही खूबी है।**" भगवद्गीता ने अहिंसा और कर्म में गांधीजी के विश्वास को दृढ़ करने का कार्य किया।

गांधीजी की विचारधारा के पश्चिमी स्रोतों में **बाइबल** विशेषतया उसके अध्याय **'पर्वत प्रवचन'** (Sermon on the Mount), तथा **टालस्टॉय, रस्किन** और **थोरो** की रचनाएं हैं। गांधीजी ने 'पर्वत प्रवचन' वाले भाग में इस बात को ग्रहण किया कि "**अत्याचारी का प्रतिकार मत करो, वरन् जो तुम्हारे सीधे गाल पर चांटा मारे उसके सामने बायां गाल भी कर दो, अपने शत्रु से प्रेम करो।**" गांधीजी ने 1896 में नेपाल जाते हुए रास्ते में अपने मित्र पोलक द्वारा दी गयी जॉन रस्किन की पुस्तक '*Unto this Last*' को पढ़ा और वे इससे इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने '**सर्वोदय**' के नाम से इसका गुजराती में अनुवाद किया। इस पुस्तक से उन्होंने तीन बातें सीखीं—(1) एक व्यक्ति का हित सभी व्यक्तियों के हित में निहित है। (2) एक वकील के कार्य का भी उतना ही महत्व है जितना कि नाई के कार्य का, क्योंकि सभी व्यक्तियों को अपने कार्य से आजीविका प्राप्त करने का समान अधिकार है। (3) शारीरिक श्रम करने वाले किसान या कारीगर का जीवन ही वास्तविक जीवन है। गांधीजी ने रस्किन से प्रभावित होकर बुद्धि की अपेक्षा चरित्र पर अधिक बल दिया, आत्मिक बल को सर्वोच्च स्थान दिया, जीवन के राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में धर्म को महत्ता दी और पूंजीपतियों से यह अपेक्षा तथा आशा रखी कि वे मजदूरों के संरक्षक बनें और उनसे पितृ-तुल्य व्यवहार करें।

गांधीजी पर अमरीकन अराजकतावादी लेखक **हेनरी डेविड थोरो** का भी प्रभाव पड़ा। थोरो का सिद्धान्त था कि भलाई को बढ़ाने वाले सभी लोगों तथा संस्थाओं के साथ सहयोग एवं बुराई को प्रोत्साहित करने वालों के साथ असहयोग किया जाना चाहिए। थोरो मनुष्य की स्वाभाविक भलाई और राज्यहीन समाज के आदर्श में विश्वास रखता था और दास-प्रथा के प्रश्न पर उसने अमरीकन सरकार के साथ निष्क्रिय और सक्रिय प्रतिकार के मत का समर्थन किया था। उसका विचार था कि दास-प्रथा जैसे नैतिक प्रश्न पर राज्य की आज्ञा भंग कर कर-विषयक कानून तोड़ा जाना चाहिए और इस सम्बन्ध में अहिंसा का पालन आवश्यक नहीं है। गांधीजी ने थोरो की विचारधारा को संशोधित करते हुए इस बात पर बल दिया कि सरकार के अनैतिक कानूनों का विरोध तो अवश्य किया जाना चाहिए, लेकिन ऐसा करते हुए हमारा व्यवहार अहिंसक ही होना चाहिए। थोरो की पुस्तक '*On the Duty of Civil Disobedience*' ने उन पर पर्याप्त प्रभाव डाला।

गांधीजी पर रूसी लेखक टालस्टॉय की रचनाओं '**संक्षिप्त सुसमाचार**' (*Gospel in Brief*), '**क्या करें**' (*What to do*) तथा '**स्वर्ग तुम्हारे भीतर है**' (*The Kingdom of God is within You*) ने भी उन पर प्रभाव डाला। इनमें से अन्तिम पुस्तक का उन पर विशेष और स्थायी प्रभाव पड़ा। इस पुस्तक के अध्ययन से पूर्व गांधीजी के मन में अहिंसा के सम्बन्ध में अनेक सन्देह थे। इस पुस्तक ने उन सभी सन्देहों का निराकरण कर दिया।

उपर्युक्त विचारकों तथा उनकी रचनाओं के अतिरिक्त गांधीजी पर **कार्लायल** की **'वीर पूजा'** (Hero Worship) तथा **हजरत मुहम्मद** और उसके उत्तराधिकारियों के जीवन-चरित्र का भी प्रभाव पड़ा।

गांधीवादी दर्शन का मूल आधार धर्म (सत्य और अहिंसा)
अथवा
राजनीति का आध्यात्मिककरण
(SPIRITUALIZATION OF POLITICS)

राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में ऐसे अनेक विचारक हुए हैं, जिन्होंने राजनीति और धर्म को एक-दूसरे से पृथक् किया है। मैकियावेली और हॉब्स जैसे कुछ विचारकों ने तो न केवल धर्म को राजनीति से पृथक् किया, वरन् उसे राजनीति से निम्न स्थान प्रदान किया तथा उसे राजनीति द्वारा मर्यादित भी किया। परन्तु गांधीजी की विचारधारा इसके नितान्त विपरीत है। गांधीजी के द्वारा राज्य, शासन, समाज और आर्थिक संगठन के सम्बन्ध में जो भी विचार व्यक्त किये गये हैं, उन सभी विचारों का मूल आधार उनका धार्मिक दृष्टिकोण ही है।

गांधीजी मूलतः धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे और जिस प्रकार उन्होंने अपने जीवन में धर्म का निर्वाह किया, उस आधार पर उन्हें भारतीय परम्परा का एक महान् सन्त कहा जा सकता है। एक धार्मिक नेता होते हुए भी गांधीजी धार्मिक रूढ़िवादिता और धर्मान्धता के समर्थक नहीं थे और धर्म के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण लौकिक और मानवतावादी था। वे प्राणिमात्र की सेवा ही वास्तविक आध्यात्मिक जीवन का मूल तत्व मानते थे और उनका कथन था, **'मानव क्रियाओं से पृथक् कोई धर्म नहीं है।'** इसी प्रकार वे 'राजनीति' शब्द में 'नीति' अर्थात् 'धर्म' और 'मानवता' को प्राथमिकता देते थे, 'राज' अर्थात् सत्ता को नहीं। धर्म के सम्बन्ध में अपने इस लौकिक दृष्टिकोण के कारण ही गांधीजी ने राजनीति में प्रवेश कर राजनीति में नीति के महत्व का प्रतिपादन किया। स्वयं गांधीजी के शब्दों में, **"उस समय तक मैं धार्मिक जीवन व्यतीत नहीं कर सकता था, जब तक कि मैं स्वयं को सम्पूर्ण मानवता के साथ एकीकृत न कर लेता और मैं यह उस समय तक नहीं कर सकता था, जब तक कि राजनीति में भाग नहीं लेता।"**[1]

गांधीजी की राजनीतिक विचारधारा का मूल आधार राजनीति के प्रति उनका आध्यात्मिक दृष्टिकोण ही है। गांधीजी धर्म और राजनीति को पृथक् करने के पक्ष में नहीं थे। स्वयं गांधीजी के शब्दों में, **"जो यह कहते हैं कि धर्म का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है, वे यह नहीं समझते कि धर्म का अर्थ क्या है। धर्म से पृथक् कोई राजनीति नहीं हो सकती। धर्म से पृथक् राजनीति तो मृत्यु जाल है क्योंकि यह आत्मा का हनन करती है।"**

गांधीजी का विचार है कि राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक कार्यों को पूर्णतया पृथक् भागों में विभाजित नहीं किया जा सकता और मानवीय कार्यों से पृथक् रूप में धर्म का कोई अस्तित्व नहीं है। धर्म मानव के सभी कार्यों को एक ऐसा नैतिक आधार प्रदान करता है, जिसके अभाव में मानव के सभी कार्यों का महत्व समाप्त हो जायेगा। गांधीजी इस बात को स्वीकार करने के लिए कदापि तैयार नहीं थे कि व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के मापदण्ड अलग-अलग होने चाहिए, वरन् उनका विचार तो यह था कि मानवीय कार्यों के सभी क्षेत्रों में एक ही नैतिक संहिता लागू की जानी चाहिए। इस सम्बन्ध में उनका कहना था कि **"व्यक्ति की दो अन्तरात्माएं नहीं हो सकतीं—एक व्यक्तिगत एवं सामाजिक और दूसरी राजनीतिक। मानवीय कार्यों के सभी क्षेत्रों में एक ही नैतिक संहिता का पालन किया जाना चाहिए।"**

उनका लक्ष्य तो सत्य और अहिंसा को व्यक्तिगत व्यवहार ही नहीं, वरन् सार्वजनिक व्यवहार का आधार बनाना था और उन्होंने इसी लक्ष्य-प्राप्ति हेतु सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया। उनके शब्दों में, **"मैं यदि राजनीति में भाग लेता हूं तो इसका केवल यही कारण है कि राजनीति हमें एक सर्पिणी की भांति जकड़े हुए है और हम चाहे कितना ही प्रयास क्यों न करें, उससे बाहर नहीं निकल सकते। मैं इस सर्पिणी से जूझना चाहता हूं। मैं राजनीति में धर्म को प्रविष्ट करने का प्रयास कर रहा हूं।"**[2]

उन्होंने स्वयं का सार्वजनिक जीवन सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों पर व्यतीत कर राजनीति में **आध्यात्मिकता को प्रकट किया।'**

1 "I could not be leading a religious life, unless I identified myself with the whole mankind and that I could not do, unless I took part in politics." —*Mahatma Gandhi*

2 M. K. Gandhi, *My Experiements with Truth*, p. 591.

सत्य

गांधीवादी विचारधारा में सर्वोच्च महत्व सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों को प्राप्त है। सत्य और अहिंसा को गांधीजी मनुष्य के अन्तर्निहित धार्मिक भाव के विकास के लिए अपरिहार्य समझते थे। इन दोनों का एक अविभाज्य जोड़ा है। गांधीजी के लिए सत्य ईश्वर है और जो व्यक्ति दूसरे को आघात पहुंचाता है, वह सत्य का उल्लंघन करता है। हिंसा असत्य है, क्योंकि वह जीवन की एकता और पवित्रता के विरुद्ध है। इसलिए जीवन में अहिंसा का पालन करना सत्य के उपासक का सबसे बड़ा कर्तव्य है। सत्य और अहिंसा को सर्वोत्कृष्ट कहना गांधीजी की कोई मौलिक बात न थी। उनकी देन तो यह है कि **उन्होंने सत्य और अहिंसा को एक व्यापक अर्थ दिया और एक व्यापक स्तर पर उनका प्रयोग किया।**

सत्य क्या है, इसके उत्तर में गांधीजी ने कहा था, "**यह एक बड़ा कठिन प्रश्न है, किन्तु स्वयं अपने लिए मैंने इसे हल कर लिया है। तुम्हारी अन्तरात्मा जो कहती है, वही सत्य है।**" पर सत्य को ग्रहण कर उसे व्यक्त करने के लिए अन्तरात्मा शुद्ध होनी चाहिए, क्योंकि शुद्ध अन्तरात्मा की वाणी ही सत्य हो सकती है। अन्तरात्मा की शुद्धि के लिए साधना की आवश्यकता होती है और यह साधना जीवन में सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को अपनाकर की जा सकती है। गांधीजी का विचार था कि देहधारियों के लिए पूर्ण सत्य की प्राप्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि मानव आत्म-शुद्धि के इन साधनों को पूर्ण रूप में नहीं अपना सकता है, फिर भी उनका मत था कि उक्त साधन द्वारा व्यक्ति सत्य की ओर उत्तरोत्तर अग्रसर हो सकता है।

अहिंसा

गांधीजी अहिंसा को मानव का प्राकृतिक गुण मानते थे और उनका विचार था कि मनुष्य स्वभावतः अहिंसाप्रिय है तथा वह परिस्थितियोंवश ही हिंसावान बनता है। मनुष्य की अहिंसक वृत्ति का ही प्रमाण है कि आदिम काल का वह व्यक्ति जो परिस्थितियोंवश नरभक्षी के रूप में जीवन व्यतीत करता था, आज का सभ्य और सुसंस्कृत प्राणी बन गया है। इस प्रकार समस्त मानव इतिहास में हम देखते हैं कि मनुष्य की अहिंसक प्रवृत्ति का विकास हो रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि संसार में हिंसा का पूर्ण अनस्तित्व नहीं है, यह संसार में विद्यमान है और कभी-कभी अपना रौद्र रूप भी प्रकट करती है, परन्तु मानव समाज के विकास का इतिहास यही बताता है कि मनुष्य मूल रूप से अहिंसा प्रिय है और उसकी इस अहिंसक वृत्ति के कारण ही मानव जाति निरन्तर बढ़ती जा रही है। इस प्रकार अहिंसा को मानव जगत का सर्वोच्च नियम मानते हुए गांधीजी का मत था कि अहिंसा के आधार पर ही एक सुव्यवस्थित समाज की स्थापना और मानव जीवन की भावी उन्नति सम्भव है।

गांधीजी के अनुसार अहिंसा का अर्थ केवल हत्या न करना ही नहीं है, वरन् अहिंसा से उनका तात्पर्य अन्य किसी प्रकार से भी अपने विरोधी को कष्ट न पहुंचाना है। 9 मार्च, 1920 के 'यंग इण्डिया' के अंक में गांधीजी ने लिखा था कि "**पूर्ण अहिंसा सभी प्राणियों के प्रति दुर्भावना के अभाव का नाम है।........इस प्रकार अहिंसा अपने क्रियात्मक रूप में सभी जीवधारियों के प्रति सद्भावना का नाम है। यह तो विशुद्ध प्रेम है।**"

अनेक मनुष्यों द्वारा भ्रमवश अहिंसा का आशय यह समझ लिया जाता है कि बुराई को न रोकना या बुराई के सामने झुक जाना ही अहिंसा है। **लेकिन अहिंसा किसी भी रूप और किसी भी परिस्थिति में बुराई या अत्याचार को सहन करने या उसके सम्मुख समर्पण करने का आदेश नहीं देती, वरन् इसके द्वारा तो बुराई का आध्यात्मिक बल के आधार पर प्रतिरोध का आदेश दिया जाता है।** स्वयं गांधीजी के शब्दों में, "**अहिंसा का तात्पर्य अत्याचारी के प्रति नम्रतापूर्ण समर्पण नहीं है, वरन् इसका तात्पर्य अत्याचारी की मनमानी इच्छा का आत्मिक बल के आधार पर प्रतिरोध करना है।**"

महात्मा गांधी का दृढ़ विश्वास था कि मनुष्य और समाज की स्थिति में रक्तपूर्ण क्रान्ति के आधार पर नहीं, वरन् अहिंसात्मक पद्धति के आधार पर ही सुधार सम्भव है। उनका विश्वास था कि प्रत्येक मनुष्य में चैतन्य शक्ति होती है और नैतिक प्रभाव द्वारा इस चैतन्य शक्ति को जाग्रत करके उसका हृदय परिवर्तन किया जा सकता है। गांधीजी अहिंसा से आध्यात्मिक बल पाते थे और उनका विश्वास था कि अहिंसा में कठोर हृदय को भी पिघलाने की शक्ति होती है। अहिंसा आत्मिक बल की प्रतीक है, जिसके विरोध में भौतिक बल चाहे कुछ समय के लिए विजयी हो जाय, किन्तु अन्ततः उसे पराजित होना ही पड़ेगा। हिंसा केवल कुछ

ही लोगों के लिए सम्भव है और वह भी अस्वाभाविक रूप से, जबकि अहिंसा जनसाधारण का स्वाभाविक धर्म है क्योंकि **"यह हम जैसे जीवों का शाश्वत कानून है।"**

गांधीजी का अहिंसा में दृढ़ विश्वास था और उन्होंने अहिंसा की निम्न तीन अवस्थाएं बतलायी हैं :

(अ) जाग्रत अहिंसा (Enlightened Non-violence)—इसे अहिंसा का सर्वोत्कृष्ट रूप कहा जा सकता है और यह साधन-सम्पन्न या बहादुर व्यक्तियों की अहिंसा है? अहिंसा के इस रूप को दुःखद आवश्यकता के कारण नहीं, वरन् नैतिक धारणाओं पर दृढ़ आस्था के आधार पर ही अपनाया जा सकता है। जाग्रत अहिंसा से पूर्ण व्यक्ति में प्रहार करने की क्षमता रहती है, किन्तु वह इसका इच्छुक नहीं होता। अहिंसा के इस रूप को केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं अपितु जीवन के सभी क्षेत्रों में दृढ़ता के साथ अपनाया जाना चाहिए। अहिंसा के इस रूप में ही असम्भव को सम्भव में बदलने और पहाड़ों को हिला देने की अपार शक्ति निहित है।

(ब) औचित्यपूर्ण अहिंसा (Reasonable Non-violence)—अहिंसा के इस रूप को जीवन के क्षेत्र में किसी विशेष आवश्यकता के पड़ने पर औचित्यानुसार एक नीति के रूप में अपनाया जाता है। यह निर्बल व्यक्तियों की अहिंसा या असहाय व्यक्तियों का **'निष्क्रिय प्रतिरोध' (Passive Resistance)** होती है। इसमें नैतिक विश्वास के कारण नहीं, वरन् निर्बलता के कारण ही हिंसा का प्रयोग किया जाता है। फिर भी यदि ईमानदारी, साहस और सावधानीपूर्वक एक नीति के रूप में अपनाया जाय, तो इससे कुछ सीमा तक वांछित लक्ष्य की प्राप्ति की जा सकती है। लेकिन यह **'जाग्रत अहिंसा'** के समान प्रभावशाली नहीं हो सकती है। आन्तरिक विश्वास नहीं, वरन् परिस्थितियों की मांग पर आधारित होने के कारण अहिंसा के इस रूप में आवश्यक होने पर हिंसा का प्रयोग भी किया जा सकता है।

(स) भीरुओं की अहिंसा (Non-violence of the Cowards)—कई बार डरपोक और कायर व्यक्ति भी अहिंसा का दम भरते हैं, किन्तु इनकी इस प्रवृत्ति को अहिंसा नहीं वरन् डरपोक और कायर व्यक्तियों की निष्क्रिय हिंसा ही कहा जाना चाहिए। डरपोक संकट का सामना करने की अपेक्षा उससे भाग जाता है जो कि नितान्त अमानवीय, अप्राकृतिक और असम्मानजनक है। गांधीजी के शब्दों में, **"कायरता और अहिंसा, पानी और आग की भांति एक साथ नहीं रह सकते।"**[1]

अहिंसा वीरों का धर्म है और अपनी कायरता को अहिंसा की ओट में छिपाना निन्दनीय तथा घृणित है। यदि कायरता और हिंसा में से किसी एक का चुनाव करना हो तो गांधीजी हिंसा को स्वीकार करते हैं। इस सम्बन्ध में उनका यह स्पष्ट विचार है कि **"यदि हमारे हृदय में हिंसा भरी है तो हम अपनी कमजोरी को छिपाने के लिए अहिंसा का आवरण पहनें, इससे हिंसक होना अधिक अच्छा है।"**[2] वस्तुतः गांधीजी कायरता के पक्ष में कतई नहीं थे।

इस प्रकार गांधीवादी अहिंसा को कायरता की संज्ञा देना नितान्त अनुचित है। यह कायरता या पलायनवादी प्रवृत्ति की परिचायक नहीं है, वरन् **'आत्मिक बल के रूप में वीरों का वास्तविक भूषण है।'**

गांधीजी की कार्य पद्धति—साध्य तथा साधन

गांधीवाद एक पूर्णतया नैतिक दर्शन है और इसके अनुरूप ही अनकी कार्यपद्धति भी पूर्णतया नैतिक है। सत्य और अहिंसा पर आग्रह के साथ-साथ गांधीजी इस बात पर भी जोर देते हैं कि हमारे साधन साध्य के अनुरूप ही होने चाहिए। हमारा साध्य नैतिक हो, केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है; यह बात भी उतनी ही आवश्यक है कि हमारे साधन भी नैतिक हों। साधनों की अनैतिकता निश्चित रूप से साध्य की नैतिकता को नष्ट कर देती है। अतः श्रेष्ठ साध्य की प्राप्ति के लिए श्रेष्ठ साधनों को ही अपनाया जाना चाहिए। गांधीजी ने तो यहां तक कहा है कि यदि आपको पवित्र साध्य के लिए उतने ही पवित्र साधन नहीं मिलते तो उस साध्य को ही छोड़ दो। स्वयं गांधीजी के शब्दों में, **"साधन बीज है और साध्य वृक्ष। इसलिए जो सम्बन्ध बीज और वृक्ष में है वही सम्बन्ध शासन और साध्य में है। मैं शैतान की उपासना करके ईश्वरोपासना का फल नहीं पा सकता।"**

साधनों की पवित्रता का आग्रह करके गांधीजी ने राजनीति के आध्यात्मीकरण की ओर सबसे बड़ा कदम उठाया। उनके समय तक यह सामान्य धारणा प्रचलित थी कि राजनीति में सफलता ही सर्वप्रमुख है

1 "Cowardice and Ahinsa do not go together any more than water and fire." —*Gandhi*

2 "It is better to be violent, if there violence in our breasts, than to put on the cloak of non-violence to cover impotence."

और सफलता प्राप्ति के लिए उचित-अनुचित सभी साधन अपनाये जा सकते हैं। फासिस्ट तथा साम्यवादी इस धारणा के प्रमुख प्रतिपादक रहे हैं कि **'साध्य ही साधनों का औचित्य है'** (End justifies the means)। गांधीजी ने इसे अस्वीकार करते हुए यह धारणा व्यक्त की कि साधन साध्य के अनुरूप ही होने चाहिए। राजनीति में यह एक क्रान्तिकारी परिवर्तन था और इसे राजनीति की कला को गांधीजी की सबसे महत्वपूर्ण देन कहा जा सकता है। गांधीजी ने स्वयं अपने जीवन भर इस सिद्धान्त का पालन किया। उन्होंने अपने देश की स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए भी कभी अनैतिक या हिंसात्मक साधनों का प्रयोग नहीं किया।

गांधीवादी पद्धति में व्यक्ति की नैतिक पवित्रता पर अत्यधिक बल दिया गया है और इस दृष्टि से गांधीजी व्यक्ति का चरित्रवान होना आवश्यक मानते हैं। गांधीजी का विचार था कि मनुष्य की राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक समस्याएं मूल रूप में नैतिक समस्याएं ही हैं और इनका समाधान भी नैतिक साधनों से ही किया जाना चाहिए। इसलिए गांधीजी कहा करते थे कि चरित्र की महानता बुद्धि की महानता से अधिक महत्वपूर्ण है। वास्तव में गांधीजी द्वारा नैतिकता पर इतना अधिक बल दिया गया है कि गांधीवाद राजनीतिक से अधिक एक नैतिक दर्शन प्रतीत होता है। गांधीजी का विचार था कि श्रेष्ठ साधनों को उचित और सफलतापूर्ण ढंग से अपनाने के लिए आत्मा की शुद्धि की आवश्यकता होती है और आत्मा की इस शुद्धि हेतु वे समय-समय पर व्रत, आदि किया करते थे।

सत्याग्रह

गांधीजी की सत्य और अहिंसा, साध्य और साधन की श्रेष्ठता तथा व्यक्ति की नैतिक पवित्रता में दृढ़ आस्था थी और अपने इन्हीं विश्वासों के आधार पर उन्होंने बुराई के प्रतिरोध के एक नवीन मार्ग का आविष्कार किया, जिसे सत्याग्रह का नाम दिया गया है। सत्याग्रह की पद्धति गांधीजी की राजनीति को विशेष और अपूर्व देन है। स्वयं गांधीजी के शब्दों में, **"अपने विरोधियों को दुखी बनाने की बजाय, स्वयं अपने पर दुःख डालकर सत्य की विजय प्राप्त करना ही सत्याग्रह है।"** सत्याग्रह शक्तिशाली और वीर मनुष्य का शस्त्र है। एक सत्याग्रही अपने प्रतिद्वन्द्वी से आध्यात्मिक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। वह उसमें ऐसा विश्वास उत्पन्न कर देता है कि वह बिना अपने को नुकसान पहुंचाये उसको नुकसान नहीं पहुंचा सकता। **सत्याग्रह तो सत्य की विजय हेतु किये जाने वाले आध्यात्मिक और नैतिक संघर्ष का नाम है।**

निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive Resistance) और सत्याग्रह में अन्तर—अनेक बार सत्याग्रह **'निष्क्रिय प्रतिरोध'** का ही पर्यायवाची समझ लिया जाता है, किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। यद्यपि ये दोनों ही आक्रमण का सामना करने, संघर्षों को दूर करने तथा सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन लाने की पद्धतियां हैं, किन्तु फिर भी इनमें मूलभूत अन्तर है, जिनका उल्लेख इन रूपों में किया जा सकता है :

(1) सत्याग्रह के अन्तर्गत अहिंसा के सिद्धान्त को नीति के रूप में नहीं, वरन् आदर्श के रूप में अपनाया जाता है। इस कारण सत्याग्रह किसी भी स्थिति में अहिंसा का त्याग और हिंसा का प्रयोग नहीं करता है। किन्तु निष्क्रिय प्रतिरोध में अपनी निर्बलता के कारण नीति के रूप में अहिंसा का पालन किया जाता है, मौलिक सिद्धान्त के रूप में नहीं। (2) निष्क्रिय प्रतिरोध में शत्रु को परेशान करने की भावना पर बल दिया जाता है, किन्तु सत्याग्रह में सत्याग्रही स्वयं ही अधिकतम कष्ट झेलता है। सत्याग्रह में शत्रु के प्रति दुर्भावना के लिए कोई स्थान नहीं होता है। (3) निष्क्रिय प्रतिरोध निर्बलों का शस्त्र है और सत्याग्रह वीरों का। सत्याग्रह करने के लिए हिम्मत और मर्दानगी की जरूरत होती है और गांधीजी के शब्दों में, **'निर्बल कभी सत्याग्रही हो ही नहीं सकता है।'** लेकिन निष्क्रिय प्रतिरोध का प्रयोग प्रायः निर्बल व्यक्ति ही किया करते हैं। (4) निष्क्रिय प्रतिरोध द्वेष, घृणा और अविश्वास पर आधारित है, इस कारण इसका प्रयोग स्वजनों और रिश्तेदारों के विरुद्ध नहीं किया जा सकता है, लेकिन सत्याग्रह प्रेममूलक है, वह विरोधी के प्रति प्रेम और उदारता की भावना पर आधारित है। इस कारण सत्याग्रह का प्रयोग निकटतम और प्रियतम व्यक्ति के प्रति भी किया जा सकता है। (5) निष्क्रिय प्रतिरोध में रचनात्मक प्रवृत्ति या कार्यों के लिए कोई स्थान नहीं है और इसका कोई अपना विशिष्ट जीवन दर्शन भी नहीं है, किन्तु सत्याग्रह का अपना जीवन दर्शन है और उसमें रचनात्मक कार्यक्रम को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। गांधीजी ने अपने सत्याग्रह आन्दोलन में खादी ग्रामोद्योग, अस्पृश्यता निवारण, प्रौढ़ शिक्षा, साक्षरता प्रसार और मद्यपान निषेध, आदि रचनात्मक कार्यक्रमों को अपनाया था।

सत्याग्रही के गुण

गांधीजी के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति सत्याग्रह के सिद्धान्त पर आचरण नहीं कर सकता, सत्याग्रही में कुछ विशेष गुण होने चाहिए। उनके अनुसार सत्याग्रही के लिए यह आवश्यक है कि वह सत्य पर चलने वाला हो, अनुशासन में रहने का अभ्यस्त हो, तथा मनसा, वाचा और कर्मणा अहिंसा में विश्वास रखने वाला हो। सत्याग्रही कभी अपने उद्देश्य की प्राति के लिए छल, कपट, झूठ, हिंसा, इत्यादि का आश्रय नहीं लेता। वह जो कुछ करता है, खुले रूप में करता है और अपनी कमजोरियों व भूलों को छिपाने के बजाय खुले रूप में स्वीकार करने के लिए तत्पर रहता है। गांधीजी ने 'हिन्द स्वराज्य' में सत्याग्रही के लिए 11 व्रतों का पालन आवश्यक बताया है। वे व्रत निम्नलिखित हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शारीरिक श्रम, अस्वाद, निर्भयता, सभी धर्मों को समान दृष्टि से देखना, स्वदेशी तथा अस्पृश्यता निवारण।

सत्याग्रह के विभिन्न रूप

गांधीजी के अनुसार सत्याग्रह का यह शस्त्र विभिन्न परिस्थितियों में अलग-अलग रूप ग्रहण कर सकता है। सत्याग्रह के प्रमुख रूप निम्नलिखित हैं :

(1) **असहयोग आन्दोलन**—गांधीजी का विचार था कि किसी भी शासन द्वारा जनता के असहयोग से ही शोषण किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में यदि जनता शासन के साथ सहयोग करने से इंकार कर दे, तो शासन के द्वारा कार्य नहीं किया जा सकेगा। 1919-21 में भारत में ब्रिटिश शासन का विरोध करने के लिए असहयोग के मार्ग को ही अपनाया गया।

(2) **सविनय अवज्ञा आन्दोलन**—सत्याग्रह का असहयोग से अधिक प्रभावपूर्ण रूप सविनय अवज्ञा है। गांधीजी इसे पूर्ण, प्रभावदायक और सैनिक विद्रोह का रक्तहीन विकल्प कहते थे। सविनय अवज्ञा का तात्पर्य अहिंसक और विनयपूर्ण तरीके से कानूनों की अवज्ञा करना है। कानूनों की यह अवज्ञा हिंसक रूप ग्रहण न कर ले, इसलिए उनका विचार था कि सविनय अवज्ञा का प्रयोग जनसाधारण द्वारा नहीं, वरन् कुछ चुने हुए विशेष व्यक्तियों द्वारा किया जाना चाहिए और किन कानूनों का उल्लंघन किया जाय, यह बात सत्याग्रहियों द्वारा नहीं, वरन् नेता द्वारा ही निश्चित की जानी चाहिए। 1931 में नमक आन्दोलन के रूप में महात्मा जी द्वारा इसी शस्त्र का प्रयोग किया गया था।

(3) **हिजरत या प्रवजन**—सत्याग्रह का एक अन्य रूप हिजरत है, जिसका अर्थ है, स्थायी निवास-स्थान का स्वैच्छिक परित्याग। ऐसे व्यक्ति जो अपने आपको पीड़ित अनुभव करते हों, आत्मसम्मान रखते हुए उस स्थान में नहीं रह सकते हों और अपनी रक्षा के लिए हिंसक शक्ति नहीं रखते हों, उनके द्वारा हिजरत का प्रयोग किया जा सकता है। 1918 में बारडोली और 1939 में विट्ठलगढ़ और लिम्बडी की जनता को गांधीजी के द्वारा हिजरत का सुझाव दिया गया था।

(4) **अनशन**—सत्याग्रह का एक अन्य रूप अनशन है जिसका आजकल बड़ा गलत प्रयोग किया जाने लगा है। गांधीजी इसे अत्यधिक उग्र अस्त्र समझते थे और उनका विचार था कि इसे अपनाने में अत्यधिक सावधानी बरती जानी चाहिए। अनशन केवल कुछ विशेष अवसरों पर आत्मशुद्धि या अत्याचारी के हृदय परिवर्तन के लिए ही किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त, इस अस्त्र का प्रयोग हर किसी व्यक्ति द्वारा नहीं, वरन् आध्यात्मिक बल सम्पन्न व्यक्तियों के द्वारा ही किया जाना चाहिए क्योंकि इसके सफल प्रयोग के लिए मानसिक शुद्धता, अनुशासन और नैतिक मूल्यों में आस्था की अत्यधिक आवश्यकता होती है।

(5) **हड़ताल**—सत्याग्रह का एक अन्य रूप हड़ताल है, किन्तु हड़ताल के सम्बन्ध में गांधीजी का विचार समाजवादियों और साम्यवादियों से भिन्न है। गांधीजी वर्ग संघर्ष की धारणा में विश्वास नहीं करते थे और उनके अनुसार हड़ताल आत्मशुद्धि के लिए किया जाने वाला एक स्वैच्छिक प्रयत्न है जिसका लक्ष्य स्वयं कष्ट सहन करते हुए विरोधी का हृदय परिवर्तन करना है। गांधीजी के अनुसार हड़ताल करने वाले व्यक्तियों की मांगें नितान्त स्पष्ट और उचित होनी चाहिए।

यहां यह उल्लेखनीय है कि गांधीजी के द्वारा न केवल आन्तरिक क्षेत्र में, वरन् विदेशी आक्रमण की स्थिति में भी सत्याग्रह का सुझाव दिया गया है। हिटलर द्वारा इंगलैण्ड पर आक्रमण किये जाने पर उन्होंने इंगलैण्ड को यही परामर्श दिया था। इन परिस्थितियों में सत्याग्रह किस सीमा तक सफल हो सकता है, इस सम्बन्ध में अन्य विचारकों का उनसे काफी मतभेद है।

सत्याग्रह का मूल्यांकन

गांधीजी के सत्याग्रह का यदि एक ओर कुछ व्यक्तियों के द्वारा बहुत अधिक गुणगान किया जाता है, तो दूसरी ओर अनेक आधारों पर इसकी कटु आलोचना भी की जाती है। आलोचना के प्रमुख आधार इस प्रकार हैं :

(1) **सत्याग्रह अहिंसा की धारणा के अनुकूल नहीं**—आलोचक एक आदर्श के रूप में सत्याग्रह की आलोचना करते हुए कहते हैं कि सत्याग्रह का सिद्धान्त अहिंसा की धारणा के अनुकूल नहीं है। अहिंसा का तात्पर्य न केवल हिंसा का निषेध, वरन् विरोधी के प्रति किसी प्रकार की दुर्भावना का भी अभाव है। अहिंसा का आशय है कि **'मनसा, वाचा, कर्मणा किसी भी रूप में हिंसा का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए और विरोधी के मन को भी दुःख नहीं पहुंचाया जाना चाहिए।'** आलोचकों के अनुसार सत्याग्रह से उन व्यक्तियों को निश्चित रूप से मानसिक और अनेक बार शारीरिक कष्ट भी पहुंचता है जिनके विरुद्ध इसका व्यवहार किया जाता है। अतः आर्थर मूर इसे **'मानसिक हिंसा'** (Mental violence) कहते हैं। आलोचकों द्वारा सत्याग्रह के एक रूप 'उपवास' को **'आतंकवाद'** (Terrorism) और **'राजनीतिक दबाव'** (Political blackmail) की संज्ञा दी गयी है।

(2) **सत्याग्रह का प्रयोग सभी परिस्थितियों में सम्भव नहीं**—आलोचकों के अनुसार प्रत्येक स्थिति में प्रत्येक जगह और प्रत्येक प्रकार के लोगों के साथ सत्याग्रह का सफलतापूर्वक प्रयोग नहीं किया जा सकता। स्वतन्त्र समाजों में, जहां विवेक, मानवता के प्रति आदर और न्याय विद्यमान हो, सत्याग्रह का भले ही सफलतापूर्वक प्रयोग किया जा सकता हो, परन्तु निरंकुश शासनों और बौद्धिक तथा नैतिक दृष्टि से बहुत अधिक पिछड़े हुए लोगों के विरुद्ध सत्याग्रह की सफलता में निश्चित रूप से सन्देह किया जा सकता है। अनेक बार ऐसा देखा गया है कि शासक वर्ग के द्वारा दमनात्मक शक्ति के आधार पर सत्याग्रह को कुचल दिया गया। विरोधी के अन्तःकरण को जाग्रत करने का कार्य निश्चित रूप से बहुत अधिक कठिन है। डॉ. बन्दुरां के शब्दों में, **"इस बात का सामान्यीकरण करना कि सत्याग्रह द्वारा कहीं भी और किसी भी प्रकार के लोग अन्यायी विरोधी का हृदय परिवर्तन कर सकते हैं, आत्मनाशक है।"**[1]

(3) **अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में या आक्रमण के प्रतिरोध में सत्याग्रह का प्रयोग सम्भव नहीं**—गांधीजी के द्वारा विदेशी आक्रमण की स्थिति में भी सत्याग्रह का सुझाव दिया गया था, किन्तु सामान्य अनुभव के आधार पर यही कहा जा सकता है कि ऐसी स्थिति में सत्याग्रह सफल नहीं हो सकता। कोई भी राष्ट्र अहिंसक साधनों पर निर्भर रहकर अपने नागरिकों की स्वतन्त्रता और सुरक्षा खतरे में नहीं डाल सकता। वर्तमान समय में छोटे-बड़े देश अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक-दूसरे के विरुद्ध जिस प्रकार का व्यवहार कर रहे हैं, उसे देखते हुए सत्याग्रह की सफलता बहुत ही अधिक संदिग्ध हो जाती है। आलोचकों के अनुसार हवाई हमले और परमाणु युद्ध के युग में आक्रमण के प्रतिरोध हेतु सत्याग्रह की बात हास्यापद ही लगती है।

(4) **अहिंसात्मक साधनों से सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन लाना अत्यधिक कठिन**—साम्यवादी, अराजकतावादी तथा अन्य क्रान्तिकारी विचारधारा वाले व्यक्ति गांधीवादी विचारधारा की आलोचना करते हुए कहते हैं कि सत्याग्रह जैसे अहिंसक साधनों के आधार पर सामाजिक और आर्थिक स्थिति को पूर्णतया बदलने में सफलता प्राप्त नहीं की जा सकती। इनका कथन है कि वर्तमान समय में विशेष स्थिति प्राप्त व्यक्ति अपनी विशेष स्थिति कभी भी स्वेच्छा से नहीं छोड़ेंगे और सामाजिक तथा आर्थिक जीवन की भीषण विषमताओं को समाप्त करने के लिए शक्ति का प्रयोग करना आवश्यक होगा।

(5) **सत्याग्रह के नाम के दुरुपयोग की आशंका**—सत्याग्रह के विरुद्ध एक आलोचना यह की जा सकती है कि वर्तमान समय में सत्याग्रह के नाम का बहुत अधिक दुरुपयोग किया जा रहा है। विविध पक्षों द्वारा अपने क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति हेतु जो आन्दोलन किये जाते हैं, उनके द्वारा उन्हें ही सत्याग्रह कह दिया जाता है, जबकि वास्तव में, ये सत्याग्रह न होकर दुराग्रह ही होते हैं।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विचार मन्थन के आधार पर कहा जा सकता है कि सत्याग्रह का औचित्य-अनौचित्य या श्रेष्ठता-निम्नता इस बात पर निर्भर करती है कि उसका प्रयोग किस प्रकार के व्यक्तियों द्वारा किया जाता

1 **"Bondurant, quoted by Budhadeva Bhattacharya in his *Evolution of the Political Philosophy of Gandhi*, p. 343.**

है। नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठ व्यक्तियों द्वारा प्रयुक्त किये जाने पर यह निश्चित रूप से वीर पुरुषों द्वारा अन्याय के प्रतिरोध हेतु उपयोग में लाये जाने वाला अहिंसक शस्त्र है, लेकिन व्यवहार में अनेक बार अवांछित तत्वों द्वारा अपनी स्वार्थपूर्ति हेतु जो कार्यवाही की जाती है, उसे ही सत्याग्रह का नाम दे दिया जाता है और इस आधार पर सत्याग्रह की आलोचना की जाती है। वास्तव में, ये दोष सत्याग्रह के नहीं, वरन् सत्याग्रह को प्रयोग में लाने वाले व्यक्तियों के हैं। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि स्वयं गांधीजी के द्वारा सत्याग्रह के नियम और सत्याग्रही के गुणों का उल्लेख किया गया था और यदि उनका पालन किया जाय, तो सत्याग्रह निश्चित रूप से एक श्रेष्ठ, नैतिक, अहिंसक और अत्यधिक प्रभावशाली शस्त्र है।

गांधीजी के राजनीतिक विचार
(POLITICAL IDEAS OF GANDHIJI)

समाज में राज्य के स्थान के सम्बन्ध में राजनीतिक विचारधाराओं में अत्यधिक मतभेद रहा है। इस सम्बन्ध में आदर्शवाद जैसी कुछ विचारधाराओं के द्वारा तो व्यक्ति और राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों में राज्य को साध्य रूप में स्वीकार कर लिया गया है, किन्तु गांधीवाद राज्य को इतना अधिक महत्व देने के लिए तैयार नहीं है और उसके अनुसार व्यक्ति साध्य और राज्य एक साधन मात्र है। राज्य की उत्पत्ति मनुष्य के लिए हुई है न कि मनुष्य की राज्य के लिए। गांधीजी राज्य को सामाजिक उत्थान और जनकल्याण का एक साधन मात्र मानते थे।

गांधीजी द्वारा राज्य की सत्ता का विरोध किये जाने के प्रमुख रूप से निम्न कारण दिये जा सकते हैं :

(1) दार्शनिक आधार पर राज्य का विरोध करते हुए गांधीजी का विचार है कि राज्य व्यक्ति के नैतिक विकास का मार्ग प्रशस्त नहीं करता। व्यक्ति का नैतिक विकास उसकी आन्तरिक इच्छा और कामनाओं पर निर्भर करता है—लेकिन राज्य संगठन शक्ति पर आधारित होने के कारण व्यक्ति के केवल बाहरी कार्यों को ही प्रभावित कर सकता है। राज्य अनैतिक इसलिए है कि वह हमें सब कार्य अपनी इच्छा से नहीं, किन्तु दण्ड के भय और कानून की शक्ति से बाधित कराना चाहता है।

(2) गांधीजी अहिंसा के पुजारी थे और राज्य एक हिंसामूलक संगठन है। इस कारण भी उनके द्वारा राज्य का विरोध किया जाना स्वाभाविक है।

(3) राज्य का बढ़ता हुआ कार्यक्षेत्र व्यक्ति में स्वावलम्बन और आत्मविश्वास के गुणों को विकसित नहीं होने देता और व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास अवरुद्ध हो जाता है। एक स्थान पर इस सम्बन्ध में वे लिखते हैं, **"मैं राज्य की शक्तियों में वृद्धि को बड़े भय तथा शंका की दृष्टि से देखता हूं क्योंकि ऊपर से देखने पर शोषण को कम करते हुए राज्य एक अच्छा कार्य करता हुआ मालूम पड़ता है, किन्तु व्यक्ति के व्यक्तित्व का विनाश कर यह मनुष्य जाति को सबसे अधिक हानि पहुंचाता है। हम ऐसे अनेक उदाहरण जानते हैं जहां राज्य का अस्तित्व वास्तव में दरिद्रों के कल्याण के लिए रहा है।"**

राज्य के प्रति अपने इस दृष्टिकोण के कारण गांधीजी राज्य के कार्यक्षेत्र को कम-से-कम करने के पक्ष में थे।

गांधीजी : एक दार्शनिक अराजकतावादी
(PHILOSOPHICAL ANARCHIST)

राज्य के सम्बन्ध में गांधीवादी विचारधारा अराजकतावादी दार्शनिक **क्रोपाटकिन और विशेष रूप से दार्शनिक अराजकतावादी टॉलस्टाय** के विचारों से प्रभावित है तथा गांधीजी को दार्शनिक अराजकतावादी विचारकों की श्रेणी में रखा जा सकता है। गांधीजी ने नैतिक, ऐतिहासिक तथा आर्थिक—तीनों ही दृष्टिकोणों के आधार पर राज्य की कटु आलोचना की है। गांधीजी राज्य को एक ऐसी हिंसक संस्था मानते हैं जिसका कार्य निर्धन वर्ग का शोषण करना है। राज्य के द्वारा नैतिकता का हनन किया जाता है, अतः या तो राज्य को समाप्त ही हो जाना चाहिए अन्यथा उसे व्यक्ति रूपी पुस्तक का अन्तिम अध्याय रहना चाहिए। स्वयं गांधीजी के शब्दों में, **"राज्य केन्द्रित और संगठित रूप में हिंसा का प्रतिनिधित्व करता है। व्यक्ति एक सचेतन आत्मवान प्राणी है, किन्तु**

राज्य एक ऐसा आत्महीन यन्त्र है, जिसे हिंसा से पृथक् नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसकी उत्पत्ति ही हिंसा से हुई है।"[1]

सिद्धान्त रूप में राज्य के अस्तित्व के विरुद्ध होने पर भी गांधीजी वर्तमान परिस्थितियों में राज्य को समाप्त करने के पक्ष में नहीं थे। उनका विचार था कि वर्तमान समय में मानव जीवन इतना पूर्ण नहीं है कि वह स्वयं संचालित हो सके इसलिए समाज में राज्य और राजकीय शक्ति की आवश्यकता है, लेकिन इसके साथ-साथ ही उनका विचार है कि राज्य का कार्यक्षेत्र न्यूनतम होना चाहिए। इस प्रकार गांधीजी के राज्य सम्बन्धी विचारों को सैद्धान्तिक दृष्टि से अराजकतावादी तथा व्यवहार में व्यक्तिवादी कहा जा सकता है, किन्तु गांधीजी न तो क्रोपाटकिन और बाकुनिन की तरह हिंसा के आधार पर राज्य को समाप्त करने के पक्ष में थे और न ही उनका व्यक्तिवाद वह पाश्चात्य व्यक्तिवाद है जिसका परिणाम पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की स्थापना होता है।

राज्य को एक आवश्यक बुराई के रूप में स्वीकार करते हुए गांधीजी ने राज्य के प्रभाव और शक्ति को अधिक-से-अधिक कम करने का प्रयत्न किया, जिससे राजसत्ता के होते हुए भी व्यक्ति वास्तविक रूप में स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकें। इस सम्बन्ध में गांधीजी के द्वारा तीन सुझाव दिये गये हैं, जो इस प्रकार हैं :

(1) **सत्ता का विकेन्द्रीकरण**—गांधीजी के द्वारा सर्वाधिक महत्वपूर्ण सुझाव राजनीतिक क्षेत्र में सत्ता के विकेन्द्रीकरण का दिया गया है। राजनीतिक क्षेत्र में गांधीजी केन्द्रीकृत सत्ता के प्रबलतम विरोधी और विकेन्द्रीकरण के समर्थक थे। विकेन्द्रीकृत सत्ता से उनका अभिप्राय यह था कि ग्राम पंचायतों को अपने गांवों का प्रबन्ध और प्रशासन करने के सब अधिकार दे दिये जायं। उनका कहना था कि सत्ता का केन्द्रीकरण सदैव ही हानिकारक होता है। इसके परिणामस्वरूप कुछ थोड़े से व्यक्ति राज्य की सत्ता पर एकाधिकार स्थापित कर लेते हैं और छल-कपट द्वारा उसके साधनों का प्रयोग अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए करते हैं, जिसे रोकने का एकमात्र उपाय सत्ता का विकेन्द्रीकरण ही हो सकता है। राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी गांवों का चित्र उपस्थित करते हुए उन्होंने लिखा है, **"मेरे ग्राम स्वराज्य का आदर्श यह है कि प्रत्येक ग्राम एक पूर्ण गणराज्य हो। अपनी आवश्यक वस्तुओं के लिए वह अपने पड़ोसियों पर निर्भर न रहे। इस प्रकार प्रत्येक गांव का पहला काम होगा खाने पीने के लिए अन्न और कपड़ों के लिए रुई की फसल उत्पन्न करना, गांव की अपनी नाट्यशाला, सार्वजनिक भवन और पाठशाला भी होनी चाहिए। प्रारम्भिक शिक्षा अन्तिम कक्षा तक अनिवार्य होगी। यथासम्भव प्रत्येक कार्य सहकारिता के आधार पर किया जायेगा। गांव का शासन पांच व्यक्तियों की पंचायत द्वारा संचालित होगा। पंचायत ही गांव की व्यवस्थापिका सभा, कार्यकारिणी व न्यायपालिका सभी कुछ होगी।"**

(2) **राज्य का कार्यक्षेत्र न्यूनतम**—राजसत्ता की बुराइयों को दूर करने के लिए उनका दूसरा सुझाव यह है कि राज्य का कार्यक्षेत्र न्यूनतम होना चाहिए, उसके द्वारा व्यक्ति के जीवन में कम-से-कम हस्तक्षेप किया जाना चाहिए। वे हेनरी डी. थोरू के इस विचार से सहमत थे कि **'सर्वोत्तम सरकार वह है, जो सबसे कम शासन करती है।'**[2] उनका कहना था कि **"स्वराज्य का अर्थ यह है कि व्यक्ति को सरकार के नियन्त्रण से स्वतन्त्र होने का निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए, चाहे वह सरकार विदेशी हो और चाहे राष्ट्रीय।"**

(3) **राज्य के प्रभुत्व के सिद्धान्त का खण्डन**—गांधीजी व्यक्ति और राज्य में व्यक्ति को साध्य और राज्य को साधन मात्र मानते थे और इस कारण उनके द्वारा राज्य के प्रभुत्व सिद्धान्त का खण्डन किया गया। वे हीगल या अन्य सर्वाधिकारवादियों की इस बात को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे कि व्यक्ति राज्य की प्रत्येक आज्ञा मानें। उनका कथन था कि राज्य जनता की भक्ति का हकदार तभी हो सकता है, जबकि वह जनता के कल्याण का परिवर्द्धन करे और उनकी भक्ति पर आधारित हो। गांधीजी लिखते हैं, **'राजभक्ति कोई अपरिवर्तनशील सिद्धान्त नहीं है, वह तो एक पारस्परिक आदान-प्रदान है।'** इसलिए जैसे ही राज्य अपने कर्तव्य से विमुख हो जाता है, जनता पर अन्याय और अत्याचार करने लगता है और ऐसे कानूनों का निर्माण करता है, जो व्यक्ति के अन्तःकरण के विरुद्ध हों, तो वह जनता की भक्ति प्राप्त करने का अधिकार खो बैठता है।

---

1 **"The state represents violence in a concentrated and organized form. The individual has a soul but as the state is a soulless machine. It can never be weaved from violence to which it owes its very existence."**
—*Young India*, July 2, 1931, p. 162.

2 **Henry D. Thoreau, *Selected Writing on Nature and Liberty*, p. 10.**

ऐसी स्थिति में जनता का न केवल अधिकार, वरन् कर्तव्य हो जाता है कि उसके द्वारा राजसत्ता का विरोध किया जाय।

गांधीजी का आदर्श समाज या राज्य (रामराज्य)

गांधीजी के राजनीतिक विचारों के अन्तर्गत ही गांधीजी द्वारा चित्रित आदर्श राज्य, जिसे वे रामराज्य कहते थे, की रूपरेखा दे देना उचित होगा।

'रामराज्य' शब्द का प्रयोग कुछ भ्रामक हो सकता है, क्योंकि इसका शाब्दिक अर्थ है, 'रामचन्द्रजी का राज्य।' वस्तुतः राजा रामचन्द्र के समय और आज की स्थिति में अवस्था और काल का एक लम्बा भेद होने के कारण रामराज्य आज की स्थिति में व्यावहारिक नहीं हो सकता। गांधीजी भी इस बात से परिचित थे। **उनके द्वारा 'रामराज्य शब्द का प्रयोग भावनावश अलंकारिक अर्थ में किया गया है, शाब्दिक अर्थ में नहीं।'**

इस सम्बन्ध में यह बात भी स्मरणीय है कि गांधीजी ने भी प्लेटो के समान दो आदर्शों का वर्णन किया है, **प्रथम पूर्ण आदर्श और द्वितीय उप-आदर्श।** उनकी पूर्ण आदर्श सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत राज्य के लिए कोई स्थान नहीं है। लेकिन गांधीजी यथार्थवादी थे और उन्होंने इस बात को स्वीकार किया कि मानव स्वभाव की वर्तमान स्थिति को देखते हुए पूर्ण आदर्श की स्थापना सम्भव नहीं है। इसलिए उनके द्वारा व्यावहारिक दृष्टिकोण से उप-आदर्श की कल्पना की गयी है और गांधीजी के आदर्श समाज या राज्य के रूप में हमारे द्वारा उनके उप-आदर्श का ही अध्ययन किया जाता है।

गांधीजी के उप-आदर्श समाज या उनके आदर्श राज्य की विशेषताएं इस प्रकार हैं :

(1) अहिंसात्मक समाज—गांधीजी अपने आदर्श राज्य को 'अहिंसात्मक समाज' के नाम से भी पुकारते हैं। गांधीजी के इस आदर्श समाज में राज्य संस्था का अस्तित्व रहेगा और पुलिस, जेल, सेना तथा न्यायालय, आदि शासन की बाध्यकारी सत्ताएं भी होंगी। फिर भी यह अहिंसक समाज इस दृष्टि से है कि इनमें इन सत्ताओं का प्रयोग जनता को आतंकित और उत्पीड़ित करने के लिए नहीं, उनकी सेवा करने के लिए किया जायेगा। इस आदर्श समाज में कभी-कभी समाज विरोधी तत्वों के विरुद्ध दबाव का प्रयोग करना पड़ सकता है, किन्तु इस दबाव का रूप सत्याग्रह का होगा, हिंसात्मक नहीं।

(2) शासन का रूप लोकतान्त्रिक—गांधीजी के आदर्श समाज में शासन का रूप पूर्णतया लोकतान्त्रिक होगा। जनता को न केवल मत देने का अधिकार प्राप्त होगा, वरन् जनता सक्रिय रूप से शासन व्यवस्था के संचालन में भी भाग लेगी। शासन सत्ता सीमित होगी और सभी सम्भव रूपों में जनता के प्रति उत्तरदायी होगी।

(3) विकेन्द्रीकृत सत्ता—गांधीजी के आदर्श राज्य का एक प्रमुख लक्षण विकेन्द्रीकृत सत्ता है। गांधीजी सम्पूर्ण भारत में प्राचीन ढंग के स्वतन्त्र और स्वावलम्बी गांव समाजों की स्थापना करना चाहते थे, जिसका आधार ग्राम पंचायतें होंगी। विकेन्द्रीकरण को अधिक सफल बनाने के लिए गांधीजी का सुझाव था कि ग्राम पंचायतों का निर्वाचन तो प्रत्यक्ष रूप से हो, लेकिन गांवों से ऊपर जो भी प्रशासनिक इकाइयां हों, जैसे प्रादेशिक सरकार, राष्ट्रीय सरकार, आदि के विधानमण्डलों का चुनाव अप्रत्यक्ष प्रणाली से हो, जिससे सत्ता का समस्त केन्द्र ग्राम पंचायतें ही बनी रहें। इस प्रकार की व्यवस्था से गांवों में स्वशासन और स्वावलम्बन की भावना उत्पन्न होगी और वे वास्तविक अर्थ में स्वतन्त्र होंगे।

(4) आर्थिक क्षेत्र में विकेन्द्रीकरण—गांधीजी के आदर्श राज्य में आर्थिक क्षेत्र के अन्तर्गत भी विकेन्द्रीकरण को अपनाने का सुझाव दिया गया है। विशाल तथा केन्द्रीकृत उद्योग लगभग समाप्त कर दिये जायेंगे और उनके स्थान पर कुटीर उद्योग-धन्धे चलाये जायेंगे। उन मशीनों का तो प्रयोग किया जा सकेगा, जो मनुष्यों के लिए सुविधाजनक होती हैं, किन्तु मशीनों को मानवीय श्रम के शोषण का साधन नहीं बनाया जायेगा। हर गांव अपनी आवश्यकता की वस्तुएं स्वयं उत्पन्न करेगा और प्रत्येक व्यक्ति अपने उत्पादन के साधनों का स्वयं स्वामी होगा। इस प्रकार आर्थिक क्षेत्र में प्रतिस्पर्द्धा और शोषण का अन्त हो जायेगा।

(5) नागरिक अधिकारों पर आधारित—गांधीजी का राज्य स्वतन्त्रता, समानता तथा अन्य नागरिक अधिकारों पर आधारित होगा। इस समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपने विचार व्यक्त करने और समुदायों के निर्माण की स्वतन्त्रता होगी। इस समाज के अन्तर्गत जाति, धर्म, भाषा, वर्ण और लिंग, आदि के भेदभाव के बिना सभी व्यक्तियों को समान सामाजिक और राजनीतिक अधिकार प्राप्त होंगे।

(6) **निजी सम्पत्ति का अस्तित्व**—इस आदर्श राज्य में निजी सम्पत्ति की प्रथा का अस्तित्व होगा, किन्तु सम्पत्ति के स्वामी अपनी सम्पत्ति का प्रयोग निजी स्वार्थ के लिए नहीं, वरन् समस्त समाज के कल्याण के लिए करेंगे। वे यह समझकर कार्य करेंगे कि उनके पास जो सम्पत्ति है उसका वास्तविक स्वामी समाज ही है और समाज के द्वारा उन्हें इस सम्पत्ति का संरक्षक या ट्रस्टी नियुक्त किया गया है।

(7) **प्रत्येक व्यक्ति के लिए श्रम अनिवार्य**—इस आदर्श समाज में प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपने भरण-पोषण हेतु श्रम करना अनिवार्य होगा। कोई भी मनुष्य अपने निर्वाह के लिए दूसरों की कमाई हड़पने का प्रयत्न नहीं करेगा और बौद्धिक श्रम करने वाले व्यक्तियों के लिए भी कुछ-न-कुछ समय के लिए शारीरिक श्रम करना अनिवार्य होगा। सभी व्यक्तियों के द्वारा शारीरिक श्रम किये जाने पर समाज में वास्तविक समानता स्थापित हो सकेगी।

(8) **वर्ण-व्यवस्था**—गांधीजी का आदर्श समाज वर्ण-व्यवस्था पर आधारित होगा। प्राचीन काल की भांति समाज चार वर्गों में विभाजित होगा—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। प्रत्येक वर्ग वंश-परम्परा के आधार पर अपना कार्य करेगा, किन्तु इन वर्गों को सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में समान अधिकार प्राप्त होंगे और किसी भी प्रकार की ऊंच-नीच की भावना नहीं होगी। गांधीजी के आदर्श समाज में स्त्रियों को सभी क्षेत्रों में समान अधिकार प्राप्त होंगे, किन्तु उनका मुख्य कार्यक्षेत्र घर ही होगा।

(9) **अस्पृश्यता का अन्त**—गांधीजी अस्पृश्यता को भारतीय समाज के लिए कलंक मानते थे और उनके आदर्श समाज में अस्पृश्यता के लिए कोई स्थान नहीं था।

(10) **धर्मनिरपेक्ष समाज**—इस समाज में किसी एक विशेष धर्म को राज्य का आश्रय प्राप्त नहीं होगा। राज्य की दृष्टि में सभी धर्म समान होंगे और सभी धर्मों के अनुयायियों को समान सुविधाएं होंगी।

(11) **गौ-वध निषेध**—गांधीजी भारत जैसे राज्य में धार्मिक तथा आर्थिक दोनों ही दृष्टि से गाय की रक्षा को बहुत अधिक आवश्यक मानते थे। इसलिए इनके द्वारा अपने आदर्श समाज में गौहत्या का निषेध किया गया है।

(12) **मद्य निषेध**—गांधीजी का निश्चित विचार था कि मद्य और अन्य मादक पदार्थों का सेवन व्यक्तियों का चारित्रिक पतन करता है। अतः उनके आदर्श समाज में न तो मादक वस्तुओं का उत्पादन होगा और न ही उनकी बिक्री।

(13) **निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा**—गांधीजी के आदर्श समाज में गांव-गांव और मोहल्ले-मोहल्ले में बुनियादी ढंग की स्वावलम्बी पाठशालाएं होंगी, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को कम-से-कम प्राथमिक शिक्षा निःशुल्क प्रदान की जायेगी।

(14) **अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में शान्तिप्रिय**—गांधीजी 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की धारणा में विश्वास करते थे, इस कारण उनका आदर्श राज्य अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अन्य राज्यों के साथ मैत्री, सद्भावना और सहयोग के आधार पर सम्बन्ध स्थापित करेगा।

प्रतिनिधित्व और बहुमत शासन

गांधीजी की राजनीतिक विचारधारा के अन्तर्गत ही उनकी शासन से सम्बन्धित धारणा का भी अध्ययन किया जा सकता है। गांधीजी लोकतन्त्रात्मक प्रणाली के समर्थक थे और उन्हें निर्वाचन तथा प्रतिनिधित्व की प्रणाली में विश्वास था। चुनाव में खड़े होने वाले उम्मीदवारों के सम्बन्ध में गांधीजी का विचार था कि उन्हें निःस्वार्थी, योग्य और संयमी होना चाहिए। गांधीजी का विचार था कि मताधिकार की योग्यता का आधार सम्पत्ति या सामाजिक स्थान नहीं, वरन् शारीरिक परिश्रम होना चाहिए।

गांधीजी का विचार था कि लोकतन्त्रात्मक शासन के उचित संचालन के लिए बहुसंख्यकों की भांति अल्पसंख्यकों का सहयोग भी नितान्त आवश्यक है। बहुमत का सदैव ही सही होना आवश्यक नहीं है और एक प्रतिभाशाली व्यक्ति एक हजार मूर्खों से अच्छा होता है। बहुमत में आलोचना सहन करने की क्षमता होनी चाहिए और अल्पमत के द्वारा भी बहुमत की उचित बातें स्वीकार कर ली जानी चाहिए। बहुमत के निर्णय अनुचित होने पर भी अल्पमतों द्वारा इन निर्णयों में परिवर्तन के लिए शान्तिपूर्ण और संवैधानिक साधनों का ही प्रयोग किया जाना चाहिए। इस प्रकार लोकतन्त्र की सफलता के लिए गांधीजी न्यायप्रिय बहुमत और सहनशील अल्पमत को आवश्यक मानते थे। एक स्थान पर वे लिखते हैं कि "**बहुमत के शासन का यह**

अर्थ नहीं है कि एक व्यक्ति की भी राय, यदि वह सही हो, कुचली जाय, बल्कि उसे बहुमत की राय से अधिक महत्वपूर्ण समझा जाना चाहिए। यही मेरी वास्तविक प्रजातन्त्र की कल्पना है।"

अल्पमत के विचारों को समुचित महत्व देते हुए भी महात्मा गांधी का विचार था कि सामान्य तौर पर अल्पमत के द्वारा बहुमत के निर्णय को स्वीकार कर लिया जाना चाहिए, क्योंकि प्रजातन्त्रात्मक शासन के संचालन का अन्य कोई व्यावहारिक आधार नहीं है। बहुमत के द्वारा भी अल्पमत के विचारों की अवहेलना न करते हुए उन्हें महत्व दिया जाना चाहिए।

गांधीजी के आर्थिक विचार

गांधीजी एक महान् आध्यात्मिक पुरुष थे और राजनीति के समान ही अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में उनका विचार था कि सच्चा अर्थशास्त्र नैतिकता के महान् नियमों के प्रतिकूल हो ही नहीं सकता। सच्चा अर्थशास्त्र सामाजिक न्याय चाहता है। वह प्रत्येक व्यक्ति का, यहां तक कि दुर्बल व्यक्ति का भी सामाजिक हित चाहता है और अच्छे जीवन के लिए आवश्यक है।

गांधीजी की आर्थिक विचारधारा के प्रमुखतया पांच बिन्दु हैं—(i) औद्योगीकरण का विरोध, (ii) कुटीर उद्योग-धन्धोंकासमर्थन,(iii) व्यक्तिगत सम्पत्ति और प्रन्यास धारणा, (iv) अपरिग्रह का सिद्धान्त, और (v) वर्ग सहयोग की धारणा।

(i) औद्योगीकरण का विरोध—आर्थिक व्यवस्था के सम्बन्ध में अपनाये गये अपने इसी नैतिक दृष्टिकोण के कारण गांधीजी के द्वारा औद्योगिक क्रान्ति और उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न केन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था का विरोध किया गया है। बड़े उद्योगों की स्थापना के लिए बहुत अधिक मात्रा में कच्चे माल और बहुत बड़ी मात्रा में निर्मित पदार्थों के विक्रय के लिए बड़े बाजारों की आवश्यकता होती है तथा कच्चे माल और बड़े बाजारों की खोज की यह प्रवृत्ति साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद को जन्म देती है, जो कि नैतिकता के विरुद्ध है।

गांधीजी बड़ी मशीनों को मानव जाति के लिए अभिशाप मानते थे और उनका विचार था कि समाज में घृणा, द्वेष और स्वार्थ में जो वृद्धि दिखाई देती है, वह सब मशीनों का ही फल है। मशीनों के प्रयोग के परिणामस्वरूप ही मानव का शारीरिक एवं नैतिक पतन हुआ है। औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप धन थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में केन्द्रित हो जाता है और बहुसंख्यक वर्ग को अत्यधिक निर्धनता में अपना जीवन व्यतीत करना होता है। इस प्रकार औद्योगीकरण से शोषण को प्रोत्साहन मिलता है। औद्योगीकरण से बेकारी भी बढ़ती है क्योंकि मानवीय श्रम का स्थान मशीनें ले लेती हैं। यदि किसी देश में साधनों और काम की तुलना में जनशक्ति कम हो तो मशीनों का प्रयोग उचित ठहराया जा सकता है। लेकिन जब पहले से ही काम और साधन कम तथा जनशक्ति अधिक हो तो औद्योगीकरण में लाखों-करोड़ों व्यक्ति बेकार हो जाते हैं। इन सबके अतिरिक्त औद्योगीकरण का एक दोष यह भी है कि केन्द्रीयकृत उत्पादन के परिणामस्वरूप राजनीतिक शक्ति का भी केन्द्रीकरण हो जाता है, जो लोकतन्त्र और मानवीय स्वतन्त्रता दोनों का ही शत्रु है।

पर इससे यह मतलब नहीं लिया जाना चाहिए कि गांधीजी सभी प्रकार की मशीनों के प्रयोग के पूर्णतया विरुद्ध थे। मशीनों के प्रयोग के सम्बन्ध में उनका साधारण सिद्धान्त यह था कि जो मशीनें सर्वसाधारण के हित साधन के काम आती हैं, उनका प्रयोग उचित है। उदाहरण के लिए, वे रेल, जहाज, सिलाई की मशीन और चर्खा, आदि के समर्थक थे। किन्तु उनका विचार था कि विनाशकारी और मानव शोषण को प्रोत्साहित करने वाली मशीनों का प्रयोग सर्वथा त्याज्य समझा जाना चाहिए।

(ii) कुटीर उद्योग-धन्धों का समर्थन—गांधीजी के द्वारा औद्योगीकरण का विरोध करते हुए कुटीर उद्योग-धन्धों पर आधारित एक ऐसी विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था का प्रतिपादन किया गया, जिसके अन्तर्गत प्रत्येक गांव एक आर्थिक इकाई के रूप में कार्य करेगा। वे खादी को भारत की राजनीतिक एवं आर्थिक समस्याओं का अमोघ हल मानते थे और उनके द्वारा आर्थिक क्षेत्र में स्वदेशी के विचार का प्रतिपादन किया गया। गांधीजी का विचार था कि प्रत्येक देश की अर्थव्यवस्था वहां की जलवायु, भूमि तथा वहां के निवासियों के स्वभाव को ध्यान में रखते हुए निश्चित की जानी चाहिए और इन बातों के आधार पर जहां तक भारत का सम्बन्ध है, भारत के कुटीर उद्योग-धन्धों की व्यवस्था ही सर्वोत्तम है।

(iii) व्यक्तिगत सम्पत्ति और प्रन्यास धारणा—महात्मा गांधी आर्थिक विषमताओं का अन्त करने के पक्ष में थे, लेकिन वे आर्थिक समानता स्थापित करने के साम्यवादी ढंग से सहमत नहीं थे, जिसके अन्तर्गत धनिकों

से उनका धन बलपूर्वक छीनकर उसका सार्वजनिक हित में प्रयोग करने की बात कही जाती है। गांधीजी का विचार था कि हिंसात्मक होने के कारण साम्यवादी पद्धति उपयोगी नहीं हो सकती और पूंजीपति वर्ग को पूर्णतया नष्ट कर देने से समाज उनकी सेवाओं से वंचित रह जायेगा। इस सम्बन्ध में गांधीजी का विचार था कि यदि सत्य और अहिंसा से सार्वजनिक हित के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति ली जा सके, तो ऐसा अवश्य ही किया जाना चाहिए। लेकिन यदि धनिक वर्ग ऐसा करने के लिए तैयार न हो, तो स्वयं की सम्पत्ति के सम्बन्ध में उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन किया जाना चाहिए। धनिकों के दृष्टिकोण में परिवर्तन के लिए महात्मा गांधी के द्वारा **'प्रन्यास सिद्धान्त'** (Trusteeship Theory) का प्रतिपादन किया गया था, जिसके अनुसार धनिकों को चाहिए कि वे अपने धन को अपना न समझकर समाज की धरोहर समझें और उसमें से अपने ऊपर निर्वाह मात्र के लिए खर्च करते हुए शेष धन समाज के हित के कार्यों में लगायें। गांधीजी का कहना था कि जो धनिक ऐसा न करें, उनके विरुद्ध भी शक्ति का प्रयोग न किया जाय, वरन् अहिंसात्मक असहयोग और सत्याग्रह द्वारा उनका हृदय परिवर्तन करके उन्हें सन्मार्ग पर लाने की चेष्टा की जाय। लेकिन यदि पूंजीपति प्रन्यासी के रूप में कार्य करने में नितान्त असफल रहे, तो शासन के द्वारा उनके उद्योगों को अपने हाथ में ले लिया जाना चाहिए और उनका संचालन लाभ के लिए नहीं, वरन् मानवता के कल्याण के लिए किया जाना चाहिए। इस प्रकार गांधीवादी अर्थव्यवस्था का लक्ष्य सामाजिक न्याय की स्थापना करना है, लेकिन वे सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए केवल अहिंसात्मक साधनों का ही प्रयोग करने के पक्ष में हैं।

(iv) अपरिग्रह का सिद्धान्त—आर्थिक अन्याय और असमानता को दूर करने के लिए गांधीजी का एक अन्य विचार यह है कि जीवन में अपरिग्रह के सिद्धान्त को अपनाया जाना चाहिए। गांधीजी का मत था कि प्रकृति स्वयं इतना उत्पादन करती है, जितना सृष्टि के लिए आवश्यक है। इसलिए वितरण का प्राकृतिक नियम यह है कि प्रत्येक केवल अपनी आवश्यकता भर के लिए प्राप्त करे और अनावश्यक संग्रह न करे। महात्मा गांधी मानवीय इच्छाओं की अत्यधिक वृद्धि से भी चिन्तित थे और सादगी तथा सन्तोषपूर्ण जीवन को ही आदर्श समझते थे।

(v) वर्ग सहयोग की धारणा—आर्थिक क्षेत्र में गांधीजी का एक अन्य विचार वर्ग सहयोग की धारणा है। गांधीवाद साम्यवादी दर्शन की वर्ग संघर्ष की धारणा में विश्वास नहीं करता। गांधीजी का विचार था कि श्रमिक और पूंजीपति के हित परस्पर विरोधी नहीं होते, वरन् एक ही होते हैं और उनके द्वारा सामूहिक प्रयत्नों के आधार पर उद्योग के विकास का प्रयत्न किया जाना चाहिए। इस प्रकार आर्थिक क्षेत्र में गांधीवाद वर्ग सहयोग की धारणा का प्रतिपादन करता है। गांधीजी का विचार था कि पूंजीपति वर्ग को समाप्त करने के बजाय उसकी शक्ति को सीमित करना ही उपयोगी होगा और यह कार्य श्रमिकों को उद्योगों के प्रबन्ध तथा व्यवस्था में भागीदार बनाकर ही किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त गांधीजी का विचार था कि यदि श्रमिक धनिकों के सम्पर्क में रहेंगे तो वे उनकी बुद्धि और चातुर्य से लाभ उठाकर अपनी प्रगति कर सकेंगे। इस सम्बन्ध में वे एक सुन्दर उपमा देते हुए कहते हैं : **''नदी के किनारे रहने वाले व्यक्ति को, उस व्यक्ति की अपेक्षा जो कि एक शुष्क रेगिस्तान में रहता है, अन्न पैदा करने के अधिक अवसर प्राप्त होते हैं।''**

इस प्रकार गांधीजी का मत था कि मानव जीवन का मूल मन्त्र सहयोग है संघर्ष नहीं, और मजदूर वर्ग पूंजीपतियों से अलग रहने की अपेक्षा उनके संसर्ग से अधिक लाभ उठा सकता है।

गांधीजी के सामाजिक विचार

राजनीतिक क्षेत्र के साथ-साथ समाज सुधार के क्षेत्र में गांधीजी के विचार और कार्य बहुत महत्वपूर्ण हैं। गांधीजी का विचार था कि जीवन एक सम्पूर्ण इकाई है और हम उसे राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक, आदि भागों में नहीं बांट सकते। अतः समाज सुधार का काम राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के साथ-साथ चलना चाहिए। स्वराज्य के लिए संघर्ष राष्ट्रीय आत्मशुद्धि की प्रक्रिया है और इसके कारण गांधीजी ने स्वराज्य आन्दोलन के साथ-साथ सामाजिक जीवन के लिए रचनात्मक कार्यक्रम को अपनाया। गांधीजी के सामाजिक विचारों की कुछ प्रमुख बातें इस प्रकार हैं—(i) वर्ण व्यवस्था, (ii) अस्पृश्यता का अन्त, (iii) साम्प्रदायिक एकता, (iv) स्त्री सुधार, और (v) बुनियादी शिक्षा।

(i) वर्ण व्यवस्था—वर्ण व्यवस्था को सामान्यतया हिन्दू सामाजिक जीवन का एक दोष समझा जाता है और अनेक व्यक्तियों ने इस बात का प्रतिपादन किया है कि इसका पूर्णतया उन्मूलन कर दिया जाना चाहिए।

दूसरी ओर स्वामी दयानन्द जैसे कुछ सुधारक इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि वर्ण व्यवस्था को बनाये रखा जाना चाहिए, किन्तु उसका आधार जन्म न होकर कर्म होना चाहिए। गांधीजी की विचारधारा इनसे भिन्न है। वे वर्ण व्यवस्था को बनाये रखने के समर्थक हैं और उनका विचार है कि इसका आधार जन्म ही होना चाहिए, कर्म नहीं। उनका कहना था कि वर्ण व्यवस्था एक वैज्ञानिक व्यवस्था है और वंशानुक्रम का नियम एक शाश्वत नियम है। मनुष्यों के द्वारा अपना पैतृक कार्य छोड़ देने पर भारी अव्यवस्था फैल जायेगी।

इस प्रकार गांधीजी जन्म के आधार पर वर्ण व्यवस्था के समर्थक थे, किन्तु इसके साथ ही उनका विचार था कि सामाजिक महत्व की दृष्टि से सभी कार्य समान हैं और किसी कार्य को या उसके करने वाले को छोटा नहीं समझा जाना चाहिए। एक सफाई कर्मचारी के कार्य का भी उतना ही महत्व है जितना कि एक वैज्ञानिक के कार्य का हो सकता है। अतः राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक जीवन में सभी को समान अधिकार प्राप्त होने चाहिए।

(ii) अस्पृश्यता का अन्त—अस्पृश्यता भारतीय समाज का एक गम्भीर दोष रही है। मध्य तथा आधुनिक युगों में नानक, कबीर, राजा राममोहनराय, स्वामी दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द ने इसका विरोध किया, किन्तु वे इसके मूल आधार को नहीं हिला सके। गांधीजी ने अस्पृश्यता के अन्त का बीड़ा उठाया और इसमें उन्हें सफलता भी मिली।

गांधीजी अस्पृश्यता को भारतीय समाज के लिए एक कलंक मानते थे और उनका कथन था कि यह एक घातक रोग है, जो समस्त समाज को नष्ट कर देगा। वे अछूतों को समान सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक अधिकार दिलाने के पक्ष में तो थे ही, उनके द्वारा सबसे अधिक जोर इस बात पर दिया गया कि अछूतों को भी सवर्ण हिन्दुओं के समान मन्दिर प्रवेश और पूजा आराधना का अधिकार मिलना चाहिए। उनका विचार था कि इससे अछूतों में आत्मसम्मान की भावना जाग्रत होगी और उनके प्रति सवर्ण हिन्दुओं का दृष्टिकोण बदलेगा। गांधीजी ने सवर्ण हिन्दुओं और अछूतों के बीच विवाह सम्बन्ध तथा गोद लेने के सम्बन्ध स्थापित करने पर बल दिया। अछूतों को **'हरिजन'** का सम्मानप्रद नाम गांधीजी ने ही प्रदान किया और हरिजन की स्थिति में सुधार करने के लिए उन्होंने जितने प्रयत्न किये, सम्भवतया उतने अन्य किसी भी व्यक्ति ने नहीं किये हैं।

(iii) साम्प्रदायिक एकता—सामाजिक क्षेत्र में गांधीजी का एक प्रमुख आदर्श भारत के सभी सम्प्रदायों (हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, और पारसी) को एकता के सूत्र में आबद्ध करना था। उन्होंने साम्प्रदायिक एकता विशेषकर हिन्दू-मुस्लिम एकता पर बहुत जोर दिया और वे मि. जिन्ना के **'द्विराष्ट्र सिद्धान्त'** को मानने के लिए कभी तैयार नहीं हुए। गांधीजी का कहना था कि धर्म को राष्ट्रीयता का आधार नहीं माना जा सकता। उन्होंने अन्त तक भारत के विभाजन का विरोध किया और जब भारत का विभाजन हो ही गया, तो उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम दंगों को रोकने की भरसक चेष्टा की। वे सभी धर्मों को समान समझते थे और उन्होंने साम्प्रदायिक एकता को बनाये रखने के लिए अपने प्राणों की आहुति दे दी।

(iv) स्त्री सुधार—राजा राममोहनराय के बाद स्त्री सुधार की दिशा में उल्लेखनीय कार्य करने वाले व्यक्ति महात्मा गांधी ही थे। उनका कहना था कि स्त्रियां किसी भी दृष्टि से पुरुषों से हीन नहीं होतीं और कमजोर कहना उनके प्रति अन्याय और उनका अपमान है। उनका कथन था कि यदि सत्य, अहिंसा, सहिष्णुता और नैतिकता, आदि जीवन के सर्वोच्च गुणों की दृष्टि से विचार किया जाय, तो स्त्रियां पुरुषों से भी श्रेष्ठ हैं।

गांधीजी ने पर्दा प्रथा, बाल-विवाह और देवदासी प्रथा, आदि स्त्री जीवन से सम्बन्धित बुराइयों का डटकर विरोध किया और इस बात का प्रतिपादन किया कि स्त्रियों को कानून तथा व्यवहार में पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त होने चाहिए। किन्तु गांधीजी इस बात के पक्ष में नहीं थे कि स्त्रियां आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र होने का प्रयास करें और घर के बाहर पुरुषों से प्रतियोगिता करें। उनका विचार था कि स्त्रियों का एकमात्र और पूर्ण कार्यक्षेत्र घर ही है।

(v) बुनियादी शिक्षा—शिक्षा के क्षेत्र में भी गांधीजी का महत्वपूर्ण योगदान है। उनका विचार था कि शिक्षा का उद्देश्य शरीर, मस्तिष्क और आत्मा का समन्वित विकास है और इस दृष्टि से वे अंग्रेजों द्वारा भारत में स्थापित शिक्षा पद्धति को बहुत अधिक दोषपूर्ण मानते थे। उनका कथन था कि वह शिक्षा पद्धति युवकों का शारीरिक, बौद्धिक या आत्मिक किसी प्रकार का विकास करने में असमर्थ है। शिक्षा का माध्यम विदेशी भाषा होने के कारण विद्यार्थियों का और अहित होता है।

देश की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुए उनके द्वारा एक नवीन शिक्षा प्रणाली का सुझाव दिया गया जो **'बुनियादी शिक्षा'** के नाम से प्रसिद्ध है। इस शिक्षा प्रणाली की विशेषताएं निम्न प्रकार हैं :

(1) शिक्षा के अन्तर्गत प्रत्येक विद्यार्थी को मूलरूप में कोई-न-कोई दस्तकारी सिखायी जानी चाहिए और सभी विषयों की शिक्षा उस दस्तकारी के द्वारा दी जानी चाहिए जिसे **'सहसम्बन्ध का सिद्धान्त'** (Theory of Correlation) कहते हैं।

(2) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो।

(3) शिक्षा स्वावलम्बी हो अर्थात् विद्यार्थी जिस दस्तकारी के आधार पर शिक्षा प्राप्त करते हैं, उस दस्तकारी से विद्यार्थी जीवन और उसके बाद भी अपना भरण-पोषण कर सकें।

गांधीजी के द्वारा शिक्षा में **चरित्र निर्माण पर बहुत अधिक बल** दिया गया था।

राष्ट्रवाद तथा अन्तर्राष्ट्रवाद

यद्यपि गांधीजी मानवतावादी विचारक थे और उनका दृष्टिकोण **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** का था, किन्तु इसके साथ ही वे राष्ट्र और राष्ट्रवाद के समर्थक थे। उनका कथन था कि मानव जाति के विकास में सामाजिक जीवन के अनेक स्तर देखने को मिलते हैं; जैसे, परिवार, जाति, गांव, प्रदेश और राष्ट्र। इन सबको पार करने के बाद ही विश्व-बन्धुत्व या अन्तर्राष्ट्रवाद के अन्तिम आदर्श को प्राप्त किया जा सकता है। अतः व्यक्ति का सामाजिक कर्तव्य परिवार से आरम्भ होता है और मानवता की सेवा तक पहुंचता है। पहले ही सामाजिक इकाइयों के प्रति अपने कर्तव्य का पालन न करके मानवता की सेवा की बात करना अपने उत्तरदायित्व से विमुख होना है।

अपनी उपर्युक्त विचारधारा के आधार पर गांधीजी का कथन था कि प्रत्येक व्यक्ति के अपने देश के प्रति कुछ विशेष कर्तव्य होते हैं, जिन्हें उसके द्वारा आवश्यक रूप से पूरा किया जाना चाहिए। गांधीजी के इन विचारों को उनके द्वारा भारतीय स्वाधीनता संग्राम का नेतृत्व किये जाने के कारण उन्हें एक महान् राष्ट्रवादी कहा जा सकता है, लेकिन गांधीजी संकीर्ण या उग्र राष्ट्रवाद के उपासक नहीं थे। वे तो एक रचनात्मक और मानवतावादी राष्ट्रीयता के उपासक थे, जिसके आधार पर ही अन्तर्राष्ट्रवाद के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। गांधीजी राष्ट्रवाद को अन्तर्राष्ट्रवाद के मार्ग की एक बाधा नहीं समझते थे और उनका विचार था कि अन्तर्राष्ट्रवाद और विश्व-बन्धुत्व के लिए राष्ट्रीयता आधार का कार्य करती है। स्वयं उन्हीं के शब्दों में, **"मैरे विचार से बिना राष्ट्रवादी हुए अन्तर्राष्ट्रवादी होना असम्भव है। अन्तर्राष्ट्रवाद तभी सम्भव हो सकता है, जबकि राष्ट्रवाद एक यथार्थ बन जाय।"**

भारत के स्वाधीनता संग्राम के नेतृत्व में भी राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता की यह अन्योन्याश्रितता ही महात्मा गांधी का मार्गदर्शक रही। उन्होंने राष्ट्रीयता को कभी संकीर्ण, स्वार्थी और एकाकी अर्थों में ग्रहण नहीं किया और भारत के राष्ट्रीय संघर्ष में उन्होंने मानवता के व्यापक हितों की अवहेलना कभी भी नहीं की। उन्होंने **'यंग इण्डिया'** के 4 अप्रैल, 1929 के अंक में लिखा था कि **"मैं भारतवर्ष का उत्थान इसलिए चाहता हूं कि जिससे सम्पूर्ण विश्व का हित हो सके। मैं भारतवर्ष का उत्थान दूसरे राष्ट्र के विनाश पर नहीं चाहता। मैं उस राष्ट्रभक्ति की निन्दा करता हूं जो हमें दूसरे राष्ट्रों के शोषण तथा मुसीबतों से लाभ उठाने के लिए उत्साहित करती है।"**

इसके अतिरिक्त गांधीजी स्वावलम्बी और स्वाधीन इकाइयों के समर्थक होते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अन्तर-निर्भरता को परम आवश्यक मानते थे और चाहते थे कि विश्व के राष्ट्र अन्तर-निर्भरता की आत्मघातक नीति को छोड़कर अन्तर-निर्भरता रहते हुए एक विश्व संघ की स्थापना करें। गांधीजी की कल्पना का विश्व अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, सहयोग और मित्रता का विश्व था। इस प्रकार गांधीजी राष्ट्रवादी और अन्तर्राष्ट्रवादी दोनों थे।

अधिकार और कर्तव्य

गांधीवादी दर्शन में मानव अधिकार और कर्तव्यों का भी प्रतिपादन किया गया है। उनका विचार था कि भारत के प्रत्येक व्यक्ति को विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, संगठन की स्वतन्त्रता व धर्म और अन्तःकरण की स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए। अल्पमतों को अपनी संस्कृति, भाषा और लिपि का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। जाति और लिंग भेद के बिना सभी व्यक्तियों को कानून के समक्ष समान समझा जाना

चाहिए। गांधीजी मानव अधिकारों की अपनी इस सूची में नवीन वातावरण और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन के लिए तैयार थे।

मानव अधिकारों की इस प्रकार की सूची देते हुए भी गांधीवादी दर्शन अधिकारों की अपेक्षा कर्तव्यों पर बल देता है। गांधीजी के अनुसार, कर्तव्यपालन का अधिकार ही सर्वोच्च अधिकार है और कर्तव्यपालन के बिना किसी भी प्रकार के अधिकार की कल्पना नहीं की जा सकती है। वास्तव में कर्तव्यपालन से ही अधिकारों की प्राप्ति होती है। स्वयं गांधीजी के शब्दों में, **"अधिकारों का वास्तविक स्रोत कर्तव्य ही है। यदि हम सभी अपने कर्तव्यों का पालन करें तो अधिकार हमसे दूर नहीं रह जायेंगे। लेकिन यदि हम कर्तव्यों को अधूरा छोड़कर अधिकारों के पीछे दौड़ेंगे, तो अधिकार हमसे मृगतृष्णा के समान दूर होते जायेंगे।"**[1] आगे वे लिखते हैं, **"कर्म कर्तव्य है, फल अधिकार है।"**[2]

साम्राज्यवाद का विरोध

गांधीजी मानवतावादी विचारक थे और अपने इस मानवतावाद के कारण उन्होंने स्वाभाविक रूप से साम्राज्यवाद का विरोध किया। साम्राज्यवादी व्यवस्था के अन्तर्गत अधीन देश का किस प्रकार से आर्थिक शोषण किया जाता है, इस सम्बन्ध में भारत का उदाहरण देते हुए लिखते हैं, **"भारत में कानून के अनुसार जो ब्रिटिश सरकार स्थापित की गयी है, उसका मूल उद्देश्य जनसाधारण का शोषण करना है। कोई भी वाक्चातुर्य अथवा अंकों की जादूगरी उस तथ्य को नहीं छिपा सकती जो आधुनिक गांवों में सहस्त्रों नर-कंकालों को देखने से प्राप्त होता है।"**

गांधीजी के अनुसार साम्राज्यवाद केवल अधीन देश के ही आर्थिक और नैतिक शोषण का कारण नहीं होता, वरन् अधिपति देश और सम्पूर्ण मानवता के आर्थिक और नैतिक पतन का कारण होता है। गांधीजी के अनुसार साम्राज्यवाद हिंसावादी होता है और विश्वयुद्धों का मूल कारण भी यही है।

गांधीवादी समाजवाद

गांधीवादी राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था के वर्णन से स्पष्ट है कि गांधीजी का लक्ष्य सबके लिए सामाजिक न्याय और अवसर की समानता प्राप्त करना रहा है। वस्तुतः सामाजिक न्याय गांधीवादी व्यवस्था का स्वाभाविक परिणाम होगा।

गांधीजी को अपने समाजवाद की प्रेरणा 'ईशोपनिषद्' के इस प्रथम श्लोक से मिली, जो इस प्रकार है, **"सब कुछ में जो कुछ इस ब्रह्माण्ड में है परमात्मा रमा हुआ है। इन सबका परित्याग कर दो और आनन्द करो। दूसरों के धन का लोभ न करो।"**

गांधीजी इस मूल समाजवादी विचार का प्रतिपादन करते हैं कि एक मनुष्य केवल इतना लेने का अधिकार रखता है, जितना कि उसका पेट भरने के लिए पर्याप्त हो, जो इससे अधिक लेता है, वह चोर है। इसी भावना को व्यक्त करते हुए गांधीजी ने 1930 में कहा था, **"एक ऐसी वस्तु को भी, जो कि मूल रूप से चुराई नहीं गयी है, चोरी का ही माल समझना चाहिए, यदि बिना आवश्यकता से उसे हम अपने पास रखते हैं। बिना आवश्यकता के भी केवल भविष्य की दृष्टि से किसी वस्तु की कामना करना ही वर्तमान विषमता का मूल है, इससे ईश्वर में अविश्वास प्रकट होता है।"**

गांधीजी भूमि पर निजी स्वामित्व का विरोध करते थे और उनका भूमि पर 'सामूहिक स्वामित्व' में विश्वास था, जिसका तात्पर्य है कि समस्त भूमि ईश्वर की है और उस पर अपने श्रम का उपयोग करने वाले व्यक्ति का ही अधिकार होना चाहिए।

यदि समाजवादी एक ऐसे व्यक्ति को कहा जाता है जो कि सामाजिक समानता और सामाजिक न्याय के आदर्शों में विश्वास करता है, भूमि तथा पूंजी पर व्यक्तिगत स्वामित्व को प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध समझता है और अमीरों द्वारा गरीबों पर किये जा रहे सभी प्रकार के शोषण को समाप्त करने के लिए कटिबद्ध है, तो महात्मा गांधी को एक सर्वश्रेष्ठ समाजवादी मानना होगा। सम्पत्तिविहीन वर्ग के हितों की रक्षा के लिए वे जिस उत्साह के साथ आगे बढ़े, उसका अपना कोई उदाहरण नहीं है। आर्थिक समानता उनके रचनात्मक कार्यक्रम का एक अंग थी और उनका विचार था कि आर्थिक समानता के ठोस आधार के बिना

---

1 **"If we discharge our duties, rights will not be for to seeks. If leaving duties unperformed, we run after rights, they will escape us like will of the wisp. The more we pursue them, the further will they fly."** —**Gandhi, *To the Princes and their People*, p. 10.**

2 **'Action is duty, fruit is right.'** —***Gandhi***

सारा रचनात्मक कार्यक्रम बालू की दीवार के समान होगा। **वास्तव में वे अपने तथाकथित समाजवादियों से कहीं अधिक सच्चे समाजवादी थे, क्योंकि उनका आचरण भी उनके सिद्धान्तों के ही अनुरूप था।**

परन्तु गांधीवादी समाजवाद पश्चिम में विकसित हुए समाजवाद के विभिन्न रूपों से बहुत अधिक भिन्न है। उनका प्रेरणा स्रोत कार्ल मार्क्स या पश्चिम का अन्य कोई विचारक नहीं, वरन् भारतीय संस्कृति और उसका अहिंसा का सिद्धान्त ही है। समाजवाद उनके स्वभाव का एक अंग है और उनका विचार है कि केवल अहिंसावादी और शुद्ध हृदय वाले व्यक्ति ही सच्चे समाजवादी समाज की स्थापना कर सकते हैं। जहां पश्चिमी समाजवाद हिंसा और वर्ग संघर्ष में विश्वास करता है, शायद विश्व में महात्मा गांधी ही एक ऐसे विचारक हुए हैं, जिन्होंने समाजवाद के मूल लक्ष्य समानता और सामाजिक न्याय की प्राप्ति के लिए केवल सत्य और अहिंसापूर्ण साधनों को ही अपनाया है।

गांधीवादी समाजवाद, समाजवाद के अन्य रूपों से इस दृष्टि से भी भिन्न है कि जहां पश्चिमी समाजवाद, भौतिकवादी है, गांधीवादी समाजवाद अध्यात्मवादी है। प्रचलित समाजवाद के अन्तर्गत प्रत्येक मूल्य पर भौतिक साधनों के अधिकाधिक विकास पर बल दिया गया है, जबकि गांधीवादी समाजवाद भौतिक विकास की अपेक्षा नैतिक और आध्यात्मिक विकास के लिए अधिक प्रयत्नशील है।

ये दोनों व्यवस्थाएं इस रूप में भिन्न हैं कि गांधीवादी समाजवाद प्रचलित समाजवाद की वर्ग संघर्ष की धारणा के विरुद्ध वर्ग सहयोग तथा वर्ग सामंजस्य के मार्ग में विश्वास करता है। गांधीजी के अनुसार प्रगति और सामाजिक न्याय के शत्रु पूंजीपति नहीं, वरन् पूंजीवादी व्यवस्था है। वे पूंजीपतियों से कहते हैं कि जो कुछ तुम्हारे पास है, वह केवल तुम्हारे निजी परिश्रम का ही फल नहीं है, वह समस्त व्यक्तियों के संयुक्त प्रयास का परिणाम है, इसलिए उसमें सबका भाग होना चाहिए। इस प्रकार उन्होंने सम्पत्ति के सम्बन्ध में ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, जो अहिंसात्मक ढंग से निजी सम्पत्ति को समाप्त करने का एक प्रयास है, और जिसे पश्चिमी समाजवाद की किसी भी धारणा की अपेक्षा अधिक क्रान्तिकारी कहा जा सकता है। बलात् सम्पत्ति हरण की अपेक्षा ट्रस्टीशिप अधिक उपयोगी है, क्योंकि इसमें पूंजीपतियों को अपना सुधार करने का अवसर मिलता है और यह उन्हें राज्य का शत्रु नहीं बनाता।

कुछ विचारकों के द्वारा इस मत का प्रतिपादन किया गया है कि गांधीजी वर्ग संघर्ष, पूंजीवादियों को समाप्त करने, बड़े पैमाने के उद्योग और उद्योगों पर राज्य के नियन्त्रण का विरोध करते हैं, इस कारण गांधीवादी विचारधारा को समाजवादी नहीं कहा जा सकता, किन्तु वास्तव में, इन विचारकों का दृष्टिकोण बहुत अधिक भ्रमपूर्ण है। समाजवाद का अर्थ वास्तव में वर्ग संघर्ष नहीं है। इसका वास्तविक अर्थ तो एक ऐसी नवीन सामाजिक व्यवस्था का निर्माण होना चाहिए, जिसका आधार सामाजिक न्याय और समानता हो, जिसमें एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का शोषण न कर सके और जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास करने हेतु पूर्ण स्वतन्त्र हो। समाजवादी समाज तो एक ऐसा सहयोगी समाज होता है जिसके सभी सदस्य भ्रातृत्व के सूत्र में बंधे होते हैं। इस दृष्टि से गांधीजी निस्सन्देह विश्व के एक महान् समाजवादी हैं। **उनका समाजवाद, समाजवाद के अन्य रूपों की तुलना में इस दृष्टि से अधिक महान् और उच्च है कि यह अहिंसात्मक है और अर्थनीति पर धर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करता है। आज संघर्ष से पीड़ित मानवता को गांधीवादी समाजवाद की ही आवश्यकता है।**

गांधीवाद की आलोचना और प्रत्यालोचना
(CRITICISM AND COUNTER CRITICISM OF GANDHISM)

यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से गांधीवादी विचारधारा से लगभग सभी व्यक्ति सहमत हैं, किन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोण से अनेक आधारों पर गांधीवादी विचारधारा को असम्भव व अप्राप्य कहा जाता है। गांधीवादी दर्शन की आलोचना के प्रमुख आधार निम्नलिखित हैं :

(1) **गांधीवाद में मौलिकता नहीं है**—गांधीवाद के कुछ आलोचकों का विचार है कि गांधीवाद में मौलिक विचारों का अभाव है। यह तो समाजवाद, उदारवाद, अनुदारवाद, अराजकतावाद तथा साम्यवाद, अदि अनेक राजनीतिक प्रभावों का समन्वय मात्र है। इसमें किसी नवीन विचार का उल्लेख नहीं है। एक लेखक ने गांधीवाद का उपहास करते हुए लिखा है कि **"गांधीवाद नयी बोतलों में पुरानी शराब है।"**[1]

1 'Gandhism is an old vine in new bottles."

गांधीवाद की आलोचना निस्सार है। आखिर मौलिकता है क्या? मौलिकता सदैव नवीनता में ही नहीं हुआ करती, वास्तव में यदि, पुरानी से पुरानी बात को नवीन ढंग से कहा जाय, तो वह मौलिक ही है। गांधीजी के पूर्व तक यह समझा जाता था कि सत्य और अहिंसा व्यक्तिगत जीवन के सिद्धान्त हैं। महात्मा गांधी ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन में भी सत्य और अहिंसा का सफलतापूर्वक प्रयोग किया जा सकता है। गांधीवाद इस दृष्टि से एक मौलिक दर्शन ही है।

(2) गांधीवाद एक काल्पनिक और भावात्मक दर्शन है—गांधीवादी दर्शन के विरुद्ध एक आक्षेप यह है कि गांधीवादी दर्शन वास्तविकता से बहुत दूर, निरा काल्पनिक तथा भावात्मक दर्शन है। वह आदर्श राज्य की कल्पना करता है जो सम्भवतः केवल स्वर्ग में ही स्थापित हो सकता है। यह कैसे सम्भव है कि पुलिस और सेना अहिंसा का पालन करे। इसी प्रकार आर्थिक क्षेत्र में भी नैतिक उपायों के आधार पर सफलता प्राप्त करना सम्भव नहीं है। यदि मालिक सदैव नैतिकता को निभाता रहे, तो वह कभी भी पूंजीपति नहीं बन सकता और यदि श्रमिक नैतिक सिद्धान्तों पर चलता रहे तो वह सदैव ही अपने मालिकों द्वारा शोषित होता रहेगा। जीवन में विश्वास का मूल्य अवश्य है, पर इस सीमा तक नहीं जिस सीमा तक गांधीवाद उसका प्रचार करता है। इस प्रकार गांधीवादी दर्शन वर्तमान समय के भौतिकवादी युग के लिए नितान्त अनुपयुक्त है।

यद्यपि वर्तमान परिस्थितियों में गांधीवादी दर्शन को कार्यरूप में परिणत करना सम्भव नहीं है, लेकिन केवल इस बात से गांधीवादी दर्शन का महत्व कम नहीं हो जाता है। इस दर्शन के द्वारा हमारे सम्मुख एक ऐसा मानवोचित आदर्श उपस्थित किया जाता है, जिसके पालन में ही सम्पूर्ण मानवता का कल्याण निहित है।

(3) प्रतिरोध की गांधीवादी पद्धति उपहासजनक है—गांधीवाद के आलोचक गांधीवादी प्रतिरोध की पद्धति का ही उपहास करते हैं। उनका विचार है कि असहयोग, सविनय अवज्ञा, भूख हड़ताल या सत्याग्रह, आदि कार्य प्रभावदायक नहीं हैं और इनसे पूंजीपतियों के हृदय परिवर्तन की आशा नहीं की जा सकती। शान्तिमय उपायों के आधार पर पूंजीपतियों से आर्थिक सत्ता ग्रहण करना केवल एक स्वप्न है और शनैः-शनैः यह पद्धति पूंजीपतियों को और भी अधिक सबल बना देती है। वास्तविकता यह है कि केवल हिंसात्मक आधार पर ही पूंजीपति वर्ग की आर्थिक सत्ता को समाप्त किया जा सकता है।

परन्तु साम्यवादियों द्वारा की गयी यह आलोचना उचित नहीं जान पड़ती है। भारत के स्वाधीनता संग्राम ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि अहिंसात्मक साधनों द्वारा क्रूर-से-क्रूर शत्रु पर भी विजय प्राप्त की जा सकती है। अहिंसा में तो ऐसा आत्मबल निहित होता है जो असम्भव को भी सम्भव कर सकता है। इसके अतिरिक्त शान्तिपूर्ण ढंग से किये गये परिवर्तन ही तो स्थायी सिद्ध हो सकते हैं।

(4) गांधीवादी दर्शन पूंजीपतियों का सहायक है—व्यावहारिकता के आधार पर तो गांधीवादी दर्शन की आलोचना की जाती है, साम्यवादी विचारक तो गांधीवाद के मूल उद्देश्य पर भी शंका करते हैं। श्रमिकों और पूंजीपति में वर्ग सहयोग, उद्योगों के राष्ट्रीयकरण को आवश्यक न समझने और पूंजीपतियों की सम्पत्ति के सम्बन्ध में प्रन्यास सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के कारण साम्यवादी विचारक गांधीवादी दर्शन को पूंजीवाद का अभिन्न मित्र कहते हैं। उनका विचार है कि प्रन्यास सिद्धान्त पूंजीवाद को स्थायी बनाये रखने के उपाय के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

किन्तु गांधीजी की नैतिक ईमानदारी पर सन्देह करना उनके साथ अन्याय करना है। गांधीजी को अहिंसात्मक साधनों के आधार पर मानव हृदय परिवर्तन की क्षमता में अद्भुत विश्वास था और अपने इसी आध्यात्मिक विश्वास के कारण दरिद्रनारायण के सच्चे साथी के नाते उन्होंने प्रन्यास सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। गांधीवाद पर इस प्रकार का आक्षेप इस कारण से और भी अधिक अनुचित हो जाता है कि गांधी ने **प्रन्यास सिद्धान्त की असफलता की स्थिति में सम्पत्ति के राष्ट्रीयकरण और राज्य एवं श्रमिकों के द्वारा सामूहिक रूप से उद्योगों के प्रबन्ध का सुझाव दिया था।**

(5) धर्म और राजनीति का मिश्रण अनुचित है—गांधीवाद के विरुद्ध एक आक्षेप यह है कि गांधीवाद धर्म और राजनीति को एक ही समझने की भूल करता है। आलोचकों के मतानुसार धर्म राजनीति को भ्रष्ट करता है और इतिहास इस बात का साक्षी है कि राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक जीवन में धर्म के प्रवेश ने मानव प्रगति को अवरोधित ही किया है। धर्म ने भाग्यवाद का पाठ पढ़ाकर गरीब को गरीबी में ही सन्तोष करना सिखाया है और राजकीय सत्ता को दैवी रूप प्रदान करके जनता में दास भावना का प्रचार किया है।

इन आलोचकों के द्वारा गांधीवादी धर्म को परम्परागत रूप में ग्रहण नहीं किया गया है। महात्मा गांधी ने धर्म को परम्परागत रूप में नहीं, वरन् व्यावहारिक और मानवतावादी रूप में ग्रहण किया है और उनका आशय केवल यह है कि आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन में भी नैतिक मान्यताओं को अनिवार्यतः लागू किया जाना चाहिए। न केवल आदर्श, वरन् व्यवहार की दृष्टि से भी यह गांधीवादी विचार नितान्त सत्य है।

(6) गांधीवादी जनमत का सिद्धान्त स्पष्ट नहीं है—गांधीजी बहुमत को सदैव जनमत नहीं मानते और उनका मत है कि एक व्यक्ति द्वारा व्यक्त विचार भी जनमत कहा जा सकता है, यदि उसका उद्देश्य सार्वजनिक हित हो। आलेचकों का कहना है कि सार्वजनिक हित की परिभाषा कर सकना कठिन है और इस सम्बन्ध में रूस की सामान्य इच्छा के विरुद्ध जो तर्क दिये जाते हैं वे ही तर्क गांधीवादी जनमत के विरुद्ध भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं। व्यवहार में यदि जनमत बहुसंख्यक जनता का मत नहीं है, तो वह कुछ भी नहीं है।

गांधीवादी जनमत का सिद्धान्त एक आदर्शवादी धारणा है और इस रूप में उसका महत्व है। व्यवहार में गांधीजी स्वयं यह कहते हैं कि अल्पसंख्यकों को बहुसंख्यकों के तर्कयुक्त मत के सम्मुख झुक जाना चाहिए।

(7) गांधीवादी दर्शन विरोधाभासों से पूर्ण है—गांधीवादी विचारधारा में अनेक विरोधाभास पाये जाते हैं। गांधीवादी समाजवादी दर्शन की भांति इस बात में विश्वास करता है कि प्रत्येक व्यक्ति को कम-से-कम उसके दैनिक जीवन की आवश्यकताओं से सम्बन्धित वस्तुएं प्राप्त होनी चाहिए, परन्तु इस लक्ष्य को प्राप्त करने के सर्वाधिक व्यावहारिक साधन राष्ट्रीयकरण का विरोध करता है। गांधीवाद पूंजीवाद की निन्दा तो करता है, किन्तु वह इसे समाप्त करने के किसी उपाय का सुझाव नहीं देता। इसी प्रकार कहा जाता है कि गांधीवादी विचारधारा राज्य को अनावश्यक बुराई भी बतलाती है और इसे बनाये रखने के पक्ष में भी है।

उपर्युक्त आलोचना का उत्तर स्वयं गांधीजी के इन शब्दों में दिया जा सकता है कि **"लोग कहते हैं कि मेरे विचार बदल गये हैं और मैं वर्षों पूर्व कही गयी बातों से भिन्न बातें कहता हूं। सच्ची बात यह है कि परिस्थितियां बदल गयी हैं, मैं तो वही हूं। मेरे शब्द और कार्य परिस्थितियों के अनुसार ही होते हैं, जिस वातावरण में मैं रहा हूं उसका विकास होता रहा है और सत्याग्रही होने के कारण उसकी प्रतिक्रिया भी मेरे ऊपर होती है।"** इसे तो गांधीजी की बौद्धिक ईमानदारी ही कहा जा सकता है।

गांधीजी की देन

विश्व के विचार, जीवन और संस्कृति को गांधीजी ने अत्यन्त महत्वपूर्ण देन दी है। जिस समय महात्मा गांधी ने सार्वजनिक क्षेत्र में पदार्पण किया, उस समय सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक वातावरण अत्यन्त भ्रष्ट था। सर्वत्र यह मान्यता प्रचलित थी कि नैतिकता के नियम तो व्यक्तिगत जीवन के लिए ही हैं और सार्वजनिक जीवन तो नैतिक मापदण्डों से परे है। गांधीजी की अन्तरात्मा सर्वत्र फैली हुई हिंसा और भ्रष्टता से क्षुब्ध हो उठी और उन्होंने नैतिक मूल्यों को सार्वजनिक जीवन का आधार बनाने का संकल्प किया। उन्होंने अपने व्यवहार और कार्य से यह सिद्ध कर दिया कि सत्य और अहिंसा व्यक्तिगत व्यवहार के ही नहीं, वरन् सार्वजनिक और विशेषतया राजनीतिक व्यवहार के भी आधार बन सकते हैं तथा आत्मबल से पशुबल की चुनौती का सफलतापूर्वक सामना किया जा सकता है।

गांधीजी की समस्त राजनीति धर्म पर आधारित है। उन्होंने राजनीति को वर्तमान युग की कूटनीति से ऊंचा उठाकर नैतिकता के उच्च स्तर पर पहुंचाया और कहा कि सार्वजनिक तथा नैतिक जीवन में भी श्रेष्ठ लक्ष्य की प्राप्ति के लिए नैतिक साधनों का ही प्रयोग किया जाना चाहिए। साथ ही उन्होंने धर्म को कर्मकाण्ड तथा पाखण्डों से मुक्त किया और उसे संकुचित न रखकर व्यापक रूप प्रदान किया। उन्होंने धर्म में एक ऐसे मानवतावादी रूप का प्रतिपादन किया, जिसका एकमात्र लक्ष्य मानवता तथा दरिद्रनारायण की सेवा करना होता है। इस प्रकार महात्मा गांधी ने धर्म को व्यापकता प्रदान करके उसे लौकिक और सांसारिक बनाया। यह कहा जा सकता है कि महात्मा गांधी ने **'राजनीति का आध्यात्मीकरण और धर्म का लौकिकीकरण किया'** (He spiritualised politics and secularised religion)। इस सम्बन्ध में सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने लिखा था, **"मैं किसी भी समय के या आधुनिक इतिहास के किसी भी ऐसे व्यक्ति को नहीं जानता, जिसने भौतिक वस्तुओं के ऊपर आत्मा की शक्ति का प्रदर्शन इतने प्रभावपूर्ण और विश्वसनीय तरीके से किया हो।"** इसी प्रकार डॉ.

राधाकृष्णन के शब्दों में, **"गांधीजी नैतिक एवं आध्यात्मिक क्रान्ति के महान् देवता के रूप में सदैव स्मरण किये जायेंगे, जिसके बिना इस पथभ्रष्ट विश्व को शान्ति प्राप्त न होगी।"**[1]

मानव जीवन को गांधीजी की एक दूसरी देन यह है कि उन्होंने व्यक्ति के महत्व तथा मानव शक्तियों में हमारे विश्वास को पुनः जाग्रत किया। पश्चिम की औद्योगिक सभ्यता ने मानव जाति को बहुत अधिक आघात पहुंचाया है और वर्तमान समय में मानव महाकाय सामाजिक और राजनीतिक यन्त्र का एक पुर्जा बनकर रह गया है। उन्होंने मानव महत्ता का प्रतिपादन किया और इस बात पर जोर दिया कि वास्तविक लोकतन्त्र तब तक नहीं हो सकता जब तक कि सर्वसाधारण दुरुपयोग होने पर राज्य की सत्ता का विरोध करना न सीख जाय।

इन सबके अतिरिक्त महात्मा गांधी ने इस मूल सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि सामाजिक व आर्थिक स्वाधीनता के बिना राजनीतिक स्वाधीनता का कोई मूल्य नहीं है। गांधीजी ने इस तथ्य को भली-भांति समझ लिया था और इसी कारण उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन में खादी और स्वदेशी के रचनात्मक आर्थिक कार्यक्रम को विशेष स्थान प्रदान किया था।

गांधीवाद के योगदान के सम्बन्ध में आचार्य कृपलानी के शब्दों में कहा जा सकता है कि "राजनीति का सत्य, अहिंसा और साधनों की पवित्रता द्वारा आध्यात्मीकरण करके, अन्याय एवं निरंकुशता का सत्याग्रह द्वारा सामना कर तथा अपने रचनात्मक कार्यक्रमों द्वारा गांधीजी ने सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन का संयोग एवं समन्वय करने का प्रयत्न किया, तथा प्रभावकारी लोकतन्त्र की स्थापना कर उन्होंने न्याय और समानता पर आधारित समाज की नींव डालकर विश्व शान्ति के लिए मार्ग प्रशस्त किया।"[2]

वस्तुतः गांधीजी महान् थे और विचार जगत को उनकी देन बहुत महत्वपूर्ण है। अमरीकन पादरी डा. जॉन हेन्स हॉल्स का कथन है कि **"ईसामसीह के बाद गांधीजी विश्व के सबसे महान् व्यक्ति थे।"**

निबन्धात्मक प्रश्न

1. गांधीवाद से आप क्या समझते हैं? राज्य के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में महात्मा गांधी की विचारधारा का वर्णन कीजिए।
2. "गांधीवादी दर्शन सत्य और अहिंसा पर आधारित है।" इस कथन की विवेचना कीजिए और बतलाइए कि क्या राजनीति में अहिंसा का सिद्धान्त व्यावहारिक है?
3. "गांधीजी ने राजनीति का आध्यात्मीकरण तथा धर्म का लौकिकीकरण किया।" स्पष्ट कीजिए।
4. गांधीवादी विचारधारा के विरुद्ध प्रमुख रूप से क्या आक्षेप किये जाते हैं? क्या आलोचकों की धारणाएं सही हैं?
5. "गांधीजी एक 'व्यावहारिक आदर्शवादी' (practical idealist) थे।" इस कथन को स्पष्ट कीजिए और राजनीतिक विचारधारा को गांधीजी की देन बतलाइए।
6. राजनीतिक विचारक के रूप में महात्मा गांधी का मूल्यांकन कीजिए।
7. गांधीवाद के अहिंसा तथा सत्याग्रह के सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए। क्या आप समझते हैं कि ये सिद्धान्त विश्वशान्ति की स्थापना में सहायक हो सकते हैं?
8. महात्मा गांधी के सामाजिक और राजनीतिक विचारों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
9. आधुनिक युग में गांधीवाद की संगति पर एक निबन्ध लिखिए।
10. राज्य से सम्बन्धित गांधीवादी दृष्टिकोण के आवश्यक लक्षणों की व्याख्या कीजिए। वे वर्तमान लोकतन्त्र तथा समाजवाद के सिद्धान्त से कहां तक सम्बन्धित हैं?
11. महात्मा गांधी के सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह तथा निजी सम्पत्ति सम्बन्धी विचारों की विवेचना कीजिए।

---

1 Dr. Radha Krishanan, *Mahatma Gandhi—100 Years*, p. 1.
2 Kripalani J. B. : *His Life and Thought*, p. 346.

21

क्रान्ति

(REVOLUTION)

"क्रान्ति (राज्य क्रान्ति) का आशय है, एक ऐसी नवीन व्यवस्था की स्थापना, जो इससे पूर्व की व्यवस्था से नितान्त भिन्न हो—क्रान्ति में तीव्र और मूलभूत परिवर्तन का तत्व ही सर्वाधिक प्रमुख होता है।"[1]

—हैरल्ड जे. लास्की

क्रान्ति का आशय

क्रान्ति शब्द मूलतः नक्षत्र विज्ञान का शब्द है। प्रारम्भ में इसका अर्थ 'मानवीय घटनाओं की नियमित प्रक्रिया' (Cyclical process in human events) के रूप में समझा जाता था। राजनीति विज्ञान में इस शब्द का प्रचलन 1789 की 'फ्रेंच राज्य क्रान्ति' के साथ हुआ है। उसी समय से राजनीति विज्ञान में क्रान्ति का आशय एक ऐसी नवीन राजनीतिक व्यवस्था से लिया जाता है, जो इससे पूर्व में प्रचलित राजनीतिक व्यवस्था से तीव्र और मूलभूत रूप में भिन्न हो। 'क्रान्ति' में नवीन राजनीतिक व्यवस्था को जन्म देने का कार्य ऐसी विधियों से किया जाता है, जिन्हें प्रचलित संवैधानिक प्रावधानों से स्वीकृत न किया गया हो। 'दि अमेरिकन पीपुल्स एनसाइक्लोपीडिया' में क्रान्ति का अर्थ दिया गया है : "क्रान्ति किसी भी राष्ट्र के इतिहास में एक ऐसे राजनीतिक महा परिवर्तन की संवाहक होती है, जिसमें कि अनेकानेक सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक प्रतिक्रियाएं होती हैं, परिणामस्वरूप उस देश के नागरिकों के जीवन तथा जीवन मूल्यों में अभूतपूर्व परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं।"

क्रान्ति के अनेक रूप होते हैं : औद्योगिक क्रान्ति, सांस्कृतिक क्रान्ति और राजनीतिक क्रान्ति आदि। यहां क्रान्ति से हमारा आशय 'राजनीतिक क्रान्ति' या 'राज्य क्रान्ति' से है।

राजनीतिक क्रान्ति का अर्थ सरकार और उससे सम्बन्धित संस्थाओं और संरचनाओं में बदलाव से है। सेमुअल हंटिंगटन के अनुसार "क्रान्ति किसी देश में ऐसे तीव्र, मौलिक और हिंसक परिवर्तन है जिससे समाज के प्रमुख मूल्यों व मिथकों (Myths), उनकी राजनीतिक संस्थाओं, उसके सामाजिक ढांचे, नेतृत्व, सरकार की गतिविधियों और नीतियों में आमूल अन्तर आ जाए।" न्यूमैन ने भी हंटिगटन की तरह ही क्रान्ति को व्यापक अर्थ में लिया है। उसने क्रान्ति से आए राजनीतिक परिवर्तन में अन्य परिवर्तनों को अन्तर्निहित मानते हुए लिखा है—"क्रान्ति राजनीतिक संगठन, सामाजिक ढांचे, आर्थिक सम्पत्ति नियन्त्रण और समाज के प्रमुख मिथकों में ऐसे व्यापक और मौलिक परिवर्तन हैं जो विकास के क्रम में गम्भीर भंजन के संकेतक होते हैं।"

कार्ल जे. फ्रेडरिक ने क्रान्ति को राजनीतिक अर्थ में ही देखा है। उसके अनुसार क्रान्ति स्थापित राजनीतिक व्यवस्था को चुनौती और अन्ततः पुरानी व्यवस्था से पूरी तरह भिन्न, नई व्यवस्था की स्थापना है।" सी. ई. मेरियम के अनुसार 'सामान्यतया हिंसा' का प्रयोग या इसके प्रयोग की धमकी क्रान्ति है। जिसमें हमेशा ही राजनीति की संरचना व शासनतन्त्र में मूलभूत परिवर्तन अन्तर्निहित होते हैं चाहे यह अचानक हों या लम्बी अवधि तक चलें।

1 **"Revolution constitutes establishment of a new order, radically different from the preceeding one—The element of drastic and fundamental change is the vital factor of revolution."**

—Harold J. Laski

संक्षेप में, क्रान्ति से अभिप्राय है—राजनीति में मौलिक परिवर्तन। कई बार संवैधानिक तरीकों से भी मौलिक परिवर्तन आ जाते हैं। किन्तु यथार्थ में क्रान्ति संवैधानिक विधियों के बाहर हुए उन मूलभूत परिवर्तनों का नाम है जिससे एक राजनीतिक तन्त्र उखड़कर नया तन्त्र और नए सिद्धान्त किसी राजनीतिक समाज में आ जाएं। क्रान्ति में हिंसात्मक साधन प्रयुक्त हों यह आवश्यक नहीं, किन्तु सामान्यतया इसमें हिंसा आ जाती है।

क्रान्ति : 'सत्ता परिवर्तन', 'सुधार' और 'विद्रोह' से एक भिन्न तथा व्यापक स्थिति—क्रान्ति को उचित रूप में समझने के लिए क्रान्ति का 'सत्ता परिवर्तन', 'सुधार' और 'विद्रोह' इन सभी स्थितियों से भेद समझ लेना उचित होगा। 'सत्ता परिवर्तन' का अर्थ है, **'सत्ता के धारकों में परिवर्तन'**। सत्ता परिवर्तन में सर्वोच्च पद पर आसीन एक व्यक्ति या व्यक्ति समूह के स्थान पर अन्य व्यक्ति या व्यक्ति समूह का सत्ता पर अधिकार स्थापित हो जाता है। सत्ता परिवर्तन संविधान से मान्य एक वैध स्थिति होती है तथा विभिन्न शासन व्यवस्थाओं में सत्ता परिवर्तन की अलग-अलग पद्धतियां होती हैं। 'सत्ता परिवर्तन' सामान्यतया राजनीतिक व्यवस्था के स्वरूप को परिवर्तित नहीं करता, यदि व्यवस्था में परिवर्तन को जन्म देता भी है, तो मूलभूत परिवर्तन को जन्म नहीं देता, लेकिन क्रान्ति में राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन की बात सर्वाधिक प्रमुख तत्व होता है। इसके अतिरिक्त सत्ता परिवर्तन 'चुनाव' जैसी किसी संवैधानिक प्रक्रिया का परिणाम हो सकता है, लेकिन क्रान्ति प्रचलित संवैधानिक प्रतिमानों से नितान्त अस्वीकृत और अमान्य स्थिति है।

क्रान्ति 'सुधार' (Reforms) से भी एक भिन्न और सुधार की तुलना में निश्चित रूप से अत्यधिक व्यापक स्थिति है। 'सुधार' विद्यमान व्यवस्था में सुधार लाने के लिए अपनाई गई एक स्थिति होती है, लेकिन 'सुधार' न तो व्यापक और मूलभूत परिवर्तनों को जन्म देता है तथा न ही इसमें उग्रवादी साधनों या हिंसा को अपनाया जाता है। क्रान्ति एक भिन्न, जटिल और सामान्यतया हिंसक प्रक्रिया का परिणाम होती है। इसके अतिरिक्त क्रान्ति 'सुधार' की तुलना में क्षेत्र और परिणामों की दृष्टि से बहुत अधिक व्यापक स्थिति है, जो व्यवस्था में तीव्र और मूलभूत परिवर्तनों को जन्म देती है।

क्रान्ति 'विद्रोह' (Revolt) से भी भिन्न स्थिति है। विद्रोह का आशय होता है, सत्ता में गैर संवैधानिक साधनों से अचानक बदलाव, जो व्यवस्था में परिवर्तन और कभी कुछ बड़े परिवर्तनों को जन्म दे देता है। लोकतान्त्रिक शासन के विरुद्ध विद्रोह का मार्ग अपनाकर लोकतान्त्रिक व्यवस्था के स्थान पर सैनिक शासन की स्थापना का घटनाचक्र बीसवीं सदी में पाकिस्तान और अन्य अनेक राज्यों में देखा गया है, लेकिन क्रान्ति विद्रोह की तुलना में भी क्षेत्र और परिणामों की दृष्टि से बहुत अधिक व्यापक स्थिति होती है। क्रान्ति प्राथमिक रूप से एक राजनीतिक घटना है, लेकिन इस राजनीतिक घटना के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक आयाम भी होते हैं।

इस प्रकार क्रान्ति 'सत्ता परिवर्तन', 'सुधार' और 'विद्रोह' से भिन्न तथा इन सबकी तुलना में अत्यधिक व्यापक स्थिति होती है जो राजनीतिक व्यवस्था तथा कुछ अर्थों में सम्पूर्ण व्यवस्था में तीव्र और मूलभूत परिवर्तनों को जन्म देती है। क्रान्ति में मात्र सत्ता धारकों के प्रति विद्रोह का भाव नहीं होता, इसमें व्यवस्था में विद्यमान विकृतियों के प्रति तीव्र विद्रोह का भाव होता है। क्रान्ति का एक उद्देश्य और एक प्रयोजन होता है। वह उद्देश्य और प्रयोजन है, विकृत और अन्याय पर आधारित राजनीतिक व्यवस्था के स्थान पर स्वस्थ और न्याय पर आधारित राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना करना। इस कार्य को सम्पन्न कर पाने में ही क्रान्ति की सार्थकता होती है।

क्रान्ति का ऐतिहासिक सन्दर्भ (Revolution : Historical Perspective)—अगर हम क्रान्ति को ऐतिहासिक सन्दर्भों में देखें तो हम यह पाएंगे कि ईसा से 3200 वर्ष पूर्व मिस्र की 'धार्मिक क्रान्ति' का उल्लेख मिलता है। प्लेटो 'अत्याचारी राज्य' की चर्चा करते हैं तो वे इसका दोषारोपण पूंजीपतियों पर करते हैं। अरस्तू क्रान्ति का मूल कारण मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक असमानता में ढूंढ़ते हुए नजर आते हैं। ईसाई विचारकों ने 'निष्क्रिय आज्ञाकारिता' का विचार स्थापित किया तो मेकियावली ने अपने प्रिन्स को क्रान्ति से परहेज रखने की सलाह दी। 19वीं शताब्दी में क्रान्ति का सम्बन्ध 'सामाजिक प्रश्नों' से जोड़ा गया और इसी विचारधारा का प्रतिनिधित्व कार्ल मार्क्स करता है। हक्सले ने महात्मा गांधी को 'अहिंसात्मक क्रान्तिकारी' कहा है।

क्रान्तियों के प्रकार (Types of Revolution)—अरस्तू के अनुसार क्रान्तियों को 2 भागों में बांटा जा सकता है—पहला वह क्रान्ति जिनके परिणामस्वरूप प्रचलित संविधान पूर्णतया बदल जाए। दूसरा, वे क्रान्तियां जिनके परिणामस्वरूप संविधान में आंशिक संशोधन ही हो।

आधुनिक युग में सिद्धान्तों के आधार पर क्रान्तियों को 2 भागों में विभाजित किया जाता है—जो क्रान्तियां समाजवादी या साम्यवादी उद्देश्यों को लेकर होती हैं उन्हें 'वामपन्थी क्रान्तियां' कहा जा सकता है और जो क्रान्तियां समाजवादी सिद्धान्त के विरुद्ध होती हैं उन्हें 'दक्षिणपन्थी क्रान्तियां' या 'उदारवादी क्रान्तियां' कहा जा सकता है।

क्रान्तियों का कतिपय विद्वानों द्वारा एक विभाजन इस प्रकार किया जाता है—पहला कानूनी और संवैधानिक क्रान्ति और दूसरा समाजशास्त्रीय या मार्क्सवादी क्रान्ति। कानूनी और संवैधानिक परिभाषा के अनुसार क्रान्ति द्वारा पूर्व स्थापित शासन व्यवस्था अथवा सरकार को उखाड़ कर उसके स्थान पर नई व्यवस्था एवं सरकार को बलपूर्वक स्थापित करना है। एडवर्ड ने इसको परिभाषित करते हुए लिखा है कि क्रान्ति वह परिवर्तन है जिसके द्वारा वैधता की एक पद्धति का अन्त कर एक दूसरी पद्धति स्थापित की जाती है। मार्क्सवादी अवधारणा इससे बिल्कुल भिन्न है। मार्क्सवादी विचारकों का मत है कि संघर्ष एवं क्रान्ति मानव इतिहास का आवश्यक अंग है और इसलिए मानव विकास में क्रान्ति स्वाभाविक है। मार्क्स क्रान्ति की अनिवार्यता में विश्वास करता है। शान्तिपूर्ण तथा वैध तरीकों से साम्यवादी परिवर्तन सम्भव नहीं है। उसके शब्दों में "हिंसा नूतन समाजरूपी शिशु को गर्भ में धारण करने वाले प्रत्येक प्राचीन समाज की जननी शक्ति होती है।" वह मानता था कि साम्यवादी शिशु का जन्म कराने के लिए हिंसा रूपी प्रसव वेदना आवश्यक है। पूंजीवाद स्वयं अपने विनाश के बीज बो रहा है, परन्तु इस कार्य को शीघ्र करने के लिए मजदूरों को संगठित होकर क्रान्ति कर देनी चाहिए। क्रान्ति से मजदूरों का ही लाभ होगा, अनेक कारणों से मार्क्स क्रान्ति को अपरिहार्य मानता है—**प्रथम**, वह द्वन्दवात्मक तरीके में विश्वास करता है और जिसके अनुसार परिवर्तन आवश्यक है। पूंजीवाद के आन्तरिक विरोध का निवारण करने के लिए क्रान्ति अनिवार्य है। **द्वितीय**, पूंजीपतियों के संगठित विरोध का सामना श्रमजीवी संगठित होकर क्रान्ति के माध्यम से ही कर सकते हैं। **तृतीय**, मार्क्स यह मानता था कि शासक वर्ग बिना संघर्ष के सत्ता को नहीं छोड़ेगा। श्रमजीवियों के लिए सत्ता पाने का एकमात्र उपाय सशस्त्र क्रान्ति का अवलम्बन है।

माओ द्वारा प्रतिपादित क्रान्ति मार्क्स के विचार से थोड़ी भिन्न है। माओ द्वारा प्रतिपादित क्रान्ति सर्वहारा वर्ग के स्थान पर किसान वर्ग को गतिशील बनाए जाने पर अधिक बल देती है। माओ का विश्वास था कि देहातों को आधार बनाकर ही एक क्रान्तिकारी संघर्ष का संगठन खड़ा किया जा सकता था। जहां लेनिन ने क्रान्ति के हरावल के रूप में साम्यवादी दल के सदस्यों की संगठन क्षमता पर विशेष बल दिया था वहां माओ का जन साधारण के उत्साह और उनकी सृजनशीलता में अगाध विश्वास था।

क्रान्ति के कारण (Causes of Revolution)—अरस्तू ने क्रान्ति के कारणों को तीन भागों में विभाजित किया है : (1) मूल कारण, (2) सामान्य कारण, और (3) विशेष कारण।

अरस्तू ने असमानता या विषमता को क्रान्ति के मूल कारण माना है। उसका कथन है कि "विद्रोह या क्रान्ति का कारण सदैव असमानता में पाया जाता है।"

अरस्तू के अनुसार क्रान्ति के सामान्य कारण हैं : (1) शासकों की धृष्टता एवं स्वार्थ सिद्धि की भावना, (2) सम्मान की आकांक्षा, (3) उच्चता की भावना, (4) भय, (5) घृणा, (6) शासक वर्ग में आपसी विद्वेष, (7) जातीय मतभेद, (8) राज्य के किसी अंग में अनुपात से अधिक वृद्धि, (9) निर्वाचन सम्बन्धी षड्यन्त्र, (10) मध्यम वर्ग की अनुपस्थिति, आदि।

क्रान्तियों के विशेष कारण हैं—लोकतन्त्र में धनवानों के साथ किया जाने वाला अत्याचार, धनिकतन्त्र में क्रान्ति का प्रमुख कारण सत्ताधारी धनवानों के द्वारा जनसाधारण के साथ अन्यायपूर्ण व्यवहार करना, कुलीनतन्त्र में क्रान्ति का कारण है कि इसमें शासन करने वाले व्यक्तियों की संख्या का कम होना और एकतन्त्र में क्रान्ति का मुख्य कारण पारिवारिक झगड़े और शासकों की स्वेच्छाचारिता है।

क्रान्तियों को रोकने के उपाय (Means of Preventing Revolutions)

क्रान्तियों को रोकने के लिए अरस्तू ने निम्न उपाय बतलाए हैं : (1) कानून पालन की भावना जाग्रत की जाए, (2) आनुपातिक समानता की स्थापना की जाए, (3) शक्ति का केन्द्रीकरण रोका जाना चाहिए, (4) पदों का वितरण न्यायोचित एवं उनकी अवधि छोटी होनी चाहिए, (5) नागरिकों में देश भक्ति की भावना विकसित की जानी चाहिए, (6) जनता के साथ शासकों का व्यवहार अच्छा होना चाहिए, (7) राज्य के पद वैयक्तिक लाभ कमाने के साधन नहीं होने चाहिए, (8) मध्यम वर्ग का विकास किया जाना चाहिए, आदि।

मेरियम ने क्रान्तियों को रोकने के छः उपाय बताए हैं : (1) सत्ता की सामाजिक रचना का घनिष्ठ ज्ञान। (2) राजनीतिक इनामों व दण्डों का ठीक प्रकार से वितरण। (3) सत्ता के केन्द्रीकरण से बचना। (4) मध्यम मार्ग का अनुसरण करना। (5) नियोजन व नेतृत्व। (6) न्याय तथा व्यवस्था के बीच सन्तुलन।

मार्क्स का क्रान्ति का सिद्धान्त
(MARX'S THEORY OF REVOLUTION)

कार्ल मार्क्स का यह दृढ़ विश्वास था कि पूंजीवाद का अधिक विकास होने पर उसका अन्त क्रान्ति के हिंसापूर्ण साधनों से ही सम्भव है; शान्तिमय, वैधानिक अथवा लोकतान्त्रिक साधनों से किसी देश में समाजवाद को नहीं लाया जा सकता है। उसने यह लिखा है कि "हिंसा नूतन समाज रूपी शिशु को गर्भ में धारण करने वाले प्रत्येक प्राचीन समाज की जननी शक्ति होती है।" शक्ति के प्रयोग के बिना नूतन समाज का जन्म नहीं हो सकता है।

मार्क्स का क्रान्ति का सिद्धान्त बड़ा सीधा-सादा है। वह द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन में विश्वास करता था। उसके अनुसार संसार के सभी परिवर्तन आन्तरिक विरोध (Inner Contradictions) के आधार पर झटका देते हुए हो रहे हैं। पूंजीवाद अपने विनाश के लिए स्वयमेव आन्तरिक विरोध उत्पन्न कर रहा है। नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण उत्पादन प्रणाली पहले की अपेक्षा कई गुना अधिक मात्रा में वस्तुओं को पैदा कर सकती है, किन्तु यदि इसके अनुसार उत्पादन किया जाए तो मण्डियों में माल की बाढ़ आ जाएगी, माल की मात्रा बढ़ जाने का स्वाभाविक परिणाम वस्तुओं के मूल्यों में भारी कमी तथा भीषण आर्थिक मन्दी का आना होगा, इससे पूंजीपतियों के मुनाफे की तथा सूद की दर गिर जाएगी। अतः अपने मुनाफे यथापूर्व बनाए रखने के लिए पूंजीपति उत्पादन को अधिक नहीं होने देते, भाव ऊंचा रखने के लिए अधिक माल को जलाया या नष्ट किया जाता है। इस प्रकार पूंजीवादी व्यवस्था में एक प्रवल विरोध उत्पन्न होता है। एक ओर साधारण जनता अन्नादि न मिलने के कारण भूखी मरती है, दूसरी ओर पूंजीपति उसका भाव ऊंचा रखने के लिए उसे नष्ट करते हैं। पूंजीपति इस उत्पादन प्रणाली की अधिक मात्रा में उत्पन्न करने की शक्ति का विरोध करते हैं। इस विरोध का समाधान ठीक वैसे ही विस्फोट से हो सकता है, जैसे पृथ्वी के भीतर अत्यधिक मात्रा में द्रव या वाष्प के किसी स्थान पर एकत्र होने से उसके दबाव का निराकरण एक भीषण भूकम्प या भूचाल से होता है। समाज में इस प्रकार के विस्फोट और भूचाल को क्रान्ति कहते हैं।

मार्क्स के अनुसार क्रान्ति की जड़ समाज की संरचना में निहित है। उसके अनुसार समाज में अर्थव्यवस्था की रचना विशेष से कुछ विशेष प्रकार के सामाजिक सम्बन्ध उत्पन्न होते हैं और समाज में दो वर्ग बन जाते हैं—एक वर्ग उत्पादन के साधनों पर अधिकार रखता है और दूसरा इन पर आश्रित रहने वाला तथा परिश्रम करके जीने वाला श्रमजीवी वर्ग है। एक वर्ग शासकों का होता है जो शासन व शोषण करता है जबकि दूसरा वर्ग शासितों का होता है जो शोषण के शिकार होते हैं। शोषित वर्ग के लोग जब अन्याय और शोषण के खिलाफ संगठित हो जाते हैं तो सत्ता वर्ग को उंखाड़ फेंकते हैं और स्वयं ही शासक बन जाते हैं। इस प्रकार मार्क्स के अनुसार समाज में आर्थिक कारणों से ऐसे सामाजिक वर्ग बन जाते हैं जिनका पारस्परिक विरोध अन्ततः बहुसंख्यक शोषक वर्ग को क्रान्ति के कगार पर पहुंचा देता है।

लेनिन का क्रान्ति सिद्धान्त
(LENIN'S THEORY OF REVOLUTION)

लेनिन ने अपनी पुस्तक *State and Revolution* में लिखा है कि समाजवाद की स्थापना क्रान्तिकारी साधनों से ही हो सकती है। वह विश्व का न केवल एक महान क्रान्तिकारी, अपितु क्रान्ति के सिद्धान्तों की व्याख्या करने वाला तथा क्रान्ति के शास्त्र का महान आचार्य था।

मार्क्स अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में यह मानने लगा था कि ग्रेट ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे उद्योग धन्धों की दृष्टि से कुछ अत्यन्त उन्नतशील देशों में समाजवाद की स्थापना शनैः-शनैः क्रान्ति के बिना ही हो सकती है। ऐंजेल्स ने मार्क्स की पुस्तक 'फ्रांस में वर्ग युद्ध' (*Class Struggle in France*) के नवीन संस्करण को 1895 में प्रकाशित करते हुए उसकी भूमिका में यह विचार प्रकट किया था कि समाजवाद को लाने के लिए विद्रोही मजदूरों द्वारा गलियों में लड़ाइयां लड़ने में अनेक कठिनाइयां हैं। अतः उस समय मार्क्स के अनेक अनुयायी और संशोधनवादी यह मानने लगे थे कि मार्क्स के सिद्धान्तों का प्रचार शान्तिपूर्ण रीति से होना चाहिए, मार्क्स के क्रान्ति विषयक विचारों में संशोधन की आवश्यकता है। इस विषय में उन्होंने मार्क्स के 'राज्य के विलुप्त होने' (Withering away of the State) के सिद्धान्त को अपना आधार बनाया। उनका यह कहना था कि मताधिकार का क्षेत्र अधिक विस्तीर्ण होने से तथा सब लोगों को वोट का अधिकार देने से और मजदूरों द्वारा उद्योगों को चलाने वाली कम्पनियों में अधिकाधिक हिस्से खरीदने तथा इनके प्रबन्ध में भाग लेने से यह स्पष्ट है कि समाजवाद क्रान्ति के बिना शान्तिपूर्ण साधनों से स्थापित हो सकता है। लेनिन ने इसका प्रबल खण्डन करते हुए क्रान्ति की अनिवार्यता पर बल दिया। वह समूचे इतिहास को विरोधी शक्तियों का संघर्ष मानता था और इसे मानव समाज के लिए अनिवार्य, हितकर एवं उचित समझता था। उसनें मार्क्स की 'राज्य संस्था' के लुप्त होने के सिद्धान्त की दूसरे ढंग से व्याख्या करते हुए कहा कि इसका अभिप्राय 'साम्यवादी क्रान्ति के वाद स्थापित होने वाले सर्वहारा वर्ग के राज्य' क्षीण होने से है, इस सिद्धान्त को क्रान्ति होने से पहले के राज्य पर लागू नहीं किया जा सकता है। ऐसा राज्य तो पूंजीपति वर्ग द्वारा मजदूर वर्ग का शोषण करने वाली एक विशेष दमनकारी शक्ति है, इसका उन्मूलन केवल क्रान्ति द्वारा ही हो सकता है। लेनिन ने न केवल क्रान्ति की अनिवार्यता पर बल दिया, अपितु क्रान्ति करने की कार्य पद्धति, कला और दांव-पेंचों (Tactics) पर भी प्रकाश डाला तथा रूस में साम्यवादी क्रान्ति को सफलतापूर्वक सम्पन्न किया।

लेनिन को क्रान्ति के शास्त्र का विश्व में सबसे बड़ आचार्य माना जाता है। उसने संसार की क्रान्तियों का गहरा अनुशीलन करके इनकी सफलता के सम्बन्ध में कुछ नियम निर्धारित किए थे। 1905 की रूसी क्रान्ति की विफलता ने उसे निरर्थक हिंसा का विरोधी बना दिया था, वह पूरी तैयारी के बिना, केवल जोश से की जाने वाली क्रान्तियों का घोर विरोधी था। उसके मतानुसार विरोध करना एक कला है, इसके कुछ नियम हैं, इन नियमों में निष्णात व्यक्ति ही क्रान्ति को सफल बना सकते हैं। इसका पहला नियम यह है कि क्रान्ति को खेल-तमाशा समझकर निरे जोश में आकर नहीं करना चाहिए, इसे खूब सोच-समझकर योजनाबद्ध ढंग से आरम्भ करना चाहिए और इसके सफल होने तक निरन्तर प्रयत्न करने चाहिए। दूसरा नियम एक निश्चित क्षण पर और निश्चित स्थल पर समूची शक्ति लगा देना है, यदि ऐसा न होगा तो शत्रु अधिक संगठित और तैयार होने के कारण विद्रोहियों को कुचल देगा। तीसरा नियम शत्रु पर उस समय अप्रत्याशित हमला करना है जब उसकी सेनाएं विभिन्न स्थलों पर बिखरी हुई हों। एबेन्स्टाइन ने लिखा है कि लेनिन की सबसे बड़ी देन उसका पेशेवर क्रान्तिकारी (Professional Revolutionary) का विचार है। पेशेवर क्रान्तिकारी का अभिप्राय उस व्यक्ति से है जिसने क्रान्ति करना और इसे सफल बनाना ही अपने जीवन का पेशा या व्यवसाय बना लिया हो एवं क्रान्ति शास्त्र का पारंगत पण्डित हो, जिस प्रकार पुलिस को तथा सेना को अपने कार्य का पूरा प्रशिक्षण दिया जाता है, उसी प्रकार उसका विरोध करने वाले क्रान्तिकारी दल को पुलिस की आंखों में धूल झोंकने, उसके प्रयास विफल करने, गुप्त रूप से अपने दल को संगठित करने की तथा क्रान्ति के विविध कार्य करने की पूरी शिक्षा दी जानी चाहिए। इस प्रकार से प्रशिक्षित मुट्ठी-भर क्रान्तिकारी हजारों मजदूरों से अधिक अच्छा काम कर सकते हैं। लेनिन ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'क्या करें' (*What is to be done*) में इसका विस्तृत प्रतिपादन किया है।

लेनिन ने इस बात पर बहुत बल दिया है कि इस प्रकार प्रशिक्षित पेशेवर क्रान्तिकारियों से बना हुआ दल ही क्रान्ति का सफल नेतृत्व कर सकता है। वह संख्या की अपेक्षा गुणों को अधिक महत्व देता था। सदस्यों की विशाल संख्या रखने वाले एक बड़े दल की अपेक्षा वह क्रान्ति के जोश से परिपूर्ण, करने या मर मिटने का दृढ़ संकल्प रखने वाले, सैनिकों की भांति कठोर अनुशासन के नियमों में बंधे हुए सुप्रशिक्षित, सुसंगठित क्रान्तिकारियों की अत्यन्त अल्प संख्या रखने वाले दल को अधिक अच्छा समझता था। इस दल का संगठन

मजदूरों के संगठनों की भांति विशाल और खुला न होकर गुप्त होना चाहिए। लेनिन ने इस प्रकार वनाए जाने वाले दल को क्रान्ति का अग्रदूत, उसका नेता और संगठनकर्ता वताया है। यह मजदूर वर्ग का अग्रगामी दल है। इसे साम्यवादी सिद्धान्तों का गहरा ज्ञान होना चाहिए, क्योंकि लेनिन के शब्दों में, "लड़ाकू हरावल दस्ते की भूमिका केवल वही पार्टी अदा कर सकती है जो सबसे अधिक उन्नत सिद्धान्तों के अनुसार चलती है।" वह इस पार्टी को एक प्रस्तर शिला की भांति सुदृढ़ (monolithic), कठोर, अनुशासित और संगठित बनाना चाहता था। ऐसी पार्टी ही क्रान्ति का सफल नेतृत्व करने में सक्षम होती है; अपितु क्रान्ति को सफल बनाने के लिए आवश्यक किसी भी प्रकार की कठोरता या निर्दयता करने में संकोच नहीं करती है।

लेनिन के इस सिद्धान्त की महत्ता का प्रधान कारण यह है कि वह इसी से 1917 की वोल्शेविक क्रान्ति करने तथा बाद में साम्यवादी शासन को सुदृढ़ बनाए रखने में सफलता प्राप्त कर सका। उसे मार्क्स के ग्रन्थों से यह पूरा विश्वास हो गया था कि युद्ध अनिवार्य है, रूस के सम्बन्ध में गम्भीर ज्ञान होने के कारण वह यह समझता था कि युद्ध में रूस की हार अवश्य होगी, ऐसी हार का लाभ उठाकर क्रान्ति को सफल बनाने वाले सुदृढ़ दल का निर्माण करना उनका महान कार्य था। इस प्रकार उसने रूस में मार्क्सवाद का और क्रान्ति का पथ प्रशस्त किया।

मार्क्स का यह मत था कि पूंजीवाद का चरम विकास होने पर ही आन्तरिक विरोध से उसका विध्वंस होकर साम्यवादी क्रान्ति होती है। मार्क्स के सिद्धान्तों के अनुसार साम्यवादी क्रान्ति के लिए पूंजीवाद की प्रसव वेदना आवश्यक थी। किन्तु लेनिन का यह विश्वास था कि एक शक्तिशाली साम्यवादी दल का निर्माण करके तथा उपयुक्त परिस्थितियों का पूरा लाभ उठाते हुए पूंजीवाद के विकास के बिना ही साम्यवादी क्रान्ति को सफल बनाया जा सकता है।

क्रान्ति को सफल बनाने के लिए लेनिन ने एक विशेष प्रकार के साम्यवादी दल के निर्माण पर बल दिया। यह अत्यधिक अनुशासित, संगठित, क्रान्तिशास्त्र में पारंगत, दृढ़ निश्चयी और अपने लक्ष्य के लिए मर-मिटने वाले पेशेवर क्रान्तिकारियों का समूह था, लेनिन इसे क्रान्ति का अग्रदूत या लड़ाकू हरावल दस्ता (Vanguard) मानता था। लेनिन का यह मत था कि इस दल की सदस्यता केवल उद्देश्यों के साथ सहानुभूति रखने वाले व्यक्तियों को नहीं, अपितु इन्हें अपने जीवन का लक्ष्य बनाने वाले व्यक्तियों को दी जानी चाहिए। यह सदस्यता इस प्रकार क्रान्तिकारी कार्यों में कर्मठ रूप से लगे व्यक्तियों तक ही सीमित रहनी चाहिए, इस दल में कठोर अनुशासन अत्यन्त आवश्यक है। लेनिन का यह कहना था कि, "पार्टी उन सर्वोत्तम लोगों को लेकर वनाई जाती है जो क्रान्तिकारी ध्येय के प्रति सबसे अधिक निष्ठावान होते हैं। जब तक इच्छा की एकता, कार्यवाही की एकता और अनुशासन की एकता द्वारा आपस में जुड़े हुए, एक शिलात्मक चट्टान की तरह ठोस सैन्य दल के रूप में पार्टी का संगठन नहीं किया जाएगा, तब तक वह मजदूर वर्ग के अग्रणी लड़ाकू दल की भूमिका नहीं अदा कर पाएगी।" पार्टी का संगठन जब केन्द्रीयतावाद (Centralism) के उसूलों पर किया जाता है, तभी वह मजबूत तथा एक सूत्र में आवद्ध हो सकती है।

लेनिन द्वारा प्रतिपादित साम्यवादी दल के इस सिद्धान्त से तीन परिणाम निकलते हैं और ये तीनों मार्क्सवाद के मौलिक सिद्धान्तों के प्रतिकूल हैं। पहले परिणाम के अनुसार क्रान्ति विचारों के प्रचार से होती है, किन्तु मार्क्स के मत में 'उत्पादन की भौतिक परिस्थितियां' (Material Conditions of Productions) ही क्रान्ति को उत्पन्न करती हैं। दूसरा परिणाम शक्ति के प्रयोग का प्रवल समर्थन है, मार्क्स तथा एंजेल्स ने शान्तिपूर्ण साधनों पर बल दिया था, किन्तु लेनिन शक्ति को शान्तिपूर्ण विकास से अधिक महत्व देता था। तीसरा परिणाम क्रान्ति का सदैव हिंसापूर्ण साधनों से सम्पन्न होना था, जबकि मार्क्स का यह मन्तव्य था कि क्रान्तिकारी जनता के हाथों में इतनी प्रबल शक्ति होगी कि इन्हें अधिक हिंसात्मक कार्य करने की आवश्यकता नहीं रहेगी।

स्थायी क्रान्ति का माओ का सिद्धान्त (Mao's Theory of Permanent Revolution)

स्थायी क्रान्ति का विचार माओ का अपना सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त की जड़ में माओ का यह मूल दर्शन था कि ज्ञान की तुलना में इच्छा शक्ति का और सिद्धान्तों की तुलना में कर्म का अधिक महत्व है।

माओ का विश्वास मूलतः एक ऐसी क्रान्ति में है जो ग्रामीण क्षेत्रों में ग्रामीण जनता के द्वारा लाई जाए। क्रान्ति को स्थायी रूप देने का, उसकी दृष्टि में यही एकमात्र साधन है। माओ का यह दृढ़ विश्वास था कि चीन और दूसरे एशियायी देशों में वहां का कृषक वर्ग क्रान्ति लाने में समर्थ है। 'महान सर्वहारा सांस्कृतिक

क्रान्ति' के माध्यम से माओ ने वास्तव में साम्यवादी दल के महत्व और क्रान्ति के उस संगठनात्मक ढांचे को, जिसकी व्याख्या मार्क्सवाद-लेनिनवाद के सन्दर्भ में की गई थी, चुनौती दी। माओ ने इस आन्दोलन के द्वारा 'साम्यवादी दल बनाम जनता' का प्रश्न खड़ा किया और दल के महत्व को कम करने और जनता के महत्व को बढ़ाने का प्रयत्न किया। माओ ने चीन में दल को कभी भी सर्वोपरि स्थान लेने की अनुमति नहीं दी। उस पर अंकुश रखने के लिए उसने बार-बार जन-आन्दोलन चलाए। 1955-66 की सांस्कृतिक क्रान्ति में माओ ने दल के संगठन को कमजोर बनाने के लिए लाल स्वयं-सेवकों को अपना साधन बनाया।

गांधी : रूढ़िवादी अथवा क्रान्तिकारी?
(GANDHI : CONSERVATIVE OR REVOLUTIONARY?)

गांधीजी रूढ़िवादी थे अथवा क्रान्तिकारी, यह एक विचारणीय प्रश्न है। राजनीतिशास्त्रियों ने रूढ़िवादिता की चार विशेषताएं बताई हैं—(1) धर्म और सम्पत्ति जैसी स्थापित संस्थाओं को आदर्श की दृष्टि से देखना, (2) समाज व्यवस्था की ऐतिहासिक क्रमबद्धता में दृढ़ आस्था, (3) सामाजिक व्यवस्था को उसकी पूर्व निश्चित और इतिहासबद्ध दिशा में मोड़ने में व्यक्ति की इच्छा शक्ति और तर्क शक्ति की तुलनात्मक असमर्थता में अविश्वास, और (4) जीवन में जो काम जिसे सौंप दिया गया है उसे वह पूर्ण निष्ठा के साथ करता रहे, इस सिद्धान्त का समर्थन। गांधीजी की विचारधारा के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमें से किसी भी एक दृष्टि से तो गांधी कार्ल मार्क्स, लेनिन या अन्य घोषित क्रान्तिकारी विचारकों की तुलना में अधिक क्रान्तिकारी विचारक और अधिक क्रान्ति कर्मी थे। बीसवीं सदी के अन्तिम दशक में विश्व के विभिन्न देशों में साम्यवादी व्यवस्था को जो भारी आघात पहुंचा, उससे अब यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो गई है कि व्यवस्था में लम्बे समय के लिए मूलभूत परिवर्तन ला पाना तभी सम्भव है, जबकि व्यवस्था में संस्थात्मक और संरचनात्मक परिवर्तनों के साथ-साथ व्यवस्था से जुड़े व्यक्तियों की मनोवैज्ञानिक और नैतिक प्रवृत्तियों में परिवर्तन हों। गांधी ने इस बात को समझा था तथा व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक और नैतिक प्रवृत्तियों में परिवर्तन की आवश्यकता पर बल दिया था। गांधीवादी क्रान्ति का मार्ग एक लम्बी प्रक्रिया से होकर गुजरता है, अहिंसक क्रान्ति का यह मार्ग हिंसक क्रान्ति की तुलना में कठिन हैं, लेकिन यह सोचने का आधार बनता है कि यह क्रान्ति का निश्चित रूप से श्रेष्ठ मार्ग है।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. क्रान्ति से आप क्या समझते हैं? इस कथन को स्पष्ट कीजिए कि "क्रान्ति 'सत्ता परिवर्तन', 'सुधार' और 'विद्रोह' से भिन्न तथा व्यापक और मूलभूत परिवर्तन की स्थिति है।"
2. क्रान्ति के सम्बन्ध में अरस्तू के विचारों की विवेचना कीजिए। क्या गांधी क्रान्तिकारी थे?
3. 'मार्क्स के क्रान्ति के सिद्धान्त' और 'लेकिन के क्रान्ति के सिद्धान्त' की विवेचना कीजिए।

लघु उत्तरात्मक, अति लघु उत्तरात्मक एवं वस्तुनिष्ठ प्रश्न

अध्याय 1

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. 'राजनीति विज्ञान राज्य का अध्ययन है' स्पष्ट कीजिए।
2. 'राजनीति विज्ञान, राज्य और सरकार, दोनों का अध्ययन है' समझाइए।
3. 'राजनीति विज्ञान, सर्वाधिक प्रमुख रूप में मानव का अध्ययन और उसके राजनीतिक जीवन का अध्ययन है' स्पष्ट कीजिए।
4. राजनीति विज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत 'स्थानीय, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का अध्ययन' और 'शासन प्रबन्ध का अध्ययन'—इन दो बातों को समझाइए।
5. राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में निरन्तर वृद्धि हो रही है, स्पष्ट कीजिए।
6. इस विषय का नाम 'राजनीति' रखने पर प्रमुख आपत्तियां क्या हैं?
7. इस विषय को 'राजनीतिक दर्शन' नाम देने पर क्या आपत्तियां है?
8. 'राजनीति विज्ञान इस विषय के लिए सर्वाधिक उपयुक्त संज्ञा है' समझाइए।
9. राजनीति विज्ञान की वैज्ञानिकता के विरुद्ध दो तर्क दीजिए।
10. राजनीति विज्ञान की वैज्ञानिकता स्पष्ट कीजिए।
11. 'राजनीति विज्ञान एक कला भी है' स्पष्ट कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'पॉलिटिक्स' शब्द की उत्पत्ति बतलाइए।
   [उत्तर—'पॉलिटिक्स' शब्द की उत्पत्ति यूनानी भाषा के 'Polis' शब्द से हुई है, जिसका अर्थ उस भाषा में 'नगर' अथवा 'राज्य' होता है।]
2. 'राजनीति विज्ञान विषय के अध्ययन का प्रारम्भ और अन्त राज्य के साथ होता है।' यह कथन निम्नलिखित विद्वानों में से किसका है :
   (अ) लास्की, (ब) गैटिल, (स) गार्नर, (द) प्लेटो।
   [उत्तर—(स) गार्नर।]
3. 'राजनीति विज्ञान सरकार से सम्बन्धित विद्या है। यह कथन निम्नलिखित में से किसका है :
   (अ) सीले, (ब) लीकॉक, (स) लार्ड एक्टन, (द) डॉ. जकारिया।
   [उत्तर—(ब) लीकॉक।]
4. राजनीति विज्ञान के विषय-क्षेत्र में निरन्तर वृद्धि होने के कारण क्या हैं?
   [उत्तर—इस स्थिति के कारण हैं : लोकतान्त्रिक व्यवस्था, लोककल्याणकारी राज्य तथा वैज्ञानिक विकास के कारण 'एक विश्व' की दिशा में प्रगति, आदि तत्व।]
5. 'राजनीति' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम किस विद्वान ने और किस पुस्तक में किया है?
   [उत्तर—'राजनीति' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग अरस्तू ने अपनी पुस्तक 'पॉलिटिकस' (*Politicus*) में किया है।]
6. फ्रेडरिक पोलक ने 'राजनीति' शब्द को किन दो वर्गों में विभाजित किया है?
   [उत्तर—फ्रेडरिक पोलक ने 'राजनीति' को स्पष्ट ही इन दो वर्गों में बांट दिया है : (1) सैद्धान्तिक राजनीति और (2) व्यावहारिक राजनीति।]

7. अपने अध्ययन विषय के लिए 'राजनीति' नाम क्यों उपयुक्त नहीं है?
[उत्तर—(1) 'राजनीति' शब्द केवल व्यावहारिक राजनीति तक सिमट कर रह गया है, इसमें सैद्धान्तिक राजनीति नहीं आती, (2) 'राजनीति' में शास्त्रीय एकरूपता का अभाव है और (3) 'राजनीति' आज के जीवन में अप्रतिष्ठित शब्द बन गया है।]

8. अपने अध्ययन विषय के लिए 'राजनीतिक दर्शन' नाम क्यों उपयुक्त नहीं है?
[उत्तर—(1) 'राजनीतिक दर्शन' शब्द 'सैद्धान्तिक राजनीति' तक सीमित हो गया है, इसमें व्यावहारिक राजनीति का अध्ययन नहीं हो पाता। (2) 'दर्शन' शब्द अनिश्चितताओं और अवास्तविकताओं का प्रतीक बन गया है।]

9. अपने अध्ययन विषय के लिए 'राजनीति विज्ञान' नाम ही क्यों सर्वाधिक उपयुक्त है?
[उत्तर—'राजनीति विज्ञान' नाम निम्न कारणों से सर्वाधिक उपयुक्त है : प्रथम, यह नाम अध्ययन क्षेत्र के अनुरूप है। इसमें सैद्धान्तिक राजनीति और व्यावहारिक राजनीति दोनों ही आते हैं। द्वितीय, यह नाम विश्व की प्रकृति के अनुकूल इसको एक विज्ञान की संज्ञा देता है और तृतीय, यह एक सम्मानप्रद नाम है।]

10. विज्ञान की सही परिभाषा क्या है?
[उत्तर—एक विज्ञान किसी विषय से सम्बन्धित उस ज्ञान राशि को कहते हैं जो विधिवत् पर्यवेक्षण, अनुभव एवं अध्ययन के आधार पर प्राप्त की गई हो और जिसके तथ्य परस्पर सम्बद्ध, क्रमबद्ध तथा वर्गीकृत किए गए हों।]

11. निम्न वाक्य में रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए :
राजनीति विज्ञान को .... विज्ञानों की श्रेणी में ही रखा जा सकता है।
[उत्तर—अनिश्चित।]

12. कला किसे कहते हैं?
[उत्तर—कला ऐसे ज्ञान को कहा जा सकता है जिसका उद्देश्य मानव जीवन को सुन्दर बनाना हो।]

13. राजनीति विज्ञान एक विज्ञान है या कला?
[उत्तर—वस्तुतः राजनीति विज्ञान एक विज्ञान और कला दोनों ही है। लासवेल ने इसे कला, विज्ञान और दर्शन का संगम कहा है।]

14. राजनीति विज्ञान को 'विज्ञान' न मानने वाले किन्हीं चार लेखकों के नाम दीजिए।
[उत्तर—बक्ल, काम्टे, मैटलैण्ड और बर्क।]

15. राजनीति विज्ञान को 'विज्ञान' मानने के विरुद्ध दिए गये तीन तर्क लिखिए।
[उत्तर—(i) कार्य और कारण में निश्चित सम्बन्ध का अभाव, (ii) सर्वमान्य तथ्यों का अभाव, (iii) पर्यवेक्षण एवं परीक्षण का अभाव, (iv) मानव स्वभाव की परिवर्तनशीलता।]

16. राजनीति विज्ञान को 'विज्ञान' मानने के पक्ष में चार तर्क दीजिए।
[उत्तर—(i) राजनीति विज्ञान का ज्ञान क्रमबद्ध और व्यवस्थित, (ii) सर्वमान्य तथ्य, (iii) कार्य और कारण में पारस्परिक सम्बन्ध, (iv) पर्यवेक्षण तथा परीक्षण सम्भव।]

17. 'राजनीति' को पूर्ण या 'सर्वोच्च विज्ञान' कहने वाला दार्शनिक था :
(अ) अरस्तू, (ब) प्लेटो, (स) ग्रीन, (द) हाब्स।
[उत्तर—(अ) अरस्तू।]

18. परम्परागत राजनीति विज्ञान का प्रमुख लक्षण है :
(अ) सर्वेक्षण पद्धति पर बल,
(ब) गणितीय प्रतिमानों पर बल,
(स) ऐतिहासिक एवं विवरणात्मक पद्धति पर बल,
(द) तथ्य संग्रह पर बल।
[उत्तर—(स) ऐतिहासिक एवं विवरणात्मक पद्धति पर बल।]

19. आधुनिक युग में परम्परागत राजनीति विज्ञान को जीवित रखने वाले अग्रणी विचारक हैं :
(अ) अरस्तू और सिसरो, (ब) कार्ल मार्क्स और लेनिन,
(स) हीगल और ग्रीन, (द) लियो स्ट्रास और माइकेल आकशॉट।
[उत्तर—(द) लियो स्ट्रास और माइकेल आकशॉट।]

20. परम्परागत राजनीति विज्ञान की प्रमुख विशेषता है :
(अ) तथ्यों पर बल देना, (ब) वैज्ञानिकता, (स) दार्शनिक प्रकृति, (द) अनुभवाश्रित अध्ययन।
[उत्तर—(स) दार्शनिक प्रकृति।]

21. परम्परागत राजनीति विज्ञान का लक्षण नहीं है :
(अ) अमूर्त स्वरूप, (ब) मूल्यों और मानकों पर बल,
(स) व्यवहारवादी अध्ययन, (द) काल्पनिकता पर बल।
[उत्तर—(स) व्यवहारवादी अध्ययन।]

अध्याय 2

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. 'राजनीति विज्ञान शक्ति का अध्ययन है' स्पष्ट कीजिए।
2. 'राजनीति विज्ञान राजनीतिक व्यवस्था का अध्ययन है' व्याख्या कीजिए।
3. राजनीति विज्ञान के क्षेत्र के सम्बन्ध में आधुनिक दृष्टिकोण क्या है? वतलाइए।
4. राजनीति विज्ञान की आधुनिक प्रवृतियों के नाम गिनाइए।
5. 'आदर्शवादी अध्ययनों की अपेक्षा यथार्थवादी व्यवहार परक अध्ययन'; व्याख्या कीजिए।
6. 'अनुभवात्मक एवं व्यवहारवाद का बोलवाला' और 'अन्तर-अनुशासनात्मक दृष्टिकोण'—इन दो प्रवृत्तियों की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।
7. जार्ज एच. सेंवाइन अपने ऐतिहासिक दृष्टिकोण में क्या कहते हैं?
8. जार्ज ई. जी. कैटलिन का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण क्या है?
9. लियो स्ट्रॉस द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक दृष्टिकोण समझाइए।
10. कार्ल जे. फ्रेडरिक अपने समन्वयात्मक दृष्टिकोण के आधार पर क्या कहते हैं?
11. राजनीति विज्ञान की स्वायत्तता पर विचार व्यक्त कीजिए।
12. राजनीति विज्ञान के परम्परावादी और आधुनिक दृष्टिकोण में दो अन्तर वतलाइए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'राजनीति विज्ञान शक्ति का विज्ञान है', यह परिभाषा दी है :
(अ) केटलिन, (ब) गार्नर, (स) लासवेल, (द) लीकॉक।
[उत्तर—(अ) केटलिन।]
2. राजनीति शास्त्र के सम्बन्ध में आधुनिक दृष्टिकोण के प्रवर्तक विद्वान हैं :
(अ) गार्नर और गैटल, (ब) लीकॉक और सीले,
(स) केटलिन और लासवेल, (द) लास्की और हरमन हैलर।
[उत्तर—(स) केटलिन और लासवेल।]
3. राजनीति विज्ञान विषय के किन्हीं चार आधुनिक लेखकों के नाम वतलाइए।
[उत्तर—राजनीति विज्ञान विषय के चार प्रमुख आधुनिक लेखक हैं : केटलिन, मेक्स वेवर, लासवेल और डेविड ईस्टन।]
4. आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार, राजनीति विज्ञान में किन बातों का अध्ययन किया जाता है?
[उत्तर—1. मानवीय क्रियाओं का अध्ययन, 2. शक्ति का अध्ययन, 3. राजनीतिक व्यवस्था का अध्ययन, 4. निर्णय प्रक्रिया का अध्ययन।]
5. आधुनिक राजनीति विज्ञान की कोई चार प्रमुख प्रवृत्तियां वतलाइए।
[उत्तर—ये हैं : 1. अध्ययन मुक्तता, 2. वैज्ञानिकता, 3. मूल्य विहीनता, 4. आदर्शवादी अध्ययनों की अपेक्षा यथार्थवादी व्यवहारपरक अध्ययन, 5. अन्तर अनुशासनात्मकता।]
6. राजनीति विज्ञान के सम्बन्ध में समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के प्रतिपादक कौन हैं?
[उत्तर—जार्ज ई. जी. केटलिन।]
7. राजनीति विज्ञान के सम्बन्ध में दार्शनिक दृष्टिकोण के प्रतिपादक कौन हैं?
[उत्तर—लिओ स्ट्रास।]
8. राजनीति विज्ञान के सम्बन्ध में समन्वयात्मक दृष्टिकोण का प्रतिपादन किसने किया है?
[उत्तर—कार्ल जे. फ्रेडरिक।]
9. राजनीति विज्ञान के सम्बन्ध में नॉर्मन जैकवसन ने किस बात का प्रतिपादन किया है?
[उत्तर—जैकवसन ने 'राजनीति विज्ञान की स्वायत्तता' की धारणा का प्रतिपादन किया है।]

10. आधुनिक राजनीति विज्ञान का सूत्रपात करने वाली चार्ल्स ई. मेरियम की प्रमुख कृति है :
(अ) रिपब्लिक, (ब) पॉलिटिक्स,
(स) पेथोलॉजी ऑफ पॉलिटिक्स, (द) न्यू आस्पेक्टस ऑफ पॉलिटिक्स।
[उत्तर—(द) न्यू आस्पेक्टस ऑफ पॉलिटिक्स।]

11. व्यवहारवादी राजनीति विज्ञान की नींव डालने वाले अग्रणी विद्वान हैं :
(अ) हेरल्ड लास्की तथा हेरल्ड लासवेल, (ब) आर्थर बैण्टले और चार्ल्स मेरियम,
(स) बेन्थम तथा जे. एस. मिल, (द) लियो स्ट्रास तथा माइकेल ऑकशॉट।
[उत्तर—(ब) आर्थर बैण्टले और चार्ल्स मेरियम।]

12. वह कौन सा विचारक है जिसने राजनीति का अध्ययन निश्चयवादी अर्थात् वैज्ञानिक (Positivism) अर्थों में करने की नई दिशा दिखलायी :
(अ) प्लेटो, (ब) कार्ल मार्क्स, (स) ऑगस्ट कॉम्टे, (द) मैक्स वेबर।
[उत्तर—(स) ऑगस्ट कॉम्टे।]

13. किस विद्वान के अनुसार राजनीति का सम्बन्ध समाज में मूल्यों के आधिकारिक आवंटन से है :
(अ) अरस्तू (ब) हेरल्ड लास्की, (स) डेविड ईस्टन, (द) लियो स्ट्रास।
[उत्तर—(स) डेविड ईस्टन।]

14. '*Politics : Who gets, what, when and how*' यह रचना किसकी है :
(अ) हेरल्ड लास्की, (ब) राबर्ट ए. डैल, (स) डेविड ईस्टन, (द) हेरल्ड लासवेल।
[उत्तर—(द) हेरल्ड लासवेल।]

अध्याय 3 एवं 4

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. व्यवहारवाद की चार उपलब्धियों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
2. व्यवहारवाद की चार प्रमुख सीमाएं बतलाइए।
3. उत्तर-व्यवहारवाद की चार विशेषताएं लिखिए।
4. व्यवहारवाद की अति संक्षिप्त विवेचना कीजिए।
5. उत्तर-व्यवहारवाद की अति संक्षिप्त विवेचना कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं अति लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. राजनीतिशास्त्र के व्यवहारवादी उपागम के अन्तर्गत अध्ययन किया जाता है :
(अ) सरकार का
(ब) राजनीतिक संस्थाओं के आदर्श रूप का
(स) राजनीतिक संस्थाओं के ऐतिहासिक स्वरूप का
(द) राजनीतिक व्यवहार के प्रभाव एवं प्रभावी स्वरूप का
[उत्तर—(द)]

2. व्यवहारवादी उपागम का दोष है :
(अ) इसका क्रमबद्ध अध्ययन
(ब) इसका तार्किक अध्ययन
(स) अध्ययन में राजनीतिक मूल्यों एवं संस्थाओं के ऐतिहासिक स्वरूप की उपेक्षा,
(द) राजनीतिक व्यवहार और शक्ति का अध्ययन करना
[उत्तर—(स)]

3. व्यवहारवाद की सीमाओं का विवेचन किया है :
(अ) राबर्ट ए. डहल (ब) केटलीन (स) प्रो. सिबली (द) डेविड ईस्टन
[उत्तर—(स)]

4. डेविड ईस्टन ने व्यवहारवाद के क्या आधार और लक्ष्य बतलाए हैं?

[उत्तर—डेविड ईस्टन ने अपने लेख 'The Current Meaning of Behaviouralism' में व्यवहारवाद के 8 आधार और लक्ष्य बतलाए हैं। ये हैं : नियमन, सत्यापन, तकनीकी प्रयोग, परिमाणनीकरण, मूल्य निर्धारण, व्यवस्थावद्धीकरण, विशुद्ध ज्ञान और समग्रता।]

5. व्यवहारवाद की सबसे प्रमुख कमजोरी क्या रही है?

[उत्तर—व्यवहारवाद की सबसे प्रमुख कमजोरी रही है : मूल्य निरपेक्षता अर्थात् अपने अध्ययन में मूल्यों को उचित महत्व प्रदान न करना।]

6. 'मूल्य निरपेक्षता का परिणाम गटर की विजय ही हो सकता था और यही हुआ।' यह कथन निम्न से किस व्यक्ति का है :

(अ) सिवली (ब) लियो स्ट्रास (स) डेविड ईस्टन और (द) राबर्ट ए. डहल

[उत्तर—(ब)]

7. निम्न वाक्य में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

(i) ....जो कि, व्यवहारवाद का एक प्रणेता रहा है, उत्तर व्यवहारवाद का प्रमुख प्रवक्ता भी वही है।

(ii) व्यवहारवाद का प्रारम्भ 1908 में प्रकाशित ग्राहम वालस की रचना ' ....' से माना जाता है।

(iii) एक अन्य प्रारम्भिक व्यवहारवादी रचना ए. एफ. वैण्टले की पुस्तक '.............' है।

(iv) व्यवहारवाद की दिशा में एक महत्वपूर्ण चरण 1925 में प्रकाशित चार्ल्स मेरियम की रचना '..................' है।

[उत्तर—(i) डेविड ईस्टन (ii) Human Nature in Politics (iii) The Process of Government (iv) New Aspects of Politics]

8. डेविड ईस्टन ने उत्तर व्यवहारवाद की क्या विशेषताएं बतलाई हैं?

[उत्तर—डेविड ईस्टन ने उत्तर व्यवहारवाद की 7 प्रमुख विशेषताएं बतलाई हैं, जो इस प्रकार हैं : (i) प्रविधि से पूर्व सार विषय, (ii) सामाजिक परिवर्तन पर बल, (iii) समस्याओं के विश्वसनीय निदान की आवश्यकता, (iv) मूल्यों की महत्वपूर्ण भूमिका, (v) बुद्धिजीवियों की भूमिका, (vi) कर्मनिष्ठ विज्ञान, (vii) व्यवसाय का राजनीतिकरण करना।]

9. राजनीतिक विज्ञान में व्यवहारवाद का प्रतिपादन प्रमुख रूप से कब हुआ?

[उत्तर—व्यवहारवाद का प्रमुख रूप से प्रतिपादन युद्धोत्तरकाल अर्थात् 1945-55 के काल में हुआ।]

10. राजनीतिक विज्ञान में 'उत्तर व्यवहारवाद' (Post-behaviouralism) का प्रतिपादन कब हुआ?

[उत्तर—उत्तर व्यवहारवाद का प्रतिपादन प्रमुख रूप से 1960 के बाद हुआ।]

11. व्यवहारवादी आन्दोलन के मुख्य आधार बतलाइए।

[उत्तर—(i) नियमितता, (ii) सत्यापन।]

अति लघु उत्तरात्मक प्रश्न

प्रश्न 1. व्यवहारवाद का आशय स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—व्यवहारवाद में मनुष्य के राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन नई तकनीकों एवं नई पद्धतियों द्वारा मूल्य निरपेक्ष रहकर किया जाता है।

प्रश्न 2. व्यवहारवाद के उदय एवं विकास के दो प्रमुख कारण बतलाइए।

उत्तर—दो प्रमुख कारण हैं—(1) राजनीतिक अध्ययन की परम्परागत अध्ययन पद्धतियों के प्रति असन्तोष एवं (2) अन्य सामाजिक विज्ञानों से प्रेरणा।

प्रश्न 3. डेविड ईस्टन द्वारा प्रतिपादित व्यवहारवाद के आधार एवं लक्ष्यों को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—डेविड ईस्टन द्वारा प्रतिपादित आधार—(1) नियमन (2) सत्यापन (3) तकनीकी प्रयोग (4) परिमाणनीकरण (5) मूल्यनिर्धारण (6) क्रमवद्धीकरण (7) विशुद्ध विज्ञान एवं (8) समग्रता है।

प्रश्न 4. किन्हीं चार व्यवहारवादी राजवैज्ञानिकों के नाम लिखिए।

उत्तर—चार व्यवहारवादी राजवैज्ञानिक—(1) डेविड ईस्टन (2) चार्ल्स ई. मेरियम (3) हेरल्ड लासवैल एवं (4) रावर्ट ए. डहल हैं।

प्रश्न 5. व्यवहारवाद के दो प्रमुख लक्षण बताइए।

उत्तर—(1) अध्ययन और शोध कार्य में विश्लेषण की मौलिक इकाई संस्थाएं न होकर व्यक्ति होना चाहिए। (2) अन्तर-अनुशासनात्मक अध्ययन पर बल।

प्रश्न 6. व्यवहारवाद की दो प्रमुख दुर्बलताएं बताइए।

उत्तर—(1) मूल्य निरपेक्षता सम्भव नहीं है तथा (2) सूक्ष्म अध्ययन के निष्कर्षों को वृहत स्तर पर लागू करने की समस्या।

प्रश्न 7. व्यवहारवाद की किन्हीं दो उपलब्धियों को बताइए।

उत्तर—(1) राजनीतिविज्ञान को नवीन दृष्टि, नवीन पद्धतियां, नए मापन और नूतन क्षेत्र प्रदान किए। (2) राजवैज्ञानिक के दृष्टिकोण को व्यापक बनाया।

प्रश्न 8. ''न्यू आस्पेक्टस ऑफ पॉलिटिक्स' (New Aspects of Politics) पुस्तक की रचना किसने एवं कब की?

उत्तर—'न्यू आस्पेक्टस ऑफ पॉलिटिक्स' पुस्तक की रचना चार्ल्स मेरियम ने 1925 में की।

प्रश्न 9. उत्तर-व्यवहारवाद क्या है?

उत्तर—उत्तर-व्यवहारवाद, व्यवहारवाद का अगला चरण, एक सुधार आन्दोलन है। इसके दो नारे है 'कर्म' तथा 'प्रासंगिकता'।

प्रश्न 10. उत्तर-व्यवहारवादी क्रान्ति के उदय के दो प्रमुख कारण बताइए।

उत्तर—(1) यह व्यवहारवाद के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया है। (2) व्यवहारवाद द्वारा अध्ययन में मूल्यों की उपेक्षा और व्यवहारवाद का अप्रासंगिक होना।

प्रश्न 11. डेविड ईस्टन ने उत्तर-व्यवहारवाद के कौनसे दो प्रमुख लक्षण बतलाए हैं?

उत्तर—डेविड ईस्टन ने उत्तर-व्यवहारवाद के दो प्रमुख लक्षण बतलाए हैं—शोध की सार्थकता या प्रासंगिकता और क्रियानिष्ठता या कर्म।

प्रश्न 12. डेविट ईस्टन द्वारा प्रतिपादित उत्तर-व्यवहारवाद की चार विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

उत्तर—(1) समस्याओं के विश्वसनीय निदान की आवश्यकता (2) मूल्यों की महत्वपूर्ण भूमिका (3) बुद्धिजीवियों की भूमिका (4) व्यवसाय का राजनीतिकरण।

प्रश्न 13. उत्तर-व्यवहारवाद एवं परम्परावाद में दो समानताएं बताइए।

उत्तर—(1) व्यवहारवाद का विरोध एवं (2) मूल्यों की निर्णायक भूमिका को स्वीकार करना।

अध्याय 5

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. राज्य की चार प्रमुख परिभाषाएं लिखिए।
2. राज्य के प्रमुख तत्वों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
3. राज्य और समाज के चार अन्तर लिखिए।
4. राज्य और सरकार के चार अन्तर लिखिए।
5. राज्य और राष्ट्र के चार भेद लिखिए।
6. राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौता सिद्धान्त के प्रमुख चार तत्वों का उल्लेख कीजिए जो हॉब्स, लॉक और रूसो के विचारों में समान रूप से पाए जाते हैं।
7. राज्य की उत्पत्ति के हॉब्स के समझौता सिद्धान्त की कोई चार विशेषताएं बतलाइए।
8. लॉक के समझौता सिद्धान्त की चार प्रमुख विशेषताएं बतलाइए।
9. रूसो के समझौता सिद्धान्त का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
10. ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त के अनुसार राज्य की उत्पत्ति में किन तत्वों ने सहयोग दिया है।

वस्तुनिष्ठ एवं अति लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. राज्य और सरकार में जो एक प्रमुख अन्तर दिखाई देता है, वह है :

(अ) राज्य सम्प्रभु है, सरकार नहीं — (ब) सरकार सम्प्रभु (सार्वभौमिक) है, राज्य नहीं

(स) सरकार अस्थायी है राज्य अस्थायी है — (द) सरकार अमूर्त है, राज्य मूर्त है

[उत्तर—(अ)]

2. राज्य और समाज में जो महत्वपूर्ण अन्तर दृष्टिगत होता है, वह है :

(अ) संगठन व बनावट का — (ब) पद्धति का

(स) उद्देश्य और कार्य का — (द) उत्पत्ति का

[उत्तर—(अ)]

3. प्लेटो और अरस्तू की तरह हीगल का भी विचार था कि :

(अ) राज्य और समाज एक ही हैं — (ब) राज्य समाज से पहले हुआ

(स) समाज बहुत व्यापक है — (द) दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं

[उत्तर—(अ)]

4. राज्य का वह विशेष तत्व कौन-सा है जो राज्य को अन्य सभी संगठनों से अलग कर देता है।
[उत्तर—सम्प्रभुता या सार्वभौमिकता (Sovereignty); गैटल के शब्दों में सम्प्रभुता ही राज्य का वह लक्षण है, जो उसे अन्य समुदायों से अलग करता है।]

5. राज्य के चार तत्वों के नाम दीजिए।
[उत्तर—राज्य के चार तत्व ये हैं : (1) जनसंख्या, (2) निश्चित भू-भाग, (3) सरकार और (4) सम्प्रभुता।]

6. प्लेटो के अनुसार एक आदर्श राज्य की जनसंख्या कितनी होनी चाहिए।
[उत्तर—प्लेटो के अनुसार आदर्श राज्य की जनसंख्या 5,040 होनी चाहिए।]

7. राज्य की सर्वोत्तम परिभाषा किस विद्वान की मानी जाती है?
[उत्तर—राज्य की सर्वोत्तम परिभाषा गार्नर की मानी जाती है।]

8. 15 अगस्त, 1947 से पूर्व भारत एक राज्य क्यों नहीं था?
[उत्तर—15 अगस्त, 1947 के पूर्व भारत ब्रिटेन के अधीन होने के कारण एक राज्य नहीं था। उसे न तो सम्पूर्ण अर्थों में आन्तरिक सम्प्रभुता प्राप्त थी और न ही बाहरी सम्प्रभुता प्राप्त थी।]

9. क्या भारतीय संघ की इकाइयां—आन्ध्रप्रदेश, मध्य प्रदेश, जम्मू-कश्मीर आदि को राज्य कहा जा सकता है?
[उत्तर—इन्हें राज्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इन्हें सम्प्रभुता प्राप्त नहीं है।]

10. क्या संयुक्त राष्ट्र संघ (U. N. O.) या राष्ट्र मण्डल (Commonwealth of nations) राज्य है?
[उत्तर—इन्हें राज्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इन्हें सम्प्रभुता प्राप्त नहीं है।]

11. राज्य तथा सरकार के बीच दो अन्तर बतलाइए।
[उत्तर—(i) राज्य अमूर्त है और सरकार मूर्त (ii) राज्य स्थायी है जबकि सरकार अस्थायी है।]

12. निम्न वाक्यों में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।
(i) ....की सदस्यता ....है। समुदाय की सदस्यता ....है।
(ii) एक व्यक्ति एक समय में एक ही ....का सदस्य हो सकता है, जबकि एक व्यक्ति एक समय में अनेक ....का सदस्य हो सकता है।
(iii) ....अपने सदस्यों से ....के आधार पर आज्ञाएं मनवा सकता है, लेकिन समुदाय के पास ऐसी कोई शक्ति नहीं होती।
(iv) राज्य ....है और सरकार उसकी ....।
(v) ....का लक्ष्य और कार्य क्षेत्र ....की तुलना में बहुत व्यापक है।
(vi) उत्पत्ति की दृष्टि में ....राज्य की तुलना में प्राचीन है।
(vii) ....एक भौतिक और राजनीतिक व्यवस्था है लेकिन ....एक मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक संगठन है।
[उत्तर—उपर्युक्त प्रश्नों में रिक्त स्थानों की पूर्ति क्रमशः इन शब्दों से होनी है :
(i) राज्य, अनिवार्य, ऐच्छिक, (ii) राज्य, अनेक समुदायों, (iii) राज्य, दण्ड शक्ति, (iv) प्रधान, प्रतिनिधि, (v) समाज, राज्य, (vi) समाज, (vii) राज्य, राष्ट्र।]

13. राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौता सिद्धान्त के प्रवर्तक हैं :
(अ) हॉब्स, लॉक और रूसो (ब) प्लेटो और अरस्तू
(स) हीगल और ग्रीन (द) मार्क्स और लेनिन
[उत्तर—(अ)।]

14. 'मानव स्वभाव से एकाकी, स्वार्थी तथा झगड़ालू है' कहने वाले दार्शनिक हैं :
(अ) अरस्तू (ब) हॉब्स (स) लॉक (द) रूसो
[उत्तर—(ब)।]

15. 'मानव स्वभाव से शान्ति चाहने वाला, विवेकी और सहयोगी है' इसे प्रतिपादन करने वाले दार्शनिक हैं :
(अ) लॉक (ब) हॉब्स (स) मैकियावली (द) कौटिल्य
[उत्तर—(अ)।]

16. लॉक का सम्प्रभु है :
(अ) लेवियाथन (ब) सामान्य इच्छा (स) सरकार (द) राजनैतिक समाज
[उत्तर—(द)।]

17. रूसो का सम्प्रभु है :

(अ) लेवियाथन (ब) सामान्य इच्छा (स) सरकार (द) राजनैतिक समाज

[उत्तर—(ब)।]

18. हॉब्स ने अपने समझौते में पक्ष लिया :

(अ) प्रजातन्त्र का (ब) निरंकुश राजतन्त्र का

(स) सीमित राजतन्त्र का (द) समाजवाद का

[उत्तर—(ब)।]

19. लॉक ने अपने समझौते में पक्ष लिया :

(अ) प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र का (ब) निरंकुश राजतन्त्र का

(स) सीमित राजतन्त्र का (द) प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र का

20. रूसो की 'सामान्य इच्छा' की अवधारणा का प्रमुख लक्षण है :

(अ) इसकी अमूर्तता (ब) इसकी निरंकुशता

(स) इसकी सामान्यता (जन-हितकारिता) (द) इसकी अस्पष्टता

[उत्तर—(स)।]

21. रूसो की सामान्य इच्छा अवधारणा का प्रमुख दोष है :

(अ) इसकी अमूर्तता (अस्पष्टता) (ब) इसकी मूर्तता

(स) इसकी निरंकुशता (द) इसकी सबके हित की धारणा

[उत्तर—(अ)।]

21. लॉक की सम्प्रभुता का प्रमुख दोष है :

(अ) इसकी निरंकुशता (ब) इसकी अमूर्तता

(स) इसकी उदारता (द) सम्प्रभुता का जनता और समाज में विभाजन

[उत्तर—(द)।]

22. सामाजिक समझौता सिद्धान्त के प्रतिपादक कौन-कौन विचारक हैं?

[उत्तर—सामाजिक समझौता सिद्धान्त के मुख्य प्रतिपादक हैं—हॉब्स, जॉन लॉक और जीन जेक्स रूसो।]

23. 'प्राकृतिक अवस्था में अधिकारों के सिद्धान्त' (प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त' का प्रतिपादन किसके द्वारा किया गया है?

[उत्तर—जॉन लॉक के द्वारा।]

24. 'सामान्य इच्छा के सिद्धान्त' का प्रतिपादन किसके द्वारा किया गया है?

[उत्तर—रूसो के द्वारा।]

25. निम्न वाक्यों में रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए :

(i) रूसो ने प्राकृतिक अवस्था के व्यक्ति के लिए..........शब्द का प्रयोग किया है।

(ii) रूसो का प्रभुसत्ताधारी हॉब्स का शीशविहीन..........है।

(iii) हॉब्स ने सामाजिक समझौता सिद्धान्त का वर्णन अपनी पुस्तक..........में किया है।

(iv) लॉक ने सामाजिक समझौता सिद्धान्त का वर्णन अपनी पुस्तक..........में किया है।

(v) रूसो ने सामाजिक समझौता सिद्धान्त का वर्णन अपनी पुस्तक ....में किया है।

[उत्तर—(i) 'आदर्श वर्बर' (Noble Savage), (ii) 'लेवायथन',(iii) 'लेवायथन'(Leviathan), (iv) 'शासन पर दो लेख' (Two Treatises on Government), (v) 'सामाजिक संविदा' (The Social Contract)।]

26. राज्य की उत्पत्ति का सबसे अधिक सन्तोषजनक और मान्य सिद्धान्त कौन-सा है?

[उत्तर—ऐतिहासिक या विकासवारी सिद्धान्त।]

27. राज्य दीर्घकालीन विकास का परिणाम है या निर्माण का परिणाम।

[उत्तर—राज्य दीर्घकालीन विकास का परिणाम है।]

28. 'मनुष्य स्वतन्त्र पैदा होता है किन्तु वह सर्वत्र जंजीरों में जकड़ा हुआ है' यह वाक्य निम्न में से किसका है? (हॉब्स, लॉक, रूसो)

[उत्तर—रूसो।]

29. सामान्य इच्छा क्या है?

[उत्तर—सामान्य इच्छा समाज के सामान्य व्यक्तियों की ऐसी इच्छाओं का समूह है, जिसका लक्ष्य सामान्य हित की पुष्टि हो।]

30. सामान्य इच्छा की पांच विशेषताएं लिखिए।

[उत्तर—(i) अखण्डता, (ii) अदेयता, (iii) सर्वोच्च एवं निरंकुश, (iv) स्थायी, (v) लोककल्याणकारी।]

अति लघु उत्तरात्मक प्रश्न

प्रश्न 1. राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रतिपादित प्रमुख सिद्धान्त कौन-कौन से हैं?

उत्तर—(1) दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त (2) शक्ति सिद्धान्त (3) सामाजिक समझौते का सिद्धान्त (4) पैतृक या मातृक सिद्धान्त (5) ऐतिहासिक अथवा विकासवादी सिद्धान्त (6) मार्क्सवादी सिद्धान्त।

प्रश्न 2. सामाजिक समझौते सिद्धान्त के अनुसार राज्य का निर्माण किस प्रकार हुआ?

उत्तर—समझौते सिद्धान्त के अनुसार राज्य एक मानवीय संस्था है, जिसका निर्माण व्यक्तियों द्वारा पारस्परिक समझौते के आधार पर किया गया।

प्रश्न 3. सामाजिक समझौते सिद्धान्त का वैज्ञानिक और विधिवत रूप में प्रतिपादन किसके द्वारा किया गया?

उत्तर—सामाजिक समझौते सिद्धान्त का वैज्ञानिक और विधिवत रूप में प्रतिपादन हॉब्स, लॉक और रूसो द्वारा किया गया।

प्रश्न 4. हॉब्स के अनुसार मानव स्वभाव किस प्रकार का है?

उत्तर—हॉब्स के अनुसार मनुष्य एक स्वार्थी, अहंकारी और आत्मभिमानी प्राणी है। वह सदा शक्ति प्राप्त करने हेतु प्रयत्नशील रहता है।

प्रश्न 5. हॉब्स के समझौते द्वारा किस प्रकार के राज्य की स्थापना की गयी है?

उत्तर—हॉव्स के समझौते द्वारा एक ऐसे निरंकुश राजतन्त्रात्मक राज्य की स्थापना की गयी है, जिसका शासक सम्पूर्ण शक्ति सम्पन्न है।

प्रश्न 6. लॉक ने समझौते सिद्धान्त का प्रतिपादन अपनी किस पुस्तक में किया है?

उत्तर—लॉक ने समझौते सिद्धान्त का प्रतिपादन अपनी 1690 में प्रकाशित पुस्तक 'Two Treaties on Government' में किया है।

प्रश्न 7. लॉक के अनुसार मानव स्वभाव किस प्रकार है?

उत्तर—लॉक के अनुसार मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसमें प्रेम, सहानुभूति, सहयोग एवं दया की भावनाएं विद्यमान हैं।

प्रश्न 8. लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में समझौते के क्या कारण थे?

उत्तर—प्राकृतिक नियम स्पष्ट नहीं थे, नियमों की व्याख्या करने वाली और नियमों को लागू करने वाली सत्ता का अभाव था।

प्रश्न 9. रूसो के समझौते द्वारा किस प्रकार के समाज की स्थापना होती है?

उत्तर—रूसो के समझौते द्वारा उस लोकतन्त्रीय समाज की स्थापना होती है, जिसके अन्तर्गत सम्प्रभुता सम्पूर्ण समाज में निहित होती है।

प्रश्न 10. सामाजिक समझौता सिद्धान्त पर वैधानिक आधार पर क्या आक्षेप किए गए हैं?

उत्तर—(1) प्राकृतिक अवस्था में समझौता सम्भव नहीं है। (2) समझौता वर्तमान समय में मान्य नहीं है।

प्रश्न 11. सामाजिक समझौता सिद्धान्त का महत्व स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—(1) समझौता सिद्धान्त ने दैवी सिद्धान्त का खण्डन किया। (2) इस सत्य का प्रतिपादन किया कि जन सहमति ही राज्य का आधार है।

प्रश्न 12. राज्य की उत्पत्ति के ऐतिहासिक सिद्धान्त के प्रमुख तत्व कौन-कौन से हैं?

उत्तर—(1) रक्त सम्बन्ध, (2) मनुष्य की स्वाभाविक सामाजिक प्रवृत्तियां, (3) धर्म, (4) शक्ति, (5) आर्थिकगतिविधियां, तथा (6) राजनीतिक चेतना।

प्रश्न 13. मार्क्स की राज्य सम्बन्धी धारणा को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—मार्क्सवाद राज्य को एक अस्वाभाविक, अस्थायी और वर्गीय शोषण पर आधारित संस्था मानता है।

प्रश्न 14. राज्य के सम्बन्ध में मार्क्सवादी धारणा की दो प्रमुख आलोचनाएं लिखिए।

उत्तर—(1) राज्य एक वर्गीय संगठन नहीं, वरन् एक नैतिक संगठन है। (2) राज्य अस्थायी नहीं, वरन् स्थायी संस्था है।

प्रश्न 15. राज्य के विकास की प्रमुख अवस्थाएं बताइए।

उत्तर—(1) आदि राज्य (2) पूर्वी साम्राज्य (3) यूनानी नगर राज्य (4) रोमन साम्राज्य (5) सामन्तवादी राज्य (6) आधुनिक राष्ट्रीय राज्य (7) राज्य का भावी विकास विश्व संघ।

प्रश्न 16. आदि राज्य में सबसे पहली सामाजिक एवं राजनीतिक इकाई क्या थी?

उत्तर—आदि राज्य में सबसे पहली सामाजिक इकाई 'कुटुम्ब' या 'परिवार' थी और 'कबीला' सबसे पहली राजनीतिक इकाई थी।

प्रश्न 17. यूनानी नगर राज्य की प्रमुख विशेषता क्या थी?

उत्तर—यूनानी, नगर को एक नैतिक संस्था मानते थे और नगर, सामाजिक जीवन की लगभग सभी जरूरतों को पूरा करते थे।

प्रश्न 18. यूनानी नगर राज्य की दो गम्भीर त्रुटियां बताइए।

उत्तर—(1) यूनानी नगर राज्य दास प्रथा पर आधारित थे। (2) इन नगर राज्यों में राष्ट्रीय भावना का पूर्ण रूप से अभाव था।

प्रश्न 19. वैदिककालीन गणराज्यों का प्रमुख दोष क्या था?

उत्तर—वैदिककालीन गणराज्यों का प्रमुख दोष उनकी निर्बलता था। इस कारण वे पाटलिपुत्र के सार्वभौम साम्राज्य में मिल गए।

प्रश्न 20. आधुनिक युग को रोमन साम्राज्य की प्रमुख देन क्या है?

उत्तर—रोमन विधि, उसके उपनिवेश और नगरपालिकाओं की शासन व्यवस्था आधुनिक युग को रोमन साम्राज्य की महत्वपूर्ण देन है।

प्रश्न 21. रोमन साम्राज्य की दो प्रमुख कमियां बतलाइए।

उत्तर—(1) रोमन साम्राज्य की शक्ति अव्यवस्थित थी। रोमन सेना शक्तिशाली होने के साथ अनियन्त्रित भी थी। (2) दासप्रथा का प्रचलन।

प्रश्न 22. वर्तमान में 'तीसरी दुनिया' के राज्यों की प्रमुख समस्याएं बतलाइए।

उत्तर—प्रमुख समस्या हैं विकास-आर्थिक स्वतन्त्रता, साम्राज्यवादी देशों से बचाव, जनतन्त्र को मजबूत करना, नागरिकों में चेतना, शिक्षा का विकास।

प्रश्न 23. राज्य के विकास-क्रम की तीन प्रमुख विशेषताएं बतलाइए।

उत्तर—(1) राज्य का विकास सरलता से जटिलता की ओर (2) राज्य के क्षेत्र व जनसंख्या में वृद्धि एवं (3) राजनीतिक चेतना का विकास।

अध्याय 6

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. लोककल्याणकारी राज्य की कोई तीन परिभाषाएं दीजिए।
2. लोककल्याणकारी राज्य के कोई चार कर्तव्य लिखिए।
3. व्यक्तिवादी राज्य या व्यक्तिवादी सिद्धान्त की कोई चार विशेषताएं लिखिए।
4. व्यक्तिवादी सिद्धान्त (यथेच्छाचारी सिद्धान्त) की कोई चार आलोचनाएं लिखिए।
5. समाजवादी सिद्धान्त की कोई चार विशेषताएं लिखिए।
6. समाजवादी सिद्धान्त की कोई चार आलोचनाएं लिखिए।

वस्तुनिष्ठ एवं अति लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. जो अवधारणा स्वतन्त्र प्रतियोगिता को ही मानव का आदर्श मानती है, वह है :

(अ) आदर्शवाद (ब) व्यक्तिवाद (स) कल्याणकारी राज्य (द) समाजवाद

[उत्तर—(ब)।]

2. निम्न में से कौन-सा कार्य लोककल्याणकारी राज्य का है :

(अ) कुछ लोगों को विशेष अधिकार प्रदान करना
(ब) मानव-भेद को बढ़ावा देना
(स) तानाशाही में वृद्धि करना (द) सामाजिक न्याय की स्थापना करना

[उत्तर—(द)।]

3. लोकहितकारी राज्य के नागरिकों का कर्त्तव्य नहीं है :

(अ) राज्य के प्रति निष्ठा रखना (ब) राज्य की आज्ञा पालन करना
(स) राज्य के कर अदा करना (द) सामाजिक सेवा से दूर हटना

[उत्तर—(द)।]

4. राज्य को एक आवश्यक बुराई मानने वाला सिद्धान्त है :

(अ) कल्याणकारी (ब) समाजवादी
(स) यथेच्छाचारी या व्यक्तिवादी (द) उदारवादी

[उत्तर—(स)।]

5. यथेच्छाचारी या व्यक्तिवादी विचारक साध्य मानते हैं :
(अ) व्यक्ति को (ब) समाज को (स) धर्म को (द) राज्य को
[उत्तर—(अ)।]

6. व्यक्ति को साध्य एवं उसकी स्वतन्त्रता का समर्थक सिद्धान्त है :
(अ) यथेच्छाचारी या व्यक्तिवादी (ब) समाजवादी
(स) आदर्शवादी (द) विकासवादी
[उत्तर—(अ)।]

7. यथेच्छाचारी सिद्धान्त का प्रमुख दोष है :
(अ) इसका केन्द्र व्यक्ति की स्वतन्त्रता है
(ब) यह स्वतन्त्रता के सकारात्मक स्वरूप की अवहेलना करता है
(स) राज्य को एक आवश्यक बुराई बताता है
(द) राज्य को साधन मानता है
[उत्तर—(स)।]

8. 'यद्भाव्यम् नीति' या 'अहस्तक्षेप सिद्धान्त' (Laizzez Faire) राज्य के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में किस विचारधारा से सम्बन्धित है?
[उत्तर—व्यक्तिवाद।]

9. व्यक्तिवाद के समर्थन में दिए जाने वाले चार तर्क बतलाइए।
[उत्तर—(1) नैतिक तर्क, (2) आर्थिक तर्क, (3) राजनीतिक तर्क, (4) जीवशास्त्रीय तर्क, (5) अनुभव का तर्क।]

10. व्यक्तिवाद के समर्थन में आर्थिक तर्क किसने दिए हैं?
[उत्तर—एडम सिथ और रिकार्डो ने।]

11. व्यक्तिवाद के समर्थन में जीवशास्त्रीय तर्क किसने दिया है?
[उत्तर—हरबर्ट स्पेन्सर ने।]

12. समाजवादी राज्यों में किस प्रकार की समानता पर सबसे अधिक बल दिया जाता है?
[उत्तर—आर्थिक समानता पर।]

13. वर्तमान समय में राज्य के कार्यक्षेत्र की सन्तोषजनक विचारधारा कौन-सी है?
(व्यक्तिवाद, लोककल्याणकारी राज्य की धारणा)
[उत्तर—लोककल्याणकारी राज्य की धारणा।]

14. निम्न वाक्यों में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :
(i) ....एक अत्यधिक अस्पष्ट विचारधारा है।
(ii) समाजवादी विचारधारा..........विचारधारा से नितान्त भिन्न है।
(iii) ....राजनीतिक स्वतन्त्रता और आर्थिक सुरक्षा के बीच सामंजस्य का सफल प्रयत्न है।
[उत्तर—(i) समाजवाद, (ii) साम्यवादी, (iii) लोककल्याणकारी राज्य की धारणा।]

15. भारत एक समाजवादी राज्य है या लोककल्याणकारी राज्य।
[उत्तर—भारत एक समाजवादी राज्य है और एक लोककल्याणकारी राज्य भी है।]

अति लघु उत्तरात्मक प्रश्न

प्रश्न 1. राज्य के तीन प्रमुख उद्देश्य बतलाइए।
उत्तर—(1) शान्ति व्यवस्था और सुरक्षा की स्थापना। (2) सामूहिक हित के कार्यों का सम्पादन। (3) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं मानवीय सभ्यता का विकास।

प्रश्न 2. ब्लण्टशली के अनुसार राज्य के प्रत्यक्ष और परोक्ष उद्देश्य क्या हैं?
उत्तर—ब्लण्टशली के अनुसार राज्य का प्रत्यक्ष उद्देश्य राष्ट्रीय शक्ति का विकास और परोक्ष उद्देश्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा करना।

प्रश्न 3. राज्य के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में प्रतिपादित तीन प्रमुख विचारधाराओं का उल्लेख कीजिए।
उत्तर—(1) उदारवाद (2) समाजवाद और (3) लोक कल्याणकारी राज्य, सर्वाधिक प्रमुख विचारधाराएं हैं।

प्रश्न 4. उदारवाद के चार प्रमुख सिद्धान्त बतलाइए।
उत्तर—(1) मानवीय विवेक में आस्था। (2) इतिहास तथा परम्पराओं का विरोध। (3) मानवीय स्वतन्त्रता की धारणा में विश्वास। (4) धर्मनिरपेक्ष राज्य का आदर्श।

प्रश्न 5. परम्परागत उदारवाद से सम्बन्धित दो प्रमुख विचारकों के नाम बतलाइए।

उत्तर—जॉन लॉक और जॉन स्टुअर्ट मिल को परम्परागत उदारवाद का प्रतिनिधि विचारक कहा जा सकता है।

प्रश्न 6. परम्परागत उदारवाद के प्रो. हाबहाउस द्वारा प्रतिपादित प्रमुख मूल सिद्धान्त बतलाइए।

उत्तर—(1) नागरिक स्वतन्त्रता (2) वित्तीय स्वतन्त्रता (3) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता (4) सामाजिक स्वतन्त्रता (5) आर्थिकस्वतन्त्रता (6) पारिवारिक स्वतन्त्रता (7) जातीय तथा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता (8) अन्तर्राष्ट्रीय स्वतन्त्रता (9) राजनीतिक स्वतन्त्रता।

प्रश्न 7. उदारवाद की दो प्रमुख त्रुटियां बतलाइए।

उत्तर—(1) उदारवाद द्वारा इतिहास और परम्पराओं को उचित महत्व प्रदान नहीं किया गया। (2) राज्य को एक कृत्रिम संस्था मानना अनुचित है।

प्रश्न 8. मार्क्सवादी विचारकों द्वारा उदारवाद की आलोचना किस आधार पर की जाती है?

उत्तर—मार्क्सवादी विचारकों के अनुसार उदारवाद पूंजीपति वर्ग के हितों का पोषण करता है और पूंजीवाद का सहायक दर्शन है।

प्रश्न 9. समाजवाद का मुख्य उद्देश्य क्या है?

उत्तर—समाजवाद का आधारभूत उद्देश्य समानता की स्थापना करना है।

प्रश्न 10. समाजवाद का समर्थन प्रमुख रूप से किन आधारों पर किया जाता है?

उत्तर—(1) समाजवादी व्यवस्था न्याय पर आधारित है। (2) समाजवादी व्यवस्था लोकतन्त्र के अनुरूप है। (3) संघर्ष के स्थान पर सहयोग की स्थापना।

प्रश्न 11. समाजवाद के दो प्रमुख दोष बतलाइए।

उत्तर—(1) समाजवादी व्यवस्था में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। (2) समाजवाद से राज्य की कार्यकुशलता में कमी आ जाएगी।

प्रश्न 12. लोककल्याणकारी राज्य की धारणा के उदय के दो प्रमुख कारण बतलाइए।

उत्तर—(1) यह व्यक्तिवाद के प्रति प्रतिक्रिया है। एवं (2) मताधिकार का विस्तार और लोकतन्त्र के विकास के कारण।

प्रश्न 13. लोककल्याणकारी राज्य के चार प्रमुख लक्षण बतलाइए।

उत्तर—(1) लोकतन्त्रीय शासन (2) न्यूनतम जीवन स्तर की गारण्टी (3) सामाजिक सुरक्षा की भावना (4) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना।

प्रश्न 14. लोककल्याणकारी राज्य के तीन प्रमुख कार्य बतलाइए।

उत्तर—(1) आन्तरिक सुव्यवस्था तथा विदेशी आक्रमणों से रक्षा। (2) कृषि, उद्योग तथा व्यापार का नियमन और विकास। (3) सार्वजनिक सुविधा सम्बन्धी कार्य आदि।

प्रश्न 15. लोककल्याणकारी राज्य के चार दोष बतलाइए।

उत्तर—(1) वैयक्तिक स्वतन्त्रता का हनन होता है। (2) ऐच्छिक समुदाय पर आघात पहुंचता है। (3) बहुत अधिक खर्चीला आदर्श है। (4) नौकरशाही का भय।

प्रश्न 16. आधुनिक राज्य के कोई तीन अनिवार्य कार्यों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर—(1) बाहरी आक्रमण से राज्य की रक्षा करना। (2) आन्तरिक क्षेत्र में शान्ति और व्यवस्था स्थापित करना। (3) वैदेशिक सम्बन्धों का संचालन करना।

प्रश्न 17. आधुनिक राज्य के चार ऐच्छिक कार्य बतलाइए।

उत्तर—(1) यातायात के साधनों का प्रबन्ध करना। (2) शिक्षा की व्यवस्था करना। (3) कृषि की उन्नति और ग्राम संगठन। (4) मनोरंजन की व्यवस्था करना।

प्रश्न 18. राजनीतिक नियन्त्रण की सीमाएं क्या हैं?

उत्तर—राज्य को नैतिकता, रीति रिवाज, धर्म, फेशन, संस्कृति और वैयक्तिक मत में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

प्रश्न 19. राज्य को साध्य मानने वाले चार प्रमुख विचारकों के नाम लिखिए।

उत्तर—राज्य को साध्य मानने वाले प्रमुख विचारक प्लेटो, अरस्तू, हीगल, बोसांके, आदि हैं।

अध्याय 7

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. सम्प्रभुता की कोई तीन परिभाषाएं दीजिए।
2. सम्प्रभुता के प्रमुख प्रकार संक्षेप में लिखिए।
3. राजनीतिक सम्प्रभुता का क्या अर्थ है, समझाइए।

4. ऑस्टिन की सम्प्रभुता की धारणा की प्रमुख विशेषताएं लिखिए।
5. आस्टिन कीं सम्प्रभुता की धारणा की कोई चार आलोचनाएं लिखिए
6. कानूनी एवं राजनीतिक सम्प्रभुता में अन्तर बतलाइए।
7. वहुलवादियों द्वारा की गई सम्प्रभुता की एकत्ववादी धारणा की चार प्रमुख आलोचनाएं लिखिए।
8. वहुलवाद की चार विशेषताएं लिखिए।
9. वहुलवादी धारणा के चार प्रमुख दोष लिखिए।

वस्तुनिष्ठ एवं लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. सम्प्रभु के जिस लक्षण को परम्परावादी स्वीकार नहीं करते वह है—
   (अ) स्थायित्व (ब) व्यापकता (स) प्रत्यायोजन (द) अविभाज्यता
   [उत्तर—(स)]
2. जो सम्प्रभु शासक की वास्तविक शक्तियों का उपयोग नहीं करता, उसे
   (अ) वास्तविक सम्प्रभु कहते हैं (व) नाममात्र का सम्प्रभु कहते हैं
   (स) राजनीतिक सम्प्रभु कहते हैं (द) कानूनी सम्प्रभु कहते हैं
   [उत्तर—(व)]
3. ऐसी सम्प्रभुता, जिसमें संवैधानिक और वास्तविक दोनों शक्तियां निहित होती हैं, वह होती है—
   (अ) वास्तविक सम्प्रभुता (ब) नाममात्र की सम्प्रभुता
   (स) लोक प्रभुता (द) आन्तरिक प्रभुता
   [उत्तर—(अ)]
4. एकत्ववादी सम्प्रभुता के प्रतिपादक विचारक हैं—
   (अ) हॉब्स (ब) लॉक (स) रूसो (द) जॉन आस्टिन
   [उत्तर—(द)]
5. कौन-सा कथन ऑस्टिन की सम्प्रभुता की धारणा का विरोधी है—
   (अ) सम्प्रभुता असीमित होती है (ब) सम्प्रभुता अखण्डित होती है
   (स) सम्प्रभुता अमूर्त होती है (द) सम्प्रभुता के पास कानूनी शक्ति होती है
   [उत्तर—(स)]
6. ऑस्टिन की सम्प्रभुता की धारणा का दोष है :
   (अ) कानून को सम्प्रभु का आदेश मानना (ब) सम्प्रभुता को अविभाज्य मानना
   (स) सम्प्रभुता को असीमित मानना (द) सम्प्रभुता को अदेय मानना।
   [उत्तर—(अ)]
7. सम्प्रभुता की धारणा के प्रसंग में बहुलवादी विचारक है :
   (अ) ऑस्टिन (ब) बोदां (स) लास्की (द) गांधी
   [उत्तर—(स)]
8. शब्द व्युत्पत्ति के आधार पर सम्प्रभुता का आशय क्या है?
   [उत्तर—सम्प्रभुता का आंग्ल पर्यायवाची 'सावरेनटी' (Sovereignty) लैटिन शब्द 'सुपर' (Super) और 'एनस' (Anus) से लिया गया है, जिसका अर्थ उस भाषा में 'सर्वोच्च शक्ति' होता है।]
9. सम्प्रभुता की कोई एक संक्षिप्त परिभाषा दीजिए।
   [उत्तर—विलोवी के अनुसार, 'सम्प्रभुता राज्य की सर्वोच्च इच्छा है'।]
10. सम्प्रभुता के कौन-कौन से दो पक्ष होते हैं?
   [उत्तर—(i) आन्तरिक पक्ष या आन्तरिक सम्प्रभुता,
   (ii) वाहरी पक्ष या वाहरी सम्प्रभुता।]'
11. सम्प्रभुता के 5 प्रमुख लक्षण बतलाइए।
   [उत्तर—सम्प्रभुता के प्रमुख लक्षण हैं : निरंकुशता, सर्वव्यापकता, स्थायित्व, अपृयक्करणीयता, अविभाज्यता और अनन्यता।]
12. आस्टिन के अनुसार, कानून किसे कहते हैं?
   [उत्तर—आस्टिन का विचार था कि, "उच्चतर द्वारा निम्नस्तर को दिया गया आदेश ही कानून होता है।]

13. निम्न वाक्यों में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :
   (i) प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र में कानूनी सम्प्रभु पर नियन्त्रण रखने वाली सत्ता ....कहते हैं।
   (ii) एक देश के संविधान द्वारा जिस व्यक्ति या समुदाय को शासन करने का अधिकार प्रदान किया जाता है, उसे ....कहते हैं।
   (iii) एक देश के अन्तर्गत वास्तव में जिस व्यक्ति या समुदाय के द्वारा शासन किया जाता है, उसे ....कहा जाता है।
   (iv) सम्प्रभुता के एकत्ववादी सिद्धान्त का सबसे अधिक प्रमुख रूप में प्रतिपादन ....द्वारा किया गया है।

   [उत्तर—(i) राजनीतिक सम्प्रभु, (ii) वैध सम्प्रभु (De Jure sovereign), (iii) यथार्थसम्प्रभु (De Facto sovereign), (iv) जॉन आस्टिन।]

14. राज्य की सम्प्रभुता के सिद्धान्त को चुनौती देने वाली विचारधारा को किस नाम से जाना जाता है?
   [उत्तर—बहुलवाद या सम्प्रभुता का बहुलवादी सिद्धान्त।]

15. बहुलवाद के प्रमुख प्रतिपादक कौन-कौन हैं?
   [उत्तर—बहुलवाद के प्रमुख प्रतिपादक विचारक हैं : गियर्क, मेटलैण्ड, लिण्डसे, बार्कर, जी. डी. एच. कोल और हैरल्ड लॉस्की।]

16. आपके विचार में, राज्य अन्य समुदायों के समान ही एक समुदाय है या राज्य और अन्य समुदायों में आधारभूत अन्तर है।
   [उत्तर—राज्य और अन्य समुदायों में आधारभूत अन्तर है।]

17. 'आवश्यकताओं की दृष्टि से पूर्ण होने के लिए सामाजिक संगठन के ढांचे का स्वरूप संघीय होना चाहिए' यह कथन निम्न में से किस विचारक का है?
   आस्टिन, लॉस्की, जी. डी. एच. कोल।
   [उत्तर—हैरल्ड लॉस्की।]

अति लघु उत्तरात्मक प्रश्न

प्रश्न 1. 'सॉवरनेटी' (Sovereignty) शब्द की उत्पत्ति किस भाषा के किन शब्दों से हुई है? उन शब्दों का अर्थ बताइए।

उत्तर—'सॉवरनेटी' (Sovereignty) लैटिन भाषा 'सुपर' (Super) और 'एनस' (Anus) से लिया गया है, जिसका अर्थ उस भाषा में 'सर्वोच्च शक्ति' होता है।

प्रश्न 2. सम्प्रभुता के दो प्रमुख पक्ष कौन से हैं?

उत्तर—सम्प्रभुता के दो पक्ष होते हैं—आन्तरिक सम्प्रभुता और बाहरी सम्प्रभुता।

प्रश्न 3. बाहरी सम्प्रभुता से क्या अभिप्राय है?

उत्तर—बाहरी सम्प्रभुता का तात्पर्य है कि राज्य किसी भी बाहरी सत्ता के प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष नियन्त्रण से स्वतन्त्र होता है।

प्रश्न 4. सम्प्रभुता के प्रमुख लक्षणों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर—(1) निरंकुशता (2) मौलिकता (3) सर्वव्यापकता (4) स्थायित्व (5) अपृथक्करणीयता (6) अनन्यता एवं (7) अविभाज्यता।

प्रश्न 5. वैधानिक सम्प्रभु किसे कहा जाता है?

उत्तर—राज्य में कानून निर्माण करने और उनका पालन कराने की सर्वोच्च शक्ति जिसके पास है, उसे वैधानिक सम्प्रभु कहते हैं।

प्रश्न 6. कानूनी सम्प्रभुता की दो विशेषताएं बतलाइए।

उत्तर—(1) कानूनी सम्प्रभुता निश्चित होती है, और न्यायालय इसे स्वीकार करता है। (2) यह संगठित, स्पष्ट और विधि द्वारा मान्य होती है।

प्रश्न 7. राजनीतिक सम्प्रभुता की दो विशेषताएं बताइए।

उत्तर—(1) राजनीतिक सम्प्रभुता द्वारा वैधानिक सम्प्रभुता को नियन्त्रित किया जाता है। (2) राजनीतिक सम्प्रभुता असंगठित और अनिश्चित होती है।

प्रश्न 8. लोक प्रभुता से आपका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—लोक प्रभुता से तात्पर्य यह है कि अन्तिम प्रभुसत्ता जनता में निहित होती है।

प्रश्न 9. लोक प्रभुता के दो प्रमुख गुण बतलाइए।

उत्तर—(1) इसमें शासन का अस्तित्व जनहित के लिए होता है। (2) जन इच्छाओं की अवहेलना पर क्रान्ति की सम्भावना हो जाती है।

प्रश्न 10. ऑस्टिन ने सम्प्रभुता सिद्धान्त का प्रतिपादन अपनी किस पुस्तक में किया है?

उत्तर—ऑस्टिन ने अपनी पुस्तक '*Lectures on Jurisprudence*' में सम्प्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

प्रश्न 11. जॉन ऑस्टिन ने 'कानून' किसे माना है?

उत्तर—ऑस्टिन के अनुसार उच्चतर द्वारा निम्नतर को दिया गया आदेश ही कानून होता है।

प्रश्न 12. ऑस्टिन के सम्प्रभुता सिद्धान्त की आलोचना के दो प्रमुख आधार बतलाइए।

उत्तर—(1) समाज में आस्टिन के निश्चित जनश्रेष्ठ को खोज पाना कठिन है। (2) कानून सम्प्रभु की आज्ञा मात्र नहीं होता है।

प्रश्न 13. व्यवहार में सम्प्रभुता की असीमितता पर कौन-कौन से प्रतिबन्ध होते हैं?

उत्तर—(1) नैतिक प्रतिवन्ध (2) रीति-रिवाज तथा परम्पराएं (3) धर्म (4) अन्तर्राष्ट्रीय कानून और सन्धियां (5) लोकमत (6) अन्य समुदायों का अस्तित्व आदि।

प्रश्न 14. बहुलवाद के प्रमुख प्रतिपादकों के नाम लिखिए।

उत्तर—वहुलवाद के प्रमुख प्रतिपादक हैं—गियर्क, मेटलैण्ड, फिगिस, डिग्विट, क्रेव, मिस फालेट, अर्नेस्ट वार्कर, जी. डी. एच. कोल और लास्की।

प्रश्न 15. बहुलवादी विचारधारा के विकास में सहायक दो प्रमुख तत्वों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर—(1) यह हीलगवादी राज्स के विरुद्ध प्रतिक्रिया है। (2) आधुनिक राज्य की अयोग्यता भी वहुलवाद के विकास का प्रमुख कारण है।

प्रश्न 16. राज्य की प्रभुसत्ता पर बहुलवादी विचारकों द्वारा लगाए गए किन्हीं दो आक्षेपों का वर्णन कीजिए।

उत्तर—(1) सम्प्रभुता का विचार व्यक्ति के विकास में वाधक है। (2) सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य में सम्भव नहीं है।

प्रश्न 17. बहुलवाद के दो प्रमुख सिद्धान्त बतलाइए।

उत्तर—(1) वहुलवाद के अनुसार राज्य अन्य समुदायों की भांति ही एक समुदाय है। (2) वहुलवादी नियन्त्रित राजसत्ता में विश्वास करते हैं।

प्रश्न 18. बहुलवाद के विरोध में आलोचकों द्वारा प्रस्तुत दो प्रमुख तर्क बतलाइए।

उत्तर—(1) वहुलवादी विचारधारा को स्वीकार करने का स्वाभाविक परिणाम अराजकता की स्थिति होगा। (2) सभी समुदाय समान स्तर के नहीं हैं।

अध्याय 8

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. शक्ति की अवधारणा को संक्षेप में स्पष्ट कीजिए।
2. सत्ता की अवधारणा को संक्षेप में स्पष्ट कीजिए।
3. सत्ता और शक्ति में क्या सम्बन्ध है?
4. सत्ता और शक्ति में क्या भेद है?

वस्तुनिष्ठ एवं अति लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. 'शक्ति निर्दिष्ट प्रभावों की उत्पत्ति है' इस कथन के लेखक हैं :

(अ) लासवेल (ब) वर्ट्रेण्ड रसेल (स) लास्की (द) प्लेटो

[उत्तर—(ब)।]

2. वायर्सटेड ने शक्ति के प्रकार बतलाए हैं :

(अ) तीन (ब) चार (स) पांच (द) छः

[उत्तर—(ब)।]

3. अनुपालना की प्रत्याशा और इच्छा होती है :

(अ) सत्ता में (ब) स्वतन्त्रता में (स) समानता में (द) न्याय में

[उत्तर—(अ)।]

4. रॉबर्ट वायर्सटेड के अनुसार, शक्ति क्या है?

[उत्तर—रॉवर्ट वायर्सटेड के अनुसार, 'शक्ति वल प्रयोग की योग्यता है; न उनका वास्तविक प्रयोग'।]

5. निम्न कथन किन व्यक्तियों के हैं :

(i) 'राजनीति शक्ति का विज्ञान है।
बेकर, वर्टेण्ड रसल, केटलिन।

(ii) समस्त सांसारिक जीवन का मूल आधार दण्डशक्ति ही है।
मनु, कौटिल्य, अरस्तू

[उत्तर—(i) केटलिन, (ii) कौटिल्य।]

6. शक्ति के प्रमुख स्रोत बतलाइए।

[उत्तर—शक्ति के स्रोत हैं—(i) ज्ञान, (ii) प्राप्तियां, (iii) संगठन, (iv) आकार।]

7. सत्ता क्या है?

[उत्तर—वायर्सटेड के अनुसार, 'सत्ता शक्ति के प्रयोग का संस्थात्मक अधिकार है, वह स्वयं शक्ति नहीं है'।
यूनेस्को की एक रिपोर्ट के अनुसार सत्ता वह शक्ति है जो स्वीकृत, सम्मानित, ज्ञात एवं औचित्यपूर्ण हो।]

8. प्रो. वीच ने सत्ता के प्रसंग में किन दो सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है?

[उत्तर—प्रो. वीच ने सत्ता के प्रसंग में इन दो सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है :
(i) औपचारिक सत्ता सिद्धान्त, और (ii) स्वीकृति सिद्धान्त।]

9. सत्ता के स्रोत या सत्ता के प्रकार वतलाइए।

[उत्तर—सत्ता के निम्न स्रोत या प्रकार हैं : (i) परम्परागत सत्ता, (ii) वौद्धिक, कानूनी या वैधानिक नौकरशाही सत्ता, (iii) करिश्मात्मक सत्ता।]

अति लघु उत्तरात्मक प्रश्न

प्रश्न 1. रावर्ट वायर्सटेड की 'शक्ति' की परिभाषा लिखिए।

उत्तर—रावर्ट वायर्सटेड के अनुसार, "शक्ति वल प्रयोग की योग्यता है, न कि उसका वास्तविक प्रयोग।"

प्रश्न 2. शक्ति को 'प्रभाव प्रक्रिया' के रूप में परिभाषित करने वाले दो विचारकों के नाम लिखिए।

उत्तर—लासवेल, केपलान और हरवर्ट साइमन ने शक्ति को प्रभाव प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया है।

प्रश्न 3. 'शक्ति' और 'बल' में दो प्रमुख अन्तर बताइए।

उत्तर—(1) शक्ति अप्रकट तत्व है, वल प्रकट तत्व है। (2) वल शक्ति का एक रूप है, किन्तु वल ही शक्ति नहीं है।

प्रश्न 4. 'शक्ति' एवं 'प्रभाव' के बीच दो अन्तर बताइए।

उत्तर—(1) शक्ति दमनात्मक होती है जवकि प्रभाव अनुनयात्मक, स्वेच्छापूर्ण तथा मनोवैज्ञानिक होता है। (2) शक्ति अप्रजातान्त्रिक है, जवकि प्रभाव प्रजातन्त्रात्मक है।

प्रश्न 5. शक्ति के कोई चार प्रमुख स्रोत बताइए।

उत्तर—शक्ति के चार महत्वपूर्ण स्रोत हैं—(1) ज्ञान (2) प्राप्तियां (3) संगठन और (4) आकार है।

प्रश्न 6. मैक्स वेबर ने 'औचित्यपूर्ण शक्ति' के कौन-कौन से प्रकार बताए हैं?

उत्तर—मैक्स वेवर ने औचित्यपूर्ण शक्ति के तीन प्रमुख रूप वताए हैं—(1) कानूनी या वैधानिक, (2) परम्परागत, (3) करिश्मावादी शक्ति।

प्रश्न 7. शक्ति के प्रयोग पर प्रमुख सीमाएं बताइए।

उत्तर—शक्ति के प्रयोग पर इतिहास, परम्पराएं, धर्म, नैतिकता एवं समूहों का दवाव आदि का प्रतिवन्ध रहता है।

प्रश्न 8. राजनीति विज्ञान को "शक्ति का विज्ञान" मानने वाले दो प्रमुख विचारक बतलाइए।

उत्तर—शक्ति का विज्ञान मानने वाले दो प्रमुख विचारक कैटलिन और लासवैल हैं।

प्रश्न 9. शक्ति को प्रयोग में लाने के प्रमुख तरीके बताइए।

उत्तर—शक्ति को प्रयोग में लाने के प्रमुख साधन हैं—पुरस्कार, दण्ड, आर्थिक लाभ देना या रोकना, आदि।

प्रश्न 10. हेनरी फेयोल की 'सत्ता' की परिभाषा लिखिए।

उत्तर—हेनरी फ़ेयोल के अनुसार, "सत्ता आदेश देने का अधिकार और आदेश का पालन करवाने की शक्ति है।"

प्रश्न 11. 'सत्ता' की प्रकृति के सम्बन्ध में प्रो. बीच द्वारा प्रतिपादित दो प्रमुख सिद्धान्त बतलाइए।

उत्तर—प्रो. बीच द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त हैं—(1) औपचारिक सत्ता सिद्धान्त और (2) स्वीकृति सिद्धान्त।

प्रश्न 12. मैक्स वेबर द्वारा प्रतिपादित सत्ता के प्रकार बताइए।

उत्तर—मैक्स वेबर द्वारा प्रतिपादित सत्ता के प्रकार हैं—(1) परम्परागत सत्ता (2) बौद्धिक कानूनी या वैधानिक नौकरशाही सत्ता (3) करिश्मात्मक सत्ता।

प्रश्न 13. सत्ता के प्रमुख आधार बतलाइए।

उत्तर—सत्ता के प्रमुख आधार हैं—(1) औचित्यपूर्णता (2) विचारों की एकरूपता (3) विश्वास (4) विभिन्न दण्ड विधान (5) अधीनस्थों की प्रकृति और पर्यावरणात्मक दवाव आदि।

प्रश्न 14. सत्ता की प्रमुख सीमाओं का उल्लेख कीजिए?

उत्तर—नैतिक-धार्मिक विश्वास, संस्कृति, संविधान नियम और उपनियम, अधीनस्थों की क्षमताएं और उनके द्वारा निर्मित संघ प्रमुख सीमाएं हैं।

प्रश्न 15. औचित्यपूर्णता (वैधता) शब्द की उत्पत्ति कैसे हुई?

उत्तर—औचित्यपूर्णता शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन भाषा के 'Legitumus' से हुई, जिसे आगे चलकर अंग्रेजी में 'Lawful' अथवा 'वैधानिक' कहा गया।

प्रश्न 16. 'औचित्यपूर्णता' का क्या अर्थ है?

उत्तर—औचित्यपूर्णता का अर्थ उस सहमति या स्वीकृति से है, जो लोगों द्वारा राजनीतिक व्यवस्था के सम्बन्ध में दी जाती है।

प्रश्न 17. औचित्यपूर्णता की दो प्रमुख विशेषताएं बतलाइए।

उत्तर—औचित्यपूर्णता (वैधता) शक्ति को सत्ता में परिवर्तित करने का गुण है। (2) वैधता विशाल सामाजिक स्वीकृति पर आधारित है।

प्रश्न 18. 'प्रभाव' क्या है?

उत्तर—प्रभाव वह क्षमता है जिसके माध्यम से विना वल प्रयोग किये दूसरों के व्यवहार को वदला जा सके।

प्रश्न 19. रोवे के अनुसार राजनीतिक प्रभाव के प्रमुख स्रोत क्या हैं?

उत्तर—रोवे के अनुसार राजनीतिक प्रभाव के स्रोत हैं—सम्पत्ति, शिक्षा, महत्वपूर्ण सूचनाएं, स्वास्थ्य, व्यक्तिगत आकर्षण और कुशलता आदि।

प्रश्न 20. राजनीतिक प्रभाव की असमानता के प्रमुख कारण बतलाइए।

उत्तर—प्रमुख कारण हैं—(1) राजनीतिक साधनों का भेद (2) कार्यों का विशेषीकरण (3) लक्ष्यों और अभिप्रेरणाओं का भेद और (4) कार्य कुशलता का भेद।

अध्याय 9

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. अधिकार के आवश्यक लक्षणों (विशेषताओं) को समझाइए।
2. 'अधिकार का वैधानिक सिद्धान्त' की विवेचना कीजिए।
3. अधिकारों की प्रकृति के 'ऐतिहासिक सिद्धान्त' की आलोचनात्मक संक्षिप्त विवेचना कीजिए।
4. मानव के राजनीतिक अधिकारों का वर्णन कीजिए।
5. 'कर्तव्य' शब्द से हमारा क्या तात्पर्य है?
6. प्राकृतिक और राजनीतिक अधिकारों में क्या अन्तर है?
7. सिद्ध कीजिए 'एक व्यक्ति का अधिकार दूसरे व्यक्ति का कर्तव्य' है।
8. सामाजिक अधिकारों और राजनीतिक अधिकारों में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
9. 'मानव के कानूनी कर्तव्यों का उल्लेख कीजिए।'
10. 'मानवीय अधिकारों की विश्वव्यापी घोषणा' में उल्लेख किए गए मानव के सामाजिक तथा आर्थिक अधिकारों को समझाइए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'मत देने का अधिकार' निम्न में से किस श्रेणी में रखा जा सकता है?
   (अ) नैतिक अधिकार (ब) आर्थिक अधिकार
   (स) राजनीतिक अधिकार (द) सामाजिक अधिकार

2. 'व्यक्ति के अधिकारों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होने चाहिए' अधिकार विषयक निम्न में से किस सिद्धान्त में इस बात का प्रतिपादन किया गया है :

(अ) वैधानिक सिद्धान्त (ब) प्राकृतिक सिद्धान्त
(स) समाज कल्याण सिद्धान्त (द) व्यक्तिवादी सिद्धान्त

3. गांधीजी द्वारा प्रतिपादित राज्य के विरोध का तकनीकी नाम है :

(अ) क्रान्ति (ब) विद्रोह (स) सशस्त्र संघर्ष (द) सत्याग्रह

4. 'मानव अधिकार दिवस' प्रतिवर्ष निम्न में से किस दिनांक पर मनाया जाता है :

(अ) 10 नवम्बर (ब) 10 जनवरी (स) 10 फरवरी (द) 10 दिसम्बर

5. 'अधिकारों का महत्व कर्तव्यों के संसार में ही है' यह कथन निम्न में से किस विचारक का है :

(अ) लास्की (ब) वाइल्ड (स) ग्रीन (द) महात्मा गांधी

6. निम्न में से कौन-सा कानूनी कर्तव्य नहीं है :

(अ) राज्य के प्रति भक्ति (ब) कानूनों का पालन
(स) प्राणी मात्र के हित की कामना (द) कर देना

7. 'प्राकृतिक अधिकार का सिद्धान्त' निम्नलिखित सिद्धान्तों में से किसका महत्वपूर्ण अंग बना था :

(अ) सामाजिक समझौता सिद्धान्त (ब) शक्ति सिद्धान्त
(स) ऑस्टिन के सम्प्रभुता सिद्धान्त (द) उपरोक्त सभी

उत्तर—1. (स), 2. (द), 3. (द), 4. (द), 5. (ब), 6. (स), 7. (अ)।

8. अधिकारों सम्बन्धी सिद्धान्तों में से किस सिद्धान्त के अनुसार केवल राज्य ही अधिकारों का सृष्टा है?

उत्तर—वैधानिक सिद्धान्त।

9. कर्तव्यों का प्रकार जो सदाचार से सम्बन्धित है, वह है :

उत्तर—नैतिक कर्तव्य।

10. 'रोजगार के अधिकार' को संविधान समाविष्ट करने पर किस प्रकार की स्वतन्त्रता को प्रत्यक्ष रूप से समर्थन मिलेगा?

उत्तर—आर्थिक स्वतन्त्रता।

11. जनतन्त्र में सक्रिय भागीदारी के लिए अधिकारों का जो प्रकार आवश्यक है?

उत्तर—राजनीतिक अधिकार।

12. नैतिक कर्तव्य एवं कानूनी कर्तव्य में प्रमुख अन्तर क्या है?

उत्तर—नैतिक कर्तव्य के पीछे दण्डकारी शक्ति नहीं है, किन्तु कानूनी कर्तव्य के पीछे दण्डकारी शक्ति है।

13. 'कर्तव्य' किसे कहते हैं?

उत्तर—किसी विशेष कार्य को करने या न करने के सम्बन्ध में व्यक्ति के उत्तरदायित्व को कर्तव्य कहते हैं।

14. एक व्यक्ति को किन तीन कानूनी कर्तव्यों का पालन करना अनिवार्य है?

उत्तर—(i) राज्य के प्रति भक्ति, (ii) कानूनों का पालन, (iii) कर देना।

15. "अधिकार वह मांग है जिसे समाज स्वीकार करना है और जिसे राज्य लागू करता है।

उत्तर—समाज, राज्य।

अति लघु उत्तरात्मक प्रश्न

प्रश्न 1. बोसांके की 'अधिकार' की परिभाषा बतलाइए।

उत्तर—

उत्तर—बोसांके के अनुसार, "अधिकार वह मांग है जिसे समाज स्वीकार करता और राज्य लागू करता है।"

प्रश्न 2. अधिकार के आवश्यक लक्षण बतलाइए।

उत्तर—अधिकार के आवश्यक लक्षण हैं—(1) अधिकारों का सामाजिक स्वरूप (2) कल्याणकारी स्वरूप (3) लोकहित में प्रयोग (4) राज्य का संरक्षण (5) सार्वभौमिकता या सर्वव्यापकता।

प्रश्न 3. नैतिक अधिकार से क्या तात्पर्य है?

उत्तर—नैतिक अधिकार वे अधिकार होते हैं जिनका सम्बन्ध मानव के नैतिक आचरण से होता है।

प्रश्न 4. कानूनी अधिकार से क्या तात्पर्य है?

उत्तर—कानूनी अधिकार वे अधिकार हैं, जिनकी व्यवस्था राज्य द्वारा की जाती है और जिनका उल्लंघन कानून से दण्डनीय होता है।

प्रश्न 5. व्यक्ति के प्रमुख सामाजिक या नागरिक अधिकार बतलाइए।

उत्तर—प्रमुख अधिकार हैं—(1) समानता का अधिकार (2) स्वतन्त्रता का अधिकार (3) सम्पत्ति का अधिकार (4) शिक्षा का अधिकार (5) जीवन का अधिकार, आदि।

प्रश्न 6. व्यक्ति के चार प्रमुख राजनीतिक अधिकार बतलाइए।

उत्तर—(1) मत देने का अधिकार (2) निर्वाचित होने का अधिकार (3) सार्वजनिक पद ग्रहण करने का अधिकार (4) आवेदन पत्र और सम्मति का अधिकार।

प्रश्न 7. अधिकारों के प्राकृतिक सिद्धान्त के समर्थक चार विचारकों के नाम लिखिए।

उत्तर—अधिकारों के प्राकृतिक सिद्धान्त के समर्थक हैं—(1) हाव्स (2) लॉक (3) रूसो (4) वाल्टेयर, आदि।

प्रश्न 8. अधिकारों के प्राकृतिक सिद्धान्त की दो प्रमुख त्रुटियां बतलाइए।

उत्तर—(1) सामाजिक मान्यता के अभाव में अधिकार की कल्पना सम्भव नहीं है। (2) अधिकारों की निरपेक्षता स्वीकार नहीं है।

प्रश्न 9. अधिकारों के वैधानिक सिद्धान्त की दो प्रमुख आलोचनाएं लिखिए।

उत्तर—(1) राज्य के आदेश कानूनों का निर्माण नहीं करते। (2) इससे राज्य निरंकुश व स्वेच्छाचारी हो जाएगा।

प्रश्न 10. अधिकारों के समाज कल्याण सिद्धान्त के समर्थक चार विद्वानों के नाम लिखिए।

उत्तर—समाज कल्याण सिद्धान्त के समर्थक हैं—(1) बेन्थम (2) मिल (3) रस्को पाउण्ड एवं (4) प्रो. चेफर, आदि।

प्रश्न 11. अधिकारों के ऐतिहासिक सिद्धान्त की दो प्रमुख आलोचनाएं बताइए।

उत्तर—(1) हमारे सभी अधिकार रीति-रिवाज के परिणाम नहीं हो सकते। (2) सभी रीति-रिवाज समाज हित में नहीं होते।

प्रश्न 12. मानव अधिकारों के घोषणा-पत्र को संयुक्त राष्ट्र महासभा ने कब स्वीकार किया?

उत्तर—महासभा में 10 दिसम्बर, 1948 को मानव अधिकारों के घोषणा-पत्र को स्वीकार किया गया।

प्रश्न 13. विश्व में मानव अधिकारों की रक्षा के लिए कार्यरत दो प्रमुख संगठनों के नाम बतलाइए।

उत्तर—(1) मानव अधिकार आयोग एवं (2) एमनेस्टी इण्टरनेशनल।

प्रश्न 14. कानूनी कर्तव्य या राजनीतिक दायित्व से क्या अभिप्राय है?

उत्तर—ये व्यक्ति के वे कर्तव्य होते हैं, जिनका पालन करना अनिवार्य है, पालन न करने पर व्यक्ति दण्डित होते हैं।

प्रश्न 15. प्रमुख कानूनी कर्तव्य कौन-कौन से हैं?

उत्तर—(1) राज्य के प्रति भक्ति रखना (2) कानूनों का पालन करना (3) सभी करों का भुगतान करना।

प्रश्न 16. अधिकार एवं कर्तव्य का आपसी सम्बन्ध बतलाइए।

उत्तर—(1) एक व्यक्ति का अधिकार दूसरे व्यक्ति का कर्तव्य है। (2) व्यक्ति का अधिकार स्वयं उसके लिए कर्तव्य है।

अध्याय 10

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. राजनीतिक दायित्व का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
2. राजनीतिक दायित्व की तीन प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
3. राजनीतिक दायित्वों के सम्बन्ध में ग्रीन के विचारों को संक्षेप में समझाइए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. निम्नलिखित में से जो लोकतन्त्र के स्वीकृत सिद्धान्त हैं, वह हैं :
   (अ) प्रतिनिधि सरकार का सिद्धान्त (ब) उत्तरदायी सरकार का सिद्धान्त
   (स) संवैधानिक सरकार का सिद्धान्त (द) उपरोक्त सभी
2. अब्राहम लिंकन के अनुसार निम्नलिखित में से जो लोकतन्त्र समाज का आधारभूत मूल्य नहीं है, वह है :
   (अ) व्यक्ति के व्यक्तित्व का सम्मान (ब) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता
   (स) धर्म की प्रधानता (द) विधि का शासन
3. "जब विरोध के लिए आवश्यक प्रत्येक शर्त पूरी हो जाती है, तभी विरोध करना सम्भवतः न्यायोचित होता है, यह अनिवार्य रूप से आवश्यक नहीं है।" इस कथन के लेखक हैं :
   (अ) टी. एच. ग्रीन (ब) बार्कर (स) अब्राहम लिंकन (द) अरस्तू

उत्तर—1. (द), 2. (स), 3. (ब)।

4. राज्य का विरोध करने के सम्बन्ध में ग्रीन की क्या धारणा है?

उत्तर—ग्रीन व्यक्ति को राज्य का विरोध करने का अधिकार प्रदान करता है किन्तु व्यक्ति को इसे काफी सावधानी से स्वयं विचार कर और विशेष परिस्थितियों में सामान्य हित की सिद्धि के लिए ही प्रयोग में लाना चाहिए।

5. कोरो तथा अब्राहम ने लोकतान्त्रिक समाज में किन मूल्यों को आधारभूत बताया?

उत्तर—(i) व्यक्तिगत व्यक्तित्व का सम्मान, (ii) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, (iii) विवेक में विश्वास, (iv) समानता, (v) न्याय, (vi) विधि का शासन।

6. राजनीतिक दायित्व की कोई एक विशेषता बताओ।

उत्तर—राजनीतिक दायित्व की संकल्पना में राजनीतिक वैधता और प्रभावशीलता स्वतः शामिल है।

7. दायित्व के अंग्रेजी पर्याय 'obligation' शब्द मूल लैटिन शब्द........से निकला है।

उत्तर—'Obligate'

अध्याय 11 एवं 12

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. 'कानून स्वतन्त्रता की आवश्यक शर्त है' इस कथन के पक्ष में कोई तीन कारण लिखिए।
2. स्वतन्त्रता के कोई चार रूप लिखिए।
3. समानता के चार प्रमुख रूप लिखिए।
4. आर्थिक समानता की धारणा की विशेषताएं बतलाइए।
5. स्वतन्त्रता और समानता के सम्बन्ध को स्पष्ट करने वाले कोई चार कारण बताइए।
6. नकारात्मक और सकारात्मक स्वतन्त्रता का आशय स्पष्ट कीजिए।

वस्तुनिष्ठ एवं अति लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. स्वतन्त्रता का सही अर्थ है :

(अ) वन्धनों का अभाव होना (व) चाहे जो करने की पूर्ण छूट होना

(स) व्यक्ति को व्यक्तित्व के विकास के अवसर प्राप्त होना

(द) जिसकी लाठी, उसकी भैंस होना

[उत्तर—(स)।]

2. 'चुनाव लड़ने का अधिकार' जिस स्वतन्त्रता के अन्तर्गत आता है, वह है :

(अ) प्राकृतिक स्वतन्त्रता (व) धार्मिक स्वतन्त्रता (स) आर्थिक स्वतन्त्रता (द) राजनीतिक स्वतन्त्रता

[उत्तर—(द)।]

3. 'सभा करने की स्वतन्त्रता' जिस स्वतन्त्रता के अन्तर्गत आती है, वह है :

(अ) नागरिक स्वतन्त्रता (व) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता

(स) सामाजिक स्वतन्त्रता (द) धार्मिक स्वतन्त्रता

[उत्तर—(अ)।]

4. 'व्यक्ति के जीविकोपार्जन की स्वतन्त्रता', स्वतन्त्रता की जिस श्रेणी में आती है, वह है :

(अ) आर्थिक स्वतन्त्रता (व) प्राकृतिक स्वतन्त्रता

(स) राजनीतिक स्वतन्त्रता (द) नागरिक स्वतन्त्रता

[उत्तर—(अ)।]

5. स्वतन्त्रता और कानून के सम्बन्ध को बताने वाला सही कथन है :

(अ) अधिक स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए हर प्रकार के कानून के सामने झुकना चाहिए

(व) कानून जितने कम होंगे, स्वतन्त्रता उतनी ही अधिक होगी

(स) जहां स्वतन्त्रता नहीं होती, वहां कानून भी नहीं हो सकता है

(द) स्वतन्त्रता का अस्तित्व इसलिए है कि उस पर नियन्त्रण है

[उत्तर—(द)।]

6. समानता का वास्तविक अर्थ है :

(अ) सब मनुष्य वरावर हों

(व) सभी मनुष्यों में किसी भी प्रकार का कोई भेद न हो

(स) सभी मनुष्यों को समान वेतन प्राप्त हो
(द) प्रत्येक व्यक्ति को विकास के समान अवसर प्राप्त हों
[उत्तर—(द)।]

7. 'सभी मनुष्य आधारभूत रूप से समान हैं' यह धारणा समानता के जिस रूप को प्रतिपादित करती है, वह है :
(अ) सामाजिक समानता (ब) प्राकृतिक समानता
(स) राजनीतिक समानता (द) आर्थिक समानता
[उत्तर—(व)।]

8. जो समानता साम्यवादी देशों में अधिक है, किन्तु उदार लोकतान्त्रिक देशों में कम है, वह है :
(अ) सामाजिक समानता (व) नागरिक समानता
(स) राजनीतिक समानता (द) आर्थिक समानता

9. निम्न कथन किनके हैं, रिक्त स्थानों में लिखिए :
(i) 'समानता की उत्कृष्ट अभिलाषा के कारण स्वतन्त्रता की आशा ही व्यर्थ हो गई है' :..........
(ii) 'केवल वे ही कानून व्यक्ति की नागरिकों की स्वतन्त्रता में वृद्धि करते हैं, जिनके सम्बन्ध में व्यक्ति यह अनुभव करते हैं कि मैं इन्हें स्वीकार कर सकता और उनका पालन कर सकता हूं' :..........
(iii) 'जहां नियन्त्रण होते हैं, वहीं स्वतन्त्रता का अस्तित्व होता है' :..........
(iv) 'एक कानून की मात्रा जितनी अधिक होगी, दूसरे (स्वतन्त्रता) की मात्रा उतनी ही कम हो जाएगी' :..........
(v) 'आर्थिक समानता के बिना राजनीतिक स्वतन्त्रता कभी भी वास्तविक नहीं हो सकती' :..........
[उत्तर—(i) लॉर्ड एक्टन, (ii) लास्की, (iii) विलोवी, (iv) डायसी, (v) लास्की।]

10. राजनीतिक स्वतन्त्रता क्या है?
[उत्तर—अपने राज्य के कार्यों में स्वतन्त्रतापूर्वक सक्रिय भाग लेने की स्वतन्त्रता ही राजनीतिक स्वतन्त्रता है।]

11. कौन-सी विचारधाराएं स्वतन्त्रता और कानून को परस्पर विरोधी मानती हैं?
[उत्तर—अराजकतावादी विचारधारा और व्यक्तिवादी विचारधारा स्वतन्त्रता और कानून को परस्पर विरोधी मानती हैं।]

12. समानता के विविध रूप वतलाइए।
[उत्तर—प्राकृतिक समानता, सामाजिक समानता, नागरिक समानता, राजनीतिक समानता और आर्थिक समानता।]

13. निम्न में से कौन-से दो विद्वान स्वतन्त्रता और समानता को परस्पर विरोधी मानते हैं :
लास्की, डी. टाकविले और लार्ड एक्टन, आर. एच. टॉनी।
[उत्तर—डी. टाकविले और लॉर्ड एक्टन स्वतन्त्रता और समानता को परस्पर विरोधी मानते हैं।]

14. स्वतन्त्रता और समानता को परस्पर पूरक मानने वाले किन्हीं तीन विद्वानों के नाम लिखिए।
[उत्तर—लास्की, डॉ. आशीवार्दम, प्रो. पोलर्ड और आर. एच. टॉनी।]

15. मतदाता सूची में आपका नाम होते हुए भी यदि किसी कारण निर्वाचन अधिकारी मतदान न करने दें, तो आप किस प्रकार की स्वतन्त्रता से वंचित हो जाएंगे।
[उत्तर—मतदाता सूची में नाम होने पर भी निर्वाचन अधिकारी द्वारा मतदान न करने पर हम राजनीतिक स्वतन्त्रता से वंचित हो जाएंगे।]

16. छुआछूत के विरोधी किस प्रकार की समानता के पक्षधर हैं?
[उत्तर—छुआछूत के विरोधी सामाजिक समानता के पक्षधर हैं।]

अति लघु उत्तरात्मक प्रश्न

प्रश्न 1. 'लिबर्टी' (Liberty) शब्द की उत्पत्ति किस भाषा के किस शब्द से हुई है?
उत्तर—'लिवर्टी (Liberty) लैटिन भाषा के 'लिवर' (Liber) शब्द से निकला है जिसका अर्थ होता है, 'बन्धनों का अभाव'।

प्रश्न 2. सकारात्मक स्वतन्त्रता की धारणा का विधिवत रूप में प्रतिपादन किसने किया?
उत्तर—विधिवत रूप में प्रतिपादन टी. एच. ग्रीन ने किया।

प्रश्न 3. स्वतन्त्रता के दो प्रमुख तत्व बतलाइए।
उत्तर—(1) व्यक्ति पर न्यूनतम प्रतिबन्ध होने चाहिए। (2) व्यक्ति को व्यक्तित्व विकास हेतु अधिकाधिक सुविधाएं प्रदान की जानी चाहिए।

प्रश्न 4. स्वतन्त्रता के चार विविध रूप बतलाइए।
उत्तर—(1) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता (2) नागरिक स्वतन्त्रता (3) राजनीतिक स्वतन्त्रता और (4) आर्थिकस्वतन्त्रता।

प्रश्न 5. राजनीतिक स्वतन्त्रता से क्या अभिप्राय है?

उत्तर—राजनीतिक स्वतन्त्रता राज्य के कार्यों में सक्रिय रूप से भाग लेने और शासन व्यवस्था को प्रभावित करने की शक्ति का नाम है।

प्रश्न 6. स्वतन्त्रता की रक्षा के कोई चार प्रमुख उपाय बताइए।

उत्तर—(1) आदर्श कानूनों का निर्माण (2) विशेषाधिकारों का अन्त (3) लोकतन्त्रीय शासन और जनता में लोकतन्त्रीय भावना एवं (4) नागरिकों की सतत् जागरूकता।

प्रश्न 7. समानता से क्या अभिप्राय है?

उत्तर—ऐसी परिस्थितियां, जिसमें व्यक्तित्व विकास हेतु समान अवसर उपलब्ध हो और सामाजिक वैषम्य से उत्पन्न असमानता का अन्त हो सके।

प्रश्न 8. लास्की के अनुसार समानता के लिए दो प्रमुख आवश्यकताएं क्या हैं?

उत्तर—समानता हेतु प्रमुख आवश्यताएं हैं—(1) विशेषाधिकारों का अभाव एवं (2) सभी व्यक्तियों को विकास हेतु पर्याप्त अवसरों की प्राप्ति।

प्रश्न 9. समानता के चार विविध रूप बतलाइए।

उत्तर—समानता के चार रूप हैं—(1) सामाजिक समानता (2) नागरिक समानता (3) राजनीतिक समानता एवं (4) आर्थिक समानता।

प्रश्न 10. आर्थिक समानता का क्या आशय है?

उत्तर—सभी व्यक्तियों की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति तथा सम्पत्ति की दृष्टि से समाज में भारी विषमताओं का अन्त।

प्रश्न 11. कानूनी समानता का क्या अर्थ है?

उत्तर—कानून की दृष्टि से सभी नागरिक समान हो और सभी नागरिकों को कानून का समान संरक्षण प्राप्त हो।

प्रश्न 12. समानता और स्वतन्त्रता को परस्पर विरोधी बताने वाले दो प्रमुख विद्वानों के नाम बतलाइए।

उत्तर—दो प्रमुख विद्वान हैं—(1) डी. टाकविले एवं (2) लार्ड एक्टन।

अध्याय 13

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. कानून के कोई चार प्रकार लिखिए।
2. कानूनों के कोई चार प्रमुख स्रोत लिखिए।
3. कानून और नैतिकता में भेद बताइए।

अति लघु उत्तरात्मक प्रश्न

प्रश्न 1. 'कानून' क्या है?

उत्तर—कानून राज्य द्वारा स्वीकृत या निर्मित वे नियम हैं, जिनका पालन न करने पर राज्य द्वारा दण्डित किया जाता है।

प्रश्न 2. कानून के चार प्रमुख प्रकार बतलाइए।

उत्तर—कानून के प्रमुख प्रकार हैं—(1) सामान्य कानून (2) संवैधानिक कानून (3) प्रशासकीय कानून एवं (4) अन्तर्राष्ट्रीय कानून।

प्रश्न 3. कानून के चार प्रमुख स्रोत बतलाइए।

उत्तर—कानून के प्रमुख स्रोत हैं—(1) रीति-रिवाज या परम्पराएं (2) न्यायिक निर्णय (3) व्यवस्थापन और (4) कानूनी टीकाएं।

प्रश्न 4. कानून के तीन प्रमुख उद्देश्य बतलाइए।

उत्तर—(1) राज्य में शान्ति और व्यवस्था स्थापित करना (2) मानव आवश्यकताओं की पूर्ति करना। एवं (3) मानवअधिकारों की रक्षा करना।

प्रश्न 5. अच्छे कानून के प्रमुख लक्षण क्या हैं?

उत्तर—(1) कानून सरल और स्पष्ट होने चाहिए। (2) स्थायित्व होना चाहिए। (3) व्यापकता (4) व्यावहारिक एवं (5) निष्पक्षता होनी चाहिए।

प्रश्न 6. व्यक्तियों द्वारा कानून का पालन क्यों किया जाता है?

उत्तर—(1) दण्ड के भय से कानूनों का पालन (2) तर्क एवं उपयोगिता के आधार पर (3) कानूनों का पालन मनुष्यों का स्वभाव है।

प्रश्न 7. कानून किस प्रकार से व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा करते हैं?

उत्तर—कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता की अन्य व्यक्तियों के हस्तक्षेप से एवं राज्य के हस्तक्षेप से रक्षा करते हैं।

अध्याय 14

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. दण्ड व्यवस्था के उद्देश्य पर प्रकाश डालिए।
2. दण्ड व्यवस्था के प्रमुख तत्वों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
3. प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त का संक्षिप्त मूल्यांकन कीजिए।
4. एक वाद-विवाद प्रतियोगिता में आप मृत्यु दण्ड को बनाए रखने के विपक्ष में क्या तर्क देना पसन्द करेंगे, किन्हीं चार का उल्लेख कीजिए।
5. सुधारात्मक सिद्धान्त पर संक्षिप्त टिप्पणी कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'आंख के बदले आंख, और दांत के बदले दांत, का विचार, दण्ड व्यवस्था के जिस सिद्धान्त से सम्वन्धित है, वह है :
   (अ) प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त (व) सुधारात्मक सिद्धान्त
   (स) आदर्शात्मक सिद्धान्त (द) निवर्तक सिद्धान्त
2. निम्नलिखित में से जिस देश में मृत्यु दण्ड व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया है, वह है :
   (अ) भारत (व) पाकिस्तान (स) हालैण्ड (द) अमेरिका
3. निम्नलिखित में से जो दण्ड व्यवस्था का आवश्यक तत्व नहीं है, वह है :
   (अ) अनुपात (व) विवेक (स) निष्पक्षता (द)प्रतिशोध
4. निम्नलिखित में से किस विचारक ने 'मृत्यु दण्ड समाप्ति' का प्रतिपादन किया?
   (अ) बेकरिया ने (व) बेन्थम ने (स) ई. राय. कल्वर्ट ने(द) उपरोक्त सभी ने।

   उत्तर—1. (अ), 2. (स), 3. (द), 4. (द)।
5. '20वीं सदी में मृत्यु दण्ड' पुस्तक के लेखक का नाम बताओ।

   उत्तर—ई. राय. कल्वर्ट
6. काण्ट और हीगल ने प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त का समर्थन करते हुए दण्ड को क्या नाम दिया?

   उत्तर—काण्ट और हीगल ने प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त का समर्थन करते हुए दण्ड को 'अपराधी के लिए निषेधात्मक उपहार' नाम दिया।
7. दण्ड के सम्वन्ध में प्रचलित तीन सिद्धान्तों के नाम बताओ।

   उत्तर—(i) प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त, (ii) निवारक सिद्धान्त, (iii) सुधार सिद्धान्त।
8. सामान्य शब्दों में दण्ड व्यवस्था का उद्देश्य क्या है?

   उत्तर—दण्ड व्यवस्था का उद्देश्य अपराधी को सुधारना और उसे तथा अन्य व्यक्तियों को चेतावनी देकर अपराध की प्रवृत्ति को नियन्त्रित रखना और यथा सम्भव दूर करना होता है।
9. सबसे श्रेष्ठ और व्यवहारिक दण्ड व्यवस्था यह है जिसके अन्तर्गत ...., ... एवं .... तीनों की .... व्यवस्था हो।

   उत्तर—प्रतिशोध, निरोध, सुधार, उचित और सन्तुलित।

अति लघु उत्तरात्मक प्रश्न

प्रश्न 1. दण्ड व्यवस्था का प्रमुख उद्देश्य क्या है?

उत्तर—दण्ड व्यवस्था का उद्देश्य अपराधी और अन्य व्यक्तियों को सुधार कर उन्हें आदर्श नागरिक बनाना होता है।

प्रश्न 2. दण्ड व्यवस्था के दो आवश्यक तत्व बतलाइए।

उत्तर—(1) दण्ड अपराध की मात्रा के अनुसार होना चाहिए। (2) दण्ड व्यवस्था सभी के लिए समान व निष्पक्ष होनी चाहिए।

प्रश्न 3. दण्ड व्यवस्था के चार प्रमुख सिद्धान्तों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर—दण्ड व्यवस्था के चार प्रमुख सिद्धान्त हैं—(1) प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त (2) निवर्तक (Deterrent) सिद्धान्त (3) सुधारात्मक सिद्धान्त एवं (4) आदर्शात्मक सिद्धान्त।

प्रश्न 4. दण्ड के प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त से क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड का उद्देश्य अपराधी से अपराध का बदला लेना है।

प्रश्न 5. दण्ड के निवारक (Deterrent) सिद्धान्त से क्या तात्पर्य है?

उत्तर—इस सिद्धान्त के अनुसार अपराधी को दण्ड इसलिए दिया जाता है कि अन्य व्यक्ति उसकी दुर्दशा देखकर अपराध से डरें।

प्रश्न 6. मृत्युदण्ड के पक्ष में दो प्रमुख तर्क प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर—(1) मृत्युदण्ड हत्या के अपराध की पुनरावृत्ति करने से रोकता है। (2) मृत्युदण्ड का अन्य व्यक्तियों पर भी निवारक प्रभाव पड़ता है।

अध्याय 15

अति लघु उत्तरात्मक प्रश्न

प्रश्न 1. प्लेटो ने 'न्याय' शब्द का प्रयोग किस अर्थ में किया है?

उत्तर—प्लेटो ने न्याय शब्द का प्रयोग वैधानिक अर्थ में नहीं वरन् नैतिक अर्थ में किया है।

प्रश्न 2. अरस्तू ने न्याय के कौन-से दो भेद बतलाए हैं?

उत्तर—न्याय के दो भेद हैं—(1) वितरणात्मक या राजनीतिक न्याय एवं (2) सुधारक न्याय।

प्रश्न 3. कौटिल्य ने कितने प्रकार के न्यायालयों का उल्लेख किया है?

उत्तर—कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' में दो प्रकार के न्यायालयों का उल्लेख किया है—(1) धर्मस्थीय न्यायालय एवं (2) कण्टक शोधन न्यायालय।

प्रश्न 4. न्याय धारणा के चार विविध रूपों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर—न्याय धारणा के विविध रूप हैं—(1) कानूनी न्याय (2) राजनीतिक न्याय (3) सामाजिक न्याय एवं (4) आर्थिक न्याय।

प्रश्न 5. अर्नाल्ड ब्रेचट (Arnold Brecht) द्वारा अपनी किस पुस्तक में न्याय के सिद्धान्त की विवेचना की गई है।

उत्तर—अर्नाल्ड ब्रेचट ने अपनी पुस्तक "*Political Theory*" में न्याय के सिद्धान्त की विवेचना की है।

प्रश्न 6. अर्नाल्ड ब्रेचट (Arnold Brecht) ने न्याय के कौन-कौन से आधार तत्वों का उल्लेख किया है?

उत्तर—(1) सत्य (2) मूल्यों के आधारभूत क्रम की सामान्यता (3) कानून के समक्ष समानता (4) स्वतन्त्रता और (5) प्रकृति की अनिवार्यताओं के प्रति सम्मान।

प्रश्न 7. कानूनी न्याय को प्राप्त करने के दो प्रमुख साधन बतलाइए।

उत्तर—(1) न्यायपालिका को कार्यपालिका के प्रभाव से मुक्त होना चाहिए। (2) न्यायाधीशों हेतु उच्च योग्यताएं, लम्बा कार्यकाल एवं पद की सुरक्षा हो।

प्रश्न 8. आपकी दृष्टि में न्याय में समानता को प्राप्त करने के लिए कौन सी व्यवस्थाएं जरूरी हैं?

उत्तर—(1) विशेषाधिकारों की समाप्ति और (2) निःशुल्क कानूनी सहायता की व्यवस्था हो।

अध्याय 17

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. सर्वाधिकारवाद का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
2. प्रजातन्त्र एवं धर्म के सम्बन्ध में सर्वाधिकारवादी दृष्टिकोण को स्पष्ट कीजिए।
3. किन्हीं तीन आधारों पर सर्वाधिकारवाद की आलोचना कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. निम्नलिखित में से जो सर्वाधिकारवाद का मूल सिद्धान्त है, वह है :

   (अ) सर्वाधिकारवाद पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न राज्य में विश्वास करता है

   (ब) सर्वाधिकारवाद प्रजातन्त्र व उदारवाद में विश्वास करता है

   (स) सर्वाधिकारवाद अन्तर्राष्ट्रीयवादी विचारधारा है

   (द) सर्वाधिकारवाद धर्म को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करता है

2. "सभी कुछ राज्य के अन्तर्गत है, राज्य के विरुद्ध या राज्य के बाहर कुछ भी नहीं है।" यह कथन है :

   (अ) हिटलर का (ब) स्टालिन का (स) मुसोलिनी का (द) कार्ल मार्क्स का

3. 1922 में इटली में किसके नेतृत्व में फासीवाद का प्रादुर्भाव हुआ?

   (अ) हिटलर (ब) मुसोलिनी (स) नेपोलियन (द) उपरोक्त में से कोई नहीं

4. निम्न में से जो सर्वाधिकारवाद की आलोचना नहीं है, वह है :
   (अ) यह एक अमानवीय दर्शन है
   (ब) यह युद्ध और साम्राज्यवाद की समर्थक विचारधारा है
   (स) यह प्रजातन्त्र के दोषों का सही रूप से वर्णन करती है
   (द) सर्वाधिकारवादी राज्य मानवीय व्यक्तित्व का अन्त कर देगा

उत्तर—1. (अ), 2. (स), 3. (ब), 4. (स)।

5. सर्वाधिकारवाद से क्या तात्पर्य है?

उत्तर—सर्वाधिकारवाद व्यक्ति को गौण और राज्य को प्रधान सत्ता मानते हुए सम्पूर्ण शक्ति राज्य को प्रदान करना चाहता है।

6. सर्वाधिकारवाद के तीन प्रमुख सिद्धान्त बतलाइए।

उत्तर—(i) सर्वाधिकारवाद पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न राज्य में विश्वास करता है। (ii) सर्वाधिकारवाद एक अति राष्ट्रीय विचारधारा है। (iii) सर्वाधिकारवाद धर्म का शत्रु है।

7. सर्वाधिकारवाद के तीन प्रमुख दोष बतलाइए।

उत्तर—(i) सर्वाधिकारवादी राज्य मानवीय व्यक्तित्व का अन्त कर देगा। (ii) विचार स्वतन्त्रता का अन्त कर देगा। (iii) यह एक अमानवीय दर्शन है।

8. जीवन के सभी क्षेत्रों में राज्यों को पूर्ण अधिकार देने के कारण ही इसे.......... विचारधारा कहा जाता है।

उत्तर—सर्वाधिकारवादी।

अध्याय 18

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. फासीवाद के तीन प्रमुख स्रोतों को संक्षेप में समझाइए।
2. फासीवाद के किन्हीं तीन प्रमुख सिद्धान्तों की संक्षिप्त विवेचना कीजिए।
3. फासीवाद की किन्हीं चार आधारों पर आलोचनाएं कीजिए।
4. फासीवाद के विकास क्रम को संक्षेप में समझाइए।
5. हिटलर के फासीवाद (नाजीवाद) की संक्षेप में विवेचना कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. निम्नलिखित में से जो फासीवाद का प्रमुख स्रोत नहीं है, वह है :
   (अ) सामाजिक डार्विनवाद (ब) अबौद्धिकवाद (स) परम्परावाद (द) अराजकतावाद
2. निम्न में से जो फासीदल का प्रमुख सिद्धान्त है, वह है :
   (अ) विश्व शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीयता में विश्वास
   (ब) फासीवाद एक सर्वाधिकारवादी धारणा है
   (स) फासीवाद प्रजातन्त्र में विश्वास करता है
   (द) तर्क और बुद्धि में विश्वास
3. निम्न में से जिस आधार पर फासीवाद की आलोचना की जा सकती है, वह है :
   (अ) राज्य को साध्य मानना त्रुटिपूर्ण है (ब) फासीवादी स्वतन्त्रता की धारणा सत्य है
   (स) धर्म और राजनीति का मिश्रण उचित है
   (द) युद्ध और साम्राज्यवाद का मार्ग उचित है
4. निम्न में से जो कथन फासीवादी दृष्टिकोण के अनुसार स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में सही है, वह है :
   (अ) फासीवादी स्वतन्त्रता को अधिकार मानते हैं
   (ब) फासीवादी स्वतन्त्रता को कर्तव्य मानते हैं
   (स) फासीवादी स्वतन्त्रता को स्वभाविक मानते हैं
   (द) फासीवादी स्वतन्त्रता को प्राकृतिक मानते हैं
5. निम्न में से जिस विचारक का फासीवादी विचारधारा पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ा, वह है :
   (अ) रूसो (ब) काण्ट (स) प्लेटो (द) हीगल

उत्तर—1. (द), 2. (ब), 3. (अ), 4. (ब), 5. (स)।

6. फासीवाद का मूल प्रणेता कौन है?
उत्तर—फासीवाद का मूल प्रणेता मुसोलिनी है।

7. फासीवाद के चार प्रमुख स्रोत बतलाइए।
उत्तर—(i) सामाजिक डार्विनवाद, (ii) अबौद्धिकवाद, (iii) परम्परावाद, (iv) आदर्शवाद।

8. फासीवाद का विकास कहां हुआ था?
उत्तर—फासीवाद का विकास प्रथम महायुद्ध के बाद इटली में हुआ।

9. फासीवाद लोकतन्त्र की किस प्रकार से आलोचना करता है?
उत्तर—फासीवाद लोकतन्त्र को मूर्खतापूर्ण, भ्रष्ट, काल्पनिक तथा अव्यावहारिक शासन मानते हैं तथा संसद को 'वातों की दुकानें' कहते हैं।

10. नात्सीवादी विचारधारा क्या थी?
उत्तर—नात्सीवादी सर्वाधिकारवादी राज्य में विश्वास करती थी और उसका उद्देश्य व्यक्ति की तुलना में राज्य को प्राथमिकता देना था। हिटलर द्वारा जर्मनी में इसका प्रतिपादन किया गया।

11. फासीवाद की कोई दो प्रमुख आलोचनाएं बतलाइए।
उत्तर—(i) फासीवाद प्रगतिशील विचारों का विरोधी, (ii) शक्ति, राज्य का स्थायी आधार नहीं हो सकती।

12. फासीवादी विचारधारा का सर्वाधिक प्रमुख तत्व ....राज्य की धारणा' है।
उत्तर—सर्वाधिकारवादी।

अध्याय 19

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. सिद्ध कीजिए 'समाजवाद एक अत्यन्त अनिश्चित विचारशाला है।'
2. समाजवाद के किन्हीं तीन प्रमुख सिद्धान्तों की संक्षिप्त विवेचना कीजिए।
3. 'राज्य' के सम्बन्ध में समाजवादी दृष्टिकोण को स्पष्ट कीजिए।
4. सिद्ध कीजिए—'समाजवादी व्यवस्था में उत्पादन की गति मन्द होती है।'
5. 'समाजवाद का मूल आधार समानता है।' स्पष्ट कीजिए।
6. समाजवाद के पक्ष में कोई तीन प्रमुख तर्क दीजिए।
7. समाजवाद के विपक्ष में कोई चार तर्क दीजिए।
8. 'समाजवाद आज की आर्थिक अव्यवस्था का सुन्दर हल है।' स्पष्ट कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. निम्नलिखित में से जो समाजवाद का प्रमुख सिद्धान्त नहीं है, वह है :
(अ) समाजवाद का उद्देश्य पूंजीवाद का उन्मूलन है
(ब) समाजवाद एक प्रजातान्त्रिक विचारधारा है
(स) समाजवाद समाज की आंगिक एकता पर बल देता है
(द) समाजवाद आर्थिक क्षेत्र में प्रतियोगिता को महत्व देता है।

2. समाजवाद को साम्यवाद से जो विशेषता पृथक् करती है, वह है :
(अ) व्यक्तिगत सम्पत्ति की समाप्ति
(ब) शोषण वर्ग की समाप्ति
(स) धर्म निरपेक्षता
(द) व्यक्ति की अपेक्षा समाज को अधिक महत्व

3. स्थानीय, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय सभी क्षेत्रों में प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोग को जो विचारधारा प्रतिपादित करती है, वह है :
(अ) समाजवाद (ब) व्यक्तिवाद (स) पूंजीवाद (द) फासीवाद

4. निम्नलिखित में से जो तर्क समाजवाद के पक्ष में नहीं है—वह है :
   (अ) समाजवाद में सम्पत्ति का अपव्यय होगा
   (व) समाजवाद सबकी उन्नति के समान अवसर देगा
   (स) समाजवाद पर-परिश्रमजीवी वर्ग का अन्त कर देगा
   (द) समाजवाद भातृत्व तथा समाज सेवा भाव को बढ़ाता है
5. 'समाजवाद एक ऐसे टोप की तरह है जिसकी आकृति भंग हो गई है, क्योंकि प्रत्येक ने इसे धारण करने का प्रयत्न किया है।' उक्त कथन के लेखक हैं :
   (अ) डॉ. शैडवेल (ब) प्रो. वार्कर (स) प्रो. सी. ई. एम. जोड़ (द) रैम्जेम्योर

   उत्तर—1. (द), 2. (स), 3. (अ), 4. (अ), 5. (स)।
6. समाजवाद की अनिश्चितता के दो प्रमुख कारण बताइए।
   उत्तर—(i) समाजवाद एक प्रगतिशील और परिवर्तनशील दर्शन तथा कार्यक्रम है, (ii) समाजवाद एक राजनीतिक विचारधारा होने के साथ आर्थिक विचारधारा भी है।
7. विकासवादी समाजवाद के चार प्रमुख विचारकों के नाम बताइए :
   उत्तर—(i) सिडनी और बेट्रिस, (ii) जार्ज वनार्ड शॉ, (iii) आर. एच. टॉनी, (iv) रैम्जे मैक्डानल्ड।
8. विकासवादी समाजवाद के चार रूप वताइए।
   उत्तर—समष्टिवाद, फेवियनवाद, संशोधनवाद और प्रजातान्त्रिक समाजवाद।
9. समाजवाद का मुख्य उद्देश्य क्या है?
   उत्तर—समाजवाद का आधारभूत उद्देश्य समानता की स्थापना करना है।
10. समाजवाद और व्यक्तिवाद में भेद वतलाइए।
   उत्तर—जहां व्यक्तिवाद व्यक्ति के हितों पर आधारित है, वहां समाजवाद का आधार समाज और सामाजिक हित है।
11. 'सोशलिज्म' शब्द की उत्पत्ति '..........'शब्द से हुई है, जिसका अर्थ '..........' होता है।
   उत्तर—'सोशियस', 'समाज'।

अध्याय 21

निबन्धात्मक प्रश्न

1. क्रान्ति से आप क्या समझते हैं? इस कथन को स्पष्ट कीजिए कि 'क्रान्ति', 'सत्ता परिवर्तन' 'सुधार' और 'विद्रोह' से भिन्न तथा व्यापक और मूलभूत परिवर्तन की स्थिति है।'
2. क्रान्ति के सम्वन्ध में अरस्तू के विचारों की विवेचना कीजिए। क्या गांधीजी क्रान्तिकारी थे?
3. 'मार्क्स के क्रान्ति के सिद्धान्त' और 'लेनिन के क्रान्ति के सिद्धान्त' की विवेचना कीजिए।

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. क्रान्ति की उपयुक्त परिभाषा देते हुए, क्रान्ति का आशय स्पष्ट कीजिए।
2. अरस्तू द्वारा वताए गए क्रान्तियों को रोकने के उपायों का उल्लेख कीजिए।
3. क्रान्ति के कारणों की संक्षिप्त विवेचना कीजिए।
4. 'स्थायी क्रान्ति का माओ का सिद्धान्त 'संक्षेप में समझाइए।
5. मार्क्स की क्रान्ति का सिद्धान्त स्पष्ट कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. "क्रान्ति (राज्य क्रान्ति) का आशय है, एक ऐसी नवीन व्यवस्था की स्थापना, जो इससे पूर्व की व्यवस्था से नितान्त भिन्न हो—क्रान्ति में तीव्र और मूलभूत परिवर्तन का तत्व ही सर्वाधिक प्रमुख होता है।" उक्त कथन जिस विचारक का है, वह है :
   (अ) अरस्तू (व) मार्क्स (स) लेनिन (द) हैरल्ड जे. लास्की
2. निम्न में से जो अरस्तू के अनुसार क्रान्ति का सामान्य कारण नहीं है, वह है :
   (अ) शासकों की धृष्टता (व) उच्चता की भावना
   (स) कानून का शासन (द) शासक वर्गों में आपसी द्वेष

3. निम्न में से जो क्रान्ति रोकने का उपाय नहीं है, वह है :
(अ) कानून पालन की भावना जागृत की जाए
(ब) आनुपातिक समानता की स्थापना की जाए
(स) मध्यम वर्ग का विकास किया जाना चाहिए
(द) शक्ति का केन्द्रीकरण किया जाना चाहिए
4. 'स्टेट एण्ड रेवोल्यूशन' (*State and Revolution*) पुस्तक के लेखक है :
(अ) लेनिन (ब) मार्क्स (स) अरस्तू (द) महात्मा गांधी
उत्तर—1. (द), 2. (स), 3. (द), 4. (अ)।
5. राजनीतिक क्रान्ति का क्या अर्थ है?
उत्तर—राजनीतिक क्रान्ति का अर्थ सरकार और उससे सम्बन्धित संस्थाओं और संरचनाओं में बदलाव से है।
6. क्रान्ति का उद्देश्य और प्रयोजन क्या होता है?
उत्तर—विकृत और अन्याय पर आधारित राजनीतिक व्यवस्था के स्थान पर स्वस्थ और न्याय पर आधारित राजनीति व्यवस्था की स्थापना करना।
7. पेशेवर क्रान्तिकारी से क्या अभिप्राय है?
उत्तर—ऐसा व्यक्ति जिसने क्रान्ति करना और इसे सफल बनाना ही अपने जीवन का पेशा बना लिया हो।
8. अरस्तू ने क्रान्ति के कारणों को किन तीन भागों में विभाजित किया है?
उत्तर—(i) मूल कारण (ii) सामान्य कारण (iii) विशेष कारण।
9. ....का विचार माओं का अपना सिद्धान्त है।
उत्तर—स्थायी क्रान्ति।

Actual - exsisting in reality. (

Real - existing fact (तथ्यों की वास्तविकता।)